ईशावास्यमिदम् सर्वम्

उपनिषद् प्रकाश

(ग्यारह मुख्य उपनिषदों की विवेचनात्मक व्याख्या)

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
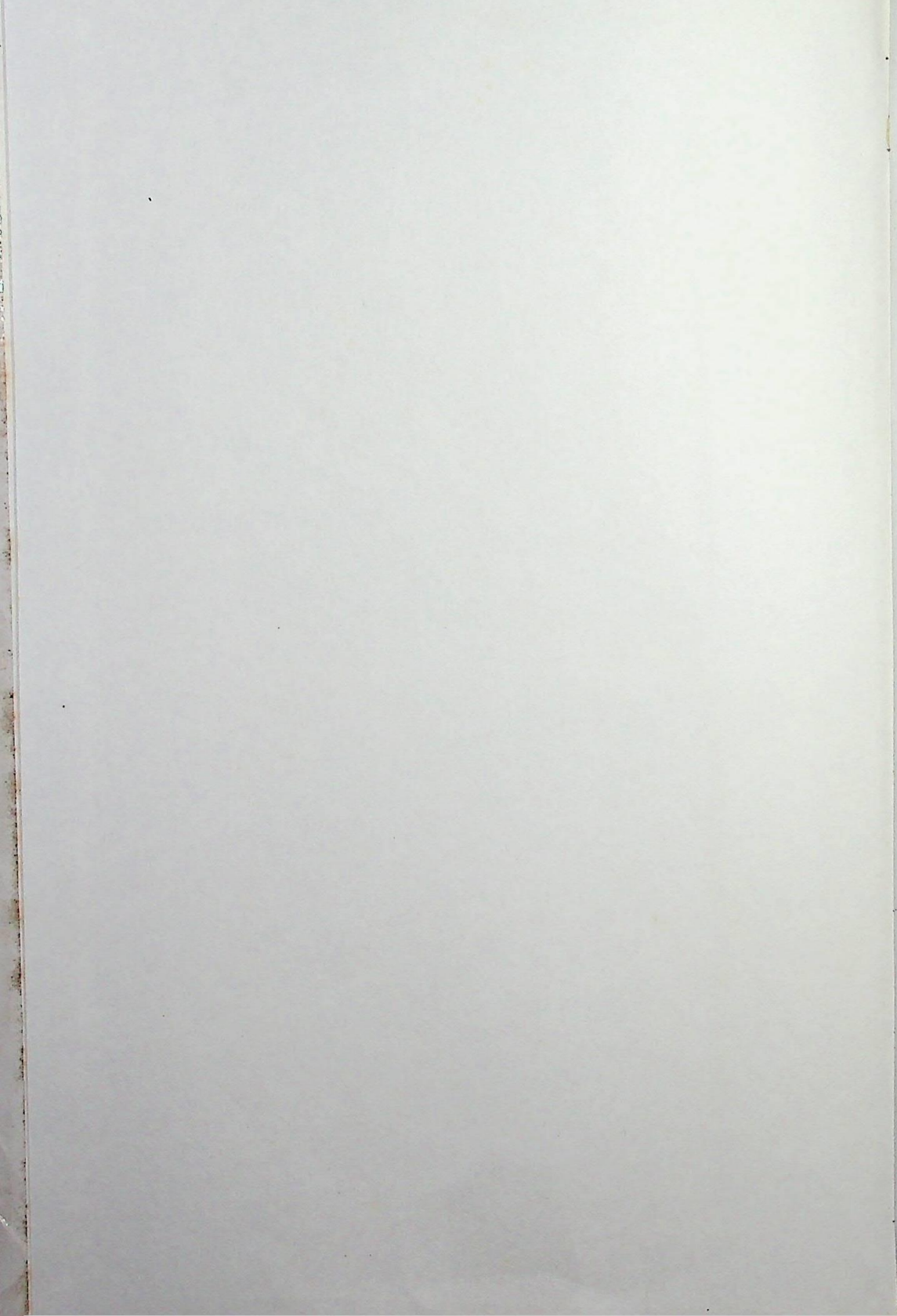
उपनिषद् प्रकाश

[ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर— इन उपनिषदों पर व्याख्यात्मक-विस्तृत-विवेचन]

लेखक

विद्यामार्तण्ड डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

अखिलभारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता

(भूतपूर्व संसद्–सदस्य तथा उपकुलपति गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय)

प्रकाशक

विजयकृष्ण लखनपाल

डब्ल्यू- ७७ ए, ग्रेटर कैलाश–1, नई दिल्ली–४८

मिलने का पताः
डब्लयू-77-ए, ग्रेटर कैलाश पार्ट-1
नई दिल्ली- 110048
फोनः 29237790 -29235002

<u>प्रकाशक के अतिरिक्त पुस्तकें निम्न विक्रेताओं से प्राप्त हो सकती हैं</u>

1- विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क दिल्ली-11006
2- आर्य प्रकाशन, 814, कुण्डे वालान अजमेरी गेट, दिल्ली-11006
3- जवाहर बुक डिपो, आर्य समाज. स्वामीपारा, मेरठ
4- आर्य समाज, प्रयाग, इलाहाबाद
5- आर्य समाज, महर्षि दयानन्द मार्ग, अहमदाबाद,गुजरात
6- आर्य समाज, सान्ता क्रुज, वेस्ट मुम्बई- 54 महाराष्ट्र

नवीन संस्करण

Indian Rupees 155.00
US Dollars 8.00

मुद्रकः
स्पीडो ग्राफिक्स
62 साउथ अनार कली एक्सटेन्शन
दिल्ली -51

स्मृति-ग्रन्थ

श्री देवदत्त लखनपाल का परिचय

श्री देवदत्त लखनपाल मेरे छोटे भाई थे। उन्हीं की स्मृति को जीवित बनाए रखने के लिए यह ग्रन्थ उनकी स्मृति के प्रति भेंट-स्वरूप लिखने का मैंने संकल्प किया था जो आज पूरा हो रहा है।

हम लोग ५ भाई तथा ३ बहनें थे, अब हम २ भाई और २ बहनें शेष हैं। देवदत्त जी का जन्म २४ जनवरी, १९०४ को लुधियाना शहर के अन्तर्गत सवद्दी नामक ग्राम में एक साधारण-से सारस्वत कुल में हुआ और १ अक्टूबर, १९७७ के दिन ७४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हो गया। औद्योगिक-क्षेत्र में उन्होंने जो यश प्राप्त किया उसकी स्मृति से हम सब परिवार के सदस्यों का सिर गर्व से ऊँचा हो जाता है। 'मर्फ़ी रेडियो फ़ैक्टरी' के तथा ड्राई बैटरी के निर्माता 'लखनपाल नैशनल फ़ैक्टरी' के वे जन्मदाता थे जिस कारण उनका तथा उनसे सम्बद्ध परिवार के सदस्यों की चर्चा घर-घर सुनाई देती है।

श्री देवदत्त लखनपाल

उन्हें यथार्थ परिभाषा में कर्म-योगी कहा जा सकता है। मुझे उनके वे दिन स्मरण हैं जब रेडियो का अभी चलन ही हुआ था। उन्होंने रेडियो का कारोबार शुरू किया था। रात को ही रेडियो की ध्वनि सुनी जा सकती थी, दिन को नहीं, क्योंकि अभी इस दिशा के प्रति प्रगति नहीं हुई थी। जो रेडियो खरीदता था वह चाहता था कि विक्रेता घर पर आकर रेडियो-सेट को चालू करके दिखलाए। देवदत्त जी रात के समय ग्राहकों के दुमंजले, तिमंजले मकानों पर सेट लेकर चढ़ जाते थे और ग्राहकों का सन्तोष करके घर लौटते थे। उनकी मेहनत तथा लगन का यह

परिणाम हुआ कि जब उन्होंने थाना में मर्फ़ी रेडियो की फ़ैक्टरी का सूत्रपात किया तब कोई व्यक्ति ऐसा नहीं रहा था जो उनके द्वारा निर्मित मर्फ़ी रेडियो का नाम नहीं जानता था। स्वर्गारोहण से ३-४ वर्ष पहले उन्होंने 'लखनपाल नैशनल' के नाम से ड्राई बैटरी का कारखाना बड़ौदा में स्थापित किया जिससे हज़ारों व्यक्तियों की आजीविका चल रही है।

वे सदा कहा करते थे कि वे काम करते-करते ही इह-लीला समाप्त करने के स्वप्न देखा करते हैं। परमात्मा ने उनकी इच्छा पूर्ण की। १ अक्टूबर, १९७७ के दिन वे घर से स्वस्थ-स्थिति में अपने आफ़िस गए। वहाँ से एक मीटिंग में जहाँ उन्होंने अध्यक्षीय-भाषण देना था पहुँचे। सबको 'नमस्ते' कहकर कुर्सी पर बैठे, बैठे तो फिर बैठे ही रहे, न उठे—उनकी आत्मा ने शरीर छोड़ दिया। उन्हें निस्संग कर्म-योगी की गति प्राप्त हो गई। वे इस क्षण इस लोक में, अगले क्षण उस लोक में थे, जो भाग्य चुनींदा लोगों को ही प्राप्त होता है। ऐसे कर्म-योगी भाई को स्मरण कर मेरा सिर गर्व से ऊँचा और मस्तक भगवान् के सम्मुख नम जाता है।

मेरा जीवन गुरुकुल में प्राचीन-सभ्यता तथा संस्कृति के बीच बीता, उनका वर्तमान सभ्यता तथा संस्कृति के बीच बीता। मेरी दिशा पूर्व की, उनकी पश्चिम की रही। इन विपरीत दिशाओं में गति के बावजूद मेरा-उनका स्नेह-भाव बढ़ता ही गया, यहाँ तक बढ़ा कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब वे मेरे पास दिल्ली आते थे, या जब मैं उनके पास बम्बई जाता था, तब वे घण्टों अपने जीवन के चढ़ाव-उतराव की चर्चा किया करते थे। वे अपने नाम के साथ लखनपाल लगाते थे, मुझसे भी अनुरोध किया करते थे कि अपने नाम के साथ सिद्धान्तालंकार लगाने के स्थान में लखनपाल ही लगाया करूँ। वे कहते थे कि लखनपाल जब किसी लखनपाल को जीवन में बढ़ता देखेंगे, तब उन्हें भी आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलेगी। मेरी पत्नी तो अपने को चन्द्रावती लखनपाल लिखने लगी थीं, परन्तु मैं सिद्धान्तालंकार ही लिखता रहा, और कई लोग तो अब भी मुझे श्री सिद्धान्तालंकार ही कहते हैं। वे नहीं जानते कि सिद्धान्तालंकार मेरी जात नहीं, गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा दी हुई मेरी उपाधि है। मेरा नाम तो सत्यव्रत ही है।

ऐसे अध्यवसायी, निःसंगभावी, परिवार के उन्नायक, कर्म-योगी भाई की स्मृति अमर रहे—इसी भावना से अमर ऋषियों की अमृतमय-अमर-वाणी से परिपूर्ण यह ग्रन्थ उन्हीं की स्मृति को समर्पित कर रहा हूँ ताकि इस अमर-वाणी के साथ उनकी स्मृति भी अमर बनी रहे।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

दो शब्द

वैसे तो ग्यारह उपनिषदों पर मेरा एक अन्य ग्रन्थ भी है, परन्तु उस ग्रन्थ तथा इस ग्रन्थ में एक मौलिक भेद है। वह ग्रन्थ संस्कृत पढ़े हुओं के लिए विशेष काम का है। उसमें सम्पूर्ण उपनिषद् के प्रत्येक स्थल का पद-च्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ, व्याख्या—सब-कुछ दिया हुआ है। इसमें पद-च्छेद, शब्दार्थ, भावार्थ पर इतना बल नहीं दिया गया जितना उपनिषद् की गहराई में जाकर उसका व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है। संस्कृत का बहुत-सा भाग तो जैसे-का-तैसा दिया गया है, अगर पढ़ते हुए उसे छोड़कर भी पढ़ें तो भी सारा सिलसिला क्रम-बद्ध है। दोनों ग्रन्थों का विषय एक ही होने पर भी दोनों की अपनी-अपनी विशेषता है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक हैं। **'एकादशोपनिषद्-भाष्य'** में जिन बातों की तरफ़ इशारा भर किया है, **'उपनिषद्-प्रकाश'** में उन पर गहराई में व्याख्यात्मक विवेचन किया गया है; 'एकादशोपनिषद्-भाष्य' में प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया गया है, 'उपनिषद्-प्रकाश' में प्रत्येक शब्द का विवेचन न करके उपनिषत्कार के कथन को व्याख्यात्मक सरल भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है।

जब से मैंने उपनिषदों पर लिखना शुरू किया तब से 'उपनिषद्-प्रकाश' जैसे ग्रन्थ के लिखने की भी मुझे अन्तस् से प्रेरणा होती रही, और पाठकों से माँग भी आती रही। पाठक चाहते थे कि ऐसा ग्रन्थ उनके हाथों में आए जिसका वे सरल, सम्बद्ध भाषा में प्रतिदिन पाठ कर सकें। उसी कमी को यह ग्रन्थ पूरा करता है। इसे ऐसा लिखा गया है जिसे पढ़कर मुझे स्वयं आनन्द आता है। मैं अपने ही इस ग्रन्थ को कई बार पढ़ा करता हूँ और ऋषियों की वर्णन-शैली का आनन्द उठाया करता हूँ क्योंकि यह शैली मेरी नहीं, उपनिषदों के ऋषियों की है। आज के लिखने वाले उपनिषदों के ऋषियों की जूठ लिखा करते हैं।

इस ग्रन्थ की लम्बी-चौड़ी विस्तृत विषय-सूची देने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक उपनिषद् का प्रतिपाद्य-संकेत पृष्ठ के ऊपर ही दे दिया गया है जिससे पाठक समझ जाये कि वह किस प्रकरण को पढ़ रहा है, पहले को, दूसरे को या तीसरे को। जिसके पास मेरे दोनों ग्रन्थ होंगे वह एक के प्रकरण को देखकर दूसरे के प्रकरण का आसानी से मेल बैठा सकेगा।

मेरी सदा यह सम्मति रही है कि वैदिक-विचारधारा को समझने के लिए जितना वस्तु-जात उपनिषदों से मिलता है, उतना अन्य किसी ग्रन्थ से नहीं। उपनिषदों में जिस विषय को उठाया गया है उसका सिलसिलेवार वर्णन है। वेदों को समझने में कठिनाई होती है। पहले तो मन्त्र को समझना ही कठिन, फिर मन्त्रों के पारस्परिक-सम्बन्ध को समझना और कठिन। वेदों को समझने-समझाने के लिए जिस अगाध पाण्डित्य की आवश्यकता है, वह उपनिषदों को समझने के लिए नहीं। आध्यात्मिक-रहस्यों को सर्व-साधारण तक पहुँचाने के लिए इन्हें ऐसी सरल भाषा में लिखा गया है कि वह आसानी से समझ पड़ जाती है। गहन विषय को कथानकों, अलंकारों से ऐसा जड़ा गया है कि पढ़ने में मन नहीं ऊबता।

वैसे तो उपनिषदों के ऋषियों की एक ही टेक है—शरीर अलग है, आत्मा अलग है। प्रत्येक उपनिषद् के वाक्य, कथानक तथा अलंकार का अन्त इसी बात में है। किसी कवि ने ठीक कहा है :

"रूह और जिस्म का रिश्ता भी अजब है,
सारी उम्र साथ रहे, लेकिन तुअर्रुफ़ न हुआ।" (तुअर्रुफ़=परिचय)

विचारक देखता है कि सारी आयु आत्मा और शरीर का साथ रहा है, परन्तु अन्त समय पर ही ज्ञात होता है कि ये दोनों एक नहीं हैं, अलग-अलग हैं। मृत्यु के समय यह भेद पता चला तो किस काम की? उपनिषद् के ऋषियों ने यह प्रयत्न किया है कि अपने जीवन में ही यह अनुभूति उपलब्ध हो जाय। ऐसा होने पर व्यक्ति के जीवन में ही क्रान्ति नहीं होती, समाज का जीवन भी पलटा खा जाता है। आज जो भौतिकता की मार पड़ी हुई है वह अपने-आप मिट जाती है।

मैंने अभी तक वैदिक-साहित्य पर बहुत-कुछ लिखा है। अब मैं जीवन के ८३ वर्ष पूरे कर ८४वें वर्ष में प्रवेश कर रहा हूँ। कौन जानता है, जीवन कितना शेष है। सोचता हूँ, जितना समझा है, जाना है, उसे मानव-समाज के हित के लिए पीछे छोड़ जाऊँ। किसका काम पूरा हुआ है, पर फिर भी रात-रात जागकर जो-कुछ अधूरा है उसे पूरा करने की चेष्टा में लगा हूँ। ये पंक्तियाँ भी मैं रात के बारह बजे लिख रहा हूँ। जिस भावना से मेरी लेखनी को विराम नहीं मिलता उसे एक कवि ने बड़े मार्मिक शब्दों में रख दिया है :

"शमा के मानिन्द जला रहा हूँ जिन्दगी
बुझ तो जाऊँगा, पर सुबह तो कर ही जाऊँगा।"

W-७७ A, ग्रेटर कैलाश (I) **—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार**
नई दिल्ली-११००४८ २४-१-१९८१

अनुक्रमणिका

नोट—ऊपर हमने संख्या १२ दी है क्योंकि कठोपनिषद् को दो भागों में विभक्त किया गया है, वैसे मुख्य उपनिषद् ११ ही हैं।

ईशावास्योपनिषद्

पूर्णं अदः पूर्णं इदम् पूर्णात् पूर्णं उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णं आदाय पूर्णं एव अवशिष्यते ।।

इस उपनिषद् का प्रारम्भ उक्त श्रुति-वाक्य से होता है। इसका अर्थ है, वह भी पूर्ण है—**'पूर्णं अदः'**, यह भी पूर्ण है—**'पूर्णं इदम्'**, पूर्ण से पूर्ण निकलता है—**'पूर्णात् पूर्णं उदच्यते'**, पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें—**'पूर्णस्य पूर्णं आदाय'**, तब भी पूर्ण ही बच रहता है—**'पूर्णं एव अवशिष्यते'**। पूरे में से पूरा निकाल लें तब भी पूरा बच रहे, पूरे में पूरा जोड़ दें तब भी पूरा रहे—यह विलक्षण बात उपनिषद् ने कही है। क्या ऐसा हो सकना सम्भव है ? जहाँ तक संसार की सीमित वस्तुओं का सम्बन्ध है, ऐसा असम्भव है। इसका यह अर्थ होगा कि २ में २ जोड़ दें तब भी २ ही बना रहे, २ में से २ निकाल दें तब भी २ ही बना रहे। सांसारिक वस्तुओं में तो ऐसा सम्भव नहीं, परन्तु उपनिषद् संसार की बात नहीं कह रही। उपनिषद् की यह चर्चा भौतिक नहीं, आध्यात्मिक जगत् की है। आत्मा के जगत् में भौतिक गणित नहीं चलती। आध्यात्मिक गणित का यही हिसाब है। वहाँ देने से घटता नहीं बढ़ता है, लेने से बढ़ता नहीं घटता है।

जगत् को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—भौतिक जगत्, जीवात्मा का जगत्, परमात्मा का जगत्। भौतिक-जगत् में वस्तु जोड़ से बढ़ती, निकालने से घटती है; जीवात्मा के जगत् में जोड़ से बढ़ भी सकती है, घट भी सकती है, निकालने से घट भी सकती है, बढ़ भी सकती है; परमात्मा के जगत् में जोड़ से न बढ़ती है, न घटती है, निकालने से न घटती है, न बढ़ती है—कुछ भी करें, वैसी-की-वैसी रहती है—पूर्ण में पूर्ण जोड़ दें तब भी पूर्ण ही रहती है, पूर्ण में से पूर्ण

निकाल लें तब भी पूर्ण ही रहती है। इस विलक्षण गणित का क्या अर्थ है ?

(१) **भौतिक-जगत् में**—भौतिक-जगत् में अगर चार में चार जोड़ दिया जाय, तो आठ हो जाता है, अगर चार में से चार घटा दिया जाय तो शून्य रह जाता है। यह बच्चों के भी अनुभव की बात है।

(२) **जीवात्मा के जगत् में**—जीवात्मा के जगत् में भौतिक-जगत् का नियम बदल जाता है। अगर मनुष्य किसी को प्रेम देता है, तो देने के कारण वह घटता नहीं, उल्टा जिसे प्रेम दिया जाता है उसकी प्रतिक्रिया के रूप में प्रेम देने से प्रेम बढ़ जाता है। इसी प्रकार अगर कोई हम पर क्रोध करे, और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हम क्रोध के स्थान में प्रेम जतलायें, तो क्रोध करने वाले का क्रोध घट या हट जाता है। यहाँ देने से घटने के स्थान में बढ़ना पाया जाता है, प्रेम दिया तो प्रेम बढ़ा। इसी प्रकार अगर कोई हमें क्रोध में गाली-पर-गाली देता चला जाय और हम उन गालियों को हँस-हँस कर लेते चले जायें, तो हमारा क्रोध गालियाँ लेने पर भी कम होता जला जायगा, दूसरे का क्रोध गालियाँ देते-देते बढ़ता जायगा। यहां गालियाँ लेने से क्रोध का बढ़ने के स्थान में घटना पाया जाता है, गालियाँ लीं, हँस दिये और क्रोध घटा; गालियाँ देने वाले का क्रोध घटने के स्थान में बढ़ सकता है—देने से घटना चाहिये, यहाँ देने से बढ़ सकता है।

(३) **परमात्मा के जगत् में**—भौतिक-जगत् निर्जीव है, इसलिये वहाँ भौतिक-पदार्थ में प्रतिक्रिया नहीं होती, जोड़ें तो जुड़ता गया, घटायें तो घटता गया; जीवात्मा का जगत् सजीव है, वहाँ सजीवता के कारण शुभाशुभ कर्म के द्वारा प्रतिक्रिया होती है, परन्तु वहाँ निर्लेपता नहीं, इच्छा है, प्रेम करें या न करें, क्रोध करें या न करें। परमात्मा का जगत् निर्लेप है. वहाँ कर्म नहीं, इच्छा नहीं, इसलिये न वहाँ बढ़ती है, न घटती है; वहाँ निरतिशयता है, पूर्णता है। इच्छा रहितता तथा पूर्णता में न कुछ जोड़ा जा सकता है, न कुछ घटाया जा सकता है। अगर पूर्णता में कुछ जोड़ा जा सके तो उतने अंश में वह अपूर्ण है, इसलिये पूर्ण नहीं है; अगर पूर्णता में से कुछ घटाया जा सके, तो उतने अंश में वह अपूर्ण है, इसलिये वह पूर्ण नहीं है। पूर्णता का अर्थ ही यह है कि अगर उसमें कुछ जोड़ा जाय तब उसमें बढ़ती नहीं, अगर उसमें से कुछ घटाया जाय तब उसमें घटती नहीं। दूसरे शब्दों में, न उसमें

कुछ जोड़ा जा सकता है, न उसमें से कुछ घटाया जा सकता है। इसी भाव को अत्यन्त कवितामयी भाषा में श्रुति में कह दिया कि पूर्ण में पूर्ण जोड़ दिया जाय तब भी वह पूर्ण ही रहता है, पूर्ण में से पूर्ण घटा दिया जाय तब भी वह पूर्ण ही रहता है। पूर्णता की इससे बढ़कर कोई परिभाषा नहीं हो सकती।

ईशा वास्यम् इदं सर्वं यत् किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वित् धनम् ॥ १ ॥

परमात्मा सब तरह से पूर्ण है—यह कहकर **'ईशावास्योपनिषद्'** का उपक्रम प्रारम्भ होता है। जब वह पूर्ण है, तो इतना पूर्ण है कि वह इस जगत् के अणु-अणु में बसा हुआ है, उसी से सारा संसार आच्छादित है—**'ईशवास्यं इदं सर्वं'**। संसार गतिमान् है, प्रवाह से चल रहा है, यहाँ कुछ स्थिर नहीं, स्थिर हो तो टिका न रहे, परिवर्तन से ही जीवन है, कोई वस्तु स्थिर रहकर जीवित नहीं रह सकती, गति, परिवर्तन ही जीवन का आधार है, बहता हुआ पानी ही जीवित है, खड़ा रहने पर सड़ने लगता है। परमात्मा जिस संसार में बसा हुआ है, वह क्षण-क्षण परिवर्तित हो रहा है—**'यत् किंचित् जगत्यां जगत्'**। परमात्मा में परिवर्तन नहीं, बदलाहट नहीं, जगत् में परिवर्तन है, बदलाहट है। परिवर्तन अपरिवर्तन के सहारे, अस्थिर स्थिर के सहारे, अपूर्ण पूर्ण के सहारे ही टिक सकता है—अपरिवर्तन अपरिवर्तन के सहारे, अस्थिर अस्थिर के सहारे, अपूर्ण अपूर्ण के सहारे नहीं टिक सकता, जो स्वयं स्थिर नहीं वह अस्थिर को कैसे संभाल सकता है। इसका यह भी अर्थ है कि क्योंकि संसार परिवर्तनशील है, क्योंकि संसार अस्थिर है, क्योंकि संसार अपूर्ण है, इसलिये इसके पीछे, इसे सहारा देने वाला कोई अपरिवर्तनशील, स्थिर तथा पूर्ण तत्व है जो इसे टिकाये हुए है। माला के अस्थिर मनकों में जैसे स्थिर सूत्र होता है, फिरने वाले दो पहियों को टिकाये रखने में जैसे न फिरने वाली धुरी होती है, चक्की के चलने में जैसे अचल कील होती है, वैसे क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाले संसार में अपरिवर्तनशील तत्व भगवान् है, ईश्वर है।

सृष्टि की हर वस्तु में भगवान् बसा हुआ है, तो सृष्टि की हर वस्तु उसी की है, परन्तु विडम्बना यह है कि मैं कहता हूँ मेरी है, दूसरा कहता है उसकी है। न मेरी है, न तेरी है, इस सबको यहीं छोड़कर हम सबने किसी-न-किसी दिन चल देना है, इसलिये यह समझ कर कि सब

उसी का दिया हुआ है—**'तेन त्यक्तेन'**, संसार का भोग कर–**'भुंजीथाः'**, किसी वस्तु के लालच में मत पड़, किसी वस्तु को अपना समझ कर उससे मत चिपट जा—**'मा गृधः'** क्योंकि संसार के ये पार्थिव पदार्थ, यह धन-धान्य किसका है—**'कस्यस्वित् धनम्'**, न मेरा है, न तेरा है, मैंने भी इसे छोड़ जाना है, तूने भी इसे छोड़ जाना है।

ईशावास्योपनिषद् का यह मन्त्र—हम संसार में जीवन किस प्रकार बितायें—इस समस्या के रहस्य को खोलकर रख देता है। इस मन्त्र का एक-एक टुकड़ा जीवन के लिये पारसमणि बनकर उसे स्वर्णिम बना सकता है। इस मन्त्र के चार टुकड़े हैं जिनमें से एक-एक टुकड़ा महावाक्य है। ये चार महावाक्य क्या हैं ?

१. ईशावास्यमिदं सर्वम्

ईशावास्योपनिषद् के चार महावाक्यों में से पहला महावाक्य है—**'ईशा वास्यम् इदम् सर्वम्'**—यह सब जो-कुछ दीखता है या नहीं भी दीखता ईश्वर से बसा हुआ है। हम संसार में रहते हैं, संसार को ही देखते हैं, संसार से अतिरिक्त हमें कुछ नहीं दीखता, इसलिये हमारा जीवन का दृष्टिकोण एक ही रह जाता है—हम संसार के लिये हैं, संसार हमारे लिये है। उपनिषद् कहती है कि तुम भ्रम में हो। यह ठीक है कि संसार तुम्हें दीखता है, परन्तु स्मरण रखो, इस दीखनेवाले के पीछे न दीखनेवाला बैठा है। न दीखनेवाला न हो, तो दीखनेवाला नहीं दीख सकता, वही इस सबमें बसा हुआ है।

दीखने वाले को ही मानने वाले भौतिकवादी कहलाते हैं, आजकल की परिभाषा में वैज्ञानिक कहलाते हैं, प्रकृतिवादी कहलाते हैं, नास्तिक कहलाते हैं; न दीखने वाले को मानने वाले अध्यात्मवादी कहलाते हैं, धार्मिक कहलाते हैं, ईश्वरवादी कहलाते हैं, आस्तिक कहलाते हैं। प्रश्न यह है कि भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद, विज्ञान तथा धर्म, प्रकृतिवाद तथा ईश्वरवाद, नास्तिकता तथा आस्तिकता—इनमें कौन-सा मार्ग सत्य है ?

उपनिषद् की पहली घोषणा यह है कि प्रकृति अन्तिम सत्य नहीं हो सकती क्योंकि वह जड़ है। जड़ सदा साधन होती है, भोग्य होती है, किसी के इस्तेमाल के लिये होती है, उसका नियन्त्रण कोई दूसरा करता

है, वह अपने-आप अपना नियन्त्रण नही कर सकती, अपने-आप नहीं चल सकती। इसी सिलसिले में उपनिषद् की दूसरी घोषणा यह है कि प्रकृति का नियन्त्रण कोई चेतन-शक्ति करती है, ऐसी शक्ति जो स्वयं जड़ नहीं है, परन्तु जड़ का संचालन करती है। उसी को उपनिषद् ने 'ईश' कहा है—चेतन, सार्मथ्यवान् शक्ति। क्योंकि वह शक्ति चेतन है इसलिये जड़ प्रकृति का नियन्त्रण, संचालन कर सकती है।

प्रश्न हो सकता है कि वह चेतन-शक्ति—परमात्मा—कहाँ है? संसार के सैमेटिक धर्म—यहूदी, ईसाई, इस्लामी—कहते हैं कि वह —परमात्मा—सातवें आस्मान में रहता है, वहाँ से इस लोक का शासन करता है। ईसाइयत का कहना है कि हज़रत मसीह भी परमात्मा की गोद में से सातवें आस्मान पर से उतरे और इस धरती पर जन्म लेकर मरने के बाद फिर इस लोक के लोगों को अपने भाग्य पर छोड़कर ऊपर के लोक में चले गये। मोहम्मद साहब की आयतें भी ऊपर से ही उतरती रहीं। उपनिषद् का कहना है कि परमात्मा ऊपर के किसी लोक में नहीं रहता, वह सब जगह है, जगत् के कण-कण में, अणु-अणु में उसका वास है, वह व्यक्ति-विशेष नहीं, शक्ति-विशेष है, ऊपर-नीचे का प्रश्न तभी बनता है जब वह शक्ति न होकर व्यक्ति हो जिसके रहने-विचरने के लिये किसी जगह की ज़रूरत हो, जो सब जगह है उसके लिये जगह विशेष की जरूरत नहीं पड़ती।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि वह दीखता कैसे है, उसे मानें तो कैसे मानें? किसी वस्तु के न दीखने के दो कारण हो सकते हैं। या वह इतनी दूर हो कि दीख न सकती हो, या इतनी पास हो कि न दीख सकती हो। सैमेटिक धर्म के लोग कह सकते हैं कि क्योंकि ईश्वर सातवें आस्मान में रहता है इसलिये दूर होने के कारण नहीं दीखता, परन्तु दूर होने के कारण न दीखने पर उसका भौतिक शरीर मानना पड़ता है जो उसके सर्वव्यापक होने में शंका खड़ी कर देता है। उपनिषद् के आस्तिक ऋषि का कहना है कि क्योंकि वह सब जगह मौजूद है इसलिये वह दीख ही नहीं सकता। वही वस्तु दीख सकती है जो सब जगह मौजूद न हो—वह तो **'ईशावास्यं इदं सर्वम्'**—सब जगह मौजूद है, अणु-अणु में, जहाँ अणु नहीं वहाँ भी मौजूद है, फिर दीखे कैसे? देखने के लिये फ़ासला चाहिये। जिस वस्तु को हम देखना चाहें वह अलग और देखनेवाला अलग—ऐसा होना चाहिये। आँख, आँख को नहीं देख

सकती क्योंकि मेरी देखने वाली आँख और मेरी दिखने वाली आँख में कोई फ़ासला नहीं। मैं अपनी आँख को दर्पण में देख सकता हूँ क्योंकि दर्पण में दिखने वाली मेरी आँख और देखनेवाली मेरी आँख में फ़ासला पैदा हो जाता है। जब परमात्मा में और मेरे में कोई फ़ासला ही नहीं, तब वह दीखे कैसे ?

दीखता नहीं, उसे देख भी नहीं सकते, तो फिर क्या तर्क से, युक्ति से उसे सिद्ध करें ? युक्ति से परमात्मा को सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु युक्ति दोधारी तलवार है। अगर युक्ति से उसे सिद्ध किया जा सकता है, तो युक्ति से उसे असिद्ध भी किया जा सकता है। युक्ति तथा तर्क के क्षेत्र में नास्तिक का पलड़ा आस्तिक से भारी है। आस्तिक की परमात्मा को सिद्ध करने की सबसे भारी युक्ति यह है कि सृष्टि को किसी ने बनाया होगा, यह अपने-आप नहीं बन सकती। नास्तिक कहता है कि अगर परमात्मा ने सृष्टि को बनाया है तो फिर परमात्मा को भी किसी ने बनाया होगा क्योंकि जो-कुछ है वह किसी ने बनाया है, अपने-आप नहीं बन सकता। अगर परमात्मा अपने-आप है, तो सृष्टि भी अपने-आप क्यों नहीं। अगर अपने-आप होने में परमात्मा तक ठहर सकते हो, तो सृष्टि तक ही ठहर जाओ, आगे जाने की क्या ज़रूरत है। नास्तिक का तो कहना ही यह है कि सृष्टि अपने-आप चल रही है। आस्तिक का भी कहना यह है कि परमात्मा अपने-आप मौजूद है। अपने-आप होना अगर परमात्मा तथा सृष्टि दोनों में एक-समान है, तो फिर सृष्टि अपने-आप हो रही तथा चल रही है—यह मान लेने में क्या हर्ज है ? इसी बात को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् ने कहा—**'नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्यः'**—परमात्म-ज्ञान व्याख्यानों से नहीं प्राप्त होगा।

अगर तर्क तथा युक्ति से उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता, तो उसे पाने का क्या उपाय है ? जिन आत्म-वेत्ताओं ने परमात्मा के विषय में कहा है उनका कहना है कि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका अनुभव होता है, उसे न देखा जा सकता है, न उसको तर्क तथा युक्ति से सिद्ध किया जा सकता है। तर्क तथा युक्ति अनुभव के बाद काम आ सकती हैं, अनुभव से पहले तर्क तथा युक्ति का प्रयोग सूखा व्याख्यान-मात्र है—**'वाचो विग्लापनं हि तत्।'** अनुभव कैसे होता है, अनुभव का क्या रूप है ?

दो प्रेमी मिलते हैं। वे बोलते नहीं, बस प्रेम हो जाता है। यह हृदय की अनुभूति है। क्यों प्रेम हो जाता है, कैसे हो जाता है—यह तर्क का विषय नहीं, युक्ति का विषय नहीं। प्रेम को किसी ने देखा नहीं, अनुभव सबने किया है। परमात्मा की प्रतीति भी अनुभव का विषय है। जब प्रेम हो जाता है, या प्रतीति या अनुभव हो जाता है, तब युक्ति काम आती है, पहले नहीं। प्रेम पहले युक्ति बाद को, युक्ति पहले प्रेम बाद को—ऐसा नहीं।

यह अनुभव बाहर से नहीं आता, भीतर से उपजता है। जिनको होता है इस तरह होता है मानो बिजली चमक गई, भीतर के किसी कोने में भी अविश्वास का अधिकार नहीं रहा। इससे जीवन का काँटा बदल जाता है, जीवन का रूपांतरण हो जाता है, मनुष्य नास्तिक से आस्तिक हो जाता है। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी नास्तिक थे, ऋषि दयानन्द की मृत्यु को देखकर क्षण-भर में, बिना युक्ति के आस्तिक हो गये। अनुभव इसी को कहते हैं। इसके बाद युक्ति का हथियार चलना शुरू हो जाता है।

जैसे ऐसे लोग हैं जो संसार से चिपट जाते हैं, ऐसे चिपटते हैं कि छुड़ाये टूट जाते हैं परन्तु विषयों को नहीं छोड़ते, वैसे ऐसे भी लोग हैं जो विषयों की तरफ़ पीठ फेर लेते हैं, उन्हें भौतिक का रस छूट जाता है, अध्यात्म का रस आने लगता है, विषय रसहीन हो जाते हैं, निर्विषय अध्यात्म रसमय हो जाता है। उनके जीवन की यह अनुभूति नहीं, तो क्या है? इस विषय पर पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने 'ईशोपनिषद्-भाष्य' में बहुत ठीक लिखा है—

"मनुष्य अनुभूति द्वारा जिस विश्वास पर पहुँचता है, तर्क से उसकी पुष्टि करता है। मनुष्य जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का उत्तर पहले हृदय में ढूँढता है, फिर तर्क का आश्रय लेता है। यह उसका भ्रम है कि वह जिन धार्मिक-विचारों को मान रहा है, वे मुख्य रूप से उसके चिन्तन और विवेचना के परिणाम हैं···केवल चिन्तन और तर्क द्वारा मनुष्य सुधारक बन सकता है, आस्तिक से नास्तिक हो सकता है, परन्तु धार्मिक विचारों में परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि धर्म का आधार विश्वास है, और विश्वास का सम्बन्ध प्रधान-रूप से हृदय की भावनाओं से है, दिमाग़ की कतरनी से नहीं। ईश्वर-विश्वास अन्तरात्मा से उठता है, बाहर से डाला नहीं जाता। युक्ति और तर्क

से तो उस विश्वास की पुष्टि ही हो सकती है। यह निश्चित बात है कि साधारण दशा में मनुष्य का अन्तरात्मा किसी ऐसी शक्ति को अनुभव करता और उसकी सत्ता के पक्ष में गवाही देता है जो मानवी-शक्ति और प्रकृति की शक्ति से ऊँची होने के कारण 'परम-आत्मा' और सबका संचालन करने के कारण 'ईश' पद की अधिकारिणी हो।"

अनुभूति कैसी होती है, यह हम सब अपने जीवन से देख सकते हैं। हमने अपने को कब देखा है? यह तो हममें से प्रत्येक की अनुभूति है कि हम शरीर नहीं हैं—सब कोई 'मेरा शरीर' यही कहता है, 'मैं शरीर' नहीं कहता। शरीर के भीतर जो यह 'मैं' बैठा है, वह किसने देखा है, परन्तु कौन है जो उसकी अनुभूति नहीं करता? इसी प्रकार बिना देखे, बिना छुए, बिना सुने जिनको संसार में चेतन-सत्ता की अनुभूति होती है वे बुद्ध बन जाते हैं, शंकर बन जाते हैं, अध्यात्म में प्रवेश करते हैं, जिनको नहीं होती उन्हें सिर्फ़ यह दुनियाँ दीखती है, और वे दुनियाँ के ही होकर रह जाते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि आध्यात्मिकता का, आस्तिकता का कोई क्रियात्मक पहलू भी है? हाँ, है—आस्तिक-नास्तिक में जीवन की समस्या के हल करने के विषय में महान् अन्तर है। नास्तिक-व्यक्ति संसार को निजी स्वार्थ की दृष्टि से देखता है। संसार में जो-कुछ है उस सब पर उसका दावा है। वह उसे हड़प सकता हो तो कतराता नहीं। नास्तिक-समाज भी स्वार्थ को ध्येय मान कर चलता है—चलना ही चाहिये क्योंकि इस संसार के अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य उसके सामने नहीं है। परोपकार भी तब तक मान्य है जब तक उससे व्यक्ति या समाज का स्वार्थ पुष्ट होता है। जब भौतिक के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं तब भौतिक के परे दृष्टि कैसे जा सकती है। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति का, समाज का जीवन संघर्षमय हो जाता है, हर व्यक्ति, हर समाज दूसरे को हड़पने के लिये समय की ताक में रहता है। भौतिकवादी व्यक्तियों तथा समाज में यही-कुछ हो रहा है जो नास्तिकता का अवश्यंभावी परिणाम है। नास्तिक कहता है कि धर्म अफ़ीम के समान है जो व्यक्ति तथा समाज को संघर्ष, लड़ाई-झगड़े, स्वार्थ के लिये छीना-झपटी के स्थान में शान्ति का पाठ सिखलाता है। परन्तु कोई हर्ज नहीं, प्रश्नों का प्रश्न तो यह है कि व्यक्ति तथा समाज शान्ति की तलाश में हैं या लड़-झगड़कर मर मिटने की

तलाश में हैं ? नास्तिकता से मनुष्य के हाथ में क्या आता है ? अगर नास्तिक होकर शान्ति हाथ लगे तो नत-मस्तक होकर नास्तिकता स्वीकार है, परन्तु अगर नास्तिकता से मानव का जीवन खंडित हो जाय, संसार में ऊधम खड़ा हो जाए, हर व्यक्ति, हर समाज दूसरे के रुधिर का प्यासा हो जाय, विश्व-भर में पाशविकता जाग उठे, मनुष्य मनुष्य न रहकर पशु बन जाय, तो ऐसी नास्तिकता मानव-समाज के लिये अभिशाप के सिवाय क्या हो सकती है ? इसके विपरीत आस्तिकता से मानव के मन की उलझनें समाप्त हो जाती हैं, वह प्रसन्न, शान्तचित्त, उद्वेग तथा तनावरहित हो जाता है। इन दोनों में चुनना ही हो, तो मनुष्य नास्तिकता को क्यों चुनेगा जब उससे अशान्ति के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगता।

२. यत्किंचित् जगत्यां जगत्

ईशावास्योपनिषद् के पहले मन्त्र में जो चार महावाक्य हैं उनमें से दूसरा महावाक्य है—**'यत् किंचित् जगत्यां जगत्'**। जगत् तो हमें दीखता-ही-दीखता है, परन्तु उपनिषद् ने कहा कि इस दीखनेवाले के पीछे न दीखनेवाला बैठा है। उपनिषद् ने उसे 'ईश' कहा। वह न दीखनेवाला इस दीखनेवाले जगत् से अधिक महत्त्वपूर्ण है। तो फिर, यह दीखनेवाला जगत् क्या है ? इस दीखनेवाले के विषय में उपनिषद् का कहना है—यह जगत् है, यह संसार कहाता है। 'जगत्' का अर्थ है —**'गच्छति इति जगत्'**—जो गतिमान् हो, स्थिर न हो, वह जगत् है। 'संसार' का अर्थ है—**'संसरति इति संसारः'**—जो संसरण करता रहे, टिकता नहीं, वह संसार है। विश्व को जगत् या संसार विशेष प्रयोजन से कहा है। यह जगत् भी कैसा ? **'जगत्याम् जगत्'**–गतिमान् में गतिमान्, फिरनेवाले में फिरनेवाला, न टिकनेवाले में न टिकनेवाला, अस्थिर में अस्थिर। संसार इतना अस्थिर है कि इसमें जो स्थिर-सा भी प्रतीत हो वह भी अस्थिर है—इसी को उपनिषद् ने जगती में जगत्—गतिमान में भी गतिमान कहा है—घुमरघेरी। इसका यही अभिप्राय है कि संसार एक न रुकनेवाला प्रवाह है, एक घटना आती है, तत्क्षण वह आगे बढ़ जाती और दूसरी घटना सामने आ जाती है। नदी का प्रवाह आगे-आगे बढ़ता चला जाता है, संसाररूपी नदी का प्रवाह भी बहता

जा रहा है। ऐ मनुष्य, तू इसे स्थिर मान बैठा है? नहीं, संसार भ्रम तो नहीं है, माया तो नहीं है, परन्तु टिकनेवाला भी नहीं।

घूमनेवाला अस्थिर चक्र चलता है न घूमनेवाली स्थिर नेमी के सहारे, फिरनेवाली चक्की चलती है न फिरनेवाली कील के सहारे, इस गतिमान् संसार की गाड़ी दौड़ी जा रही है स्थिर पटड़ी के सहारे जो भगवान् के रूप में अडिग है, स्थिर है। उपनिषद् के ऋषि जहाँ जीवन का मार्ग-दर्शन करने के लिए एक स्थिर-तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे हैं—**'ईशावास्यमिदं सर्वं'**—कहकर, वहाँ उसके साथ ही एक अस्थिर-तत्त्व का भी प्रतिपादन कर रहे हैं—**'यत्किंचित् जगत्यां जगत्'**—यह कहकर। अस्थिर स्थिर के बिना और स्थिर अस्थिर के बिना नहीं रह सकते। अस्थिर प्रकृति में जो स्थिरता दीखती है, वह स्थिर ईश्वर के कारण, और स्थिर ईश्वर में जो अस्थिरता दीखती है वह अस्थिर प्रकृति के कारण। ईश्वर भी सत्य है, प्रकृति भी सत्य है, परन्तु ईश्वर में विश्वास नहीं होता क्योंकि वह प्रकृति का पर्दा ओढ़े बैठा है, प्रकृति नित्य प्रतीत होती है क्योंकि वह ईश्वर का सहारा लिये बैठी है। इन दोनों को जो अलग देख लेता है वही सत्य को देख पाता है।

अलग देखनेवालों में एक भ्रम उठ खड़ा हो जाता है। जो ईश्वर को प्रकृति से अलग देखते हैं वे ईश्वर-ही-ईश्वर देख पाते हैं, उन्हें प्रकृति दीखनी ही बन्द हो जाती है। वे संसार के बीयाबान जंगल के दायें रास्ते की तरफ़ निकल पड़ते हैं। जो प्रकृति को ईश्वर से अलग देखते हैं वे प्रकृति-ही-प्रकृति देख पाते हैं, उन्हें ईश्वर दीखना बन्द हो जाता है। वे संसार के बीयाबोन जंगल के बायें रास्ते की तरफ़ भटक जाते हैं। उपनिषद् का कहना है कि ये दोनों भटके हुए हैं। सही रास्ता सीधी पगडंडी पर चलते जाना है। ईश्वर भी ठीक, प्रकृति भी ठीक, न ईश्वर मिथ्या, न प्रकृति मिथ्या—सत्य यह है कि प्रकृति में, जगत् में, संसार में ईश्वर समाया हुआ है, वही नित्य है, संसार तो 'जगती में जगत्' है, प्रवाह में प्रवाह है, नदी की बहती धार है—इस धार के तले में इसका पाट है, वही स्थिर है; यह है; इसकी सत्ता है; यह मिथ्या नहीं है; परन्तु यह अस्थिर है, क्षण-भंगुर है, अनित्य है, चल-चलाचल है। हमारी ग़लती यही है कि हममें से कई इसे सर्वथा मिथ्या मान बैठते हैं, कई इसे नित्य मान बैठते हैं—मिथ्या माननेवाले संसार को ही छोड़ बैठते हैं यद्यपि संसार उनसे छूटता नहीं, नित्य माननेवाले

इसी में अपने को खो देते हैं, यद्यपि समय आने पर संसार इनसे छूट जाता है।

३. तेन त्यक्तेन भुंजीथाः

ईशावास्योपनिषद् का तीसरा महावाक्य है—त्यागपूर्वक भोग करो—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'**। उपनिषद के ऋषि ने जब दो मूल-तत्त्वों की तरफ़ ध्यान खींचा—ईश्वर तथा संसार—तो प्रश्न उठा कि कि इन दोनों का समन्वय कैसे हो? अध्यात्मवादी त्याग की बात कहता है, आधिभौतिकवादी संसार के भोग की बात कहता है, ऐसी हालत में इन दोनों के समन्वय में अध्यात्म तथा आधिभौतिक का मेल होना उचित है। उसी मेल को **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** कहा है। अध्यात्म कहता है 'त्याग', आधिभौतिक कहता है 'भोग', इन दोनों के मेल से बनता है 'त्यागपूर्वक भोग'।

उपनिषद् के पहले महावाक्य ने कहा कि संसार में वही बस रहा है। जो जहाँ बसता है वही तो उसका मालिक होता है। संसार के कण-कण में वही बस रहा है इसलिए कण-कण का वही मालिक है। कितनी विशाल पृथ्वी है, समुद्र का कोई अन्त नहीं, नदियाँ हैं, पहाड़ हैं। इस पृथ्वी से ऊपर-नीचे सूर्य-चान्द-तारे हैं, लोक-महालोक हैं। इन सब में वही बस रहा है—यह उपनिषद् की प्रतिज्ञा है। जब वही बस रहा है सब जगह, तब जो छोटा-सा घर मैं बना कर बैठा हूँ, छोटी-सी दुनियाँ बनाकर उसे अपना समझ बैठा हूँ, यह कितनी हिमाकत है। यह सब उसी का मेरे-तेरे के लिये दिया हुआ है—**'तेन त्यक्त'** है। उपनिषद् का ऋषि इस महावाक्य में दो बातों की तरफ़ हमारा ध्यान खींच रहा है:

पहली बात यह कि जिस-किसी के पास भी जो-कुछ है वह उसका नहीं है, वह भगवान् का है, इसलिये उसका भोग करते हुए उसी को मालिक समझते हुए उसका भोग करना उचित है, अपना समझकर नहीं। दूसरी बात यह कि संसार में भोगने का नियम ही यह है कि भोग तभी भोगा जा सकता है जब उसे त्यागपूर्वक भोगा जाय, जो भोगने के लिये भोग भोगता है वह भोगों को नहीं भोग सकता, भोगों से स्वयं भोगा जाता है। इन दोनों बातों का क्या अभिप्राय है?

(क) **संसार के भोग भगवान् की देन हैं**—हम समझते हैं कि संसार में जितना भोग्य-पदार्थ है उसके हम मालिक हैं, और इसलिये हमें उनके भोगने का—यथेच्छ भोगने का—पूरा अधिकार है। वस्तु-स्थिति यह नहीं है। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है—यह बात आज के युग में तो दिनोंदिन अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है। आज जो वर्ग-संघर्ष चला हुआ है, मालिक-मज़दूर का झगड़ा, पूंजीपति-पूंजीविहीन का झगड़ा, उसका मूल-भूत कारण यह है कि समाज में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है, जिसे स्पष्ट दीखने लगा है और वह यह कहने लगा है कि सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का एकमात्र अधिकार नहीं है। क्योंकि आज का समाज भौतिकवादी समाज है, इसलिये आसमान में यह गूँज उठ रही है कि सब भू-सम्पत्ति स्टेट की है, राज्य की है, वर्ग-विशेष या व्यक्ति-विशेष की नहीं। इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर मिल-मालिक तथा मिल-मज़दूर के झगड़े चलते हैं। इस छीना-झपटी को दूर करने के लिये राज्य-शक्ति का यह कहना है कि हर उद्योग का राष्ट्रीयकरण होना चाहिये क्योंकि अस्ली मालिक तो समाज है, राष्ट्र है। यह सिद्धान्त इसलिये जम रहा है क्योंकि हमारा दृष्टिकोण भौतिकवादी होने के कारण समाज या राष्ट्र तक ही पहुँचता है। यह बात दिनोंदिन घर करती चली जा रही है कि सम्पत्ति का स्वामी व्यक्ति नहीं समाज है। इसी को कई लोग सोशियलिज़्म कह देते हैं, प्रकार भेद से अन्य लोग इसे कम्युनिज़्म कह देते हैं, आधारभूत सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को जो-कुछ दिया जाता है उस पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं, समाज का स्वामित्व है। सम्पत्ति को समाज की देन समझकर ही उसका उपभोग करना उचित है। इसी को दूसरे शब्दों में यूँ कहा जाता है कि व्यक्ति के पास जो धन-सम्पत्ति है उसका वह मालिक नहीं, ट्रस्टी है। अगर इसी विचार को अध्यात्मवाद की दृष्टि से कहा जाय, तो कहना होगा कि सब सम्पत्ति भगवान् की है, व्यक्ति की नहीं, भगवान् की देन समझकर ही मनुष्य को, जो-कुछ उसे मिला है, उसका उपभोग करना उचित है, उसका मालिक बनकर बैठना उचित नहीं। दोनों विचारों में मूलगत कोई भेद नहीं है—भौतिकवादी के लिये सम्पत्ति का स्वामी समाज है, राष्ट्र है; अध्यात्मवादी के लिये सम्पत्ति का स्वामी भगवान् है—भोगने वाला मनुष्य दोनों हालात में जो-कुछ भोग रहा है उसे 'देन' समझकर ही भोगे तो ठीक, स्वामी

समझकर भोगे तो ग़लत। ऐसा नहीं समझेगा तो दुनियाँ का कोई-न-कोई थपेड़ा उसकी आँख खोल देगा।

(ख) **संसार के भोग त्यागपूर्वक ही भोगे जा सकते हैं**—संसार के भोगों को भोगने के सम्बन्ध में इस महावाक्य में दूसरी बात यह कही गई है कि भोग भोगा ही तब जा सकता है जब उसे त्यागपूर्वक भोगा जाय, यदि भोगने में त्याग की पुट, त्याग की भावना नहीं है, तब भोग भोगा ही नहीं जा सकता। यह परस्पर-विरुद्ध बात जंचती है, परन्तु मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से सत्य यही है। इन्द्रियों की रचना ही ऐसी है कि अगर भोग भोगते हुए भोग का त्याग न किया जाय, तो इन्द्रियाँ भोगने की शक्ति ही खो देती हैं। मनुष्य भूख लगने पर खाना खाता है, खाना खाता ही चला जाय तो खाने की शक्ति ही जाती रहती है। खाना और खाना छोड़ना—ये दोनों साथ मिले हुए हैं, अलग-अलग नहीं रह सकते। संसार के भोग भोगते हुए एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब भोग अपने-आप छूट जाते हैं।

संसार के भोगों में रुचि वासना के कारण है। वासना को पूरा कर लिया जाय तो वासना मिट जाती है। जो वासना को नहीं मिटने देते, वासना को जगाते रहते हैं, उनकी इन्द्रियाँ ही काम करना छोड़ देती हैं। इसीलिये उपनिषद् के ऋषि ने सदियों से अनुभव किया हुआ महा-वाक्य कह दिया—संसार को भोगना है तो त्यागने के लिये तैयार रहो। जो त्यागने की भावना के बिना संसार के भोगों में लिप्त हो जाता है उसे संसार के भोग ही त्याग देते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय स्वयं कह देती हैं कि 'अब बस'। उदाहरणार्थ, हम खाना खा रहे हैं—हलवा, पूड़ी, मिठाई। खाते-खाते एक पायन्ट आ जाता है जब पेट कह देता है—बड़ा रस आया, परन्तु 'अब बस', और नहीं चाहिये। वासना की आग में और झोंकते जाओगे तो पेट ही उल्टी कर देगा—कहेगा, मना किया था, नहीं माने, लो मैं स्वयं उलट देता हूँ। यही सब इन्द्रियों का हाल है। इन्द्रियाँ वासना को तृप्त करती हैं, पर कुछ देर बाद छोड़ देती हैं। यही स्वाभाविक नियम है जिसे उपनिषद् के ऋषि ने एक सूत्र में, एक फ़ार्मूले में बाँध कर रख दिया—**'त्यक्तेन भुंजीथाः'**।

मनुष्य की वासनाएँ तीन भागों में उसे भटकाती हैं—सेक्स की वासना, धन-संपत्ति के संचय की वासना तथा यश पाने की वासना। इन्हीं को शास्त्रों ने पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा का नाम दिया है।

सेक्स की एषणा को शिष्ट शब्दों में शास्त्रों में **'पुत्रैषणा'** कहा है। इस एषणा में त्याग न हो, तो यह एषणा मनुष्य का संहार कर डालती है। सम्पत्ति तथा संचय की एषणा—**'वित्तैषणा'**—के तीन परिणाम शास्त्रों ने कहे हैं—**'तिस्रो गतयः वित्तस्य, भोगो, दानं, क्षयः'**—या तो सम्पत्ति भोगने से नष्ट हो जाती है, या समझदार लोग उसे लोक-कल्याण में दान देकर समाप्त कर देते हैं, और जो लोग उसे संभाल कर रखने की कोशिश करते हैं उनकी किसी और तरह से क्षीण हो जाती है—चोर चुरा लेते हैं, सरकार टैक्स लगाकर छीन लेती है या मर जाने पर तो सभी के हाथ से निकल जाती है। संचय करके धनी होने का ख्याल ख्यालमात्र है। संचय करके धनी होने के समान निर्धन कोई नहीं क्योंकि हज़ार जमा कर लिये तो लाख क्यों नहीं, लाख जमा कर लिये तो दस लाख क्यों नहीं। असली निर्धन वह है जो **'क्यों नहीं'** के फेर में पड़ा रहता है। और, जो जितना अधिक संचय करता है वह उतना ही अधिक **'क्यों नहीं'** के फेर में घूमा करता है। तीसरी वासना है—**'लोकैषणा'**। सब वासनाओं से छुट्टी लेने के बाद भी लोकैषणा नहीं छूटती। पद चाहिये, लोग सामने झुकें, माथा टेकें, पाँव छूएँ, जुलूस निकालें, जयकारा बोलें। संसार का अनुभव बतलाता है कि जो जितना ही सम्मान के पीछे ललसाता है उतना ही सम्मान उससे भागता है। स्वामी रामतीर्थ ने ठीक कहा था: 'भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम, जब से पीठ पीछे फेर ली, अब बेकरार आने को है।' नेताओं के लिये जयकारे और जयकारों के बाद उन्हें दुत्कारे देखकर यह बात और स्पष्ट हो जाती है।

उपनिषद् का कहना यह है कि भगवान् ने संसार को भोग्य-पदार्थों से लबालब भरा हुआ है, परन्तु इन्हें तभी भोगा जा सकता है जब त्यागपूर्वक भोगा जाय। संसार किसी भी क्षण हाथ से छूट सकता है—जो यह समझकर संसार में विचरते हैं उन्हें संसार नहीं भोगता, वे संसार को भोगते और उसका रस लेते हैं।

४. मा गृधः कस्यस्वित् धनम्

इस उपनिषद् का चौथा महावाक्य है—किसी के धन के लालच में मत पड़ो—**'मा गृधः कस्यस्वित् धनम्'**। ऋषि ने पिछले महावाक्य

में कहा, जो-कुछ है भगवान् का है, ठीक ऐसे ही कहा जैसे ग्राजकल के राष्ट्रवादी कहते हैं कि जो-कुछ है राष्ट्र का है। अगर ये राष्ट्रवादी ग्रास्तिक होते, तो ये भी कहते कि जो-कुछ है भगवान् का है, और अगर उपनिषदों के ग्रास्तिक ऋषि राष्ट्रवादी होते, तो वे भी कहते कि जो-कुछ है राष्ट्र का है। जो लोग सम्पत्ति पर चढ़ कर बैठे हैं उसे उन्होंने पैदा तो नहीं किया—वे पैदा हुए और उन्होंने देखा कि इस विश्व में अथाह-भूमि पड़ी है, बे-रोकटोक हवा बहती है, जंगलों-पर-जंगल लहलहा रहे हैं, समुद्रों और नदियों का कोई अन्त नहीं है। कुछ लोगों ने इस भौतिक-सम्पत्ति पर कब्ज़ा कर लिया, परन्तु कब्ज़ा करने से वह उनकी कैसे हो गई? उपनिषद् का ऋषि कहता है—यह धन-सम्पत्ति हम में से किसी की नहीं, यह देन है—भगवान् की कहो, या समाज की कहो, या राष्ट्र की कहो, परन्तु व्यक्ति रूप से यह किसी की अपनी नहीं। ऋषि कहता है, यह किसी की नहीं—न मेरी, न तेरी। जब न मेरी, न तेरी, फिर लालच-भरी दृष्टि से किसी के पास पड़ी देन को, धरोहर को, ट्रस्ट को देखकर लार क्यों टपकाते हो? यह समझ लेना कि संसार की धन-सम्पत्ति भगवान् की हमें देन है, ससार की अनेक समस्याओं को हल कर देता है। जो देन होती है वह सबको बाँटी जाती है। देन का अर्थ है—भगवान् का दिया हुआ प्रसाद। प्रसाद को तो घर-घर जाकर बाँटा जाता है, उसे अपने पास ही समेट कर कोई नहीं रख लेता। संसार की सम्पत्ति को जब हम भगवान् की देन न समझकर अपना अधिकार बना लेते हैं, तब स्वाभाविक तौर पर उस अधिकार का विस्तार करने लगते हैं, जो-कुछ दूसरे अपना बनाये बैठे हैं उसे छल-कपट या ज़बर्दस्ती से अपना लेने की हमारे भीतर लालसा जाग उठती है।

किसी के धन-सम्पत्ति की लालसा न करो—इसका यह अर्थ नहीं है कि अगर धन-सम्पत्ति मेरी नहीं तो मेरे जैसे किसी दूसरे की है। नहीं, ऋषि कहता है, न यह मेरी है, न उसकी है, यह सब भगवान् की है। भगवान् की है, तो हम में से किसी की नहीं है। आज हम सब व्यक्ति-रूप से या समाज-रूप से—यह मेरी है, यह मेरी है—इसी जंजाल में पड़े हुए हैं। इसी का यह परिणाम है कि मानव-समाज में मानव मानव का संघर्ष, समाज समाज का संघर्ष, देश देश का संघर्ष छिड़ा हुआ है। भौतिकवादी कहते हैं कि उन्नति के लिये यह संघर्ष

लाज़मी है। उनका यह भी कहना है कि संघर्ष प्रकृति का अटल नियम है। मनुष्य संघर्ष से ही यहाँ तक पहुँचा है जहाँ आज आ खड़ा हुआ है। कहते हैं, डार्विन ने यह खोज करके पता लगाया कि जीवन का आधारभूत नियम सिर्फ़ संघर्ष का है। निम्न प्राणी संघर्ष से ही जीते हैं। कमज़ोर प्राणी सृष्टि में नष्ट हो जाता है, बलशाली ही जीवन के संघर्ष में अन्त तक बना रहता है। वे भूल जाते हैं कि विकास की शृंखला में मनुष्य जहाँ पहुँच गया है वहाँ संघर्ष का नियम टूट चुका है। मनुष्य बन जाने पर भी क्या वह पशु बना रहेगा। छीना-झपटी, लड़ाई-झगड़ा तभी होता है जब मेरा-तेरा का सवाल खड़ा हो जाता है। ऋषि कहता है कि कुछ किसी का नहीं है, सब भगवान का है। अगर यह सूत्र हृदयंगम कर लिया जाय, तो किस बात का झगड़ा, किस बात की लड़ाई।

मनुष्य के स्तर पर जब मानव आ पहुँचा तब भी इस बात पर अड़े रहना कि हम अपना स्वत्व मानकर एक-दूसरे से छीना-झपटी करते रहेंगे इस बात को स्वीकार करना है कि मानव मानव नहीं बना, पशु ही बना रहा। बन्दर से ममुष्य बन गया, सिर्फ़ पूँछ झड़ गई, परन्तु बन्दर-का-बन्दर ही रहा। विकासवादियों को भी मानना पड़ेगा कि अगर सृष्टि में विकास का नियम काम करता है, तो मानव में आकर वह टूट जाता है। अगर टूट नहीं जाता, तो भी विकास अपनी नियति पर तभी पहुँच सकता है जब संघर्ष का नियम मानव के विकास में आकर टूट जाय, मानव मानव के रक्त का पिपासु होने के स्थान में दूसरे के लिये रक्त देने को समर्थ हो जाय। दूसरे से लेना नहीं, दूसरे को देना—यह विकास की दिशा है—इसी को उपनिषद् के ऋषि ने **'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'** कहा है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

उपनिषद् ने अब तक यह कहा कि संसार का भोग त्यागपूर्वक करना उचित है, भोग में अपने को खो देना उचित नहीं क्योंकि विश्व में जो-कुछ है, वह परमात्मा की मनुष्य को देन है, मनुष्य की अपनी सम्पत्ति नहीं है। जो देन है उसे प्रभु ने प्रसाद रूप से दिया है, प्रसाद बाँटा जाता है, उसमें सबका हिस्सा होता है, वह किसी को निजी सम्पत्ति नहीं होता। परन्तु अगर कर्म करके मनुष्य को जो-कुछ मिला

है उसे उसने दूसरों को बाँट देना है, उसका त्याग कर देना है, तो वह कर्म ही क्यों करे? कर्म किया जाता है प्राप्ति के लिए, कर्म खो देने के लिये नहीं किया जाता। प्राप्ति हुई तो संसार में लिप्ति भी तत्काल हुई—इसका क्या इलाज है? अगर संसार में त्यागपूर्वक जीना है, अगर संसार में लिप्त नहीं होना, तो कर्म ही क्यों करे? कर्म छोड़ दें, तो प्राप्ति नहीं होगी, प्राप्ति नहीं होगी तो लिप्ति नहीं होगी, लिप्ति नहीं होगी तो अपने-आप त्याग का जीवन होगा—इस दृष्टि से त्यागपूर्वक जीना तथा कर्महीन जीना एक-सा हो जाता है, फिर कर्म को ही क्यों न छोड़ दें? उपनिषद् का ऋषि त्याग का उपदेश तो देता है, परन्तु कर्म छोड़ने का उपदेश नहीं देता। ऐसी हालत में कोई ऐसा रास्ता होना चाहिए जिस पर चलने से कर्म भी होता रहे, त्याग भी होता रहे, ऐसा कर्म होता रहे जो निर्लेप-कर्म हो, मनुष्य को जकड़ न ले, बाँध न ले। ऋषि कहते हैं कि ऐसा रास्ता है जिससे क़र्म भी हो, संसार का बंधन भी न पड़े—साँप भी मर जाय, लाठी भी न टूटे। इस बात को समझने के लिये कुछ बातें समझ लेनी चाहियें:

(क) **कर्म तो छूट नहीं सकता**—सबसे पहली बात समझने की यह है कि मनुष्य कितना ही चाहे कर्म किये बग़ैर वह रह नहीं सकता। कर्म सृष्टि का प्राण है। जड़-चेतन जगत् में सर्वत्र कर्म हो रहा है। पौदा उगता है, बढ़ता है, फूल खिलता है, फूल की सुगन्ध चारों दिशाओं में फैलती है; वृक्ष उगता है, बड़ा हो जाता है, फलों से लद जाता है; चींटी चली जा रही है, जब तक मीठे के कण तक पहुँच नहीं जाती चलती चली जाती है। जो-कुछ छोटे-बड़े प्राणी में हो रहा है वही मनुष्य में भी हो रहा है। मनुष्य भी प्रकृति के नियम में बँधा कर्म को छोड़ नहीं सकता। यह कहना कि अगर संसार को भोग कर त्यागना ही है, तो संसार को भोगने में, कर्म में प्रवृत्त ही क्यों हों ठीक नहीं है, इसलिये ठीक नहीं है क्योंकि कर्म को मनुष्य छोड़ना चाहे तब भी नहीं छोड़ सकता। कर्म हर प्राणी का स्वभाव है। गीता में कहा है: **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्, कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः'**—कोई भी, एक क्षण के लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक प्राणी का स्वभाव ही उसे कर्म करने के लिये बाधित करता है। इसलिये कर्म तो करना ही है, कर्म करते हुए ही जीना पड़ेगा, उससे कोई छुटकारा नहीं, कर्म छोड़कर कोई नहीं

जी सकता, तभी ईशावास्योपनिषद् का कहना है—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'**—कर्म करता हुआ ही मनुष्य जीने की इच्छा करे—कर्म को ताक में रखकर बैठने के सपने न ले क्योंकि यह असम्भव है।

(ख) **अगर कर्म करते हुए ही जीना अवश्यंभावी है, तो तय करना होगा कि कैसा कर्म करे**—ईशोपनिषद् कहती है कि जब तक जीना है कर्म करते ही रहना होगा, कर्म करना जीवन का स्वभाव है। जीवन अपने हाथ में तो नहीं, जब चाहा ले लिया, जब चाहा छोड़ दिया। जैसे जीवन अपने हाथ में नहीं है, वैसे कर्म न करना भी अपने हाथ में नहीं है। जब जीवन मिला है तो कोई-न-कोई कर्म विवश होकर करना ही होगा। अपने हाथ में सिर्फ़ इतना है—अच्छा कर्म करें, या बुरा कर्म करें। बुरे कर्म अनेक हैं, अच्छे कर्म भी अनेक हैं। बुरे कर्म करेंगे तो बुरा फल मिलेगा इसलिए बुरे कर्म करने की प्रेरणा उपनिषद् से नहीं मिल सकती। कर्म करना तो अच्छा ही करना। अच्छे कर्मों को उपनिषद् ने घेर-घार कर एक कर्म में रख दिया है, सब अच्छे कर्म एक कर्म में समा जाते हैं—वह एक कर्म है, पहली श्रुति का महावाक्य—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'**—त्यागपूर्वक भोग। कर्म करो परन्तु कर्म से चिपट कर मत बैठे रहो, जो-कुछ करो उससे अलग होकर रहो। कर्म की इस मनोवृत्ति में सब अच्छे कर्म समा जाते हैं। जो-भी अच्छा काम करो यह परख लो कि मैं इसमें लगाव से काम कर रहा हूँ या बेलगाव से, त्यागपूर्वक या भोगपूर्वक। मैं जो काम कर रहा हूँ उसके अच्छे होने की कसौटी यह है कि उसमें त्याग की पुट है या नहीं, मैं उससे अलग हो सकता हूँ या नहीं। मेरे कर्म के साथ कोई लालसा तो नहीं बँधी, कोई स्वार्थ तो नहीं टँगा, कोई ऐसा स्वार्थ जिसके कारण मैं अलगाव की वृत्ति नहीं ला सकता। संसार के सारे उपद्रव लगाव के परिणाम हैं, चिपट जाने के, अलग न हो सकने के। मनुष्य जितना मोह-ममता में फँसता है उतना ही अपनेपन को खो देता है। त्याग-पूर्वक भोग, निर्मोही कर्म, निष्काम कर्म, बेलगावपन, वासनाहीनता—इन सब का एक ही अर्थ है।

(ग) **जब कर्म करके जीना है तब अच्छा है मनुष्य सौ वर्ष जीने का संकल्प करे**—जीना सब चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। बूढ़ा हो जाने पर भी जीवन की इच्छा बनी रहती है, बीमार हो जाने पर भी मनुष्य जीना ही चाहता है। मरने की इच्छा तब होती है जब इच्छा

ही समाप्त हो जाती है, नहीं तो मरते-मरते भी सब जीना ही चाहते हैं। कहते हैं : **'अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुंडं वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं तदपि न मुंचत्याशा पिंडम्'**—अंग गल गये हों, सिर के बाल पक गये हों, दाँत गिर गये हों, लाठी के बग़ैर चला न जाता हो, तब भी जीने की आशा बनी रहती है। जब जीने की इच्छा इतनी बलवती है, तब जीना तो थोड़ा क्या जीना, सौ बरस तक जीना। वेद ने कहा है—**'जीवेम शरदः शतम्'**, ईशावास्योपनिषद् कहती है—**'जिजीविषेत् शतं समाः'**। शोपनहार ने लिखा है कि बायबल के अनुसार मनुष्य की आयु ७० वर्ष की लिखी है, परन्तु ७० वर्ष में मरना तो कच्ची आयु में मरना है। जो ७० वर्ष की आयु में मरते हैं, वे ऐसे मरते हैं जैसे कोई कच्चे फल को तोड़ ले। कर्मयोगी का मरना तो वह है जब मनुष्य मरे नहीं, परन्तु पके फल की तरह जीवन का पूरा रस लेकर अपने-आप भूमि पर गिर पड़े। ऐसे लोग मरते नहीं, उनका जीवन समाप्त हो जाता है। सेना के लोग कहा करते हैं : 'Soldiers never die, they whither away'. इसी प्रकार सौ वर्ष की आयु में मरना मरना नहीं फल का पक कर गिर पड़ना है। उपनिषद् का लक्ष्य इस प्रकार का जीवन है।

वैदिक-आदर्श इस प्रकार का जीवन बिताना है जिसमें मनुष्य ज़्यादा-से-ज़्यादा जी सके, कर्म करता-करता जीवन बिताये, और जब संसार को छोड़े तब सब-कोई कह सके कि उसका जीवन कर्मयोगी का जीवन था, ऐसा कर्मयोग जिसमें उसने जो कर्म किया निष्काम-भाव से किया, त्यागभाव से किया, निर्लेप रूप से किया। जो व्यक्ति इस प्रकार का जीवन बिताते हैं उनके लिये ईशावास्योपनिषद् का कहना है—**'एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे'**—कर्म करते हुए त्यागपूर्वक जो कर्म करता है वह मोह-माया की उलझन से बच जाता है, कर्म का लेप उस पर नहीं चढ़ता। इस प्रकार दुनियाँ में रहते हुए भी दुनियाँ से अलग बने रहने के सिवाय मोह-माया जाल में न फँसने का और कोई रास्ता नहीं है।

(घ) **क्या संसार में रहते हुए संसार में न फँसना सम्भव है**—प्रश्न हो सकता है कि क्या यह सम्भव है कि मनुष्य संसार में रहे और इसके जाल से अलग भी बना रहे, कीचड़ में जिये और कीचड़ से अलग-थलग भी रहे, कोयलों की दलाली करे और कालस भी न लगने दे?

जिस ऋषि ने कहा—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'**—त्यागपूर्वक भोग करो—उसका कहना है कि यह सम्भव ही नहीं, जीवन का यही गुर है। वह कैसे ?

कल्पना करो कि एक नाटक खेला जा रहा है। खेलनेवाला राम का अभिनय कर रहा है। सीता को रावण चुरा ले गया है। राम रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं, वृक्षों से पूछते हैं, क्या तुमने सीता को देखा है। बाहर से नाटक का जो पात्र रो रहा है, भीतर से वह बाहर हो रही घटनाओं से अछूता है। जब तक बाहर हो रही घटनाओं से हम अपनी एकात्मता स्थापित नहीं कर लेते तब तक घटनाएँ अलग, हम अलग। रामलीला के खेल में अगर सचमुच राम उपस्थित हो जायें, तो भीतर-बाहर एक हो जायें, राम अपने को बाहर की घटनाओं से अलग न कर सकें। बाहर की घटनाओं में रहते हुए अपने को उनसे अलग कर सकना ही जीवन की कला है, इसी को उपनिषद् ने **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** कहा है।

प्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्स ने लिखा है : "And when it comes to introspection, then I feel very clearly that I am something very distinct from this individual H. G. Wells who eats and sleeps and runs about the world. I feel that I am linked to him as a boat may be moored to a floating buoy. More than that, I have to use his voice, see with his eyes, experience the pain of any physical misfortune that comes to him. He is my window on the world and my mouth-piece...When we are young, we identify ourselves with ourselves very completly and fiercely. That may be a biological necessity. But as we ripen or as we become aged the separation widens."

अर्थात्, "जब मैं अपने आभ्यन्तर का निरीक्षण करता हूँ तब मुझे स्पष्ट अनुभव होता है कि मैं उस एच० जी० वेल्स से जो खाता है, सोता है, दुनियाँ में जगह-जगह दौड़ता-फिरता है, सर्वथा भिन्न हूँ। मुझे ऐसा अनुभव होने लगता है कि जैसे एक किश्ती किसी खूँटे से बँधी हो वैसे ही मैं इस शरीर रूपी खूँटे से जुड़ गया हूँ, बँध गया हूँ। इतना ही नहीं, यह शरीर बोलता है जिसे मैं समझता हूँ कि मैं बोलता हूँ, आँखें देखती हैं जिसे मैं समझता हूँ कि मैं देखता हूँ, शरीर को कष्ट होता है जिसे मैं मान लेता हूँ कि मुझे कष्ट हो रहा है। बाह्य-संसार

से सम्पर्क स्थापित करने के लिए मेरा शरीर वह खिड़की है जिसके द्वारा मैं बाहर झाँकता हूँ। जब हम शैशवावस्था में जीवन प्रारम्भ करते हैं, तब हम अपने शरीर के साथ इतनी एकात्मकता स्थापित कर लेते हैं कि दोनों के अलग-अलग होते हुए भी वे दोनों एक ही अनुभव होने लगते हैं। सम्भव है, जीवन का संचालन करने के लिये यह आवश्यक ही हो, परन्तु ज्यों-ज्यों हम परिपक्व होने लगते हैं, वृद्ध-अवस्था निकट आने लगती है, त्यों-त्यों हमारा आपा तथा हमारा शरीर—इन दोनों की भिन्नता, इन दोनों का अलग-अलग होना, इन दोनों में फ़ासला बढ़ता जाता है।''

कर्म करते हुए कर्म का लेप न होने देने का रास्ता **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** का रास्ता ही है। इसी को किसी कवि ने **'कमलपत्र-मिवाम्भसा'** कहा है—जैसे कमल का पत्ता पानी में रहता हुआ भी भीजता नहीं, इसी प्रकार संसार में रहते हुए भी वासनाओं से मुक्त रहना जीवन की कला है।

मानव का शतायु होने का जो लक्ष्य है—त्यागपूर्वक संसार का भोग करना—यह कहकर ऋषि कहते हैं कि इसी प्रकार आत्मा की उन्नति होती है, इससे उल्टे, सिर्फ़ भोग के मार्ग पर चलने से आत्मा का हनन होता है। वह कैसे ?

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

इस श्रुति में शब्दों का एक प्रत्यक्ष अर्थ है, दूसरा प्रत्यक्ष के भीतर अन्तर्निहित अर्थ है। प्रत्यक्ष अर्थ तो स्पष्ट है, वह अर्थ जो मोटे तौर पर शब्दों से प्रतीत होता है। शब्द कहते हैं : जो लोग आत्म-हनन करते हैं वे मर कर अन्धकार से घिरे हुए आसुर नामक लोकों में जाते हैं। परन्तु इस प्रकरण में शब्दों के भीतर गहरा अर्थ भरा हुआ है। श्रुति का कहना है कि जो **'आत्महन'** लोग हैं—**'ये के च आत्महनो जनाः'**—जो आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं। आत्मा का हनन होता है क्या ? आत्मा तो अमर है, उसका हनन कैसे होगा ? हनन तो शरीर का होता है, आत्मा का हनन नहीं होता। आत्मा के विषय में तो गीता में कहा है : **'न जायते म्रियते वा कदाचित्'**—न आत्मा उत्पन्न होता है, न मरता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य कहते हैं : **'अविनाशी वा अयमात्मा'**—आत्मा अविनाशी है। ऐसी

स्थिति में उपनिषत्कार आत्मा की हत्या की बात कैसे कह सकते हैं? अस्ल में, आत्म-हनन तथा आत्म-हत्या में भेद है। उपनिषत्कार ने **'आत्म-हनन'** शब्द का प्रयोग किया है, **'आत्म-हत्या'** का नहीं। 'आत्म-हत्या' ग़लत शब्द है, 'आत्म-हनन' सही शब्द है। हत्या शरीर की होती है, हनन आत्मा का होता है। वह कैसे? ऋषि का कहना है कि संसार में जीवन की कला त्याग-पूर्वक रहने की है। अगर हम भोग-पूर्वक जीते हैं, तो जीते नहीं मरते हैं। भोग जीवन की तरफ़ नहीं ले जाता, आत्मा की अधोगति की तरफ़ ले जाता है। मनुष्य जब-जब भी निरे भोग के गर्त में गिरता है तब-तब मानो मरता है, जीवन के प्रति द्रोह करता है। भोग में डूब जाने को ही ऋषि ने मृत्यु का नाम दिया है क्योंकि उसकी दृष्टि में भोग में गिरना, ऐसे भोग में जिसमें त्याग न जुड़ा हो, मरना ही है। इस प्रकार का विलासी, वासनामय जीवन बिताने वाले के लिए उपनिषद् का कहना है कि ऐसे लोग विषयों में घिर कर, मर कर—**'प्रेत्य'**, अन्धकार से घिरे हुए जीवन में—**'अन्धेन तमसा वृताः लोकाः'**, जा पहुँचते हैं—**'अभिगच्छन्ति'**। जिस प्रकार के जीवन में वे जा पहुँचते हैं उसे आसुर या राक्षसी जीवन कहा जा सकता है—**'असुर्या नाम ते लोकाः'**। जीवन की तुलना प्रकाश से है, मृत्यु की तुलना अन्धकार से है।

शब्दों के प्रत्यक्ष अर्थ के पीछे छिपा हुआ अप्रत्यक्ष अर्थ यह है कि यद्यपि ऋषि उपदेश दे रहे हैं कि कर्म करते हुए मनुष्य को सौ वर्ष तक क्रियाशील रहने की कामना करनी चाहिये, तो भी अगर ऐसा कर्म किया जायगा जिसके लिए आत्मा गवाही न दे, जिसके लिये आत्मा में ग्लानि उत्पन्न हो, जिसमें आत्मा ऊपर उठने के स्थान में नीचे गिरता प्रतीत हो, जिसमें आत्मा का हनन होता अनुभव हो, तो मनुष्य के जीवन में उजेले के स्थान में अन्धेरा छा जायगा, वह अनुभव करेगा कि वह प्रकाश से अन्धकार में आ गिरा—इसी को **'अन्धेन तमसा आवृताः लोकाः'** कहा है।

श्रुति ने मनुष्य को कर्म में जुटे रहने की आज्ञा दी, कहा—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'**—जब तक जीये कर्म करता हुआ ही जीये, हर समय कमर कसे रहे। श्रुति का कहना है कि मनुष्य ही नहीं, परमात्मा भी हर समय क्रियाशील रहता है, इतना क्रियाशील कि दिखता ही नहीं कि क्रिया कर रहा है। जब क्रिया उग्र हो जाती है

तब दीखती नहीं । उपनिषद् का परमात्मा के विषय में कहना है :

अनेजदेकं मनसो जवीयः नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोन्यान् अत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

इस श्रुति में प्रभु के विषय में चार वचन कहे गये हैं—(क) मन से भी वह तीव्र वेग का है; (ख) इन्द्रियाँ जहाँ उसे ढूँढ़ नहीं पातीं वहाँ वह पहले से ही मौजूद होता है; (ग) वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ जाता है; (घ) वायु के समान बोझरहित होने पर भी वह आस्मान के जल के सारे बोझ को उठा रहा है । आइये, इन चारों वचनों पर अलग-अलग विचार करें :

(१) **अनेजदेकं मनसो जवीयः**—पहला वचन है कि मन क्रियाशील है, इसकी क्रियाशीलता के लिए श्रुति का कहना है कि सौ वर्ष तक क्रियाशील बने रहना ही जीवन की सफलता है, परन्तु मन के मुकाबिले में परमात्मा इतना क्रियाशील है, इतना क्रियाशील है कि अक्रियाशील दीखता है । जो जितना क्रियाशील होगा वह उतना ही अक्रियाशील प्रतीत होगा । हवाई जहाज़ जब पूरे वेग में होता है तब ऐसा प्रतीत होता है कि खड़ा है, चल ही नहीं रहा । इसका यह अर्थ नहीं कि जो भी खड़ा हो वह इतने वेग से गति कर रहा होता है कि गति करता प्रतीत नहीं होता । दो वस्तुएँ खड़ी प्रतीत हो सकती हैं—या तो वे जो गति कर ही न रही हों, या वे जो इतनी गति कर रही हों कि उनकी गति ही अ-गति, उनका वेग ही अ-वेग प्रतीत हो रहा हो । मन संसार में भागा फिरता है । कहाँ-कहाँ नहीं चला जाता । इसकी दौड़ कहीं समाप्त ही नहीं होती । जहाँ पहुँचता है उससे आगे की सोचने लगता है । जैसे क्षितिज का कहीं अन्त नहीं, वह आगे-ही-आगे दीखता है, इसी प्रकार मन की दौड़ का कहीं अन्त नहीं, मन की दौड़ अनन्त है । आज यह चाहिए, यह मिला तो वह बेकार हो जाता है, उससे अगली वस्तु चाहिए । पा लेने पर हर वस्तु खिलौना बन जाती है, निकम्मी, उससे अधिक मूल्यवान् वस्तु चाहिए—मन भागता ही फिरता है । मन भाग कर जहाँ भी पहुँचता है, प्रभु बिना भागे, ठहरा हुआ ही उससे आगे मौजूद होता है—**'अनेजत् एकं मनसो जवीयः'**—बिना गति किये वह मन से भी अधिक गतिशील है । मन की क्रियाशीलता, मन की दौड़ कुछ पाने के लिये है । दौड़कर संसार का जो-कुछ भी यह पाता है, उससे उसकी तृप्ति नहीं होती क्योंकि तृप्ति का स्रोत प्रभु उस सबसे

आगे होता है जिसे संसार के विषयों के रूप में इस दौड़ में मन ने पाया होता है। मन को मृग-तृष्णा की तरह भगाये प्रभु बिना भागे मन के आगे-आगे होता है। इस दौड़ में मन के जो हाथ लगता है उसे देखकर उसे जो आगे दीखता है वह अधिक आकर्षक होता है। आकर्षण सब भगवान् का है। हर वस्तु में उसी की झलक है, वही झलक मन को भगाये फिरती है, परन्तु यह भागना छाया को पकड़ने के समान है। जिसकी यह छाया है जब तक वह पकड़ में नहीं आता तब तक छाया के पीछे भागना-ही-भागना रह जाता है।

(२) **नैनत् देवा आप्नुवन् पूर्वं अर्षत्**—यह इस प्रकरण का दूसरा वचन है। जब मन अपनी दौड़ में उसे नहीं पकड़ पाता, जब दौड़ में वह मन से भी आगे है, मन से भी उसमें अधिक गति है, तब इन्द्रियाँ उसे कैसे पकड़ पायेंगी। इन्द्रियाँ अपनी पूरी ताकत लगा कर जहाँ पहुँचती हैं, वहाँ जाकर पाती हैं कि वह पहले-से ही वहाँ पहुँचा हुआ है, इन्द्रियाँ उसे नहीं पा सकतीं—**'नैनत् देवा आप्नुवन्'**—क्योंकि इनके पहुँचने से पहले ही वह वहाँ मौजूद है—**'पूर्वं अर्षत्'**। पाना तो उसी का होता है जो पहले पाया न गया हो, दौड़ा तो उसी के लिए जाता है जो दूर हो, प्रभु तो पहले से ही अपने पास मौजूद है, उसमें तथा हमारे बीच तो कोई दूरी ही नहीं है, फिर उसके पाने के लिए दौड़-धूप क्या, जब अपने घर में ही उसका निवास है। वह दौड़ से नहीं मिलता, जितना दौड़ेंगे, बाहर जायेंगे, उतना ही उससे दूर चलते जायेंगे। उपनिषद् का कहना है कि बाहर ढूँढने से वह नहीं मिलता, बाहर की तलाश छोड़ देने तथा भीतर शान्त होकर बैठ जाने से वह मिल जाता है।

(३) **तत् धावतः अन्यान् अत्येति तिष्ठत्**—प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए यह इस श्रुति का तीसरा वचन है। श्रुति के इस पद में कहा गया है कि वह ठहरा-ठहरा भागने वालों से आगे निकल जाता है। जो बात श्रुति में पहले कही उसी को भिन्न-भिन्न प्रकार से बार-बार कहा जा रहा है। ठहरा हुआ भागनेवाले से आगे कैसे निकल सकता है? जो सब जगह मौजूद है वह ठहरा हुआ ही तो है। भागने-वाले उसी के बीच में दौड़ लगा सकते हैं, उसके बाहर तो जा नहीं सकते, जहाँ भी पहुँचेंगे वह वहाँ पहले-से मौजूद होगा, पहले-से पहुँचा हुआ होगा। कौन दौड़ लगायेगा उसके साथ? दौड़ तो कहीं पहुँचने

के लिये होती है, वह तो सभी जगह मौजूद है। इसीलिये श्रुति ने कहा—'**तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्**'—वह बैठा रहता है और सबसे आगे निकल जाता है।

(४) **तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति**—यह इस श्रुति का चौथा वचन है। इस श्रुति का सारा वर्णन विरोधाभासों से भरा पड़ा है। बिना चले मन से भी तीव्र गति से चलने वाले, इन्द्रियों की पहुँच में न आकर भी इन्द्रियों में ही पहले से मौजूद रहनेवाले, सब दौड़नेवालों से भी बैठे-बैठे आगे निकल जानेवाले प्रभु में एक और विरोधाभास है—वह इतना हल्का है कि हवा भी उसके सामने क्या हलकी होगी, परन्तु संसार में जितना जल बरसता है, जिससे नदियाँ उफन आती हैं, समुद्र भर जाता है, उस सब अनन्त जल-राशि को वह हल्की हवा में उठाये रहता है। हवा जैसी हल्की वस्तु समुद्रों के बोझ को उठाये फिरती है—यह उसका चमत्कार नहीं तो किसका है? '**अपः**' का अर्थ कई टीकाकारों ने कर्म तथा '**मातरिश्वा**' का अर्थ जीव किया है। उनके अनुसार उसी प्रभु के नियमानुसार जीवात्मा कर्मों को करता है। श्रुति में **अनेजत्-आप्नुवत्—धावतः तिष्ठत्** आदि जो शब्द आये हैं उनके अनुसार '**अपः दधाति**' का अर्थ जलों को धारण करता है—यही ठीक जँचता है।

तत् एजति तत् न एजति तत् दूरे तत् उ अन्तिके।
तत् अन्तः अस्य सर्वस्य तत् उ सर्वस्य अस्य वाह्यतः ॥ ५ ॥

परमात्मा के सम्बन्ध में जिस प्रकार के विरोधाभास चौथे मन्त्र में कहे, उसी प्रकार की भाषा को जारी रखते हुए पाँचवें मन्त्र में भी विरोधाभासों की झड़ी लगा दी है। पहले कहा था—वह प्रभु गति नहीं करता परन्तु उसकी मन की गति से भी तीव्र गति है, वह ठहरा हुआ भी दौड़ने वालों से भी आगे निकल जाता है। इस मंत्र में कहा है—वह चलता है, वह नहीं भी चलता है; वह दूर है, वह पास भी है; वह सबके भीतर है, वह सबके बाहर भी है। कितना भारी विरोधाभास है, परन्तु शब्दों का यह विरोध उसमें आकर मिट जाता है। वह चलता है का अभिप्राय यह है कि वह हर वस्तु में गति का संचार कर रहा है, जो हर वस्तु को चलाये वह मानो न चलता हुआ भी चल रहा है—'**तत् एजति**'; परन्तु चलाता हुआ भी वह चलता नहीं है, स्वयं गति नहीं करता—'**तत् न एजति**'; संसार में डूबे हुओं, विषयों के जो दास हैं

उनके लिए वह दूर है—**'तत् दूरे'**; परन्तु जो अध्यात्म की आँख से देख सकते हैं उनके लिए वह बिल्कुल नज़दीक है, हृदय में ही बैठा है—**'तत् उ अन्तिके'**; वह सबके भीतर विद्यमान है—**'तत् अन्तरस्य सर्वस्य'**; वह इस सबके बाहर भी विद्यमान है—**'तत् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः'**।

जिनको हम विरोधी कहते हैं उनमें विरोध नहीं होता, सापेक्षता होती है। पूर्व-पश्चिम विरोधी हैं, परन्तु जहाँ पूर्व है वहाँ पश्चिम भी है; उत्तर-दक्षिण विरोधी हैं, परन्तु जहाँ उत्तर है वहाँ दक्षिण भी है—केवल अपना स्थान बदलना पड़ता है। जहाँ हम खड़े हैं ज़रा आगे हो जायें या जरा पीछे हट जायें, तो दिशा बदल जाती है। गर्म-ठंडा भी सापेक्ष हैं, प्रकाश-अँधेरा भी सापेक्ष हैं। जिसे हम गर्म कहते हैं वह किसी की अपेक्षा ठंडा है, जिसे हम सर्द कहते हैं वह किसी की अपेक्षा गर्म है, जिसे हम प्रकाश कहते हैं वह किसी की अपेक्षा अन्धेरा है, जिसे अन्धेरा कहते हैं वह किसी की अपेक्षा प्रकाश है। इसी प्रकार चलने को खड़ा होना, खड़े होने को चलना, निकटता को दूरी, दूरी को निकटता, भीतर को बाहर और बाहर को भीतर कहा जा सकता है। इसी विरोधाभास का इस श्रुति में प्रयोग किया गया है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति।
सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

इस उपनिषद् का नाम 'ईशावास्योपनिषद्' है। इसका मुख्य विषय यह बतलाना है कि सृष्टि के कण-कण में ईश्वर बसा हुआ है। जब कण-कण में वही बसा हुआ है, तब मनुष्य का कर्त्तव्य और जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रह जाता है? संसार में वही बसा हुआ है, सब-कुछ उसी का है, हम उसके दिये का उपभोग करते हैं, हमारा कुछ नहीं, फिर भी आये हैं इस जगत् में, काम किये बग़ैर रह नहीं सकते, तो एक-दूसरे के साथ कैसे रहें, कैसे बर्तें? जहाँ स्वामित्व का प्रश्न होता है, वहाँ लड़ाई-झगड़ा, वैर, कलह, होता है, ईर्ष्या-द्वेष-घृणा होती है। यहाँ तो अपना कुछ है ही नहीं, सब उसी का है। जब सब उसी का है, स्वामित्व किसी का भी नहीं, तब स्वामित्त्व की दृष्टि से हम सब एक समान हैं, न कुछ मेरा है, न कुछ तेरा है। जो यह देख लेता है कि जैसा मैं हूँ वैसे ही ये सब प्राणी हैं—न मेरा कुछ है, न इनका कुछ है—**'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति'**, और अन्य प्राणियों को अपने जैसा देख लेता है—उनका भी अपना कुछ

नहीं, मेरा भी अपना कुछ नहीं—अपने को भी अन्य प्राणियों जैसा देख लेता है—**'सर्वभूतेषु च आत्मानं'**—वह फिर किसी से घृणा नहीं करता —**'ततः न विजुगुप्सते'**। सँसार में ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-स्पर्धा-लड़ाई क्यों होती है? इसलिये होती है क्योंकि हमसे कोई अधिक हड़प लिये बैठा है, किसी के पास कुछ नहीं। कर्म करो परन्तु कर्म करते हुए जो-कुछ धन-पम्पत्ति पैदा करो उसे त्यागभाव से, धरोहर के रूप में— ट्रस्ट के रूप में—अपने पास रखो, उसके मालिक मत बन बैठो, मालिक तो वही है जो इस सब में बस रहा है, ऐसा दृष्टिकोण रहेगा, तो मनुष्य मनुष्य के बीच खाई नहीं खुदेगी, सब मिल-जुलकर प्रेमभाव से रहेंगे। प्रेम तथा घृणा—ये दो ही तो तत्त्व हैं जो मानव को मिला सकते हैं, या जुदा कर सकते हैं। धन-सम्पत्ति मेरी है या तेरी है—यह भाव घृणा को जन्म देता है, न मेरी है, न तेरी है, सब उसी की है—यह भाव प्रेम को जन्म देता है। परन्तु न मेरी, न तेरी—यह भाव कब उदय हो सकता है? यह तभी उदय हो सकता है जब इस बात को समझ लिया जाय कि जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य सब हैं, और जैसे अन्य सब हैं वैसा ही मैं हूँ। यह भावना जब अनुभव में आकर जीवन में उतर जायगी, तब मानव-समाज में प्रेम का एकछत्र राज्य हो जायेगा और विश्व में शान्ति छा जाएगी। इस श्रुति में प्रेम तथा घृणा का मनोवैज्ञानिक आधार खोलकर रख दिया है—अगर समाज की रचना में **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** का आध्यात्मिक गुर सन्निविष्ट हो जाय, तो बरबस प्रेम का ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। इसी विकल्प पर चलकर व्यक्ति तथा समाज की समस्याओं का हल हो सकता है। तभी महाभारत में कहा—**'आत्मनः विपरीतानि परेषां न समाचरेत्'**। इसी विचार को अगली श्रुति में दूसरे शब्दों में कहा गया है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः॥ ७॥

जिस प्राणी में सब प्राणी—**'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि'**, अपने समान ही जान लिए जाते हैं—**'आत्मा एव अभूत विजानतः'**—जो सबको अपने जैसा ही समझने लगता है, उस व्यक्ति में कहाँ तो मोह हो सकता है, कहाँ शोक हो सकता है—**'तत्र कः मोहः कः शोकः'**। इसलिये मोह और शोक नहीं हो सकता क्योंकि उसकी दृष्टि सबको एक-समान देखने लगती है—**'एकत्वम् अनुपश्यतः'**। मोह का अर्थ है किसी एक

को अपना समझना, और दूसरे को अपना न समझना। जहाँ सब प्राणियों के प्रति एकत्वभाव होगा, सम-भाव होगा, वहाँ मोह के लिये गुँजाइश नहीं है। मोह नहीं होगा तो शोक नहीं होगा। शोक तभी होता है जब मोह पर ठोकर पड़ती है। मोह पर ठोकर पड़े बग़ैर शोक होता ही नहीं। धन मेरा है, मेरा का अर्थ है—मोह। धन चला जाय तो मनुष्य शोक-सागर में डूब जाता है। पद मेरा है—मैं प्रधान हूँ, मंत्री हूँ। पद गया तो मनुष्य शोक-सागर में डूब जाता है। पति मेरा है, पुत्र मेरा है, पत्नी मेरी है—यह मेरा-मेरा ही मोह है। पति चला जाय, पुत्र चला जाय, पत्नी चली जाय, तो शोक उमड़ आता है। एकत्व देखने वाले के लिए मोह नहीं होता, मोह नहीं होता तो शोक भी नहीं होता। ईशावास्योपनिषद् एक बात को आधार में लेकर चली है—जो-कुछ है सब भगवान् का है, न कुछ मेरा है, न तेरा है—यह भावना दिल में जम जाय, तो चारों तरफ़ एकत्व की, सम-भाव की, प्रेम की गंगा बहने लगती है, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, लड़ाई-झगड़ा, मार-काट, मोह-शोक सब विक्षेप मन को छोड़कर उड़ जाते हैं, मन अखंड आनन्द के स्रोत में बहने लगता है। सारा झगड़ा भिन्नता में पड़े रहने से उत्पन्न होता है। उपनिषद् भिन्नता में एकता को देखती है –'**अनु-पश्यतः**'। 'एकत्व' का अर्थ है निर्मोहता क्योंकि 'नानात्व' में ही मोह को स्थान मिल सकता है, और मोह में ही शोक के आने की गुंजाइश हो सकती है। हमारी सब समस्याओं का समाधान सृष्टि में आत्म-तत्त्व को पहचानने में पड़ा है। वह आत्म-तत्त्व—परमात्मा कहो, ईश्वर कहो—कैसा है ? इस सम्बन्ध में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए ईशावास्योपनिषद् कहती है—

स पर्यगात् शुक्रं अकायं अव्रणं अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम्।
कविः मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतः अर्थान् व्यवदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। ८ ।।

इस श्रुति में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है। पर-मात्मा के विषय में दो विचार प्रचलित हैं—एक विचार तो यह है कि वह एक मनुष्य की तरह महा-मानव है, ऊपर आसमान में उसका निवास है, मनुष्य की तरह की ही उसकी विशाल काया है। महाकाय है, आसमान में ही अपनी कचहरी लगाता है, समय-समय पर इस लोक में भी मानव के रूप अवतरण करता है; दूसरा विचार यह है कि वह

कायारहित एक अध्यात्म चेतन सत्ता है, आसमान में नहीं परन्तु सृष्टि के कण-कण में मौजूद है। अवतरण उसका नहीं होता, उसकी शक्ति को लेकर महापुरुषों का जो समय की पृष्ठभूमि में उस काल के योग्य व्यक्ति होते हैं उनका इस सृष्टि में जन्म होता है। उपनिषद् की इस श्रुति ने वैदिक-विचार को स्पष्ट कर दिया। भगवान् इस सृष्टि से दूर कहीं सातवें आसमान में नहीं बैठा, वह हर जगह मौजूद है—**'सः परि अगात्'**—सब जगह गया हुआ है। वह शुद्ध स्वरूप, कायारहित है—**'शुक्रं अकायम्'**; कायारहित है तो न उसे व्रण हो सकता है, न उसके नस-नाड़ी है—**'अव्रणं अस्नाविरम्'**; वह मानव की तरह संसार के कीचड़ में फंस नहीं सकता, अच्छे-बुरे कर्म का उस से कोई सम्बन्ध नहीं है—**'शुक्रं अपापविद्धम्'**; वह क्रांतदर्शी है, सर्वज्ञ है—**'कविः मनीषी'**; सर्वव्यापक है, सब मौजूद है—**'परिभूः'**; वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ, सदा से अपने-आप मौजूद है—**'स्वयं भूः'**; अनादिकाल से, निरन्तर, वर्ष-वर्षान्तर से—**'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'**, यथार्थ—यथावत् प्रकार से, भलीभाँति, ठीक-ठीक—**'याथातथ्यतः'**, सृष्टि के सब व्यवहारों का, सृष्टि का सारा प्रबन्ध करता है—**'अर्थान् व्यदधात्'**।

इस श्रुति में यह तो स्पष्ट तौर पर, ऐसे शब्दों में जिनका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, कह दिया गया है कि परमात्मा मनुष्य की तरह नहीं है। न उनका मानव का-सा शरीर है, न नस-नाड़ी हैं, न वह कर्म करता है जिससे पाप हो या पुण्य हो। उसका काम तो अनादि काल से सृष्टि का यथार्थ प्रबन्ध करना है। जब परमात्मा के विषय में यह कहा जाता है कि वह सृष्टि का नियामक है, तब स्वभावतः शंका होती है कि उसका नियामक कौन है? अगर वह सृष्टि को उत्पन्न करता है तो उसको कौन उत्पन्न करता है? इस शंका का समाधान करने के लिए इस श्रुति में एक शब्द रखा गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अगर कहा जाय कि वह शब्द इस श्रुति की जान है तो अत्युक्ति न होगी। वह शब्द है—**'स्वयंभूः'**—अर्थात् वह अपने-आप है, उसको उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं, वह उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह सदा से मौजूद है, स्वयं वर्तमान है।

इस श्रुति का केन्द्रीय विचार 'स्वयंभूः' शब्द है

'स्वयंभूः' का अर्थ है जो स्वयं—अर्थात्, अपने-आप हो। संसार

में जो भी वस्तु है उसका कोई-न-कोई कारण होता है। कारण तीन प्रकार के होते हैं—उपादान-कारण, निमित्त-कारण तथा साधारण-कारण। उदाहरणार्थ, हमारे सामने घड़ा है। घड़े का उपादान कारण मिट्टी है जिससे घड़ा बनता है; निमित्त कारण कुम्हार है जो घड़े को बनाता है; साधारण कारण चाक आदि हैं जिनके सहयोग से कुम्हार घड़ा, मटका, सकोरा आदि बनाता है। उपादान-कारण को अंग्रेजी में 'मैटीरियल काउज़' कहते हैं, निमित्त-कारण को 'इफ़ीशियेंट काउज़' कहते हैं, साधारण-कारण को 'फ़ौरमल काउज़' कहते हैं। प्रश्न यह यह है कि घड़े की तरह सृष्टि के ये तीन कारण कौन-से हैं?

(१) सृष्टि का उपादान-कारण (Material cause)—सृष्टि के उपादान-कारण हमारे दर्शनों के अनुसार पंच महाभूत हैं—प्रथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश। प्रश्न होता है कि क्या ये मूल उपादान-कारण हैं या इनका भी कोई कारण है? पृथ्वी को मूल-उपादान कारण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें अनेक वस्तुएँ आ जाती हैं—मिट्टी, सोना, चांदी, तांबा आदि। ये सब भी मूल कारण नहीं हैं, किसी-न-किसी अन्य प्रकार के परमाणुओं से बने हैं। वर्तमान विज्ञान ने इन भौतिक पदार्थों का विश्लेषण करके पता लगाया था कि १०८ ऐसे मूल-भौतिक-तत्त्व हैं जिनके संयोग-वियोग से सब भौतिक-पदार्थ बने हैं। इन १०८ का विश्लेषण करते-करते फिर भौतिक-विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ये भी स्वयं में मूलतत्त्व नहीं हैं—ये भी तीन प्रकार के विद्युत-कणों के भिन्न-भिन्न प्रकार के विनियोग से बने हैं जिन्हें उन्होंने इलेक्ट्रोन, प्रोटोन तथा न्यूट्रोन का नाम दिया। ये इलेक्ट्रोन आदि भी विद्युत्—इलेक्ट्रिसिटी—के ही रूपान्तर हैं। इस समय तक विज्ञान इस परिणाम पर पहुँचा हुआ है कि पदार्थ (Matter) की स्वतन्त्र रूप में कोई सत्ता नहीं है, पदार्थ, शक्ति या विद्युत् (Energy, Electricity) का ही रूपान्तर है। परिणाम यह निकला कि पार्थिव, जलीय, तेजीय, वायवीय वस्तुओं का मूल कारण ढूंढते-ढूँढते हम शक्ति पर जा पहुँचे—इसका कारण यह, और इसका कारण यह—इस प्रकार मूल-उत्पादन-कारण को खोजते-खोजते हम विद्युत् पर आ पहुँचे, शक्ति पर आ पहुँचे। अब फिर वही प्रश्न जारी रहा—विद्युत् का मूल-उपादान-कारण क्या है? अभी तक विज्ञान को विद्युत् का कोई उपादान कारण नहीं मिला। ऐसी हालत में हम कहेंगे कि विद्युत् 'स्वयंभूः' है—इसका कोई दूसरा

उपादान-कारण नहीं है। विद्युत् नित्य है, यह किसी उपादान-कारण से नहीं बनती, यह अपने-आप है। विज्ञान जिस भौतिक वस्तु के लिए 'विद्युत्'—'इलेक्ट्रिसिटी' शब्द का प्रयोग करता है, सांख्यकार उसके लिए 'प्रकृति' शब्दका प्रयोग करते हैं। उनका कहना है कि 'प्रकृति' नित्य है, '**स्वयंभूः**' है, अपने-आप है, इसे कोई पैदा नहीं करता। भारतीय दार्शनिक विचारधारा सांख्य से आगे भी चलती है। इस विचारधारा को लोग वेदांती विचार कहते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकृति का कारण भी 'चेतना' है। आज यदि विज्ञान भौतिक वस्तुओं का मूल-उपादान कारण ढूँढता-ढूंढता विद्युत् पर पहुँचा है, तो आगे का विज्ञान विद्युत् का भी कारण ढूँढता-ढूँढता 'चेतना' पर पहुँचेगा जिसे भारतीय-विचारक 'ब्रह्म' कहते हैं। हर हालत में सांख्यवादी, वेदान्तवादी तथा वर्तमान विज्ञानवादी सृष्टि के मूल-उपादान-कारण की खोज करते-करते एक ऐसे कारण पर जाकर रुक जाते हैं जिसे वे '**स्वयंभूः**' (**स्वयं भवति**) कहकर अपनी कारण खोजने की यात्रा समाप्त कर देते हैं। इस बात में भारतीय दार्शनिक तथा वैज्ञानिक एक स्तर पर हैं।

(२) **सृष्टि का निमित्त-कारण** (Efficient cause)—जैसे मूल-उपादान-कारण की खोज करते-करते 'स्वयंभूः'—इस उपादान-कारण पर पहुँचकर गाड़ी रुक जाती है, वैसे ही निमित्त-कारण की खोज करते-करते भी 'स्वयंभूः'—इस निमित्त कारण पर पहुँचकर आगे की खोज समाप्त हो जाती है। घड़े का निमित्त-कारण कुम्हार है, कुम्हार का निमित्त-कारण उसके माँ-बाप हैं, उनके निमित्त-कारण उनके माँ-बाप हैं, यह खोज आगे-आगे चलती चली जाएगी। सृष्टि का निमित्त-कारण कौन है? सब धर्मों में सृष्टि का निमित्त-कारण, उसका स्रष्टा भगवान् को कहा गया है। प्रश्न उठता है कि भगवान् का निमित्त-कारण कौन है, उसे किसने बनाया? इस खोज में भी आगे-आगे चलें, तो कहीं-न-कहीं रुक जाना पड़ेगा, जहाँ कहना पड़ेगा कि इसको किसी ने नहीं बनाया, यह अपने-आप है, '**स्वयंभूः**' है।

(३) **सृष्टि का साधारण-कारण** (Formal cause)—सृष्टि की कोई रचना उपादान, निमित्त तथा साधारण कारण के सहयोग के बिना नहीं हो सकती। घड़ा बनेगा तो मिट्टी होना ज़रूरी है, कुम्हार होना ज़रूरी है, इन दोनों के साथ अन्य उपकरणों तथा प्रयोजनों का होना भी ज़रूरी है। मिट्टी के अतिरिक्त चाक आदि सहायक कारण

तथा घड़ा किस काम ग्रायेगा, किसके काम ग्राएगा, इनका क्या प्रयोजन होगा—यह सब भी ज़रूरी है । सृष्टि के सम्बन्ध में इन कारणों की खोज करते-करते यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि किस प्रयोजन के लिए है ? सृष्टि तो एक प्रकार का उपकरण है, साधन है । किसके प्रयोजन के लिए, किसके उपकरण तथा साधन के तौर पर सृष्टि की सत्ता है ? स्पष्ट उत्तर है कि जो सृष्टि का भोग करता है, जिसके लिए श्रुति ने कहा—'**त्यक्तेन भुंजीथाः**'—त्यागपूर्वक भोग करो, यह सृष्टि उसी के लिए तो है, वही इसका साधारण-कारण है । ग्रगर सृष्टि नित्य है, सृष्टि का निमित्त-कारण नित्य है—ये दोनों '**स्वयंभूः**' हैं, तो जिसके भोग के लिए यह सृष्टि रची गई है वह भी सृष्टि के साथ ही होना चाहिए, नित्य तथा '**स्वयंभूः**' होना चाहिए । परमात्मा के भोग के लिए तो सृष्टि नहीं हो सकती, निर्माता तो वस्तु को किसी दूसरे के लिए बनाता है । जिसके लिए यह सृष्टि रची गई है वह जीवात्मा है ।

इस दृष्टि से तीन 'स्वयंभूः'—नित्य हो गये—प्रकृति, परमात्मा तथा जीव । इस श्रुति में प्रकृति तथा जीव के लिए नहीं कहा गया, परमात्मा के लिए कहा गया है कि वह 'स्वयंभूः' है—Uncaused cause or self-existent cause—है क्योंकि उसका भी ग्रगर कारण हो तो जिसे हम कारण कह रहे हैं वह पदार्थ होगा, संयोग होगा, मूल-कारण नहीं होगा ।

ग्रन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ग्रविद्यां उपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ ९ ॥

परमात्मा का स्वरूप वर्णन करने के बाद श्रुति कहती है कि जो लोग परमात्मा का स्वरूप नहीं जानते वे ग्रविद्या के उपासक हैं ग्रौर ग्रन्धकार में प्रविष्ट रहते हैं—'**ग्रन्धन्तमः प्रविशन्ति ये ग्रविद्यां उपासते**', परन्तु जो कहते हैं कि हमें परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो गया, वे उससे भी गहन ग्रन्धकार में प्रवेश करते हैं—'**ततो भूय इव ते तमः य उ विद्यायां रताः**' ।

बड़ी विलक्षण बात कही श्रुति ने । यह तो समझ पड़ता है कि ग्रविद्या मनुष्य को ग्रन्धकार में धकेले, परन्तु विद्या उससे भी घने ग्रन्धकार में धकेल दे—यह समझ में ग्रानेवाली बात नहीं लगती । यह बात तब समझ में ग्रा जाती है, जब हम उपनिषद् के शब्द पर विचार करते हैं । शब्द है—'**विद्यारताः**' । 'विद्यारतः' का ग्रर्थ है ऐसे व्यक्ति

जिन्हें विद्या का घमंड हो गया हो। अज्ञानी को विद्या का घमंड नहीं होता, वह जानता है कि उसे कुछ पता नहीं; ज्ञानी को विद्या का घमंड होता है, वह समझता है कि वह सब-कुछ जानता है, इस घमंड में वह जो-कुछ जान सकता है उसे भी जानने का प्रयत्न नहीं करता। सुकरात कहा करता था कि मैं इतना ही जानता हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता। इसी भाव को 'केन'-उपनिषद् में कहा है—**'यस्य अमतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः'**। जो कहता है, मैंने नहीं जाना उसी ने जाना, जो कहता है मैंने जाना उसने नहीं जाना। न्यूटन कहा करता था कि लोग कहते हैं वह बड़ा ज्ञानी है, परन्तु मेरा ज्ञान तो समुद्र-तट के रेत-कणों में से एक कण के बराबर भी नहीं है। जो अज्ञानी है वह ज्ञान लेने के लिए हर समय उद्यत रहता है क्योंकि वह जानता है कि वह कुछ नहीं जानता, परन्तु जो ज्ञानी है वह इतना ज्ञानरत, विद्यारत—विद्या के घमंड में डूबा होता है कि कुछ ग्रहण करने को तैयार नहीं होता। ऐसे ही व्यक्ति को शास्त्रों में **'ज्ञान-लव-दुर्विदग्ध'** कहा है—ज्ञान का ज़रा-सा टुकड़ा पाकर ही घमंड में पागल।

यह तो 'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन शब्दों का सर्वमान्य अर्थ है, इन अर्थों को सम्मुख रखकर श्रुति का कहना है कि जो अज्ञानी हैं—**'ये अविद्यां उपासते'**—वे अन्धकार में जाते हैं। और जो विद्या के संग्रह में अपने को ज्ञानी कहते हैं—**'विद्यारत'** हैं, वे और भी घने अन्धकार में जाते हैं। **'विद्यायां रताः'** का अर्थ है, जो केवल विद्या में लगे रहते हैं, पुस्तकों के पन्ने पलटते रहते हैं, जिनके जीवन में कुछ नहीं होता, निरे टिड्ढाणय पंडित, जिनके विषय में कवि ने कहा है—**'अमी समाध्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटपाद मिश्राः'**—ऐसे लोग घोरतम अन्धकार में जाते हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है—

यदा किंजिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किंचित् किंचित् बुध जन सकाशादवगतम्
तदा मूर्खोस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

अर्थात्, जब मैं किंचित्—थोड़ा-सा ही जानता था तब घमंड में यह कहता फिरता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ और हाथी की तरह झूमता फिरता था, जब ज्ञानियों के सम्पर्क में आया और आँखें खुलीं तब समझ पड़ा कि मैं निरा मूर्ख था, और यह समझ पड़ते ही मेरा घमंड ज्वर की

तरह उतर गया। ज्ञानी का घमंड उसका मानसिक-ज्वर है।

परन्तु अविद्या तथा विद्या का एक और अर्थ भी किया जाता है। क्योंकि इस उपनिषद् में कर्म की चर्चा है, इसलिए 'अविद्या' का अर्थ इस प्रकरण में 'कर्म' भी हो सकता है। 'विद्या' से उल्टा अर्थ होना चाहिए 'अविद्या' का। 'विद्या' का अर्थ यहाँ 'ज्ञान' है। 'ज्ञान' का उल्टा 'कर्म' हुआ। क्योंकि उपनिषत्काल में ज्ञान तथा कर्म का झगड़ा चलता था, इसलिए 'अविद्या' का अर्थ इस प्रकरण में 'कर्म' हो सकता है। 'कर्म' का अर्थ इस स्थल में 'कर्म-काण्ड' से है क्योंकि उपनिषदों के काल में 'कर्म-काण्ड' के प्रति 'ज्ञान-काण्ड' के रूप में विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। तभी मुंडकोपनिषद् में कहा है—**'प्लवाः ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः'**—यज्ञादि कर्म ऐसे बेड़े हैं जिनपर चढ़कर संसार-समुद्र को पार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से इस श्रुति का अर्थ हुआ—जो लोग कर्मकाण्ड के प्रेमी हैं वे अन्धेरे में जीवन का मार्ग टटोल रहे हैं, जो निरे ज्ञानकाण्ड के उपासक हैं वे थोथे ज्ञान के उपासक होने के कारण और अधिक भटक रहे हैं—असली मार्ग जैसा आगे की श्रुतियों में कहा जाएगा कर्म तथा ज्ञान का समन्वय है, दोनों का मेल है। जैसे संसार को त्यागपूर्वक भोगने का कर्म करो, वैसे कर्म भी ज्ञानपूर्वक करो।

इस श्रुति का एक तीसरा अर्थ भी है। इस अर्थ के अनुसार 'अविद्या' का अर्थ है—भौतिकवाद (Materialism) तथा 'विद्या' का अर्थ है—अध्यात्मवाद (Spiritualism)। जो 'अविद्या' अर्थात् भौतिकवाद की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में जा पहुँचते हैं, और जो 'विद्या', अर्थात् निरे, कोरे अध्यात्मवाद की उपासना करते हैं, भौतिक-जगत् की परवाह नहीं करते, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुँचते हैं, क्योंकि भौतिकवाद में कुछ हाथ तो आता है, कम-से-कम संसार हाथ आता है, निरे, थोथे अध्यात्मवाद में तो कुछ भी हाथ नहीं आता। यहाँ अध्यात्मवाद से हमारा अभिप्राय बनावटी अध्यात्मवाद से है।

अन्यत् एव आहुः विद्यया अन्यत् आहुः अविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तत् विचचक्षिरे ॥१०॥

उपनिषद् ने 'विद्या' तथा 'अविद्या' शब्दों को प्रचलित अर्थों में न प्रयुक्त कर स्व-अभिप्रेत अर्थों में प्रयुक्त किया है। उपनिषत्कार का कहना है कि उनका 'विद्या' से वह अर्थ नहीं लेना जो प्रचलित है—**'अन्यत् एव आहुः विद्यया'**। जिन बुद्धिमान् पुरुषों ने इन दोनों शब्दों

की हमारे लिए व्याख्या की है—**'ये नः तत् विचचक्षिरे'**, उनसे हमने ऐसा ही सुना है—**'इति शुश्रुम धीराणाम्'**। इन दोनों शब्दों का प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थ क्या है—यह समझ लेने की बात है :

(क) **अविद्या का अर्थ**—पातंजल योग-दर्शन में अविद्या की परिभाषा करते हुए कहा है—**'अनित्य अशुचि दुःख अनात्मसु नित्य शुचि सुख आत्मख्यातिः अविद्या'**—अनित्य को नित्य समझ लेना अविद्या है। उदाहरणार्थ, यह संसार जो क्षण-भंगुर है उसे नित्य मानकर बैठना अविद्या है। अपवित्र को पवित्र समझ लेना अविद्या है। उदाहरणार्थ, जिस नदी में मुर्दे बहाये जाते हों, हड्डियाँ विसर्जित की जाती हों, उस जल को पवित्र समझ लेना अविद्या है। दुःख को सुख समझ लेना अविद्या है। उदाहरणार्थ, संसार के विषय सब प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं परन्तु उनसे क्षणिक सुख होता प्रतीत होता है, गांजा-भांग-शराब से मस्तिष्क विकृत हो जाता है परन्तु कुछ क्षणों के लिए सुख प्राप्त होता है—इन दुःखकारी कार्यों को सुखदायक समझ लेना अविद्या है। अनात्म को आत्म समझ लेना अविद्या है। उदाहरणार्थ, शरीर आत्मा नहीं है, आत्मा का साधन है, परन्तु शरीर को ही आत्मा समझकर जीवन बिताना अविद्या है। संक्षेप में, संसार के विषय-भोगों में लिप्त रहना, संसार को ही आदि तथा अन्त मानकर जीवन बिताना, संसार से परे कुछ नहीं है—यही सब-कुछ है—यह दृष्टि अविद्या की दृष्टि है। यह अर्थ तो पतंजलि के योग-दर्शन के अनुसार हुआ।

गहराई में विचार करनेवालों ने अविद्या का एक दूसरा अर्थ भी किया है। किसी ग्रंथ में एक श्लोक आता है—**'अधीत्य शास्त्राण्यपि सन्ति मूर्खाः यस्तु क्रियावान् स एव विद्वान्'**—शास्त्रों को सिर्फ़ पढ़ने वाले मूर्ख होते हैं, विद्वान् वही होता है जो शास्त्र की बात जीवन में उतारता है। कहने को कहता हो कि वह जानता है, परन्तु आचरण में वह बात न उतरे, तो उसे उपनिषद् की परिभाषा में अविद्या कहेंगे। इसका एक बहुत अच्छा दृष्टांत छान्दोग्य उपनिषद् में दिया है। नारद सनत्कुमार के पास विद्या ग्रहण करने के लिए गये और कहने लगे कि मैंने सब विद्याओं का अध्ययन कर लिया है, परन्तु भगवन् ! मैं 'मन्त्रविद्' तो हूँ, 'आत्मविद्' नहीं हूँ। मन्त्रविद् का अर्थ है—पुस्तक-ज्ञान, कोरा पोथी-पन्थी; आत्मविद् का अर्थ है कि विद्या मेरे अन्दर उतर गई है, मेरे आचरण में आ गई है। जब तक विद्या आचरण में न उतरे तब

तक वह विद्या नहीं अविद्या है। पढ़ा-लिखा अनाचारी अविद्या का शिकार है।

नारद ने सनत्कुमार को जो कहा उससे भी विद्या-अविद्या के उपनिषद्-सम्मत अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। नारद ने कहा कि मैं वेदादि सब शास्त्रों को, सब विज्ञानों को पढ़ चुका हूँ, परन्तु फिर भी मैं कुछ जान न पाया हूँ। मेरा आत्मा वैसे-का-वैसा अशान्त है। इस दृष्टि से उस ज्ञान को जिसे हम 'विज्ञान' (Science) कहते हैं, उपनिषत्कार 'अविद्या' कहते हैं; 'विद्या' अध्यात्म-ज्ञान का नाम है जिससे आत्मा को शान्ति मिलती है। अगर एक वैज्ञानिक गणित जानता है, कैमिस्ट्री जानता है, सब पदार्थ विद्याएँ जानता है, परन्तु हृदय में अशान्त है, आत्म-ज्ञान से वंचित है, तो वह अविद्या को जानता है, विद्या को नहीं जानता।

(ख) विद्या का अर्थ—पतंजलि के योग-दर्शन का जैसे ऊपर उल्लेख किया गया है, उसी के आधार पर कहा जा सकता है कि अनित्य को अनित्य समझना, नित्य को नित्य समझना, अशुचि को अशुचि समझना तथा शुचि को शुचि समझना, दुःखकारक पदार्थों को दुःखकारक तथा सुखकारक पदार्थों को सुखकारक समझना, अनात्म को अनात्म तथा आत्म को आत्म समझना विद्या है। इन्द्रियों के विषय तथा संसार के भोग मनुष्य को किस प्रकार ललचाते तथा पथ-भ्रष्ट कर देते हैं इसे समझकर जीवन-यापन करना ही विद्या है। विद्या की परिभाषा समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि जो जान लिया जाय वह कर लिया जाय, तभी विद्या के क्षेत्र में हम गिने जा सकते हैं। हमने जाना कि क्रोध करना बुरा है और क्रोध करते रहे—यह अविद्या है; हमने जाना कि चोरी करना बुरा है और चोरी करते रहे—यह अविद्या है; हमने जाना कि हिंसा करना बुरा है और हिंसा करते रहे—यह अविद्या है। सिर्फ़ जान लेना विद्या नहीं है, विद्या तक पहुंचने के लिए और गहरे में उतरना होगा, उसे जीवन में उतारना होगा—अन्यथा जो-कुछ हम जानते ही हैं करते नहीं वह अविद्या है। इसलिए वह अविद्या है क्योंकि हम सिर्फ़ कहने भर को कह देते हैं कि हम जानते हैं वास्तव में हम नहीं जान रहे होते। अगर हम किसी बात को जानते हैं, तब वह क्रिया में अपने-आप उतर जाती है। उदाहरणार्थ, हम चले जा रहे हैं, रास्ते में सांप दीख गया। अगर हम जान गए कि सामने सांप है, तब यह नहीं

होगा कि हम कह दें कि हम जान गये और बस। नहीं, हम उछल कर रास्ते से हट जायेंगे। जान गए, तो करना लाज़मी हो जाता है। जब तक हम करते नहीं तब तक हम जानते भी नहीं। जब तक करते नहीं, सिर्फ़ इतना ही कहते रहते हैं कि हम जान गए, जान गए—उसी को उपनिषद् ने अविद्या कहा है, भले ही प्रचलित भाषा में उसे विद्या कहते हों। जानने के बाद करना अवश्यम्भावी है, नहीं करते तो कहना होगा कि हम ज़बानी कहते हैं कि हम जान गए, असल में नहीं जान पाए। तभी श्रुति ने कहा कि विद्या का और अविद्या का जो अर्थ दुनियाँ के लोग करते हैं, ऋषि-मुनियों से हमने सुना है कि इनका कुछ और ही अर्थ है, वह अर्थ नहीं है जो किया जाता है। उपनिषद् ने कहा—

विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतं अश्नुते ॥११॥

विद्या तथा अविद्या की चर्चा उक्त तीन श्रुतियों में लगातार हो रही है। इन दोनों में—विद्या तथा अविद्या में—कुछ भेद है। विद्या से कुछ और मिलता है, अविद्या से कुछ और मिलता है, परन्तु उपनिषद् ने इन दोनों में विरोध है—यह नहीं कहा। उपनिषद् ने यही कहा है कि इन दोनों से कुछ-न-कुछ मिलता है, लेकिन सिर्फ़ अविद्या से केवल अंधकार, और सिर्फ़ विद्या से—विद्यारत होने से—प्रगाढ़ अंधकार मिलता है। अविद्या भी न हो, और विद्यारति भी न हो—दोनों का मेल हो, तब जो-कुछ मिलता है उसकी चर्चा इस श्रुति-वाक्य में की गई है। पहले कहा, विद्या तथा अविद्या दोनों को साथ मिलाकर, इनका समन्वय करके जो जानता है—**'विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह'**—वह 'अविद्या' से मृत्यु को तर जाता है—**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'**, और फिर, 'विद्या' से अमृत का आस्वादन करता है—**'विद्यया अमृतं अश्नुते'**। 'अविद्या' से मृत्यु को तर जाता है—यह एक विलक्षण घोषणा है। हम यह तो जानते हैं कि अविद्या सब अनर्थों की जड़ है, परन्तु यहाँ श्रुति एक विचित्र बात कह रही है—अविद्या से मृत्यु को तर जाते हैं। दूसरी बात इस श्रुति में यह कही गई है कि 'विद्या' से अमृत का आस्वादन होता है। इन दोनों बातों को ठीक-से समझने की ज़रूरत है।

(१) अविद्या से मृत्यु को कैसे तरते हैं ?

ऊपर जिन श्रुति-वाक्यों का हमने उल्लेख किया उनसे स्पष्ट हो गया कि जिस भौतिक-विज्ञान को आजकल के युग में 'विद्या' कहा जाता है, उसे ईशोपनिषद् में 'अविद्या' कहा गया है। इस ग्यारहवीं श्रुति में उपनिषद् का कथन है कि 'भौतिक-विज्ञान'—अर्थात् 'अविद्या' से केवल 'मृत्यु' को तर सकते हैं, 'अमृत' को नहीं प्राप्त कर सकते। विज्ञान द्वारा हम क्या कर सकते हैं ? विज्ञान द्वारा मृत्यु से बचने के उपाय ही तो निकाले जा सकते हैं, स्वास्थ्य के नियमों अथवा औषधियों का पता लगाया जा सकता है, भूख और प्यास को मिटाया जा सकता है, आयु को लम्बा किया जा सकता है—परन्तु इससे क्या मनुष्य को शान्ति मिल जाती है ? शान्ति तथा सन्तोष को ही अमरता कहते हैं, संसार के सम्पूर्ण विज्ञान के जुट जाने पर भी 'अमृत' नहीं प्राप्त हो सकता। हाँ, अविद्या की ज़रूरत ज़रूर है, संसार का सारा भौतिक-वैभव अविद्या पर—विज्ञान के आविष्कारों पर—खड़ा है, परन्तु इस सारे वैभव को प्राप्त कर मनुष्य को कुछ आगे भी प्राप्त करना है। यह सारा वैभव अपने-आप में तृप्ति नहीं देता, इसको साधन बनाकर मनुष्य को आगे कदम रखना है। जो इतने में खो गया वह खो ही गया, वह समझता है उसे सब-कुछ मिल गया, परन्तु सब-कुछ पाकर भी उसने कुछ नहीं पाया। जबतक मनुष्य में 'और-कुछ'—'और-कुछ'—'इससे आगे'—'इससे आगे' की लालसा बनी रहेगी तबतक विज्ञान के सहारे दुनियाँ का सारा भौतिक-वैभव पाकर भी वह कंगाल ही बना रहेगा। विज्ञान के सहारे जीवन यापन कर लेगा—बस, अविद्या से उसे इतना ही मिलेगा इससे आगे भी कुछ होता है, उससे वह वंचित रहेगा।

(२) विद्या से अमृत कैसे प्राप्त होता है ?

जिसे हम 'विद्या' कहते हैं—संसार का सम्पूर्ण भौतिक-विज्ञान—उसे उपनिषद् ने 'अविद्या' कहा—तो फिर, 'विद्या' क्या है ? उपनिषद् का कहना है कि भौतिक-विज्ञान विद्या नहीं है, विद्या वह है जिससे मनुष्य को अनुभूति हो जाय कि वह शरीर नहीं, आत्मा है। इसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए इस देश के वासी, राजा-महाराजा तक दुनियाँ के भोग-विलास को तिलाँजलि देकर जंगल की राह लिया करते थे।

इसी मनोवृत्ति में नारद ने सनत्कुमार को कहा था—मैंने संसार का सब-कुछ पा लिया, परन्तु भीतर से मैं खोखला अनुभव करता हूँ—**'सोऽहम् भगवो शोचामि'**—हे भगवन्, सब-कुछ पाकर भी मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने कुछ नहीं पाया—इसी से सिर धुनता हूँ। मैं केवल जीना ही नहीं चाहता, मैं तो अमृत पाना चाहता हूँ—चित्त की वह शान्ति जिससे चित्त दिन-रात आनन्द में लवलीन रहे।

जबतक मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझता है, तबतक वह यह अनुभव नहीं कर सकता कि वह अमर है। मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ—यह अनुभव करते ही शरीरजन्य दुःख गिर जाते हैं, परन्तु यह कह देने मात्र से यह अनुभूति प्राप्त नहीं हो जाती। इस अनुभूति को प्राप्त करने के लिए कहना नहीं, करना होगा। और, करना भी कोई कठिन नहीं है, ठीक-ठीक-से, अन्तःकरण से जो जान लेता है वह अपने-आप कर डालता है। हम कहते हैं, करते नहीं—इसका कारण ही यह है कि हम जानते नहीं। जान लेने के बाद न करना असम्भव हो जाता है। अगर हमने जान लिया कि सामने सर्प पड़ा है, तब कूदकर अलग हो जाना स्वतः होता है। हम संसार के विषयों से क्यों चिपटे रहते हैं? इस-लिए क्योंकि हम कहते रहते हैं कि ये बुरे हैं, परन्तु जानते नहीं कि ये बुरे हैं। एक आदमी रट लगाये जाता है कि शराब बुरी है, परन्तु पीने की घड़ी आते ही शराब की दुकान की तरफ़ चल देता है—वह इसलिये चल देता है क्योंकि उसने जाना ही नहीं कि शराब पीना बुरा है। उपनिषद् कहती है कि इस प्रकार का जानना कि तत्काल करना हो जाय - उसी को 'विद्या' कहते हैं। सन्त तुकाराम की बाबत कहते हैं कि जब उनका विवाह होने लगा, वे वेदी पर बैठे थे, पुरोहित ने कहा—शुभ, मंगल, सावधान। 'सावधान'-शब्द सुनते ही वे आसन छोड़कर भाग खड़े हुए, फिर विवाह का नाम नहीं लिया। 'विद्या' उसे कहते हैं जिसके जानने से मनुष्य का रूपांतरण हो जाता है। जीवन में क्रान्ति हो जाय, जीवन एकदम कुछ-का-कुछ हो जाय; जबतक वह शब्द-जाल में ही अटका रहता है तबतक वह **'अविद्यायां अन्तरे वर्त-माना:'**—अविद्या में ही चक्कर काटता रहता है।

इस श्रुति में 'अविद्या' तथा 'विद्या' को परस्पर विरोधी न कहकर सहयोगी बतलाया है। अविद्या से मृत्यु को तरते हैं, विद्या से अमृत को प्राप्त करते हैं—भौतिक-विज्ञान (अविद्या) से संसार को साधन

बनाकर आत्म-ज्ञान(विद्या)से अमरता को पाने के मार्ग पर चल देते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिं उपासते।
ततो भूय इव ते तमः य उ सम्भूत्यां रताः ।।१२।।
अन्यत् एव आहुः सम्भवात् अन्यत् आहुः असम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तत् विचचक्षिरे ।।१३।।
सम्भूतिं च विनाशं च यः तत् वेद उभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतं अश्नुते ।।१४।।

जैसे पहले तीन मन्त्रों में 'विद्या' तथा 'अविद्या' के लिये उपनिषद् ने एक नवीन विचार को जन्म दिया, 'विद्या' को ही 'अविद्या' कह दिया, शब्दों के प्रचलित अर्थों के स्थान में उनमें एक नया भाव भर दिया, वैसे ही उपनिषद् ने उक्त तीन मन्त्रों में वर्तमान **'सम्भूति'** तथा **'असम्भूति'**—इन दो शब्दों में एक नया भाव भर दिया है।

'सम्भूति' तथा 'असम्भूति' का क्या अर्थ है ? विद्या तथा अविद्या के लिये जो बातें कही गई थीं वही सम्भूति तथा असम्भूति के लिए उक्त मन्त्रों में दोहरा दी गई हैं। इन मन्त्रों में कहा गया है—

"जो लोग असम्भूति की उपासना करते हैं, वे अन्धकार में जा पहुँचते हैं, जो लोग सम्भूति की उपासना करते हैं, वे उससे भी अधिक गहन अन्धकार में पहुँचते हैं। 'सम्भूति'—सम्भव—से कुछ और ही अर्थ लिया जाता है, 'असम्भूति'—असंभव—से कुछ और ही अर्थ लिया जाता है—ऐसा धीर व्यक्तियों से, जिन्होंने इन शब्दों की व्याख्या की है, सुनते आये हैं। 'सम्भूति' तथा 'विनाश'—इन दोनों को जो एक-साथ जान लेता है, वह 'विनाश' से मृत्यु को तर जाता है, 'सम्भूति' से अमृत का आस्वादन करता है।"

विद्या तथा अविद्या के सम्बन्ध के तीन मन्त्रों एवं सम्भूति तथा असम्भूति के सम्बन्ध के तीन मन्त्रों में इतनी समानता है कि सोचने वाला सोचता है कि सम्भूति का अर्थ विद्या होना चाहिये, असम्भूति का अर्थ अविद्या होना चाहिये क्योंकि दोनों का फल एक-समान ही बतलाया गया है। परन्तु नहीं, अगर विद्या तथा अविद्या एवं सम्भूति तथा असम्भूति के मन्त्रों का एक ही अर्थ है तो इन मन्त्रों को दोहराने की क्या ज़रूरत थी ?

इन मन्त्रों के भेद को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि इन मन्त्रों में अर्थ को स्पष्ट करने के लिये श्रुति ने भिन्नार्थक शब्दों

का स्वयं प्रयोग कर दिया है। दूसरे—अर्थात् १३ वें—मन्त्र में 'सम्भूति' की जगह 'सम्भव'-शब्द का प्रयोग किया है, 'असम्भूति' की जगह 'असम्भव'-शब्द का प्रयोग किया है; १४ वें मन्त्र में 'सम्भूति'-शब्द को तो वैसे ही रहने दिया गया है, 'असम्भूति' की जगह 'विनाश' शब्द का प्रयोग किया गया है।

शब्दों के इन भिन्नार्थक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'असम्भूति' का अर्थ 'असम्भव' है, और असम्भव का अर्थ इम्पौसिबल—'विनाश'—न होकर मृत्यु है; 'सम्भूति' का अर्थ पौसिबल—'सम्भव'—है और इस 'सम्भव' का अर्थ 'असम्भव' का उल्टा न होकर 'विनाश' का उल्टा है क्योंकि विद्या-अविद्या की तरह 'सम्भूति' तथा 'असम्भूति' एक-दूसरे से उल्टे हैं। विनाश का उल्टा उत्पत्ति है। दूसरे शब्दों में, उत्पत्ति तथा विनाश का अर्थ इन मन्त्रों में जन्म तथा मृत्यु है।

इस दृष्टि से उक्त तीनों श्रुतियों का अर्थ निम्न है—

मन्त्र १२ : जो लोग **'असम्भूति'** (विनाश) अर्थात् मृत्यु की उपासना करते हैं, अर्थात् शरीर के मर जाने पर यह समझने लगते हैं कि आत्मा मर गया—**'ये असम्भूतिं उपासते'**, वे अन्धकारमय जीवन बिताते हैं क्योंकि उन्हें मृत्यु का भय सताता रहता है—**'अन्धं तमः प्रविशन्ति'**। लेकिन जो लोग **'सम्भूति'** (जीवन) अर्थात् इस पार्थिव जन्म या भौतिक-जीवन में ही रत रहते हैं—भोग-विलास के जीवन को ही सब-कुछ समझकर उसमें रमे रहते हैं—**'य उ सम्भूत्यां रताः'**, वे गहनतम अन्धकार में जीते हैं, इसलिये गहनतम अन्धकार में जीते हैं क्योंकि उनकी आँख मृत्यु के बाद आगे आने वाले जीवन को देख नहीं सकती, इसलिये नहीं देख सकती क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर वे समझते हैं कि सब-कुछ नष्ट हो गया।

मन्त्र १३ : उपनिषद् के ऋषि का कहना है कि इस काया के जन्म अर्थात् जीवन को ही सब-कुछ समझकर जीने से कुछ और ही परिणाम निकलता है—**'अन्यत् आहुः सम्भवात्'**, काया की मृत्यु को ही जीवन का अन्त समझकर जीने से कुछ दूसरा ही परिणाम निकलता है—**'अन्यत् आहुः असम्भवात्'**। जिन लोगों ने हमसे जन्म-मृत्यु की व्याख्या की है—**'ये नः तत् विचचक्षिरे'**, उनसे ऐसा ही सुनते आये हैं—**'इति शुश्रुम धीराणाम्'**।

मन्त्र १४ : हमारा जन्म यही जन्म है, हमारी मृत्यु यही मृत्यु है, हमारा पहले कभी जन्म नहीं हुआ, पहले कभी मृत्यु नहीं हुई, शरीर ही जन्मता है, शरीर ही मरता है, आत्मा का अस्तित्व नहीं है—यह भौतिकवादी मिथ्या धारणा है। मृत्यु और जन्म साथ-साथ चलते हैं, मृत्यु के साथ जन्म जुड़ा हुआ है, जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है—मृत्यु हुई तो जन्म भी होगा, जन्म हुआ है तो मृत्यु भी होगी, जो इन दोनों को साथ-साथ जानता है—**'सम्भूतिं च विनाशं च यः तत् वेद उभयं सह'**—**'सह'**, अर्थात् साथ-साथ, जन्म हुआ नहीं कि मृत्यु साथ ही शुरू हो गई, मृत्यु हुई नहीं कि जन्म साथ-साथ चल पड़ा—ऐसा व्यक्ति मृत्यु से मृत्यु को तर जाता है—**'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा'**—और मृत्यु को तर कर जन्म को प्राप्त कर—**'सम्भूत्या'**—अमृत को प्राप्त करता है—**'अमृतं अश्नुते ।**

इन मन्त्रों में ऋषि ने दो अनहोनी घोषणाएँ की हैं : एक घोषणा यह है कि मनुष्य मृत्यु को जानकर मृत्यु के पार निकल जाता है, दूसरी घोषणा यह है कि जन्म को जानकर अमरता का आस्वादन करता है। ये दोनों विलक्षण घोषणाएँ हैं, परन्तु इन्हीं में जीवन का गुर कह दिया गया है। इन दोनों घोषणाओं को समझना आवश्यक है :

(१) मृत्यु के जानने से मृत्यु के पार निकल जाते हैं

पहली घोषणा यह है कि मृत्यु को जानकर मनुष्य मृत्यु से पार हो जाता है। हम मृत्यु से डरते हैं। क्यों ? इसलिए डरते हैं क्योंकि हम समझते हैं कि मृत्यु के बाद हमारा अस्तित्व नहीं रहेगा। अस्तित्व को कौन खोना चाहता है ? मृत्यु-शैय्या पर पड़ा व्यक्ति भी जीवन की आशा बाँधे रखता है। जब भी हमें डर लगता है, चिन्ता सताती है, उसका कारण सदा मृत्यु का भय होता है। बीमार रोता है—वह मर न जाय; ग़रीब रोता है—वह मर न जाय; मनुष्य चिन्तित होता है—वह मर न जाय; वह दुःखी होता है—वह मर न जाय। परन्तु उपनिषद् के ऋषि की यह घोषणा है कि मनुष्य मरता ही नहीं, आत्मा अमर है, यह शरीर एक चोला है जो पुराना होने पर उतार दिया जाता है, नया पहन लिया जाता है। गीता ने कहा है, **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'**—जैसे पुराने कपड़े छोड़ दिये जाते हैं। पुराने कपड़ों को छोड़ देना ही

मृत्यु है। कोई कपड़े बदलने पर रोता है ? मृत्यु को हम जानते नहीं। शरीर को हम आत्मा समझे बैठे हैं—शरीर छोड़ा तो कपड़ा बदला, यह समझ लें तो मनुष्य मृत्यु के पार हो जाता है—इसी को उपनिषद् ने कहा—**'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा'**। तरने वाला पार चला जाता है, डूब नहीं जाता। हम भी शरीर छूटने पर जीवन की नदी के परले किनारे लग जाते हैं और वहाँ से फिर नया जीवन शुरू करते हैं। इस दृष्टि से मृत्यु की कोई सत्ता नहीं, यह एक पुराने मकान से निकल कर दूसरे नये मकान में चले जाना है। अगर मृत्यु यहीं है, तो मरने से डरना क्या, मरने पर रोना क्या ? मृत्यु के स्वरूप को जान लेने पर मृत्यु से पार हो जाते हैं—यह ऋषि की हम लोगों के लिए आँख खोल देनेवाली पहली घोषणा है। जिसने मृत्यु के स्वरूप को जाना वह मृत्यु से पार होकर आगे निकल गया।

(२) जन्म को जान लेने से अमरता का आस्वादन हो जाता है

उपनिषद् की दूसरी घोषणा यह है कि जन्म को जान लेने पर मनुष्य अमरता का आस्वादन करता है। अगर हम जान लें कि मृत्यु नहीं है तब जीवन अपने-आप अमर हो जाता है। अगर जन्म से पहले मैं न होऊँ, तो मैं जन्म नहीं ले सकता, पहले नहीं था तो जन्म कैसे हो गया; वर्तमान में जन्म है यह तो अनुभूति का ही विषय है; जिसे मृत्यु कहते हैं वह एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना है—इस प्रकार जन्म की व्यवस्था को जो जान लेता है, वह स्वयं अनुभव कर लेता है कि वह अमर है। मैं था, हूँ और रहूँगा—इसी को श्रुति ने **'सम्भूत्या अमृतं अश्नुते'**—सतत होने को, निरन्तर अस्तित्व को अमरता कहा है। कोई समय ऐसा नहीं था जब मैं नहीं था, कोई समय ऐसा नहीं होगा जब मैं नहीं रहूँगा। मृत्यु का न होना अस्तित्व के न होने की निषेधात्मक (Negative) घोषणा है, जीवन का भूत-वर्तमान-भविष्यत् में बने रहना अस्तित्व की अमरता के लिए विधेयात्मक (Positive) घोषणा है।

श्री लाला दीवानचन्द जी ने 'असम्भूति' तथा 'सम्भूति' पर 'उपनिषद्-प्रवचन-माला' में जो लिखा है वह भी ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं : "मुझे प्रतीत होता है कि असम्भूति और सम्भूति को नैतिक

उन्नति या सिद्धि के दो पगों के अर्थ में भी समझ सकते हैं। मन्त्र में असम्भूति के लिए 'विनाश' का प्रयोग हुआ है। मैले कपड़े को रंगने के लिए आवश्यक है कि उसकी मैल को दूर किया जाय; ऐसा किये बिना उस पर रंग चढ़ ही नहीं सकता। एक मनुष्य दुनियाँदारी के सारे ढंग बरतकर धन कमाता है, आप मज़े में गुज़र करता है, और सम्बन्धियों को ऐसा करने के योग्य बना देता है। अचानक उसके आत्मा पर चोट लगती है और उसे ख़्याल आता है कि वह भोग-विलास में फँसा हुआ अपने लक्ष्य से बेपरवाह हो रहा है। वह अपने जीवन को नया रूप देना चाहता है, परन्तु भोग-विलास को छोड़ने पर तैयार नहीं। यह तो नये जीवन की उपलब्धि का तरीका नहीं, वर्तमान अवस्था का 'विनाश' ही उसे मृत्यु की जकड़ से छुड़ा सकता है—**'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा'**। ऐसा करने के बाद, नये जीवन का निर्माण—सम्भूति—कुछ बनना सम्भव हो सकता है। जीने के लिए पहले मरना ज़रूरी है। पापमयी स्थिति का अन्त करो, तब अमरतत्व के मार्ग पर चलना सम्भव होगा—**'सम्भूत्या अमृतं अश्नते'**।"

अमृत की प्राप्ति का मार्ग है—**'विद्यया अमृतं अश्नुते'**—**'सम्भूत्या अमृतं अश्नुते'**। अध्यात्म से अमृत मिलता है, परन्तु मार्ग में भौतिक-जगत् की बाधाएँ हैं—शरीर है, संसार है, शरीर में विषयों पर लपकने वाली इन्द्रियाँ हैं, संसार में ललचाने वाले विषय हैं। इन्द्रियों की वासनाओं को जीवन देने वाले विषयों से अध्यात्म का मुख छिप जाता है। इसी कठिनाई को अनुभव कर श्रुति का कहना है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितम् मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

हे संसार का पोषण करनेवाले प्रभु ! संसार की सुवर्णमय चकाचौंध के ढकने से—**'हिरण्मयेन पात्रेण'**, आपका ठीक-ठीक रूप मेरे लिए ढका हुआ है—**'सत्यस्य अपिहितम् मुखम्'**। मेरी आपसे प्रार्थना है कि सत्य के दर्शन के लिए—**'सत्यधर्माय दृष्टये'**, सत्य को ढकनेवाले इस आवरण को, हे पूषन् ! हटा दीजिये—**'तत् त्वं पूषन् अपावृणु'**।

भगवान् तक पहुँचने के लिए, विद्या और सम्भूति द्वारा अमृत पाने के रास्ते में, विश्व में अन्तर्निहित सत्य के दर्शन के मार्ग में बाधा है हिरण्मय पात्र की, भौतिक सुख-भोग की। उसे देखकर मनुष्य उसी में अटक-भटक जाता है। संसार का इतना आकर्षण है कि स्वर्ण के

इस पर्दे को ही मनुष्य भगवान् समझ बैठता है। उपनिषद् ने संसार को असत्य नहीं कहा, परन्तु जितना-कितना भी संसार में सत्य है, उसका इतना आकर्षण है कि वास्तविक तथा अन्तिम सत्य इस आकर्षण में तिरोहित हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य संसार के विषयों के साथ इतना चिपट जाता है कि उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। उस अवस्था में मनुष्य जान भी रहा होता है कि ये अनित्य हैं, क्षण-भंगुर हैं, विनाश की तरफ़ ले जाने वाले हैं, परन्तु वह अपने को इतना निस्सहाय अनुभव करता है कि संसार के विषय, मन की वासनाएँ उससे छुड़ाये भी नहीं छूटतीं। इस अवस्था में वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु, मैं अपने प्रयत्न से जो-कुछ कर सकता था कर चुका, अब आपके हाथों ही अपने को सौंपता हूँ, आप आशीर्वाद दो ताकि मैं सत्य-मार्ग पर चल सकूँ। मैं तो विषयों में इतना अन्धा हो गया हूँ कि मुझे कुछ दीखता ही नहीं—**'सत्यधर्माय दृष्टये'**—सत्य को देखने के लिए आपकी शरण आता हूँ। जब प्रभु के हाथों मनुष्य सच्चे हृदय से अपने को छोड़ देता है, तब उसके हृदय से जो उद्गार निकलते हैं—वे हैं :

पूषन् एकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि
यः असौ पुरुषः सः अहम् अस्मि॥ १६॥

हे जगत् के पोषण करने हारे प्रभो—**'पूषन्'**; हे ऋषियों में एक, अनोखे प्रभु—**'एकर्षे'**; हे संसार का नियमन करनेहारे—**'यम'**; हे प्रचण्ड प्रकाशमान—**'सूर्य'**; हे प्रजाओं के पालन के गुण वाले—**'प्राजापत्य'**! मैं तो समझे बैठा था कि प्रकृति में जो आकर्षण है, वह प्राकृतिक पदार्थों का अपना है, परन्तु अब मुझे मालूम हुआ कि आपकी रश्मियों के कारण ही भौतिक-पदार्थों में चमचमाहट तथा आकर्षण है, उन्हीं रश्मियों का व्यूह संसार में चारों तरफ़ फैलकर भौतिक-जगत् में मोहकता उत्पन्न कर रहा है, उन्हीं रश्मियों के कारण प्रकृति के नाना रूप प्रकाशमान हैं। आप अपने तेजोमय रूप को सांसारिक पदार्थों में से खींच लें तो संसार का हर पदार्थ फीका पड़ जाता है। एक बार तो अपनी रश्मियों को संसार में से समेट लीजिए भगवन्—**'व्यूह रश्मीन् समूह'**, ताकि यह दुनियाँ मुझे अपने खोखलेपन में दीखने लगे। संसार में जो आकर्षण है उसके स्रोत आप हैं, संसार में जो कल्याणमय दीखता

है वह आपके कल्याणतम होने के कारण है, मैं सृष्टि में हर जगह आपका कल्याणतम रूप देख रहा हूँ—**'तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि'**। जैसे गुब्बारे में से हवा खींच ली जाय, तो वह चिपक जाता है, उसमें कुछ नहीं रहता, जैसे इस शरीर में से आत्मा चला जाय, तो यह लाश रह जाती है, वैसे इस मन-मोहक-जगत् के कण-कण में आप व्याप न रहे हों, तो यह निरा कूड़ा-कर्कट रह जाता है। जैसे ब्रह्माण्ड में ब्रह्म-पुरुष के प्रकाश से प्रकृति प्रकाशमान हो रही है, मैं ब्रह्म को भूलकर प्रकृति को सब-कुछ समझ बैठा हूँ, वैसे पिण्ड में आत्म-पुरुष के प्रकाश से शरीर प्रकाशमान हो रहा है, मैं आत्म-तत्व को भुलाकर शरीर को सब-कुछ समझ बैठा हूँ। जो वह ब्रह्माण्ड-पुरुष—**'यः असौ पुरुषः'**—संसार को थामे हुए है, वह मैं पिण्ड-पुरुष—**'सः अहम्'**—शरीर को थामे हुए हूँ—**'अस्मि'**।

इस श्रुति में 'यम' तथा 'सूर्य' के 'प्राजापत्य' रूप को सम्बोधन किया गया है। प्राजापत्य का अर्थ है—प्रजाओं को उत्पन्न करने का गुण, सृष्टि को उत्पन्न करने की शक्ति। सृष्टि को उत्पन्न तथा बनाये रखने की शक्ति सूर्य तथा यम में है। सूर्य जीवन को देता है, यम मृत्यु को देता है। यम का अर्थ मृत्यु भी है, नियमन भी है। इस श्रुति के भाव को समझने के लिए पहले हम 'सूर्य' पर विचार कर लें, फिर 'यम' पर विचार कर लें, तो इसका गम्भीर अर्थ समझ में आ जायगा।

(क) सूर्य की प्राजापत्य-शक्ति—सूर्य सृष्टि को जीवन प्रदान करता है। वृक्ष-वनस्पति, जीव-जन्तु, मनुष्य—सबका जीवन सूर्य की जीवनदात्री किरणों—रश्मियों—के कारण है। सूर्यास्त के बाद रात को सारा जीवन शान्त हो जाता है, प्रातःकाल सूर्योदय होते ही सूर्य की रश्मियों के साथ सम्पूर्ण जगत् में जीवन की लहर दौड़ने लगती है। यह भौतिक-जगत् के सूर्य का अपना जीवनप्रद रूप है। जिस प्रकार भौतिक-जगत् का सूर्य अपनी प्राजापत्य-शक्ति से—अपनी रश्मियों से—संसार में जीवन की लहर फैला देता है, उसी प्रकार इस भौतिक-सूर्य में भी—बाहर के सूर्य में भी—प्राण डालनेवाला इसके भीतर का सूर्य है जो इसका भी प्राण है। अगर बाहर का सूर्य अपनी रश्मियों के समूह को समेट ले, तो मृत्यु आ जाती है, इसी प्रकार अगर इस भौतिक सूर्य के भीतर इसमें प्राण-प्रतिष्ठा करनेवाला सूर्यों-का-सूर्य भगवान्—अपनी शक्ति को खींच ले, तो यह सूर्य भी खो जाता है। ऋषि उसी आध्या-

त्मिक, अभौतिक सूर्य की खोज करता हुआ कहता है कि भौतिक-सूर्य में जीवन देने की प्राजापत्य-शक्ति है, यह ठीक है, परन्तु उसके भीतर भी प्राजापत्य-शक्ति का संचार सूर्यों-के-सूर्य—भगवान् द्वारा किया हुआ है। भौतिक-सूर्य रश्मियाँ समेट ले, तो जगत् नहीं रहता, अभौतिक-सूर्य रश्मियाँ समेट ले, तो भौतिक-सूर्य भी नहीं रहता।

(ख) **यम की प्राजापत्य-शक्ति**—जीवन के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। परमात्मा का एक रूप 'सूर्य' है जो जीवनप्रद है, तो दूसरा रूप 'यम' है जो मृत्युप्रद है। इसीलिए परमात्मा को मृत्यु भी कहा गया है। **यम** का काम मृत्यु देना तथा नियमन करना—ये दो हैं। 'यम' सूर्य की तरह कोई भौतिक-तत्व नहीं है, जीवन के न होने का नाम ही यम है, या मृत्यु है। संसार में हर वस्तु के दो पहलू होते हैं, जीवन का दूसरा पहलू मृत्यु है, सूर्य का दूसरा पहलू यम है। यम का एक काम मृत्यु देना है, दूसरा काम नियमन करना है। यह भी कह सकते हैं कि यम मृत्यु द्वारा ही नियमन करता है। भौतिक-जगत् में अगर मृत्यु न हो, तो संसार इतने प्राणियों से भर जाय कि रहने को स्थान ही न रहे। मृत्यु द्वारा ही जन-संख्या का नियमन हो रहा है—इसीलिए यम को **'पूषन्'** कहा, संसार का पोषण जहाँ जीवन के द्वारा होता है, वहाँ पोषण मृत्यु के द्वारा भी होता है। मृत्यु न हो तो जीवन रह नहीं सकता। जैसे भौतिक-जगत् में मृत्यु आवश्यक है, वैसे ही आध्यात्मिक-जगत् में भी मृत्यु आवश्यक है। मनुष्य जिन संस्कारों को लेकर बैठा है—कुसंस्कार—जबतक उनको मार नहीं देता, तबतक उसमें नये संस्कार जन्म नहीं लेते। यम का यही प्राजापत्य रूप है, इसी से मरण तथा मरण से नियमन होता है।

'सूर्य' और 'यम'—जीवन तथा मरण—का उल्लेख करने के बाद ऋषि कहते हैं कि जब जीवन के बाद मरण का क्षण आता है, शरीर को छोड़कर प्राण निकल जाते हैं, तब अपने किये हुए कर्म ही साथ रह जाते हैं, और कुछ नहीं रहता। श्रुति ने कहा है—

वायुः अनिलं अमृतं अथ इदम् भस्मान्तं शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर॥ १७॥

इस श्रुति का यह प्रसंग नहीं है कि यह मृत्यु के समय कही गई है। मृत्यु के समय तो कुछ ज्ञान ही नहीं रहता, उस समय कौन ऐसी बात कह सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के तथ्य को

समझने वाले के लिए जीवन के साथ हर समय मृत्यु का ध्यान भी बना रहता है। जीवन में ऐसा समय भी आ जाता है जब जीते-जी मनुष्य संसार के विषयों से उपराम हो जाता है। वैदिक-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ-आश्रम तथा संन्यास-आश्रम का विधान है जिनकी तरफ़ संकेत कठोपनिषद् में **त्रिनाचिकेत-अग्नि** के नाम से किया गया है। मृत्यु के समय नहीं, परन्तु मन की ऐसी समझ उत्पन्न हो जाने के समय जो विचार प्रबल हो जाता है वह यही है। यह शरीर तो भस्मान्त के सिवाय क्या है? जब मृत्यु आयेगी तब शरीर का प्राण-वायु विश्व के प्राण में विलीन हो जाएगा क्योंकि विश्व की प्राण-शक्ति ही शरीर में काम कर रही है—**'वायुः अनिलम्'**; इस शरीर में अगर कुछ बच रहता है, अमर है, तो वह आत्मा ही है—**'अमृतं अथ इदम्'**—यह आत्मा ही अमृत है—'अमृत'—अर्थात् 'अ+मृत', जो मरता नहीं है; इस शरीर का अन्त तो राख हो जाना है, भस्म हो जाना है—**'भस्मान्तं शरीरम्'**। मैं संसार में जन्मा हूँ, मेरा मरण भी होगा, प्राण-वायु विश्व-प्राण में, यह शरीर पार्थिव-तत्वों में विलीन हो जायेंगे; मैं इनको छोड़कर जीवन-यात्रा में आगे निकल जाऊँगा, इस जीवन में कर्म करता रहा हूँ, आगे भी जो जीवन आयेंगे उनमें भी कर्म ही मेरा साथ देंगे—इसलिए ऐ मेरे कर्मशील अमर-आत्मा! जीवन में अबतक जो कर्म किये हैं उन्हें स्मरण करो—**'ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर'**—उन्हें स्मरण करते रहो—**'क्रतो स्मर कृतं स्मर'**। इस वाक्य को श्रुति ने दो बार दोहराया है क्योंकि जन्म-मरण के इस सँसार में न शरीर साथ देता है, न शरीर को रखनेवाला प्राण साथ देता है, केवल कर्म साथ देता है। **'क्रतु'**-शब्द का अर्थ कर्म है, संकल्प है। शरीर और प्राण को हम यहीं छोड़ जाते हैं, संकल्पों, संस्कारों, कर्मों को ही साथ ले जाते हैं—अच्छे हों, बुरे हों, उन्हें यहाँ छोड़कर कोई नहीं जाता, वे हमारा जन्म-जन्मान्तर तक पीछा किये रहते हैं।

जब कर्म ही ने साथ देना है, तब दो ही बातें शेष रह जाती हैं। मनुष्य अपने-आप अच्छी तरह सोच-समझ ले कि उसे ऐसे कर्म करने हैं जो सुपथ की तरफ़ ले जाने वाले हों। इसके साथ प्रभु से प्रार्थना करे कि भगवान् से भी सुपथ पर चलने की प्रेरणा मिलती रहे। इसी भावना से इस उपनिषद् की अन्तिम श्रुति में कहा गया है :

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोधि अस्मत् जुहुराणाम् एनः भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्निस्वरूप प्रभु—**'अग्ने'**, हम संसार में भटक रहे हैं, हमें सूझ नहीं पड़ता, किधर जाएँ। हम आपके हाथों अपने को छोड़ते हैं, हमारे अभ्युदय के लिए हमें सुपथ पर ले चलिये—**'नय सुपथा राये अस्मान्'**। हे देव! आप ही हमारे सब कर्मों को जानते हो, अच्छे किये हैं या बुरे किये हैं—**'विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्'**। हमसे जो कुटिलतापूर्ण पाप होते हैं वे हमसे न हों, वे हमसे पृथक् हो जायें—ऐसा हमें बल दो—**'युयोधि अस्मत् जुहुराणं एनः'**। इस प्रार्थना से हम बार-बार आपको नमस्कार करते हैं—**'भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम'**।

इस श्रुति में तीन बातें विशेष रूप से कही गई हैं। (क) प्रभु को सम्बोधन **'अग्नि'**—इस नाम से किया गया है; (ख) सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा माँगी गई है; (ग) इस प्रेरणा देने के लिए प्रभु को नमस्कार करते हुए प्रार्थना की गई है कि हमारी भावना को पूर्ण करें। ये तीनों विचार महत्त्वपूर्ण हैं—

(क) परमात्मा को अग्नि नाम से क्यों सम्बोधित किया है—वेदों में **'अग्नि'** को एक मुख्य देवता माना है। अग्नि प्रतीक है कुछ विचारों का। अग्नि कूड़े-कचरे को भस्म कर देती है। अग्नि को सम्बोधित करते हुए साधक प्रार्थना करता है कि हे अग्नि, जैसे आप झाड़-झंकार, कूड़ा-कचरा जलाकर भस्म कर देते हो, वैसे ही मेरे मन का मैल जला डालो। अग्नि ऊर्ध्वगामी है। अग्नि की लपटें नीचे नहीं जातीं, ऊपर ही जाती हैं। मशाल जलाकर उसे नीचे की तरफ़ लाने का प्रयत्न किया जाय, तो भी लपट ऊपर ही जाती है। हे अग्नि, आप मुझे ऊपर-ही-ऊपर जाने की प्रेरणा दो। अग्नि के सामने अन्धकार नहीं टिक सकता, अग्नि प्रकाश का प्रतीक है। अग्नि से प्रार्थना है कि साधक के जीवन में अखंड ज्योति का आविर्भाव हो। जो लोग अग्निहोत्र करते हैं वे अगर अग्नि को सिर्फ़ देखते भर रहें, तो भी ये भावनाएँ बरबस हृदय में उठने लगती हैं।

(ख) अग्नि से सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा क्यों माँगी गई है—अग्नि का काम प्रकाश देना है, अन्धकार का निवारण कर देना है। मनुष्य का स्वभाव वासनामय जीवन के अन्धकार में जीने का है। प्रकाश होगा तभी तो अन्धकार को भेदकर रास्ता दीखेगा। मनुष्य जानता है कि वासना उसे भस्म कर देगी, परन्तु जैसे पतंगा दीप-शिखा पर जल जाता है, वैसे ही यह मानव संसार के विषयों की आग में

अपने प्राण होम देता है। यह बात नहीं कि वह जानता नहीं। वह पूरे तौर से जानता है कि विषय उसे चाट जायेंगे, परन्तु जानता हुआ भी अपने को रोक नहीं सकता। कहने वाले ने ठीक कहा है—'**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः**', परन्तु जानते-बूझते भी मनुष्य अनजाना बना रहता है, अपने को लाचार पाता है। ऐसे समय वह अग्नि से प्रेरणा माँगता है, तभी कहा है—'**अग्निः कस्मात् अग्रे भवति, अग्रणीः भवति**'—अग्नि को अग्नि इसीलिए कहते हैं क्योंकि वह आगे ले जाता तथा सबसे आगे है। जिस मनुष्य के मन में आग जग उठती है, वह अन्धकारमय जीवन से इन्कार कर देता है, जीवन में अध्यात्म की मशाल लेकर आगे-आगे बढ़ता और ऊपर-ऊपर उठता चला जाता है। अग्नि से इस श्रुति में यही माँग की गई है।

(ग) अग्नि को नमस्कार कर प्रार्थना क्यों की गई है—तीसरी बात इस श्रुति में—'**नम उक्तिं विधेम**' - भगवान् के सामने नमन करके सिर झुका दिया गया है, भगवान् के हाथों अपने को सौंप दिया गया है। पतन का मार्ग स्वाभाविक है, उसके लिए किसी के सहारे की ज़रूरत नहीं होती। संसार के विषय मनुष्य को नीचे खींचते ही हैं, कोई विषयों से प्रार्थना नहीं करता कि मुझे अपनी तरफ़ खींचो। मनुष्य स्वभाव से नीचे गिरता है। पत्थर को नीचे गिरने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता, ऊपर उठने में प्रयत्न की ज़रूरत पड़ती है। परन्तु ऊपर उठने की इच्छा होते हुए भी उठा नहीं जाता, उठने के लिए सहारा चाहिये। वह सहारा भगवान् के सिवाय कौन दे सकता है ? अग्नि से प्रार्थना करना उससे सहारा माँगना है, बिना सहारे कुछ न चलेगा। जब आदमी अपना परिश्रम करके हार जाता है, तब दिल से निकली पुकार को भगवान् सुनता है—उसी को प्रार्थना कहते हैं—उसी भावावेश में यहाँ श्रुति ने भगवान् के प्रति नमन किया है, अपने को भगवान् के हाथों छोड़ दिया है।

उपसंहार

ईशावास्योपनिषद् के उक्त १८ मन्त्रों में श्रुति ने प्रचलित मान्यताओं को ठोकर दी है। मनुष्य समझता है कि वह मालिक है, जो-कुछ वह समेट लेता है वह उसका निजी है। संसार के सारे अनर्थ इसी

भावना से होते हैं। सम्पत्ति किसकी है? हर व्यक्ति समझे बैठा है कि जो-कुछ उसके पास है वह उसका है; दूसरे कहते हैं, यह उसने हड़प लिया है। आर्थिक-उपद्रवों की यही जड़ है। उपनिषद् ने स्वत्व, मिलकीयत की मान्यता को चुनौती दी है। जो-कुछ है, किसी का नहीं, सब भगवान् का है। जब मनुष्य समझ ले कि उसका कुछ भी नहीं है, तब जीवन का कांटा ही बदल जाता है, लड़ाई-झगड़े समाप्त हो जाते हैं। काम किये बग़ैर मनुष्य रह नहीं सकता, इसलिए जो-कुछ करता है कर्त्तव्य समझ कर करता है, अधिकार समझकर नहीं, क्योंकि अधिकार का प्रश्न ही तब उठता है जब स्वत्व का, मिलकीयत का प्रश्न हो। जब स्वामित्व ही हम में से किसी का नहीं, तब जो हाथ आता है, भगवान् का दिया प्रसाद समझ कर ही मनुष्य उसे ग्रहण करता है। इस दृष्टि से उसकी भाषा बदल जाती है। हम सब संसार के पीछे भागते हैं, उपनिषद् की भाषा समझनेवाला व्यक्ति संसार को छोड़ता है; संसारी-व्यक्ति जिसे छोड़ता है, आध्यात्मिक-व्यक्ति उसी को पाने का प्रयत्न करता है। उसकी भाषा में शब्दों के अर्थ भी बदल जाते हैं, जिसे हम विद्या कहते हैं उसे वह अविद्या कहता है, 'अविद्या'-शब्द से जिसे हम छोड़ देने की बात कहते हैं, उसे उपनिषद् का ऋषि मृत्यु पर विजय पाने का साधन बतलाता है। विद्या का तो लाभ है ही, अविद्या का भी लाभ है। जितना भौतिक-विज्ञान है उसे हम विद्या कहते हैं, उपनिषद् का ऋषि उसे अविद्या कह कर उसका क्षेत्र सीमित कर देता है। इन भौतिक विज्ञानों से संसार की वस्तुएँ हाथ आती हैं, मनुष्य सुख-चैन से जी सकता है, इससे ज़्यादा कुछ नहीं मिलता। इनसे उसकी प्यास कुछ देर के लिए बुझती है, परन्तु फिर जाग उठती है। हमारी तलाश तो आनन्द के उस स्रोत की है जिसका अमृत-जल पीने से मनुष्य मरणधर्मा होकर भी अमर हो जाता है। उपनिषद् का ऋषि संसार को छोड़ने के लिए नहीं कहता, वह भोगने और त्यागने के, अविद्या तथा विद्या के, असम्भूति तथा सम्भूति के समन्वय की बात कहता है। विद्या भी ठीक, अविद्या भी ठीक; सम्भूति भी ठीक, असंभूति भी ठीक—ये मिलकर, कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलें तो ठीक, एक-दूसरे से लड़ें तो ना-ठीक। इस प्रकार के समन्वय को ईशावास्योपनिषद् का सार कहा जा सकता है।

केनोपनिषद्

प्रथम खण्ड

'ईश' तथा 'केन' उपनिषद् का प्रारम्भ भिन्न-भिन्न समस्याओं को लेकर हुआ है। ईशोपनिषद् सम्पूर्ण संसार की समस्या को लक्ष्य में रखकर प्रारम्भ होती है। संसार क्या है, संसार के भोग-विलास क्या हैं, संसार की भोग-सामग्री का स्वामी कौन है?—**'ईशावास्यं इदं सर्वम्'**; संसार में रहते हुए जीवन कैसे बितायें—**'कुर्वन्नेव इह कर्माणि जिजीविषेत्'**; संसारमें भिन्नता है या एकता है—**'एकत्वं अनुपश्यतः'**; संसार तथा जीवन का अन्त क्या है—**'भस्मान्तम् शरीरम्'**; जीवन की इस विशाल समस्या का समाधान ईशावास्योपनिषद् में मिलता है। केनोपनिषद् में जीवन की समस्या बहुत संक्षिप्त तथा संकुचित है। इस उपनिषद् की समस्या यह है कि मनुष्य क्या है, मन क्या है, इन्द्रियाँ क्या हैं—आँख, कान, वाणी क्या हैं, इनका संचालन कौन करता है, क्या ये स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र हैं, क्या ये अपने अधिष्ठाता स्वयं हैं, या इनका कोई अन्य अधिष्ठाता है। इसी तरह अग्नि, वायु आदि भौतिक-तत्त्व स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र हैं, इनका संचालन कौन करता है। इस प्रकार पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में जो शक्ति काम कर रही है, उसका पता लगाना 'केन'-उपनिषद् का लक्ष्य है। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर केनोपनिषद् के ऋषि प्रश्न उठाते हुए कहते हैं—

केन इषितम् पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केन इषिताम् वाचं इमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रम् क उ देवो युनक्ति ॥१॥

हम समझते हैं कि आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ विषयों पर टूट पड़ती हैं, परन्तु 'केन'-ऋषि का कहना है कि इन्द्रियाँ तो साधन हैं

मन की, मन इन्द्रियों को साधन बनाकर विषयों पर टूटता है। प्रश्न यह है कि मन को कौन प्रेरणा दे रहा है जिससे मन इन्द्रियों को साधन बनाकर विषयों पर टूट पड़ता है—**'केन इषितम् पतति प्रेषितं मनः'** ? इसी प्रकार जब प्राणी माँ के पेट से बाहर आता है तब वह पहला प्राण लेता है, पेट में तो वह साँस नहीं लेता। कौन है जिसकी प्रेरणा से यह जीव जन्मते ही पहला साँस लेने लगता है—**'केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः'** ? बच्चा माँ के पेट में कहाँ बोलता है, परन्तु जन्म लेते ही वाणी का प्रयोग करने लगता है, भले ही शब्दों के रूप में प्रयोग न करता हो, फिर भी अपने ढंग से तो उसकी वाणी जो अब तक मूक थी चलने लगती है। वाणी का यह चलन किसकी प्रेरणा से होता है—**'केन इषिताम् वाचम् इमाम् वदन्ति'** ? कौन देव है जो आँख, कान तथा अन्य इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में नियुक्त कर देता है—**'चक्षुः श्रोत्रम् क उ देवो युनक्ति'** ।१।

जो संसार हमें दीखता है उसे पहले दो भागों में बाँटा जा सकता है। निर्जीव-वस्तुएँ—जैसे ईंट, पत्थर आदि; सजीव-प्राणी—जैसे पक्षी, पशु, मनुष्य आदि। सजीव को फिर दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्राणी का शरीर, और शरीर के भीतर चेतना। प्राणी के शरीर में से जब चेतना निकल जाय, तब शरीर निर्जीव—ईंट, पत्थर आदि—की श्रेणी में चला जाता है।

सजीवों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो अपनी चेतना को अपने शरीर से भिन्न अनुभव करता है, पक्षी-पशु में यह प्रतीति नहीं होती। मनुष्य कहता है—मेरा शरीर, पशु कह तो सकता ही नहीं, अनुभव भी नहीं कर सकता। मनुष्य जब कहता है—मेरा शरीर, तब वह यह बात इसीलिए कहता है क्योंकि वह जानता है कि मेरा सजीव-शरीर अलग है, उसमें निवास कर रही चेतना अलग है। यह चेतना सजीव-शरीर में से हट जाये, तो शरीर निर्जीव हो जाता है। परन्तु इस प्रकार की अनुभूति सब-किसी को नहीं होती।

हम समझते हैं कि शरीर ही चेतना है। शरीर की आँख देखती है, कान सुनते हैं, नाक सूंघती है, जीभ चखती है, त्वचा स्पर्श करती है। 'केन'-उपनिषद् का ऋषि कहता है कि यह प्रतीति ग़लत है। आँख नहीं देखती, आँख के माध्यम से कोई देखता है; कान नहीं सुनते, कान के माध्यम से कोई सुनता है; नाक नहीं सूंघती, नाक के माध्यम से कोई

सूँघता है; जीभ नहीं चखती, जीभ के माध्यम से कोई चखता है; त्वचा नहीं स्पर्श करती, त्वचा के माध्यम से कोई स्पर्श करता है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा—ये सब माध्यम हैं, साधन हैं, असल में देखने-सुनने वाला कोई दूसरा ही है। वह दूसरा कौन है? 'केन'-उपनिषद् का ऋषि अपनी गवेषणा को यह मान कर चल रहा है कि जो-कोई इस उपनिषद् को पढ़ेंगे, वे इतना तो जानते ही हैं कि ज्ञानेन्द्रियाँ जो-कुछ जानती हैं, और कर्मेन्द्रियाँ जो-कुछ करती हैं, वह अपने-आप नहीं करतीं, जानने वाला और करने वाला ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से भिन्न ही कोई तत्व है।

यह बात नहीं कि ऐसे लोग नहीं हैं जो यही मानते हों कि आँख, कान, नाक आदि ही अपने-आप ज्ञान को जानते और क्रिया को करते हैं, अपने-आप ये घटनाएँ होती हैं, इन्हें करने वाला शरीर से भिन्न दूसरा कोई तत्व नहीं है। आजकल की परिभाषा में इन लोगों को व्यवहारवादी (Behaviourists) कहते हैं, प्राचीन-काल में भी ऐसे विचारक रहे हैं, वे भौतिकवादी या चारवाक आदि नामों से पहचानते जाते थे। इन लोगों का कहना है कि शरीर जो-कुछ करता है, वह क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में अपने-आप होता है। उत्तेजक सामने आया, उसकी अपने-आप प्रतिक्रिया हो गई। शरीर के अतिरिक्त प्रतिक्रिया करने वाला दूसरा कोई अभौतिक-तत्त्व नहीं है। 'केन'-उपनिषद् का ऋषि भौतिकवादियों की बात मानने को तैयार नहीं। उसका कहना है कि आँख स्वतन्त्र रूप में नहीं देखती, आँख के माध्यम से कोई दूसरा ही देखता है; कान स्वयं नहीं सुनता, कान के माध्यम से कोई दूसरा ही सुनता है। आँख खुली हो, मन साथ न दे रहा हो, कान खुले हों, मन साथ न दे रहा हो, तो देखने वाला न देख सकता है, सुनने वाला न सुन सकता है। 'केन'-ऋषि का कहना है कि यह तो मानना ही पड़ेगा कि आँख-कान देखते-सुनते नहीं, मन देखता-सुनता है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि जैसे आँख-कान न देखते, न सुनते हैं, वैसे क्या मन भी आँख-कान आदि ज्ञानेन्द्रियों की तरह किसी अन्य का ही माध्यम है, क्या मन से भी कोई अन्य है जो मन को माध्यम, अपना साधन बनाकर देखता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है? क्या प्राण के अतिरिक्त कोई दूसरा है जो प्राण को भी प्रेरणा देता है कि प्राणी श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया करे तभी जीवन बना रहेगा? अगर आँख, कान, नाक, वाणी,

प्राण आदि को प्रेरणा देने वाला मन है, तो मन को प्रेरणा देने वाला कौन है ?

हम संसार में इतने धँसे रहते हैं कि हमारे भीतर इस प्रकार के प्रश्न नहीं उठते। जब कोई इन प्रश्नों को उठाता है, तब हम भी चौकन्ने हो जाते हैं और हमारे भीतर भी इनके उत्तर जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है। इन प्रश्नों को जिस ऋषि ने उठाया उसका नाम ही 'केन' पड़ गया। 'केन'-ऋषि ने प्रश्न ही नहीं उठाया, उठाकर उसका उत्तर भी दे दिया। वे कहते हैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, मनसो मनो यत्, वाचो ह वाचम्, स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषः चक्षुः अतिमुच्य धीराः, प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति ॥
॥२॥

यह जो कान सुनता प्रतीत होता है यह नहीं सुनता, इसके माध्यम से कोई और ही सुनता है जिसे श्रोत्र का भी श्रोत्र कहा जा सकता है— **'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'**; यह जो मन सोचता जान पड़ता है यह नहीं मनन करता, मन के माध्यम से कोई और ही मनन करता है जिसे मन का भी मन कहा जा सकता है—**'मनसो मनो यत्'**; यह जो वाणी बोलती जान पड़ती है यह नहीं बोलती, इसके माध्यम से कोई और ही बोलता है—**'वाचो ह वाचम्'**; यह जो प्राण स्वयं चलता प्रतीत होता है यह स्वयं नहीं चलता, इसके माध्यम से कोई और ही श्वास-प्रश्वास लेता है—**'स उ प्राणस्य प्राणः'**; यह जो आँख देखती जान पड़ती है यह नहीं देखती, इसके माध्यम से कोई और ही देखता है—**'चक्षुषः चक्षुः'**। जब आँख, कान, प्राण और मन—ये सब साधन हैं, आँख, कान आदि तो मन तथा प्राण के, और मन तथा प्राण किसी अन्य हमारे भीतर विद्यमान आत्म-शक्ति के, तब जैसे साधनों का प्रयोग किया जाता है वैसे साधनों को छोड़ा भी जा सकता है। धीर पुरुष इन्द्रियों के द्वारा विषयों में डूब भी सकते हैं, इनसे अपने को निकाल भी सकते हैं। साधन का उपयोग करने वाला जब चाहे साधन को छोड़ भी सकता है—**'अतिमुच्य धीराः'**। जब छोड़ देता है तब वह मानो विषयों के लोक के प्रति मर जाता है, भीतर के आत्मिक-जीवन के प्रति जी उठता है—**'प्रेत्य अस्मात् लोकात्'**। भौतिकलोक के प्रति मर जानेवाले और आध्यात्मिक-जीवन के प्रति जी उठने वाले व्यक्ति मानो मरकर अमृत हो जाते हैं—**'अमृताः भवन्ति'**।२।

इस श्रुति में 'केन'-ऋषि ने तीन तत्वों की तरफ़ ध्यान खींचा है—

इन्द्रियाँ अर्थात् आँख, कान, नाक आदि; मन; तथा प्राण। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, दृश्य हैं; मन तथा प्राण अभौतिक हैं, अदृश्य हैं। हमें भौतिक ही सत्य प्रतीत होता है, अभौतिक तथा अदृश्य असत्य प्रतीत होता है, परन्तु अभौतिक तथा अदृश्य की सत्ता न हो, तो भौतिक तथा दृश्य की सत्ता नहीं हो सकती। ऋषि कहता है कि भौतिक तथा दृश्य तो अभौतिक तथा अदृश्य के सहारे ही टिका हुआ है, अभौतिक तथा अदृश्य न हो तो भौतिक तथा दृश्य होता ही नहीं।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी ने कुछ उदाहरण दिये हैं जो इस प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) हमने कई साल हुए अपने बग़ीचे में गढ़ा खोद कर आम की एक गुठली दबा दी थी। उसे दबा कर हम भूल गये। साल-दो-साल बाद जब हम बग़ीचे में घूमने निकले तो वहाँ आम का एक पेड़ खड़ा हुआ था। क्योंकि हम भूल गये थे कि यहाँ एक गुठली दबाई थी, इस पेड़ को देखकर हमें आश्चर्य हुआ। पीछे स्मरण आया कि हमीं ने यहीं गुठली दबाई थी। दृश्य पेड़ उस गुठली के सहारे टिका था जो दीख नहीं रही थी।

(ख) एक दूसरा उदाहरण लें। कल्पना कीजिए कि एक रोगी को डॉक्टर देखने के लिए आया। डॉक्टर रोग को कैसे पहचानता है? कुछ लक्षण शरीर पर प्रकट हो रहे हैं, कुछ लक्षणों को रोगी बतला रहा है। जो लक्षण प्रत्यक्ष दीख रहे हैं, वे तो हैं ही, परन्तु जिन लक्षणों का रोगी वर्णन कर रहा है—भूख नहीं लगती, शरीर में गर्मी है, घबराहट है—ये लक्षण तो दीख नहीं रहे, परन्तु डॉक्टर इन्हें सत्य मानकर रोग का नाम तथा उसकी दवा चुनता है। इस दृष्टांत में भी जो दीखता है उसके पीछे न दीखनेवाला मौजूद है, तभी रोग का निदान हो सकता है। आम के दृष्टांत में तो गुठली दबी हुई थी, दीख नहीं रही थी, परन्तु खोदने पर दीख सकती थी। रोगी के दृष्टांत में तो रोग लक्षणों को प्रकट कर रहा है, परन्तु रोगी के भीतर ढूंढ़ने से भी वह कहीं नहीं दृश्य रूप में मिलता यद्यपि रोग के दृश्य लक्षण अदृश्य रोग के ही कारण हैं।

(ग) एक तीसरा उदाहरण लें। एक रोगी के दाँत में दर्द है। वह कहता है कि उसे असह्य पीड़ा हो रही है। आप उसकी बात का

विश्वास न कर उससे पूछते हैं कि असह्य पीड़ा हो रही है—इसका क्या प्रमाण है ? वह अपने दाँत की तरफ़ इशारा करता है, परन्तु दाँत तो जैसे और हैं वैसा ही यह दाँत भी है। इस दृश्य दाँत के पीछे अदृश्य पीड़ा मौजूद है तभी सब दाँतों के एक-समान होते हुए भी रोगी इस दाँत की वजह से कराह रहा है—दृश्य अदृश्य के सहारे ही टिक सकता है।

'केन'-ऋषि का कहना है कि बाहर जो-कुछ दीखता है वह अन्तिम सत्य नहीं है। बाहर जो दीखता है वह सत्य की झलक है, असली सत्य बाहर नहीं भीतर है, भौतिक नहीं अभौतिक है, दृश्य नहीं अदृश्य है। हम समझते हैं कि इन्द्रियाँ सत्य हैं, इन्द्रियाँ सत्य नहीं मन सत्य है, प्राण सत्य है; हम समझते हैं कि मन तथा प्राण सत्य हैं, मन सत्य नहीं, प्राण सत्य नहीं, आत्मा सत्य है; हम समझते हैं कि बाहर का सत्य है, बाहर का सत्य नहीं भीतर का सत्य है। 'केन'-ऋषि ने जिज्ञासु की दृष्टि बाहर से रोककर भीतर मोड़ दी है। उसका कहना है कि यह मानना कि आँख देखती है, कान सुनते हैं, मन सोचता है—यह ग़लत है; आँख को देखनेवाली भी कोई आँख है; मन का मनन करनेवाला भी कोई मन है; जिस जगत् को हम सत्य समझे बैठे हैं वह असत्य है; जिसे हम असत्य समझे हुए हैं वही सत्य है; जिसे हम जीवन समझ रहे हैं वह मृत्यु है; जिसे हम मृत्यु समझते रहे हैं वही अमृत है—अधिभूत मरण है, अध्यात्म जीवन है।

'केन'-ऋषि का कहना है कि अन्तिम सत्ता मन से ऊपर, मन से परे है। मन इस उच्चतर गहन अध्यात्म-सत्ता का साधन है, माध्यम है। मन के पीछे, उससे ऊँची जो गहन अध्यात्म-सत्ता है उसे आत्मा कहा जाता है। जिस प्रकार आंख-कान आदि इन्द्रियाँ 'मन' (Mental force) तथा 'प्राण' (Vital force) के साधन हैं, उसी प्रकार 'मन' तथा 'प्राण' भी इनसे उच्चतर आत्म-सत्ता के साधन हैं। मन संसार के विषयों को इन्द्रियों के माध्यम से जानता है, परन्तु इन्द्रियाँ मन को नहीं जानतीं क्योंकि मन इन्द्रियों से परे है। इसी प्रकार मन से परे आत्म-सत्ता है। उसे तो मन का ज्ञान है, परन्तु मन को आत्म-सत्ता का ज्ञान नहीं है। जैसे मन इन्द्रियों में व्याप्त होकर संसार का ज्ञान ग्रहण करता है, और यह जानकर कि मेरे कारण इन्द्रियाँ ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ होती हैं, मेरे बिना नहीं, इसलिए मन यह जानता है कि वास्तविक-सत्ता इन्द्रियों की नहीं, मेरी—अर्थात् मन की है, इसी-

प्रकार आत्म-सत्ता, मन में व्याप्त होकर, मन के अस्तित्व को जानती है, और यह जानकर कि मेरे कारण मन ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ होता है, मेरे बिना नहीं, आत्मा यह जानता है कि वास्तविक-सत्ता मन की नहीं, मेरी—अर्थात् आत्मा की है। आत्मा मन के माध्यम से ान ग्रहण करता है, इसलिए आत्मा तो मन को जानता है, मन आत्मा को नहीं जानता। इसीलिए मन को आत्मा के विषय में बताने की आवश्यकता पड़ जाती है। 'केन'-ऋषि की समस्या यह है कि किस प्रकार, किस उपाय से—**'केन'**—मनुष्य अपने विकास में इतना ऊँचा उठ जाय कि इन्द्रियों के परे, मन के परे, प्राण के परे जो आत्म-सत्ता है जिसके कारण ही जीवन का चक्र चलता है, उसके पास पहुंचा जा सके क्योंकि उस तक पहुँचकर ही अमृत् की प्राप्ति हो सकती है, उसके बिना नहीं।

इसी समस्या को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने कहा—यह भौतिक-जीवन जिसे हम जीवन समझकर उसी में डूबे रहते हैं वास्तविक-जीवन नहीं है। इससे ऊँचा एक जीवन है। उद्बुद्ध व्यक्ति की दृष्टि से हमारा देखने-सुनने का, इन्द्रियों का, विषयों के पीछे भागने का, वासनाओं का जीवन जीवन नहीं है। संसार की विषय-वासनाओं के पाशों से मुक्त होकर जीना अमरता का जीवन है, विषय-वासनाओं में फंस कर जीना मृत्यु का जीवन है। इस बात को जो समझ जाता है वही सही जीवन के मार्ग पर चल पड़ता है।

इस उच्चतर आध्यात्मिक-जीवन की आँख से देखो तो यह भौतिक आँख आँख नहीं रहती, उस आँख से जो दीखता है वह इस आँख से नहीं दीखता; उस कान से जो सुनता है वह इस कान से नहीं सुनाई देता; उस वाणी से जो बोल निकलते हैं वे इस वाणी से नहीं निकलते; उस मन से जो जाना जाता है वह इस मन से नहीं जाना जाता; उस प्राण से जो जीवन मिलता है वह इस प्राण से नहीं मिलता। तभी कहा—हमारे चक्षुओं से उच्चतर, उनसे परे भी चक्षु हैं; हमारे श्रोत्रों से उच्चतर, उनसे परे भी श्रोत्र हैं; हमारी वाणी से उच्चतर, उससे परे भी वाणी है; हमारे मन से उच्चतर, उससे परे भी मन है; हमारे प्राण से उच्चतर, उससे परे भी प्राण हैं। उस आँख, श्रोत्र, मन, प्राण के सामने ये आँखें, श्रोत्र, मन, प्राण फीके पड़ जाते हैं। इन सबको छोड़ो, ऊँचे उठो—देखो उसे जो भौतिक आँखों से नहीं दीखता, जानो

उसे जो इस मन से नहीं जाना जा सकता। तुम तो इन आँखों से उसे देखना चाहते हो जो आँख का विषय नहीं, इस वाणी से उसे पाना चाहते हो जो वाणी का विषय नहीं। इन आँखों और इस वाणी से वह क्यों नहीं जाना जा सकता—इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं—

न तत्र चक्षुः गच्छति, न वाक् गच्छति, नो मनो,
न विद्मो, न विजानीमो यथा एतत् अनुशिष्यात्,
अन्यत् एव तत् विदितात्, अथ उ अविदितात् अधि,
इति शुश्रुम पूर्वेषाम् ये नः तद् व्याचचक्षिरे ॥३॥

उस आत्म-तत्त्व तक यह आँख नहीं पहुँचती—**'न तत्र चक्षुः गच्छति'**, वहाँ वाणी भी नहीं पहुँचती—**'न वाक्'**, न मन वहाँ पहुँचता है—**'न मनः'**। हम नहीं जानते, नहीं जानते—**'न विद्मः न विजानीमः'**—कि उसका उपदेश कैसे करें—**'यथा एतत् अनुशिष्यात्'**। जो-कुछ भी संसार में ज्ञात है और जो-कुछ अज्ञात है उस सबसे वह भिन्न है—**'अन्यत् एव तत् विदितात् अथ उ अविदितात् अधि'**। हमसे पहले जो ज्ञानी लोग हुए हैं उनसे यही सुना है—**'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्'**, और जिन्होंने आत्म-तत्त्व की हम से व्याख्या की है उनका भी यही कहना है—**'ये नः तत् व्याचचक्षिरे'**।३।

हम वाणी से उस तक पहुँचना चाहते हैं, वह वाणी का विषय नहीं। जो वाणी से प्रकट नहीं किया जा सकता, जो अनिर्वचनीय है—**'यत् वाचा अनभ्युदितम्'**, जिससे वाणी प्रकट होती है—**'येन वाक् अभ्युद्यते'**, उसी को तू ब्रह्म जान—**'तत् एव ब्रह्म त्वं विद्धि'**, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है—**'न इदं यत् इदं उपासते'**।४।

हम मन से—तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रयुक्ति—से उस तक पहुँचना चाहते हैं, वह मन का विषय ही नहीं है। जो मन से मनन नहीं किया जाता—**'यत् मनसा न मनुते'**, जिसके द्वारा मन मनन करता कहा जाता है—**'येन आहुः मनो मतम्'**, उसी को तू ब्रह्म जान—**'तत् एव ब्रह्म त्वं विद्धि'**, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है—**'न इदं यत् इदं उपासते'**।५।

हम आँख से उसे देखना चाहते हैं, परन्तु वह आँखों का विषय नहीं है—जो आँखों से नहीं देखता—**'यत् चक्षुषा न पश्यति'**, जिसके द्वारा यह आँखों को देखता है—**'येन चक्षूंषि पश्यति'**, उसी को तू ब्रह्म

जान—**'तत् एव ब्रह्म त्वं विद्धि'**, जिसकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है—**'न इदं यत् इदं उपासते'**।६।

हम कानों से उसकी वाणी सुनना चाहते हैं, परन्तु वह कानों से सुनने का विषय नहीं है—जो कानों से नहीं सुनता—**'यत् श्रोत्रेण न श्रृणोति'**, जिसकी वजह से कान सुनते हैं—**'येन श्रोत्रं इदं श्रुतम्'**, उसी का तू ब्रह्म जान—**'तत् एव ब्रह्म त्वं विद्धि'**, जिसकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है—**'न इदं यत् इदं उपासते'** ।७।

हम प्राण को साधने से उस तक पहुँचना चाहते हैं, परन्तु प्राण साधने से वह नहीं मिलता—प्राण-वायु लेने से जीवन धारण नहीं होता, जो प्राण से जीवित नहीं है—**'यत् प्राणेन न प्राणिति'**, प्राण जिसकी वजह से श्वास-प्रश्वास लेता है—**'येन प्राणः प्रणीयते'**, उसी को तू ब्रह्म जान —**'तत् एव ब्रह्म त्वं विद्धि'**, जिसकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है—**'न इदं यत् इदं उपासते'** ।८।

इस खण्ड में तीन बातें हैं जिन की तरफ़ विशेष तौर पर ध्यान जाता है। वे तीन बातें हैं—(क) पहली बात यह कि ब्रह्म वाणी का वाणी है, मन का मन है, चक्षु का चक्षु है, श्रोत्र का श्रोत्र है, प्राण का प्राण है; (ख) दूसरी बात यह कि वाणी से कोई नहीं बोलता, वाणी उसके सहारे बोलती है, मन से कोई नहीं सोचता, मन उसके सहारे सोचता है, चक्षु से कोई नहीं देखता, चक्षु उसके सहारे देखती है, श्रोत्र से कोई नहीं सुनता, श्रोत्र उसके सहारे सुनते हैं, प्राण से कोई नहीं जीता, प्राण उसके सहारे जीते हैं; (ग) तीसरी बात यह कि जिसकी लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है, जिसके द्वारा वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण अपना-अपना काम करते हैं—वह ब्रह्म है। आइये, इन तीनों बातों पर अलग-अलग विचार करें—

(क) श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यत्—पहली बात यह है कि ब्रह्म श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन है, अर्थात् आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों तथा मन और प्राण का वही आँख, कान, नाक, मन तथा प्राण है, शरीर की इन इन्द्रियों की सत्ता न के बराबर है, उसी की इन्द्रियों की सत्ता है। उसकी तो कोई इन्द्रियाँ हैं ही नहीं, फिर उसी की इन्द्रियों की सत्ता का क्या अर्थ है ? इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने कुछ दृष्टान्त देकर इस विषय को स्पष्ट किया है। 'केन'-उपनिषद् की टीका में वे लिखते हैं—

"वर्तमान मनोविज्ञान ने हमारी जानकारी बहुत बढ़ा दी है। इसने प्रायः उसी सत्य का उद्घाटन किया है जिसे भारत के प्राचीन विचारक अपनी भाषा में दूसरे ढंग से कहते रहे। मनोविज्ञान का कहना है कि चेतना का जो रूप हमारे जानने में आता है वह केवल सतह का, ऊपर-ऊपर का रूप है। अन्तश्चेतना के बहुत बड़े भाग से हम अनभिज्ञ रहते हैं। अन्तश्चेतना का यह विशाल भाग उस सबको स्मृति के कोठे में संचित कर लेता है जो-कुछ मनुष्य की इन्द्रियों के सामने से गुज़रता है। यह संभव है कि हम जो-कुछ देखते हैं, सुनते हैं, उसकी तरफ़ हमारा ध्यान बिल्कुल न जाता हो, परन्तु हमारी चेतना का वह भाग जिसे 'उपचेतना' (Subconscious) कहा जाता है, हर घटना को अपने भीतर अंकित कर लेता है, उसके ध्यान से कुछ नहीं छूटता, बारीक-से-बारीक बात भी उसमें अंकित होकर संचित हो जाती है। उदाहरणार्थ, एक अपढ़ नौकरानी प्रतिदिन अपने मालिक को हिब्रू भाषा में प्रार्थना करते सुनती रहेगी, वह इस भाषा का सिर-पैर कुछ न समझेगी, उसका सतह का, ऊपर-ऊपर का मन का भाग (Conscious self) इस तरफ़ रत्ती भर ध्यान नहीं देगा, परन्तु उसकी उपचेतना में इस अनजानी भाषा का एक-एक शब्द अंकित हो जाएगा और मन की विकृत अवस्था में वह इस सब को अनजाने उगल देगी—एक-एक वाक्य के शब्द जो उसके लिए सर्वथा अर्थहीन होंगे वे सब उसकी उपचेतना में से बाहर आ जायेंगे। इसका क्या कारण है? इसका यही कारण है कि नौकरानी का चेतन-मन (Conscious mind) जो आँख, कान, नाक आदि से काम लेता है, यद्यपि इन प्रार्थनाओं को सुनकर भी नहीं सुन रहा था, तो भी उसका उपचेतन इस सब को सुन रहा था, इतना सुन रहा था कि प्रार्थना का एक-एक शब्द उसे याद था। चेतन-मन सतह पर काम करता है, उपचेतन-मन चेतना के भीतर काम करता है; चेतन-मन की इन्द्रियाँ जब खुली भी होती हैं तब भी बन्द हो सकती हैं क्योंकि मन उनके साथ नहीं होता, उपचेतन बिना आँख-कान-नाक के देख-सुन-सूँघ रहा होता है। ऋषि कहता है—चेतन-मन की आँख खुली होने पर भी न खुली हो सकती है, उपचेतन की आँख सदा खुली रहती है। तभी कहा—वह आँख की आँख है, कान का कान है, मन का मन है, प्राण का प्राण है क्योंकि वह न देख रहा हो तो खुली आँख भी नहीं देख सकती, वह न सुन रहा हो तो खुले कान भी नहीं सुन

सकते, वह न जान रहा हो तो मौजूद मन भी कुछ नहीं जान सकता।"

जब उपचेतना का क्षेत्र, चेतना की अपेक्षा इतना विस्तृत है, तब चेतनाओं की चेतना, परम-चेतना का क्षेत्र कितना विस्तृत होगा—यह स्वयं सोचा जा सकता है। तभी परम-चेतना को सर्वज्ञ कहा जाता है, उसका क्षेत्र विशालतम है, सारा विश्व है।

(ख) यत् श्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रं इदं श्रुतम्—दूसरी बात इस श्रुति ने यह कही कि ब्रह्म या जीव श्रोत्रादि इन्द्रियों से नहीं सुनता, परन्तु श्रोत्रादि इन्द्रियाँ उसके द्वारा सुनती तथा काम करती हैं। ऊपर हम 'उपचेतना' का दृष्टान्त दे आये हैं। शरीर की श्रोत्रादि इन्द्रियाँ हैं, परन्तु उपचेतना की इस प्रकार की इन्द्रियाँ नहीं हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ न होने पर भी, बिना इन्द्रियों के उपचेतना देखती, सुनती तथा इन्द्रियों के सब व्यापार करती है। इसका यह अर्थ हुआ कि भौतिक-शरीर में देखने-सुनने आदि की जो इन्द्रियाँ हैं उनका बीज इसी उप-चेतना से विकसित हुआ है। उपचेतना में इन्द्रियों का बीज न होता, तो चेतना में यह कहाँ से आ जाता? तभी श्रुति ने कहा कि उपचेतना श्रोत्रादि इन्द्रियों के न होने पर भी सुनती है, देखती है, किन्तु शरीर की इन्द्रियाँ इसी उपचेतना के कारण देखने-सुनने आदि का कार्य करती हैं। इसी भाव को श्वेताश्वतर उपनिषद् (अ० ३, मन्त्र १९) में कहा गया है—बिना हाथ-पैर के वह गति करता तथा बिना आँखों के देखता, बिना कानों के सुनता है—**'अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'**। उपनिषदों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर जो ये वाक्य कहे गए हैं—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'**—**'यत् श्रोत्रेण न शृणोति'**—**'स शृणो-त्यकर्णः'**—इन सबका एक ही अर्थ है, यद्यपि एक ही भाव को भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट किया गया है।

यह सारा वर्णन जीवात्मा तथा परमात्मा—दोनों पर घटता है, यद्यपि मुख्य तौर पर इस वर्णन का लक्ष्य परमात्मा—ब्रह्म—है।

(ग) न इदं यत् इदं उपासते—इस खण्ड में जो तीसरी बात कही गई है, वह यह है कि जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। इस बात को केनोपनिषद् में पाँच बार दोहराया गया है। हम इस संसार को ही देखते हैं, इससे परे भी कोई विश्वव्यापी-सत्ता है—यह हमारे ध्यान में कभी नहीं आता। यही कारण है कि हम इस संसार में तथा संसार के विषयों में रमे रहते हैं और इसी को ब्रह्म समझते हैं।

यही संसार की उपासना है। ऋषि बार-बार दोहरा रहे हैं कि इस संसार की ही पूजा न करते रहो—विश्व की जो आधारभूत संचालक-शक्ति है, जिसके कारण संसार में भी रस मिलता है, वह ब्रह्म है, वही उपासनीय है।

द्वितीय खण्ड

प्रथम खण्ड में इस बात की चर्चा की गई कि विश्व का संचालन जिस शक्ति से हो रहा है उसी की उपासना करनी चाहिए, उस शक्ति को ऋषि ने 'ब्रह्म' कहा। संसार को तो हम जानते हैं, दीखता है, सारा व्यवहार इसमें होता है, तो क्या 'ब्रह्म' को भी हम जानते या जान सकते हैं ? ऋषि कहते हैं :

यदि मन्यसे सुवेद इति दभ्रम् एव अपि नूनम् त्वं वेत्थ ब्रह्मणः रूपम्।
यत् अस्य त्वं यत् अस्य देवेषु अथ नु मीमांस्यम् एव मन्ये विदितम्॥१॥

अगर तू यह मानता है कि तू ब्रह्म के स्वरूप को जानता है—**'यदि मन्यसे सुवेद इति'**, तो निश्चय से तू उसके रूप को बहुत थोड़ा-सा ही जानता है—**'दभ्रं एव अपि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणः रूपम्'**। उसका जो रूप तू जानता है—**'यत् अस्य त्वं'**, और इसका जो रूप विद्वानों में जाना जाता है—**'यत् अस्य देवेषु'**, वह तर्क-वितर्क में उलझा हुआ है—तुझे स्पष्ट नहीं है -विदित नहीं है—ऐसा मैं मानता हूँ—**'अथ नु मामांस्यम् एव ते मन्ये विदितम्'**॥१॥

दूसरों के लिए यह कहकर कि वे 'ब्रह्म' के विषय में जो-कुछ जानते हैं बहुत थोड़ा ही जानते हैं, ऋषि अपने विषय में भी कह रहे हैं कि वे भी इसमें अपवाद नहीं हैं। अपने विषय में भी वे कहते हैं :

न अहम् मन्ये सुवेद इति, नो न वेद इति, वेद च।
यो नः तत् वेद तत् वेद, न वेद इति, वेद च॥२॥

मैं भी नहीं मानता कि मुझे **'ब्रह्म'** का ठीक-ठीक-से ज्ञान है—**'न अहम् मन्ये सुवेद इति'**, न यही कह सकता हूँ मैं उसे बिल्कुल नहीं जनता—**'नो न वेद इति'**, क्योंकि कुछ जानता भी हूँ—**'वेद च'**। जो हम में से यह कहता है कि वह उसे जान गया है—**'यो नः तत् वेद'**, वह बस 'उतना-मात्र' जानता है—**'तत् वेद'**—उसे **'तद्वेद'** कह सकते हैं, इसलिए उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह नहीं भी जानता, जानता भी है—**'न वेद इति, वेद च'**।२।

नहीं भी जानता, जानता भी हूँ—इसका क्या अर्थ है ? नहीं जानता यह तो स्पष्ट है। इतना महान् है वह प्रभु कि मैं तुच्छ जीव कैसे उस असीम को जान सकता हूँ। परन्तु मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं उसे बिल्कुल नहीं जानता। संसार में अपूर्ण को, ससीम को, अल्पज्ञ को सब-कोई जानता है। अपूर्ण का अर्थ है—पूर्ण न होना, ससीम का अर्थ है—असीम न होना, अल्पज्ञ का अर्थ है—सर्वज्ञ न होना। जबतक हमें पूर्ण का ज्ञान न हो तबतक हमें अपूर्ण का ज्ञान कैसे हो सकता है, जब तक हमें असीम का ज्ञान न हो तबतक हमें ससीम का ज्ञान कैसे हो सकता है, जबतक हमें सर्वज्ञ का ज्ञान न हो तबतक हमें अल्पज्ञ का ज्ञान कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि ऋषि कहता है कि मैं नहीं भी जानता, जानता भी हूँ—**'न वेद इति, वेद च'**।

यस्य अमतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातं अविजानताम् ॥३॥

जो यह स्वीकार कर लेता है कि 'ब्रह्म' को पूर्णरूप से नहीं जाना जा सकता, वह मानो जान गया है—**'यस्य अमतं तस्य मतं'**, जो यह घोषणा करता है कि मैं 'ब्रह्म' को जान गया हूँ वह उसे नहीं जानता—**'मतं यस्य न वेद सः'**। जानने वालों के लिए वह अनजाना है—**'अविज्ञातं विजानताम्'**, जो कहते हैं कि वह इतना विशाल है कि उसे पूर्ण रूप से जाना ही नहीं जा सकता, वे मानो जान पाये हैं—**'विज्ञातं अविजानताम्'**।३।

प्रतिबोध विदितं मतं अमृतत्वम् हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते अमृतम् ॥४॥

तो क्या उसे जाना जा ही नहीं सकता ? ऋषि कहते हैं—उसके विषय में जो-कुछ भी जाना जा सकता है, वह **'प्रतिबोध'** से ही जाना जा सकता है। **'प्रतिबोध'** क्या है ? इन्द्रियाँ जब विषयों की तरफ़ बाहर जाती हैं, तब उन्हें जो जानकारी होती है वह **'बोध'** है। इससे उलटा **'प्रतिबोध'** है—जैसे अनुकूल का उलटा प्रतिकूल होता है। इन्द्रियाँ जब बाहर की दौड़ बन्द कर भीतर की खोज शुरू करती हैं, तब जो ज्ञान होता है वह **'प्रतिबोध'** है। **'प्रतिबोध'**—अर्थात्, भीतर से, अन्तः-स्तल से उठने वाला ज्ञान। यह ज्ञान तर्क-वितर्क का, सोचने-विचारने का, मन की दौड़ का ज्ञान नहीं है। जब मन की दौड़ शान्ति हो जाती है, जैसे समुद्र में कोई लहर न उठ रही, आकाश में बादलों की कोई

उमड़-घुमड़ न हो, मनुष्य **'स्व'** में स्थित हो जाय, उस समय की शान्त मानसिक अवस्था का नाम **'प्रतिबोध'** है। **'प्रतिबोध'** से ही जो ज्ञान मिलता है—**'प्रतिबोध विदितं मतं'**, उसीसे अमृत की प्राप्ति होती है—**'अमृतत्वं हि विन्दते'**। आत्मा की वही अनुभूति अमृत है जिस ज्ञान से मनुष्य अपने को वीर—वीर्यवाला—अनुभव करने लगे—**'आत्मना विन्दते वीर्यम्'**। यही अनुभव विद्या है, यही आत्म-ज्ञान है जिसे पाकर अमृत की प्राप्ति होती है—**'विद्यया विन्दते अमृतम्'**।४।

ईशोपनिषद् में भी **'विद्यया अमृतं अश्नुते'** कहा है। उपनिषदों के ऋषियों का कहना है कि यथार्थ-विद्या आत्म-ज्ञान है, उसी से शाश्वत सुख मिलता है, उसी शाश्वत सुख को अमृत कहा गया है। यह ठीक है कि संसार से भी सुख मिलता है, परन्तु उस सुख में दुःख का अंश बना ही रहता है, मानव-जन्म शाश्वत सुख पाने के लिए—अमृत के लिए—मिला है, इसलिये 'केन'-ऋषि की उक्ति है :

इह चेत् अवेदीत् अथ सत्यं अस्ति, न चेत् अवेदीत् महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति ।।५।।

ब्रह्म के विषय में जो-कुछ जाना जा सकता है वह तूने इस जन्म में जान लिया तो ठीक—**'इह चेत् अवेदीत् अथ सत्यम् अस्ति'**, न जाना तो महा-नाश का सामना करना होगा—**'न चेत् अवेदीत् महती विनष्टिः'**। धीर लोग संसार के एक-एक भूत, एक-एक पदार्थ—जड़-चेतन—पर गहन चिन्तन कर के इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि मूल-पदार्थ वही है—**'भूतेषु-भूतेषु विचित्य धीराः'**। जड़-जगत् में हम क्या देखते हैं? पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—क्या इनका कोई अन्त है? पृथिवी के अनन्त रूप हैं। नाना प्रकार के गहन जंगल, हिमालय जैसे पर्वत—ये सब किसकी महिमा गा रहे हैं? सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि के अनगिनित पुंज, आसमान में अनन्त-काल से भ्रमण कर रहे ग्रह-उप-ग्रह—ये सब किसकी महिमा गा रहे हैं? वायु को किसने देखा है, परन्तु यह न दीखनेवाला वायु किसने नहीं देखा—न दीखते हुए भी दीखनेवाला वायु किसकी महिमा गा रहा है? इन सबको भी मात देकर मौजूद है आकाश, जो किसी हालत में भी नहीं दीखता परन्तु जिसकी ज्ञानी-अज्ञानी सब चर्चा करते हैं, आत्मा-परमात्मा के विषय में शंका होती है, परन्तु अदृश्य वायु तथा आकाश के विषय में मूढ़-से-मूढ़ के भी मन में कभी शंका नहीं होती। जड़-जगत् के अलावा चेतन-

जगत् पर चिन्तन करें, तो भी आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। प्राणी का यह शरीर संसार का सबसे बड़ा जीवित-जागृत चमत्कार है। किस प्रकार एक अणु-मात्र बिन्दु में कीट-पतंग की, पशु-पक्षी की, मनुष्य की सारी रचना समेट कर रख दी गई है, उस बिन्दु में भविष्य में विकसित होने वाला हाथी का शरीर, उस बिन्दु में भविष्य में प्रकट होनेवाला न्यूटन और आइन्स्टीन का मस्तिष्क रख दिया गया है—इस सबसे किसकी महिमा का गान हो रहा है? इस जीवन में जिन्होंने यह जान लिया कि ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत् स्वयं में कुछ नहीं, उसी की तरफ़ लक्ष्य करता है, उसी की महिमा गा रहा है, तब ऐसे मनुष्य इस लोक में मरकर भी नहीं मरते, वे अमृत हो जाते हैं—**'प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति'** ।५।

'केन'-उपनिषद् के इस द्वितीय खण्ड में ऋषि ने अध्यात्म-ज्ञान का निचोड़ पाँच श्रुतियों में रख दिया है। संसार के तत्त्व-विचारकों में ऐसा तो कोई भी नहीं जो कहता हो कि जो-कुछ दीखता है या नहीं दीखता वह सब-कुछ जान लिया गया है। इस बात में सब सहमत हैं—आस्तिक हों, नास्तिक हों, संदेहवादी हों—कि जितना जान लिया गया है, न जाना गया उससे बहुत अधिक है।

आस्तिक कहता है कि उसने जान लिया है कि संसार का रचनहारा पर-ब्रह्म है, परन्तु ऋषि पूछता है कि क्या पर-ब्रह्म के पूर्ण रूप को उसने जान लिया है? सान्त मनुष्य उस अनन्त को कैसे जान सकता है? तुम कहते हो उसकी सीमा नहीं। तुम ससीम उस असीम को कैसे पहुँच सकते हो? तुम कहते हो वह सर्वज्ञ है। तुम अल्पज्ञ उस सर्वज्ञ के विषय में कैसे जान सकते हो? इसीलिए 'केन'-ऋषि कहते हैं—यदि तुम कहते हो कि तुम पर-ब्रह्म को **'सुवेद'**—ठीक-से जान गये हो, तो तुम्हारा उसके विषय में ज्ञान **'दभ्र'** है—तनिक-सा ही है, कुछ जानते हो, बहुत-कुछ नहीं जानते।

नास्तिक कहता है कि उसने जान लिया है कि संसार का रचनहारा कोई नहीं है, संसार अपने-आप चल रहा है। ऋषि पूछता है कि अगर इसका रचनहारा कोई नहीं है, तो यह अपने-आप कैसे बन गया है। घट अपने-आप नहीं बनता, पट अपने-आप नहीं बनता, मकान अपने-आप नहीं बनता, छोटे-से-छोटी वस्तु अपने-आप नहीं बनती, फिर यह विशाल विश्व अपने-आप कैसे बन गया। जितनी पेचीदा वस्तु

होती है उतना ही कुशल बनानेवाला होता है, यह सृष्टि क्या बच्चों का खेल है जो बिना बनाये बन गई? बच्चों का खेल भी तो बिना बनाये नहीं बनता। तुम मकान बनाते हो, बनाने में कुछ-न-कुछ दौड़-धूप करते रहते हो, दिन-रात काम में जुटे रहते हो—क्यों? अपने-आप सब-कुछ क्यों नहीं हो जाता? इसलिए 'केन'-ऋषि कहते हैं—यदि तुम कहते हो कि तुम जान गए हो कि सृष्टि का रचनहारा कोई नहीं, यह अपने-आप बनी है, तुम **'सुवेद'** हो—ठीक-से सृष्टि का रहस्य जान गए हो, तो तुम्हारा भी सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ज्ञान अज्ञान है—**'यस्य मतं न वेद सः'**—जो जितना अपने ज्ञान की डींग हाँकता है उतना ही वह अज्ञानी सिद्ध होता है।

सन्देहवादी कहता है कि उसने जान लिया है कि संसार की किसी बात के लिए, कोई बात भी निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती। संदेहवाद के दो पक्ष हैं—आस्तिक के सामने सन्देहवादी को खड़ा कर दिया जाय, तो वह नास्तिकता की युक्तियों से आस्तिकता को काट देगा, नास्तिक के सामने उसे खड़ा कर दिया जाय, तो वह आस्तिकता की युक्तियों से नास्तिकता को काट देगा। न वह आस्तिक है, न वह नास्तिक है, वह किसी आधार पर टिकने को तैयार नहीं। 'केन'-ऋषि कहते हैं कि सन्देहवाद को लेकर तो जीवन ही नहीं चल सकता, जीवन चलाने के लिए कहीं निश्चय चाहिए, कोई धरातल चाहिए जहाँ पैर जमाकर व्यक्ति खड़ा हो सके। सन्देहवाद अव्यावहारिक है, उससे दुनियाँ का काम चल नहीं सकता।

इन सब वादों में 'केन'-ऋषि का वाद ही टिक सकता है। उसकी घोषणा है कि जो कहता है कि वह जानता है, वह कुछ हो जानता है, सब नहीं जानता; जो कहता है वह नहीं जानता वह बहुत-कुछ जानता है क्योंकि इस विशाल-विश्व में यही जानने की बात है कि बहुत थोड़ा ही जाना जा सकता है, बहुत अधिक अनजाना ही रहता है—**'यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः'**। इसे न आस्तिकवाद कह सकते हैं, न नास्तिकवाद कह सकते हैं, न सन्देहवाद कह सकते हैं, केन-ऋषि का यह वाद अज्ञेयवाद है, 'केन'-वाद है।

संसार के उच्च-कोटि के विचारक सदा से यही कहते आये हैं कि सृष्टि इतनी विलक्षण है कि मनुष्य यही कह सकता है कि परमार्थ-सत्ता इतनी विशाल है कि मानवीय बुद्धि की पकड़ में नहीं आ सकती।

हर्बर्ट स्पेंसर का कथन है कि विश्व-सत्ता का कुछ हिस्सा 'ज्ञेय'-कोटि (Known) में है, बहुत बड़ा हिस्सा 'अज्ञात'-कोटि (Unknown) में है। 'अज्ञात' में भी कुछ हिस्से को उसने 'अज्ञेय' कहा है (Unknowa-ble)—हम उसे जान ही नहीं सकते। युरोप का एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है—काँट। उसका कहना है कि हमारी बुद्धि, जो-कुछ दीखता है, प्रत्यक्ष है, उसी का अध्ययन कर सकती है, जो प्रत्यक्ष से परे है उसका अध्ययन नहीं कर सकती। सिर्फ़ बुद्धि पर निर्भर रहा जाय, तो ईश्वर को जाना नहीं जा सकता क्योंकि बुद्धि दोनों तरफ़ चलती है। परन्तु मनुष्य सिर्फ़ बुद्धि पर नहीं टिका हुआ, मौलिक रूप में वह नैतिक प्राणी है। संसार में अन्त में सत्य की विजय होती है, न हो तो भी मनुष्य की चाह यही रहती है कि सत्य की विजय हो। झूठा भी जहाँ तक उसका सम्बन्ध है सत्य का ही आश्रय लेना चाहता है। यह नैतिक-भावना उस तरफ़ देखती है जहाँ से नैतिकता का उद्‌गम है। नैतिकता की तरफ़ मनुष्य का देखना उस सत्ता में श्रद्धा तथा विश्वास के कारण है। इस दृष्टि से यद्यपि मनुष्य परमात्मा तक नहीं पहुंचता, उसे अज्ञेय की कोटि में ही रखता है, तो भी उसका हृदय उस अज्ञेय-शक्ति के प्रति झुका रहता है। 'केन'-ऋषि का अज्ञेयवाद भी वही-कुछ कहता है जो हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा, जो काँट ने कहा। ऋषि का कहना है—'मैं नहीं मानता कि मैं परमार्थ-सत्ता को जानता हूँ, न यही मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता, हम में से जो कहता है कि मैं जानता हूँ, वह बस उतना ही जानता है, नाममात्र को जानता है, इसलिए यही कहना उचित है कि मैं जानता भी हूँ, नहीं भी जानता।'

तृतीय खण्ड

सृष्टि की रचना करनेवाली शक्ति कौन-सी है? क्या भौतिक-तत्त्व ही इस सृष्टि के रचनहारे हैं या आस्तिकों का 'ब्रह्म' सृष्टि का रचियिता है? किसकी सत्ता से, किसके सहारे सृष्टि टिकी हुई है? 'केन'-ऋषि का कहना तो यह है कि यह सृष्टि 'ब्रह्म' के सहारे टिकी हुई है। नास्तिक लोग कहते हैं कि 'ब्रह्म' के सहारे नहीं, भौतिक-तत्त्वों के सहारे ही इसका अस्तित्त्व है। इस समस्या को हल करने के लिए तृतीय खण्ड में एक आख्यायिका द्वारा इसका हल करने का प्रयत्न किया गया है।

कहते हैं कि एक समय 'अग्नि', 'वायु', 'इन्द्र'—इन देवताओं में आपस में यह विवाद होने लगा कि कौन सबमें मुख्य है, बलशाली है। यह विबाद कैसे चला और कैसे इसका निपटारा हुआ—इस पर 'केन'-ऋषि एक कल्पित कथानक बना कर कहते हैं—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
ते ऐक्षन्त अस्माकं एव अयं विजयः अस्माकं एव अयं महिमा इति ।।१।।

अग्नि, वायु तथा इन्द्र—इन देवताओं का आपस में इस बात पर जो विवाद था कि उन तीनों में से ज़्यादा शक्तिशाली कौन था, उसमें देवताओं के लिए असल में जीतने का फैसला तो ब्रह्म के बीच में पड़ने से हुआ था—**'ब्रह्म ह देवेभ्यः विजिग्ये'**, परन्तु ब्रह्म के विषय में देवताओं ने समझा कि यह विजय ब्रह्म की नहीं, उनकी अपनी विजय हुई है। वे ब्रह्म की इस विजय को ब्रह्म की नहीं, परन्तु अपनी महिमा समझने लगे, यह समझने लगे कि यह विजय उन्हीं के द्वारा हुई है—**'तस्य ब्रह्मणः विजये देवा अमहीयन्त'**। वे यह देखने लगे कि यह विजय तो हमारी हुई है—**'ते ऐक्षन्त अस्माकं एव विजयः'**, इस विजय से हमारी ही महिमा बढ़ी—**'अस्माकं एव महिमा इति'**।१।

तत् ह एषाम् विजज्ञौ, तेभ्यः प्रादुर्बभूव।
तत् न व्यजानत किं इदं यक्षम् इति ।।२।।

जब देवता आपस में झगड़ रहे थे, और कभी अग्नि कहता था कि यह विजय उसी के कारण है, कभी वायु, कभी इन्द्र इस विजय का श्रेय लेना चाहता था, तब ब्रह्म ने इस बात को जान लिया, वह समझ गया कि ये सब इस विजय का श्रेय लेने के उत्सुक हैं—**'तत् ह एषाम् विजज्ञौ'**। उसने उसका मान भंग करने के लिए 'यक्ष' का रूप धारण किया और उनके सामने प्रकट हुआ—**'तेभ्यः प्रादुर्बभूव'**। अपने सामने यक्ष को देखकर अग्नि, वायु, इन्द्र को यह न जान पड़ा कि यह यक्ष कौन है—**'तत् न व्यजानत किं इदं यक्षम् इति'**।२।

ते अग्निं अब्रुवन्, जातवेदः एतत् विजानीहि।
किं एतत् यक्षम् इति, तथा इति ।।३।।

आपस में सोच-विचार कर वे अग्नि को कहने लगे कि हे जातवेदस्—**'ते अग्निं अब्रुवन् जातवेदः'**, यह पता लगाओ—**'एतत् विजानीहि'**, कि यह यक्ष कौन है—**'किं एतत् यक्षम् इति'**। अग्नि ने कहा, ठीक है, मैं पता लगाता हूँ कि यह 'यक्ष' कौन है—**'तथा इति'**।३।

तत् अभ्यद्रवत्, तम् अभ्यवदत्, कः असि इति ।
अग्निः वै अहम् अस्मि इति अब्रवीत्, जातवेदाः वै अहम्
अस्मि इति ।।४।।

यह कहकर कि मैं पता लगाता हूँ कि यह 'यक्ष' कौन है, अग्नि उसकी तरफ़ दौड़कर गया और यक्ष के सामने जा खड़ा हुआ—**'तम् अभ्यद्रवत्'**। यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तू कौन है—**'तम् अभ्यवदत् कः असि इति'**। अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ—**'अग्निः वै अहम् अस्मि इति अब्रवीत्'**। फिर अग्नि ने दोबारा कहा—मैं 'जातवेदा' हूँ—जो-कुछ उत्पन्न पदार्थ है उस सबको जानता हूँ, उस सब में मैं विद्यमान भी हूँ—**'जातवेदाः वै अहम् अस्मि इति'** ।४।

तस्मिन् त्वयि किं वीर्यं इति, अपि इदं सर्वं दहेयं यत् इदं
पृथिव्यां इति ।।५।।

'यक्ष' ने अग्नि से पूछा, तुममें क्या शक्ति है—**'तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् इति'**। अग्नि ने उत्तर दिया—पृथिवी में जो-कुछ है उस सबको मैं भस्म कर सकता हूँ—**'अपि इदं सर्वं दहेयम् यत् इदं पृथिव्याम् इति'** ।५।

तस्मै तृणं निदधौ, एतत् दह इति, तत् उप प्र इयाय
सर्वजवेन, तत् न शशाक दग्धुं, स ततः एव निववृते,
न एतत् अशकं विज्ञातुम् यत् एतत् यक्षम् इति ।।६।।

जब अग्नि ने कहा कि मैं सब भस्म कर सकता हूँ, तब यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रख दिया—**'तस्मै तृणं निदधौ'**—और कहा, इसे जलाकर दिखाओ तो—**'एतत् दह इति'**। यह सुनकर अग्नि अपने पूरे बल से लपका—**'तत् उप प्र इयाय सर्वजवेन'**, परन्तु तिनके को भी न जला सका—**'न शशाक दग्धुं'**। अपने को इतना असहाय देखकर अग्नि वहीं से लौट पड़ा—**'स ततः एव निववृते'**, और वायु तथा इन्द्र को आकर बोला कि मैं तो हार गया, नहीं मालूम पड़ा कि यह यक्ष कौन है—**'न एतत् अशकं विज्ञातुम् यत् एतत् यक्षम् इति'** ।६।

अथ वायम् अब्रुवन्, वायो एतत् विजानीहि किम् एतत्
यक्षम् इति, तथा इति ।।७।।

जब अग्नि ने अपनी हार मान ली और कहा कि मैं कुछ नहीं पता लगा सका कि यह यक्ष कौन है, तब अग्नि और इन्द्र ने वायु को कहा—**'अथ वायुम् अब्रुवन्'**—कि हे वायो ! तुम अपनी बड़ी डींग हाँकते थे,

तुम पता लगाओ कि यह 'यक्ष' कौन है—**'वायो एतत् विजानीहि किम् एतत् यक्षम् इति'**। वायु ने कहा—बहुत अच्छा, मैं पता लगाता हूँ कि यह यक्ष कौन है—**'तथा इति'**।७।

तत् अभ्यद्रवत्, तं अभ्यवदत् कः असि इति,
वायुः वै अहम् अस्मि इति अब्रवीत्,
मातरिश्वा वै अहम् अस्मि इति ॥८॥

यह कहकर कि अग्नि तो पता लगा नहीं सका, मैं पता लगाता हूँ कि यह 'यक्ष' कौन है, वायु यक्ष की तरफ़ दौड़ कर गया और उसके सामने जा खड़ा हुआ—**'तम् अभ्यद्रवत्'**। यक्ष ने वायु से पूछा कि तुम कौन हो—**'तम् अभ्यवदत् कः असि इति'**। वायु ने उत्तर दिया कि मैं वायु हूँ—**'वायुः वै अहम् अस्मि इति अब्रवीत्'**। फिर वायु ने दोबारा कहा—मैं 'मातरिश्वा' हूँ, बलवान हूँ—**'मातरिश्वा वै अहम् अस्मि इति'**।८।

तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् इति, अपि इदम् सर्वम् आददीय
यत् इदम् पृथिव्याम् इति ॥९॥

यक्ष ने वायु से पूछा, तुम में क्या शक्ति है—**'तस्मिन् त्वयि किं वीर्यम् इति'**। वायु ने उत्तर दिया कि संसार में जो-कुछ भी है—**'अपि इदं सर्वं'**, उसे मैं उठाकर ले जा सकता हूँ—**'आददीय'**, जो-कुछ भी पृथिवी में है उसे भी उठा ले जा सकता हूँ—**'यत् इदं पृथिव्यां इति'**।९।

तस्मै तृणं निदधौ, एतत् आदत्स्व इति, तत् उप प्र इयाय
सर्वजवेन, तत् न शशाक आदातुम्, स ततः एव निववृते,
न एतत् अशकं विज्ञातुम् यत् एतत् यक्षम् इति ॥१०॥

यक्ष ने वायु के सामने भी तिनका रख कर कहा—इसे उठाकर तो दिखाओ—**'तस्मै तृणं निदधौ, एतत् अदत्स्व इति'**। वायु अपना सारा बल लगाकर आया—**'तत् उप प्र इयाय'**, परन्तु तिनके को भी उठाकर न ले जा सका—**'तत् न शशाक आदातुम्'**। वायु वहीं से लौट पड़ा—**'स ततः एव निववृते'**, और लौटकर उसने अपने दोनों साथियों से कहा कि मैं जान नहीं सका—**'न एतत् अशकं विज्ञातुम्'**—कि यह 'यक्ष' कौन है—**'यत् एतत् यक्षम् इति'**।१०।

अब इन्द्र की बारी आयी। अग्नि तथा वायु ने इन्द्र को कहा कि अब तुम अपनी शक्ति आजमा लो, पता लगाओ कि यह 'यक्ष' क्या है और कौन है?

अथ इन्द्रम् अब्रुवन्, मघवन्, एतत् विजानीहि किं एतत् यक्षम् इति, तथा इति, तत् अभ्यद्रवत्, तस्मात् तिरोदधे ॥११॥

अग्नि तथा वायु ने अब इन्द्र को कहा कि हे मघवन्—**'अथ इन्द्रं अब्रुवन्, मघवन्'**, यह जानकर आओ—**'एतत् विजानीहि'** कि यह 'यक्ष' कौन है—**'किं एतत् यक्षम् इति'**। इन्द्र ने कहा—ठीक, जाता हूँ पता लगाने—**'तथा इति'**। इन्द्र भी पता लगाने के लिये दौड़कर गया, परन्तु इन्द्र को आते देखकर 'यक्ष' तिरोहित हो गया, आँखों से ओझल हो गया—**'तस्मात् तिरोदधे'** ।११।

इन्द्र ने क्या देखा? इन्द्र को आता देखकर 'यक्ष' तो आँखों से ओझल हो गया, परन्तु उसके स्थान पर आकाश में एक शुभ्र-वदना देवी दिखलाई दी जिसका नाम केन ऋषि ने **'उमा'** कहा है।

सः तस्मिन् एव आकाशे स्त्रियं आजगाम, बहुशोभमानाम् उमाम्, हैमवतीम्, ताम् ह उवाच किं एतत् यक्षम् इति ॥१२॥

जब इन्द्र 'यक्ष' का पता लगाने गया, तो उसने देखा कि 'यक्ष' तो आँखों से ओझल हो गया, परन्तु उसके स्थान में आकाश में एक देवी का आगमन हो गया—**'सः तस्मिन् एव आकाशे स्त्रियं आजगाम'**। वह देवी अत्यन्त शोभायमान थी, उमा उसका नाम था, हिम के समान शुभ्रवदना थी। उस देवी से इन्द्र ने पूछा—**'ताम् ह उवाच'**—कि यह 'यक्ष' कौन था—**'किं एतत् यक्षम् इति'**।

ऊपर दिये हुए तीनों खण्डों में यह दर्शाया गया है कि 'अग्नि'—'वायु'—'इन्द्र' इस बात पर झगड़ रहे थे कि संसार में यथार्थ-सत्ता किस की है। अग्नि कहता था मेरी, वायु कहता था मेरी, इन्द्र कहता था मेरी। पहले तो यह समझ लेना चाहिये कि 'अग्नि'—'वायु'—'इन्द्र'—ये तीन नाम किस बात का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'अग्नि' तथा 'वायु' तो भौतिक-तत्व हैं, इन्द्र जीवात्मा का नाम है, यह अभौतिक-तत्व है। समस्या का रूप यह था कि भौतिक तथा अभौतिक—जड़ तथा चेतन—इनमें से सृष्टि को थामने वाला तत्व कौन-सा है। इस आख्यायिका में 'अग्नि' को इसलिये चुना गया है क्योंकि यह दृश्य भौतिक-तत्व है। 'वायु' को इसलिये चुना गया है क्योंकि वह अदृश्य भौतिक-तत्व है। वैसे हैं दोनों ही जड़। इनके मुकाबिले में 'इन्द्र' को कथानक का पात्र इसलिये बनाया गया है क्योंकि वह चेतन-तत्व है।

इन्द्र का अर्थ इस प्रकरण में जीवात्मा है। समस्या का रूप यह है कि जड़ तथा चेतन में से क्या कोई तत्व जगत् की रचना कर रहा है।

समस्या यह थी कि भौतिकवादी कहने लगे कि हम पाँच महाभूत ही जो जड़ हैं, सृष्टि के रचनहारे हैं; मनुष्य कहने लगा कि नहीं, मनुष्य जो चेतन है वह सृष्टि का रचनहारा है। जड़-चेतन के इस विवाद को निपटाने के लिये 'यक्ष' ने उन सब के सामने एक हल्का-सा तिनका रखकर उनसे अपनी शक्ति का ज़ोर आजमाने के लिये कहा। 'अग्नि' तथा 'वायु'—इन जड़ पदार्थों में से 'यक्ष' ने अपनी शक्ति खींच ली थी इसलिये न अग्नि उसे जला सका, न वायु उसे हिला सका। जब चेतन —इन्द्र—की बारी आयी, तब 'यक्ष' तिरोहित हो गया, उसके स्थान में 'उमा' प्रकट हुई। 'उमा' ने 'यक्ष' का सारा भेद खोलकर रख दिया। 'उमा' का क्या अर्थ है? 'उमा' दो अक्षरों से बना है—'उ'+'मा'—'उ' का अर्थ है, 'क्या' और 'मा' का अर्थ है 'नहीं'। इस प्रकार 'उमा' का अर्थ हुआ—'क्या नहीं'। क्या है या नहीं है—यह काम बुद्धि का है, इसलिए इस प्रकरण में 'उमा' का अर्थ है 'बुद्धि'। जड़ पदार्थों में तो बुद्धि नहीं होती इसलिए उनका मान भंग करने के लिए उनके सामने तिनका रख देना काफ़ी था, चेतन में तो बुद्धि होती है इसलिए 'यक्ष' इन्द्र के सामने से हट गया, 'उमा' को, 'बुद्धि' को सामने कर दिया जिससे जीवात्मा तथा बुद्धि की बातचीत होने लगी।

जब 'इन्द्र' ने 'उमा' से पूछा कि यह 'यज्ञ' कौन था? तब 'उमा' ने उसे क्या कहा?

चतुर्थ खण्ड

सा ब्रह्म इति ह उवाच, ब्रह्मणः वै एतत् विजये महीय-ध्वम् इति, ततः ह एव विदांचकार, ब्रह्म इति ॥१॥

'उमा' अर्थात् बुद्धि ने इन्द्र को कहा—हे इन्द्र! अग्नि में जलाने की तथा वायु में हल्का होते हुए भी भारी-से-भारी बोझ को उठा लेने की जो शक्ति है, वह उनकी अपनी नहीं है, हर शक्ति का स्रोत 'ब्रह्म' है, तुझ में भी जो शक्ति है वह भी भगवान् की ही दी हुई शक्ति है—यह दिखलाने के लिए ही तुम जड़-चेतन में से ब्रह्म अलग होकर सामने आ खड़ा हुआ था, इसीलिये शक्तिहीन हो जाने के कारण अग्नि तिनका तक न जला सका, वायु भी तिनके जैसी हल्की चीज़ न उठा सका—

'सा ब्रह्म इति ह उवाच' । हे इन्द्र ! जड़-चेतन की संसार में जो विजय है—यह समझ लो कि ब्रह्म की विजय में ही तुम सबकी महिमा है—**'ब्रह्मणः वै एतत् विजये महीयध्वम् इति'** । उसके बाद—**'ततः विदांचकार'**—इन्द्र ने जान लिया कि यह 'यक्ष' ब्रह्म था—**'ब्रह्म इति'** ।१।

'केन'-ऋषि इस बात को स्पष्ट करने के लिये कि ब्रह्म की महिमा को बतलाते हुए उन्होंने अपने कथानक में अग्नि, वायु तथा इन्द्र को ही क्यों चुना कहते हैं—

> **तस्मात् वै एते देवाः, अतितराम् इव अन्यान् देवान्**
> **यत् अग्निः वायुः इन्द्रः, ते हि एनत् नेदिष्ठं पस्पशुः,**
> **ते हि एनत् प्रथमः विदांचकार ब्रह्म इति ॥२॥**

ये तीनों देव-—**'तस्मात् वै एते देवाः'**, अन्य देवों की अपेक्षा बढ़े-चढ़े हैं—**'अतितराम् इव अन्यान् देवान्'** । कौन-से तीनों देव ? ये जिनका वर्णन अग्नि, वायु, इन्द्र के नाम से किया गया—**'यत् अग्निः वायुः इन्द्रः'** । इसलिये बढ़े-चढ़े हैं क्योंकि ब्रह्म को इन्होंने अत्यन्त समीपता से इस प्रकार जान लिया मानो उन्होंने उसे छू लिया हो—**'ते हि एनत् नेदिष्ठं पस्पशुः'** । उन्होंने ही सर्वप्रथम जाना कि यह यक्ष ब्रह्म था—**'ते हि एनत् प्रथमः विदांचकार ब्रह्म इति'** ।२।

लोग पूछते हैं, ब्रह्म कहाँ है ? वह दीखता नहीं तो उसे कैसे मानें ? यहाँ 'केन'-ऋषि कहते हैं—'तुम दीखने की बात करते हो, हम तो ब्रह्म को छू लेने की बात कहते हैं । अग्नि, वायु तथा इन्द्र ने ब्रह्म को देखा ही नहीं, उसका स्पर्श भी कर लिया—**'पस्पशुः'** । देख तो तब लिया जब 'यक्ष' के रूप में वह उनके सामने प्रकट हुआ, छू तब लिया जब वे तिनके को भी न जला सके, न उठा सके । ब्रह्म को छूने का, स्पर्श करने का क्या अर्थ है ? बिजली की तार में बिजली की करेंट होती है । तार में करेंट हो तो कौन उसे छू सकता है, करेंट न हो तो बच्चा भी उससे खेलता-फिरता है । बिजली के स्पर्श का क्या अर्थ है ? जब तार में बिजली बह रही हो, उसे छुआ न जा सके, तब यही बिजली का स्पर्श है । बिजली का स्पर्श न कर सकना ही बिजली का स्पर्श है—स्पर्श न कर सकने से ठीक समझ पड़ जाता है कि यहाँ बिजली है । ठीक इसी तरह जब अग्नि तथा वायु तिनके को न जला सके, न हिला सके, तो इस अस्पर्शरूपी स्पर्श से उन्होंने जान लिया कि तिनके में कोई अभूतपूर्व शक्ति आ बैठी है जो इसे आग से भी जलने नहीं दे रही, हवा

से भी हिलने नहीं दे रही। इसी को 'केन'-ऋषि ने ब्रह्म-शक्ति को निकटता से छू लेना कहा है—**'नेदिष्ठं पस्पशुः'**।

अग्नि तथा वायु अन्य देवों से उत्कृष्ट हैं, परन्तु इन्द्र अपने-आप में अग्नि तथा वायु से भी उत्कृष्ट है। इसका कारण बतलाते हुए 'केन'-ऋषि कहते हैं—

> **तस्मात् वै इन्द्रः अतितराम् इव, अन्यान् देवान, सः हि एनत् नेदिष्ठम् पस्पर्श, सः हि एनत् प्रथमः विदांचकार, ब्रह्म इति ।।३।।**

अग्नि तथा वायु तो यह कहकर लौट आये थे कि वे सामने खड़े 'यक्ष' का पता नहीं लगा सके थे, परन्तु इन्द्र बिना पता लगाये नहीं लौटा। इन्द्र के सामने से 'यक्ष' तिरोहित हो गया था, परन्तु उसके स्थान में 'उमा' आ खड़ी हुई थी—'उमा' अर्थात्, 'बुद्धि'। अग्नि तथा वायु तो जड़ होने के कारण बुद्धि का उपयोग नहीं कर सकते थे, परन्तु इन्द्र तो चेतन-शक्ति का प्रतिनिधि था। उसने बुद्धि से काम लिया। बुद्धि से इन्द्र को पता चल गया कि यह 'यक्ष' तो और-कुछ नहीं, 'ब्रह्म' था। इन्द्र—अर्थात् जीवात्मा को समझ पड़ गया कि संसार की हर वस्तु—तिनका तक—परमात्म-शक्ति से ही स्थित है, वह न हो तो किसी वस्तु की स्थिति नहीं रह सकती। यह बात अग्नि तथा वायु तो नहीं जान सके, किन्तु इन्द्र ने इसे जान लिया, इसलिए इन्द्र—अर्थात् जीव—अर्थात, चेतन-शक्ति जड़ से बढ़ी-चढ़ी है—**'तस्मात् वै इन्द्रः अतितराम् इव'**। इन्द्र किससे बढ़ा-चढ़ा है ? अन्य देवों से—**'अन्यान् देवान्'**। क्यों बढ़ा-चढ़ा है ? क्योंकि उसने भी अग्नि तथा वायु की तरह अत्यन्त समीपता से ब्रह्म का स्पर्श कर लिया—**'सः हि एनत् नेदिष्ठं पस्पर्श'**। इन्द्र ने ब्रह्म का स्पर्श ही नहीं कर लिया, वह यह भी सबसे पहले यह जान गया कि सामने खड़ा यक्ष ब्रह्म था—**'सः हि एनत् प्रथमः विदांचकार ब्रह्म इति।३।**

ब्रह्म के जानने का जो यह उपाख्यान कहा गया उसके विषय में 'केन'-ऋषि कहते हैं कि यह उपाख्यान अधिदैवत है, अग्नि, वायु तथा इन्द्र—इन देवताओं को उपाख्यान का पात्र बनाकर कहा गया है।

> **तस्य एषः आदेशः यत् एतत् विद्युतः व्यद्युतद् आ इति, इद् न्यमीमिषद् आ, इति अधिदैवतम् ।।४।।**

उक्त उपाख्यान के द्वारा ब्रह्म का जो ज्ञान दिया गया है—**'तस्य**

एषः आदेशः',—वह ऐसा ही है जैसे विद्युत् की चमक होती है—**'तत् एतत् विद्युतः व्यद्युतद् आ इति'**, या ऐसा ही है जैसे आँख के निमेषोन्मीलन या झपक मारने में कुछ दीख जाता है—**'इद् न्यमीमिषद् आ'**। अग्नि वायु तथा इन्द्र का उपाख्यान देकर ब्रह्म के विषय में जो समझाया गया है वह देवों को उपाख्यान का पात्र बनाकर समझाया गया है—**'इति अधिदैवतम्'**।

'केन'-ऋषि कहते हैं कि देवों को उपाख्यान का पात्र बनाकर ब्रह्म का जो ज्ञान दिया गया है वह ऐसा ही है जैसे विद्युत् की चमक से सब-कुछ क्षण-भर को दीख जाता है, फिर आँखों से ओझल हो जाता है, झपकी मारने से जैसे क्षण-भर को सब दीख जाता है, फिर आँखों से ओझल हो जाता है, इन्द्र को भी जब 'यक्ष' दीखा तो झट-से तिरोहित हो गया—ब्रह्म-ज्ञान का इतना ही उपदेश दिया सकता है, आगे इस ज्ञान को आत्म-सात् करना, अपने में स्थिर कर लेना तो मनुष्य का अपना ही काम है।

जो बात देवों के दृष्टांत से समझी जा सकती है, वह अपने भीतर देखने से भी समझी जा सकती है—देवों के दृष्टांत से समझने को **'अधिदैवत्'** कहते हैं, अपने भीतर देखकर समझने को **'अध्यात्म'** कहते हैं। उपनिषदों की वर्णन-शैली में जो बात 'अधिदैवत' द्वारा समझाई जाती है, वही बात 'अध्यात्म' द्वारा भी समझाई जाती है। 'अधिदैवत' का अर्थ है—बाहर के, ब्रह्माण्ड के दृष्टांत से समझना; 'अध्यात्म' का अर्थ है—भीतर के, पिंड के दृष्टांत से समझना। इस प्रकरण में अध्यात्म का अर्थ अध्यात्मवाद नहीं है, अध्यात्म का अर्थ यहाँ शरीर से है। उपनिषदों में 'अथाध्यात्मम्' का अर्थ शरीर से होता है। उपनिषदों का कहना है कि जो-कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है—इसलिये ब्रह्मांड को समझने के लिये पिंड को समझ लेना काफ़ी है। तो पिंड में, अध्यात्म में क्या समझने की बात है? ।४।

अथ अध्यात्मम्, यत् एतत् गच्छति इव च मनः,
अनेन च एतद् उपस्मरति अभीक्ष्णं संकल्पः ॥५॥

ब्रह्मांड में जैसे अग्नि, वायु आदि पदार्थों को ब्रह्म द्वारा शक्ति-सम्पन्नता दी जाती है, इन भौतिक-पदार्थों में ब्रह्म से शक्ति का प्रवाह न हो तो ये सब पदार्थ निस्सार तथा निरर्थक हो जाते हैं, वैसे ही पिंड में मनुष्य का मन जो दूर-दूर गति करता हुआ प्रतीत होता है—

'अथाध्यात्मम् यत् एतद् गच्छति इव मनः'—मन को वह गति इसी ब्रह्म की प्रेरणा से होती है—**'अनेन'** । यह जो मन पुरानी बातों को स्मरण किया करता है—**'च उपस्मरति'**—और लगाकर भविष्य के लिये नये-नये संकल्प किया करता है—यह सब ब्रह्म की प्रेरणा से ही होता है। इस प्रकार मन के वेग की कल्पना करते हुए मन को अत्यन्त गतिशील कहा गया है। इस गतिशीलता को स्पष्ट करने के लिये समय को दो भागों में बाँट दिया गया है—मन या तो भूत की तरफ़ जाता है, या भविष्यत् की तरफ़—**'अभीक्ष्णम्'**—अर्थात् प्रतिक्षण—निरन्तर, क्षण-क्षण पीछे या आगे भागा फिरता है। मन इतना गतिमान् है कि जिस क्षण भी उसको सोचते हैं उसी क्षण वह भूत हो जाता है, उससे पहले क्षण वह भविष्य में होता है, किसी क्षण वह वर्तमान में होता ही नहीं—इसी को—**'अभीक्ष्णं संकल्पः'** कहा है। ५।

'केन'-ऋषि का कहना यह है कि जड़-जगत् जिसके प्रतिनिधि 'अग्नि' तथा 'वायु' हैं, चेतन-जगत् जिसका प्रतिनिधि 'इन्द्र' है, तथा मानसिक-जगत् जिसका उल्लेख पाँचवीं श्रुति में 'मन' के रूप में किया गया—इन सबके अन्तस् में अपरिमित परमात्म-शक्ति ही काम कर रही है जिसे उपनिषद् की परिभाषा में 'ब्रह्म' कहा जा सकता है। सृष्टि की उपासना के स्थान में उस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये—**'तत् वनं उपासितव्यम्'** । वह कैसे ?

> **तत् ह वनं नाम, तत् वनं इति उपासितव्यम्, सः यः**
> **एतद् एवं वेद, ह एनं सर्वाणि भूतानि अभि संवांछन्ति ॥६॥**

उसका नाम 'वन' है—**'तत् ह वनं नाम'**—'वन', अर्थात् पूजनीय, भक्ति के योग्य। पहले ब्रह्म को 'यक्ष' बना दिया, अब 'वन' बना दिया। 'यक्ष'-शब्द **'यज पूजायाम्'** धातु से बना है जिसका अर्थ है—पूजनीय। 'वन'-शब्द **'वण्-षण् संभक्तौ'** धातु से बना है, इसका अर्थ भी भक्ति-योग्य है। 'यक्ष' तथा 'वन' का धात्वर्थ एक ही है। भगवान् की भक्ति-भाव से ही पूजा करनी चाहिये—**'तत् वनं इति उपासितव्यम्'** । 'वन' का अर्थ जंगल भी है। भगवान् की जंगल में—एकान्त में उपासना करनी चाहिए, घंटा-ढोल बजाकर नहीं जिससे सब देखें कि ये भक्त कैसे भगवान् को रिझा रहे हैं। भगवान् की भक्ति कोई नुमाइश की वस्तु है कि उसे मजमे में खड़े होकर सबको दिखायें कि देखो हम कैसे भगवद्-भक्त हैं कि घंटा-घड़ियाल बजाकर, शंख फूंककर, नाच-कूद

कर उसे रिझा रहे हैं। जो भक्ति के इस रहस्य को जानता है—**'सः यः एतद् वेद'**, उसे सब प्राणी—**'एनं सर्वाणि भूतानि'**—प्रेम करने लगते हैं—उसकी तरफ़ आकृष्ट होते हैं, उसे चाहने लगते हैं—**'अभि सवाञ्छन्ति'** ।६।

'केन'-ऋषि कहते हैं कि हमने ब्रह्म की सत्ता तथा उसकी उपासना के रहस्य को अपने उन सब शिष्यों के सामने खोलकर रख दिया है जिन्होंने प्रार्थना की थी कि परमात्मा के सान्निध्य में जाने की चर्चा कीजिये।

उपनिषदम् भो ब्रूहि इति, उक्ता ते उपनिषद्, ब्राह्मीम्
वाव ते उपनिषदम् अब्रूम इति ॥७॥

शिष्यों ने आग्रह किया था, भगवन्! उपनिषदों की चर्चा कीजिये—**'उपनिषदं भो ब्रूहि इति'**—इसलिए हमने अपने शिष्यों के सन्तोष के लिए उपनिषद् की चर्चा कर दी—**'उक्ता ते उपनिषद्'**। हमने जिस उपनिषद् की चर्चा की उसका मूल-विषय ब्रह्म है—**'ब्राह्मीम् वाव ते उपनिषदम् अब्रूम इति'** ।७।

जिस ब्रह्म-विद्या का 'केन'-ऋषि ने उपदेश दिया उसका अपने जीवनरूपी भूमि में भव्य-भवन निर्मित करके मनुष्य को उसमें निवास करना चाहिए। इस बात को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

तस्यै तपः दमः कर्म इति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वाङ्गानि
सत्यम् आयतनम् ॥८॥

प्रत्येक भवन की प्रतिष्ठा की जाती है, उसकी नींव रखी जाती है। ब्रह्म-विद्या-रूपी भवन की नींव क्या है? इसकी नींव में हैं—'तप', 'दम' तथा 'कर्म'—**'तस्यै तपः दमः कर्म इति प्रतिष्ठा'**। नींव के ऊपर भवन का—आयतन का—निर्माण किया जाता है। ब्रह्म-विद्या-रूपी भवन का आयतन, उसका शरीर, इस इमारत का रूप क्या है? इस इमारत का रूप है—'वेद', 'वेदांग' तथा 'सत्य'—**'वेदाः वेदांगानि सत्यम् आयतनम्'** ॥८॥

'तप' का अर्थ है—शारीरिक-साधना, 'दम' का अर्थ है—मानसिक-साधना, 'कर्म' का अर्थ है—इन दोनों साधनाओं को जीवन में उतार लेना। जीवन का हर कर्म इस बात को बता रहा हो कि यह जीवन शारीरिक-दृष्टि से तपा हुआ है, मानसिक-दृष्टि से संयत है, उच्छृंखल नहीं है। इस प्रकार की साधना से जो जीवन बनता है उसमें चारों 'वेदों का ज्ञान', वेद के सब 'अंगों का विज्ञान' और ज्ञान तथा विज्ञान

—इन दोनों का निचोड़—'सत्य'—निखर आता है। यही ब्रह्म-विद्या का सार है। नींव में तप, दम, कर्म हों, उस पर दीवारें खड़ी हों वेद, वेदांग, सत्य की—यह वेद-विद्या का जीवन रूपी भवन है।

'तप' का अर्थ शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँचों नियम भी किया जा सकता है; 'दम' का अर्थ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये पाँचों यम भी किया जा सकता है; 'कर्म' का अर्थ—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**—**'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वित् धनम्'** किया जा सकता है, 'वेद' का अर्थ चारों वेद—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व किया जा सकता है, 'वेदांग' का अर्थ वेदों के व्याख्या-रूप ब्राह्मण-ग्रन्थ, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति आदि ग्रन्थ किया जा सकता है, 'सत्य' का अर्थ तप, दम, कर्म, वेद, वेदांग—इन सबका अन्तिम निचोड़ किया जा सकता है।८।

ब्रह्म-विद्या का इस प्रकार वर्णन करने के अनन्तर ऋषि इसका फल बतलाते हुए कहते हैं—

> **यो वै एताम् एवं वेद, अपहत्य पाप्मानम्, अनन्ते स्वर्ग लोके,**
> **ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठिति ॥९॥**

जो इस ब्रह्म-विद्या के स्वरूप को इस प्रकार जानता है—**'यः वै एताम् एवं वेद'**, वह पापों को—शारीरिक तथा मानसिक दुःखों को—दूर हटाकर—**'अपहत्य पाप्मानम्'**, जो सर्वश्रेष्ठ, अनन्त स्वर्ग-लोक है—**'अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये'**—उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है, प्रतिष्ठित हो जाता है—**'प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति'**।९।

उपसंहार

केनोपनिषद् का मुख्य-लक्ष्य ब्रह्म की सत्ता तथा ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन करना है। इसे चार खण्डों में बाँट कर कहा गया है। चारों खण्डों का संक्षेप निम्न है :

प्रथम खण्ड—हम समझते हैं कि आँख देखती है, कान सुनते हैं, वाणी बोलती है, परन्तु सत्य यह नहीं है। आँख रहते भी आँख नहीं देख सकती, कान रहते भी कान नहीं सुन पाते, वाणी रहते भी वाणी नहीं बोल सकती—इनमें बैठी कोई अन्य ही शक्ति है जो इनसे काम लेती है। वह शक्ति न हो तो ये रहते हुए भी कुछ नहीं कर सकते। आँख

किसी अन्य का साधन है जो आँख के पीछे बैठा हुआ आँख से देखता है, कान किसी अन्य का साधन है जो कान के पीछे बैठा हुआ कान से सुनता है, वाणी किसी अन्य का साधन है जो वाणी के पीछे बैठा हुआ वाणी से बोलता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि आँख, कान, वाणी आदि नहीं देखते, सुनते, बोलते, तो कौन देखता, सुनता, बोलता है ?

द्वितीय खण्ड—ऋषि कहते हैं कि हम नहीं कह सकते कि वह कौन है। इतना निश्चय है कि शरीर से वह भिन्न है क्योंकि इन्द्रियों सहित अगर शरीर पड़ा रहे, वह न हो, तो शरीर सिर्फ़ मट्टी रह जाता है। जो कहते हैं कि वे उसे जान गये, वे भ्रम में हैं। वे ऐसे ही लोग हैं जो शरीर को ही सब-कुछ समझ बैठे हैं। जो कहता है कि वह उसे जान गया वह नहीं जाना, जो कहता है कि वह उसे नहीं जान पाया वह ठीक-से जान गया क्योंकि वह इतना तो जान गया कि उसे नहीं जाना जा सकता। इसका यह मतलब भी नहीं है कि उसे बिल्कुल ही नहीं जाना जा सकता। उसके विषय में इतना ही जाना जा सकता है कि वह है—अवश्य है—**'अस्ति इति बोद्धव्यस्'**—लेकिन 'है' के बाद—'यह रहा वह'—इस प्रकार उसे नहीं दिखाया जा सकता।

तृतीय खण्ड—इस खण्ड में 'पिंड' में आँख, कान, वाणी को लेकर यह दर्शाया है कि इनमें अपना कोई तत्त्व नहीं है, ब्रह्माण्ड में अग्नि, वायु, इन्द्र को लेकर एक उपाख्यान द्वारा यह दर्शाया है कि ब्रह्मांड की इन शक्तियों में भी अपनी कोई शक्ति नहीं है। पिंड की आँखों की जगह इस उपाख्यान में ब्रह्मांड की अग्नि को पात्र बनाया गया है क्योंकि आँखें ज्योति का प्रतीक हैं, पिंड के कानों की जगह इस उपाख्यान में ब्रह्मांड की वायु को पात्र बनाया गया है क्योंकि कान सुनने के कारण वायु का प्रतीक हैं, पिंड की वाणी की जगह इस उपाख्यान में इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को पात्र बनाया गया है क्योंकि जीवन का सर्वोत्तम रूप होने के कारण जीवात्मा वाणी का प्रतीक है। जैसे पिंड में आँख, कान, वाणी अपनी अन्तस्-शक्ति के बिना कुछ नहीं कर सकते, वैसे इस उपाख्यान के द्वारा यह दर्शाया गया है कि 'अग्नि', 'वायु', 'इन्द्र'—ये सब ब्रह्म-शक्ति के बिना सामर्थ्यहीन हैं।

चतुर्थ खण्ड—चतुर्थ खण्ड में 'केन'-ऋषि ने अपने कथन का उपसंहार किया है। पिंड के चक्षु, श्रोत्र, वाणी तथा ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, इन्द्र—इनमें अपनी कोई शक्ति नहीं। यह शक्ति क्या है—यह हम नहीं

जान सकते, परन्तु शरीर तथा संसार—इनमें कोई अज्ञेय-शक्ति काम कर रही है—इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता। उस शक्ति का नाम 'ब्रह्म' है। उसकी उपासना 'यक्ष' अथवा 'वन'—इन नामों से भी की जा सकती है। 'यक्ष' का अर्थ भी पूजनीय है, 'वन' का अर्थ भी पूजनीय है। हम अन्धकार में पड़े संसार की पूजा में संलग्न हैं, प्रभु-सत्ता हम से ओझल हुई-हुई है, परन्तु 'उमा'—बुद्धि—द्वारा ही हमें पता लगता है कि संसार में ओझल हो रही ब्रह्म-शक्ति ही उपासनीय है। इस उपासना के लिए तप, दम, कर्म से जीवन को साधनना होगा, इन पर अपने जीवन की नींव को डालना होगा, उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी, तभी मानवरूपी भव्य-भवन—आयतन—की दीवारें खड़ी होंगी जिनके फलस्वरूप हमारा जीवन वेद, वेदांग तथा सत्य का मन्दिर बन जायगा।

'उमा' का अर्थ हमने बुद्धि किया है। 'उ' का अर्थ होता है—क्या, 'मा' का अर्थ होता है –नहीं। इस प्रकार 'उमा' का अर्थ हमने 'क्या है, क्या नहीं है'—इस प्रकार का चिन्तन करनेवाली बुद्धि किया है। विनोबा भावे ने 'उमा' का अर्थ 'ओम्' किया है। उनका कहना है कि 'ओम्'—'अ'—'ऊ'—'म्'—इन तीन अक्षरों के संयोग से बनता है। अगर 'अ' को 'उ'+'म' के पीछे जोड़ दिया जाय, तो 'उ+म+अ' बनता है जो स्त्रीलिंगी शब्द बनाकर 'उमा' बन जाता है। इस दृष्टि से उनके अनुसार 'उमा'-शब्द 'ओम्' का ही रूपान्तर है।

कठोपनिषद्—प्रथम भाग (१ से ३ वल्ली)

नचिकेता की अमर कहानी—नचिकेता मृत्यु के द्वार पर

कठोपनिषद् में नचिकेता की एक कहानी दी गई है। कहते हैं कि एक बार महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक ने विश्वजित् नाम का यज्ञ किया। उसने इस यज्ञ में अपना सारा धन दान में दे दिया—**'सर्व वेदसं ददौ'**—सब-कुछ दे दिया, अपने पास कुछ नहीं रखा। यज्ञ का नाम था—**'विश्वजित्'**—अर्थात् विश्व को जीतने के लिए यज्ञ हो रहा था, सब-कुछ दान में दिया जा रहा था। दान का अर्थ है—देना, सब-कुछ छोड़ देना। उद्दालक कहने को तो सब-कुछ छोड़ रहा था, परन्तु इच्छा थी विश्व को जीतने की। सब-कुछ पा लेने के लिए सब-कुछ छोड़ा जा रहा था। यही तो अर्थ है विश्वजित् का। असल में, उसका छोड़ना छोड़ना नहीं था, पाने के लिए छोड़ना था। छोड़ भी क्या रहा था? किस चीज़ का दान कर रहा था? ऐसी गौओं का दान कर रहा था जो **'पीतोदकाः'** थीं, अपने जीवन में, जो पानी पीना था वह अन्तिम बार पी चुकी थीं, जीवन इतना समाप्ति पर था कि अब दूसरी बार भी जल पीयेंगी—इसकी भी आशा नहीं रही थी; **'जग्धतृणाः'**—जो भूसा भी अन्तिम बार खा चुकी थीं; **'दुग्धदोहाः'**—जिनका दूध भी अन्तिम बार दुहा जा चुका था; **'निरिन्द्रियाः'**—जिनकी इन्द्रियाँ भी काम करना छोड़ चुकी थीं। ऐसा दान किस काम का? यह तो अपने बोझ से हल्का करने की बात थी। ऐसी गौओं को अपने पास रखता तो उसका दिवाला निकल जाता। जो गौ दूध तो न दे परन्तु खाती ही चली जाय उसे कौन रखेगा। फिर एक नहीं उद्दालक के पास तो अनेक गौएँ थीं। दान के नाम से वह उनसे पीछा छुड़ा रहा था। अपने देश

में ऐसी गौओं को काँजी हाउस में छोड़ देने की प्रथा है। हम लोग दान भी उसी चीज़ का दिया करते हैं जो हमारे काम की नहीं रहती, उसे परे फेंकने के स्थान में किसी को देकर यश लूटना चाहते हैं। उद्दालक इसी प्रकार के लोगों में से एक थे।

भारतीय-संस्कृति का आधार-स्तम्भ त्याग है। संसार का त्याग नहीं, जो वासनाएँ मनुष्य को संसार से बाँधे रखती हैं उन वासनाओं का त्याग। संसार छोड़ दिया, भगवे वस्त्र पहन लिए, परन्तु वासनाओं का शिकार बने रहे, तो क्या छोड़ा। संसार को बाहर से छोड़कर भीतर बसा लेना उसे और अधिक पक्का कर देना है क्योंकि जो-कुछ भीतर है वह बाहर की अपेक्षा अधिक गहराई में गड़ा है। उद्दालक को संसार से सन्यास लेने का ढोंग करते देखकर उसके होनहार पुत्र के हृदय में हलचल मच गई। उसके पुत्र का नाम नचिकेता था। नचिकेता नाम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। 'न च' का अर्थ है—नहीं, भाई नहीं; 'केता' संकेत करता है—**किति संज्ञाने**—जिज्ञासु के लिए। नचिकेता नाम उस प्रत्येक जिज्ञासु का प्रतीक है जो किसी पाखण्ड को देखकर विचलित हो उठता है, और कहता है—नहीं भाई, नहीं—यह काम ठीक नहीं है। हममें से कितने हैं जो जो-कुछ चल रहा है उसी धारा में बहे जाते हैं। अच्छा हो, बुरा हो—सब ठीक। वे दिमाग़ खोलकर सोचते ही नहीं, रूढ़ि के, परम्परा के दास बने रहते हैं। वे अपना सारा जीवन मानो सोते हुए गुज़ार देते हैं, सजगता उनके पास नहीं फटकती। नचिकेता ऐसा नहीं था। नचिकेता ने जब देखा कि उसका पिता टूटी-फूटी, निकम्मी गौओं को विश्वजित् होने की आकांक्षा से दान में दिये जा रहा है, तो उसका मन जाग उठा। मन ने कहा—**'अनन्दा : नाम ते लोकाः तान् गच्छति ताः ददत्'**—जो दान जैसे, पवित्र कार्य को करता हुआ निकम्मी चीज़ों का दान करता है उसने विश्वजित् तो क्या होना है, वह तो संसारी जीवों से भी गया-बीता है क्योंकि वह दान करने के स्थान में दान का ढोंग रच रहा है, वह आनन्द-लोक में जाने के स्थान में अनन्द-लोक में जायेगा। आनन्द और अनन्द एक-दूसरे से उल्टे हैं—एक 'आनन्द' है, उससे उल्टा 'अनन्द' है। पिता की हालत कहीं उन चौबे जैसी न हो जाय जो छब्बे बनने चले थे और दुब्बे होकर रह गये—यह सोचकर नचिकेता ने पिता से कहा—पिता जी, आप बड़ा दान कर रहे हो, दान में तो बहुमूल्य वस्तुएँ दी जाती हैं जिससे त्याग की भावना का उदय

हो, संग टूटे। ग्राप तो ऐसी वस्तुग्रों का दान कर रहे हो जिनकी ग्रापको ज़रूरत ही नहीं रही, जो निकम्मी हैं। इस प्रकार के दान से ग्रापकी ग्रात्मा का ग्रभ्युदय होने वाला नहीं है। ग्रगर दान ही करना हो तो ग्रापको ग्रपनी सबसे प्रिय वस्तु का दान करना चाहिए। पिता के लिए ग्रपने पुत्र से ज़्यादा प्रिय क्या हो सकता है? ग्राप में सचमुच दान की भावना हो, तो मुझे दान दीजिये, कहिये मुझे किसको दान में देने के लिए ग्राप तय्यार हैं—**'कस्मै मा दास्यसि'**? पिता ने पुत्र की बात सुनी-ग्रनसुनी कर दी; समझा नादान बच्चा बेसमझी की बात कर रहा है, परन्तु नचिकेता ग्राजकल जैसे बच्चों की तरह का नहीं था। उसकी ग्रात्मा जाग रही थी। संस्कारी-जीव एक छोटी-सी घटना को देखकर उठ बैठते हैं। उनके लिए छोटी-सी घटना में भी सन्देश भरा होता है। शिवजी पर चढ़े भोग को चूहों ने खाना शुरू किया—यह घटना सदियों से होती चली ग्रा रही थी, परन्तु इसी छोटी-सी घटना ने मूलशंकर को दयानन्द बना दिया। लाखों-करोड़ों ग्रादमी नित इस घटना को देखते रहे परन्तु पत्थर के सामने सिर झुकाते ही रहे।

जव नचिकेता ने देखा कि उसका पिता उद्दालक उसकी बात पर ध्यान नहीं दे रहा तब उसने दोबारा उसी प्रश्न को दोहराया, तिबारा दोहराया—**'द्वितीयं तृतीयं होवाच'**। हमारे दिल में भी कई समस्याएँ उठा करती हैं, उठती हैं, परन्तु हम उन्हें सुनकर ग्रनसुना कर देते हैं, इसीलिए कोल्हू के बैल की तरह एक ही गोले में घूमा करते हैं। नचिकेता ऐसा नहीं था। नचिकेता ग्राज के युवक के सामने एक चेलेंज लेकर खड़ा है। ऐ युवक! क्या तेरे सामने कोई समस्या है? क्या जीवन के पथ पर जहाँ तू खड़ा है उससे तुझे शान्ति मिली है? नहीं मिली तो क्या तू उस समस्या को सुलझाने के लिए जूझने को तय्यार है? पिता ने टालना चाहा, परन्तु नचिकेता नहीं टला। पिता के पीछे ही पड़ गया—एक बार कहा, दो बार कहा, तीन बार कहा, अपने प्रश्न को दोहराता ही चला गया।

पिता झुंझला उठा। मनुष्य को झुंझलाहट तभी ग्राती है जब वह ग्रपने व्यवहार का कोई उचित, युक्ति तथा तर्कसंगत समाधान नहीं दे सकता। 'विश्वजित्' होने की डिग्री हासिल करने चले थे ग्रौर बेटे तक का मोह छोड़ने के लिए तय्यार न थे—यह उन्हीं के बेटे ने मानो गाली दे दी थी जिससे वे झुंझला उठे। झुंझलाहट ज़रूरी थी क्योंकि

यह सच्ची बात थी। गहरा व्यक्ति होता तो संभल जाता, अपने व्यवहार को बदल लेता, परन्तु उद्दालक बहुत उथले व्यक्ति मालूम होते हैं, महर्षि के पुत्र थे तो क्या हुआ, बिना कुछ किये—मोह और वासना में डूबे रहने पर भी—स्वर्ग पहुँचना चाहते थे, इसलिए जब बच्चे ने ज़रा-सा छेड़ दिया तो झुंझलाकर बोले—जा मर परे, **'मृत्यवे त्वा ददामि'**—तुझे मृत्यु को दान में देता हूँ। झूठे को झूठा कह दें तो लड़ पड़ता है, सच्चे को झूठा कह दें तो हंस पड़ता है। झूठा जानता है कि वह झूठा है लेकिन कोई झूठा कहलाना नहीं चाहता क्योंकि झूठ बोलने वाला भी जानता है कि झूठ बोलना ठीक नहीं है इसलिए झूठ बोलते हुए भी वह सच्चा कहलाना चाहता है, न कहें तो लड़ता है; सच्चा जानता है कि वह सच्चा है इसलिए कोई उसे झूठा कह दे तो अपनी सचाई के भरोसे वह लड़ने के बजाय हँस देता है, वह जानता है कि कितना ही उघाड़ा जाय भीतर से सचाई ही प्रकट होगी। उद्दालक क्योंकि भीतर से जानते थे कि वे दान देने का आडम्बर रच रहे हैं इसलिए अपने बेटे से सच्ची बात सुनकर उस पर उबल पड़े और कह दिया—जा मर परे। अपनी बुराई के विषय में कोई सत्य बात सुनना नहीं चाहता।

नचिकेता टलनेवाला नहीं था। पहले तो सोचा-समझा, पिताजी को क्यों क्रोध आया, मैंने तो ठीक ही बात कही थी—मुझे मौत से क्या लेना-देना—**'किं स्वित् यमस्य कर्तव्यम् यत् मया अद्य करिष्यति'**—परन्तु सोचा, चलो यम के द्वार पर ही चलें, शायद घर से चले जाने और उनकी आँखों से दूर हो जाने पर पिताजी की मोह-ममता कट जाय और 'विश्वजित्' होने का उनका लक्ष्य सिद्ध हो जाय।

उसने पिता से कहा, पिताजी, आप तो मोह-ममता में बँधे मुझे यम-लोक नहीं भेजेंगे, मैं ही यम का दरवाज़ा खटखटाता हूँ जाकर। वह घर से निकल पड़ा और जाकर यम का दरवाज़ा खटखटाने लगा। यम का दरवाज़ा खटखटाने का यह मतलब नहीं है कि उसने आत्मघात कर लिया, इसका यह मतलब है कि वह ऐसे गुरु के पास जा पहुँचा जो साक्षात् यम था। गुरु का काम क्या है? वेदों में गुरु को आचार्य कहा गया है, और आचार्य को मृत्यु कहा गया है—**'आचार्यो वै मृत्युः'**। आचार्य को मृत्यु क्यों कहा गया है? आचार्य को मृत्यु इसलिए कहा गया है क्योंकि वह शिष्य के संस्कारों को मलियामेट कर देता है, उन्हें

धो डालता है, उन संस्कारों को मार देता है। आचार्य का काम अपने शिष्य को नव-मानव का रूप देना है। जबतक तख़्ती पर लिखी पुरानी लकीरों को मिटाया नहीं जाता तबतक उस पर नया कुछ नहीं लिखा जाता। इसी दृष्टि से आचार्य को मृत्यु कहा गया है। नचिकेता जिस यमराज के पास गया था वह जान से मार देनेवाला मृत्यु नहीं था। ऐसी मृत्यु की तो हमारे शास्त्रों में सत्ता ही नहीं मानी गई। इस प्रकार की मृत्यु के विषय में तो नचिकेता स्वयं कहता है—**'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः'**—मनुष्य अन्न की तरह पकता है और पककर जब उसका बीज बन जाता है, तब फिर उत्पन्न हो जाता है। मृत्यु के अस्तित्व को तो नचिकेता मानता ही नहीं था। तभी जब नचिकेता मृत्यु के घर गया तब क्या देखता है कि मृत्यु वहाँ है ही नहीं, कहीं बाहर गया हुआ है। मृत्यु की सत्ता होती, तो मृत्यु मिलती, मृत्यु की तो सत्ता ही नहीं, जीवन सतत वर्तमान है, इस रूप में नहीं तो उस रूप में है। नचिकेता ने कह दिया कि मौत को तो मैं मानता नहीं, हाँ, आचार्य को मृत्यु-रूप में मैं मानता हूँ, उस मृत्यु-रूप आचार्य के कुल में मैं जाने को तैयार हूँ, आचार्य के यहाँ जाकर मैं अपने पुराने संस्कारों के प्रति मर जाना चाहता हूँ। इसीलिए वैदिक-संस्कृति में शिष्य को **'द्विज'**—**'द्विजन्मा'**—दूसरा जन्म लेनेवाला कहा है—एक जन्म माता-पिता के यहाँ, दूसरा जन्म आचार्य के यहाँ। आचार्य के यहाँ जाकर नचिकेता तीन दिन-रात यह प्रण करके बैठ गया कि मैं तब तक इस द्वार से नहीं टलूँगा जब तक मैं जीवन की उस गुत्थी को नहीं सुलझा लूँगा जिसके लिए मेरे पिता एक ग़लत रास्ते पर चल पड़े हैं। रास्ता ग़लत इसलिए कि दिखाने को त्याग कर रहे हैं, परन्तु त्यागने के स्थान में संसारको जीतना चाहते हैं—**'विश्वजित्'**। यमाचार्य ने जब देखा कि यह बालक अपने निश्चय में दृढ़ है, तब बोले—**'तिस्रः रात्रीः यत् अवात्सीः गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन् अतिथिः नमस्यः, नमस्ते अस्तु ब्रह्म स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व'**—हे ब्राह्मण! तुम तीन दिन-रात आग्रह करके मेरे निवास-स्थान पर बिना खाये-पीये ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए धरना देकर आ बैठे हो—माँगो क्या चाहते हो, तीन दिन-रात की तपस्या के बदले मैं तीन वर देने के लिए तैयार हूँ।

१. नचिकेता का पहला वर माँगना

नचिकेता पहला वर क्या माँगता है ? पिता ने क्रोध में कहा था—जा मर परे। पिता क्रोध में थे। क्रोध का जवाब हम क्रोध में देते हैं। उसने एक कही, हम दो कहते हैं। आज का कोई पुत्र होता, तो इस मौके को पाकर पिता के प्रति क्रोध में उबल पड़ता। परन्तु नचिकेता प्रबुद्ध बालक था। वह पहला वर माँगता है—**'शान्त संकल्पः सुमना यथा स्यात् वीतमन्युः गौतमो माभि मृत्यो'**—हे यमाचार्य, जब मैं घर से निकला था तब पिता क्रोध में भरे हुए थे, आप पहला वर तो यह दीजिये कि आपके द्वार से लौटने पर मेरे पिता **'वीतमन्युः'**—क्रोध-रहित, **'शान्त संकल्पः'**—शान्त-चित्त के मिलें। आज का पिता स्वयं क्रोध करता है, पुत्र को क्रोध न करने की शिक्षा देता है। बालक तो बिगड़कर क्रोध में भुनभुनाता है, पिता भी क्रोध में आकर बालक के क्रोध को दूर करना चाहता है। परिणाम यह होता है कि दोनों तरफ़ से आग भभक उठती है, क्रोध से क्रोध शान्त नहीं होता। या तो पिता ठंडा हो जाय तो पुत्र का क्रोध शान्त हो सकता है, या पुत्र शान्त हो जाय तो पिता का क्रोध शान्त हो सकता है। नचिकेता के पिता तो भभक ही रहे थे, नचिकेता ने सही रास्ता पकड़ा—**'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्'**—अक्रोध से क्रोध जीता जाता है, इसलिए उसने शान्त-चित्त तथा वीतमन्यु होकर पहला वर यह माँगा कि मेरे पिता शान्त हो जायें, क्रोध-रहित हो जायें।

आचार्य ने प्रसन्न होकर यह वर दे दिया, कहा—**'यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीतः···सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युः'**—हे नचिकेता ! तेरे पिता पहले की तरह क्रोध रहित हो जायेंगे और सुखपूर्वक अपनी रातें बितायेंगे। पिता की चिन्ता छोड़ दो, अब दूसरा वर माँगो।

२. नचिकेता का दूसरा वर माँगना

नचिकेता ने अपने घर में देखा था कि उसका पिता एक यज्ञ रचा रहे थे जिसका उद्देश्य यज्ञ से स्वर्ग-लोक का प्राप्त करना था। नचिकेता ने सोचा कि पिता तो जो-कुछ कर रहे थे उससे कुछ होनेवाला नहीं था क्योंकि वे दान ही गयी-बीती गौओं का कर रहे थे। नचिकेता तो अपने जीवन का दान करने के लिये उद्यत था, इसलिये उसने आचार्य

यम से कहा, मेरे पिता विश्वजित् यज्ञ से जिस स्वर्ग-लोक की कामना कर रहे थे, ऐसा स्वर्ग, जहाँ न भय है, न जरा है, न भूख है, न प्यास है, न शोक है, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है, उस स्वर्ग-लोक को जिस यज्ञाग्नि से प्राप्त किया जा सकता है, उन अग्नि का मुझे वर-दान दीजिये। यज्ञ में अग्नि प्रज्वलित की जातीं है, परन्तु इस भौतिक-अग्नि से तो पिता को स्वर्ग-प्राप्ति होती नहीं दीखती, हे यमाचार्य ! आप मुझे उस अग्नि का वर-दान दें जिसे पाकर मैं भय, जरा, भूख-प्यास, शोक—इन सबसे मुक्त होकर विश्वजित् हो जाऊँ—**'स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति, उभे तीर्त्वा अशनाया-पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्'**।

अग्नि का आधान करके यज्ञ किया जाता है। क्या यज्ञ की अग्नि से भय, जरा-मृत्यु, भूख-प्यास को तरा जा सकता है, क्या यज्ञ में अग्नि प्रज्वलित करके **'मोदते स्वर्गलोके'**—स्वर्ग-लोक का आनन्द प्राप्त हो सकता है, क्या इस भौतिक अग्नि से **'स्वर्गे लोके अमृतत्वं भजन्ते'**—मनुष्य अमर हो जाता है ? यमाचार्य कहते हैं—नहीं, यह अग्नि तो सिर्फ़ प्रतीक है उस अग्नि का जो **'निहितम् गुहायाम्'**—हृदय रूपी गुहा में प्रज्वलित होती है, वहाँ निहित, वहाँ छिपी पड़ी है। नचिकेता के पिता उद्दालक जिस भौतिक-अग्नि से यज्ञ करके स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हैं वह उनकी मिथ्या धारणा है। हृदय की गुहा में अग्नि के प्रज्वलित होने का क्या अर्थ है ?

जिन लोगों ने भी संसार में कोई चिरस्थायी कार्य किया है उनके हृदय में आग धधक रही थी। हृदय में आग लगे बिना कोई कार्य नहीं होता। आग का अभिप्राय भौतिक आग नहीं; जोश, उत्साह, निश्चय है। ऋषि दयानन्द के हृदय की आग ही थी जिसने हिन्दू-धर्म पर छाई हुई रूढ़ियों के कूड़े-कर्कट को भस्म कर दिया। राणा प्रताप के हृदय में आग थी, शिवाजी के हृदय में आग थी जिसकी ज्वालाओं ने उन्हें शान्त नहीं बैठने दिया। वर्तमान युग में तिलक, गोखले, गांधी, सुभाष—इन सबके हृदय में उठते शोलों ने ब्रिटिश-राज्य को भारत से डोरी-डंडा उठाकर कूच करने को विवश किया। इनके हृदय में आग न लगी होती, तो देश आज भी परतन्त्र होता।

परन्तु ऐसी आग तो किसी-किसी के हृदय में ही होती है, एक ऐसी

अग्नि भी है जो यमाचार्य कहते हैं, सबके हृदय में लगनी चाहिए। उसी अग्नि का वे नचिकेता के माध्यम से मनुष्यमात्र को वर-दान देने जा रहे हैं। उस अग्नि का उल्लेख करते हुए कठोपनिषद् में यमाचार्य ने कहा है—

> **त्रिणाचिकेतः त्रिभिः एत्य संधिं**
> **त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू**
> **ब्रह्मयज्ञं देवम् ईड्यम् विदित्वा**
> **निचाय्य इमाम् शान्तिम् अत्यन्तम् एति।**

जो 'त्रि-नाचिकेत' होगा वह तीन कर्मों को करेगा—**'त्रि-कर्मकृत्'**, इन तीन कर्मों को करके वह जन्म-मृत्यु को तर जायगा—**'तरति जन्ममृत्यू'**। तीन कर्मों को करने के मार्ग पर चलता हुआ उसके रास्ते में तीन 'संधियाँ'—तीन जोड़ या मोड़—आएँगे—जिनमें से वह गुज़रेगा —**'त्रिभिः एत्य संधिं'**। इन संधियों में से गुज़र कर वह देवों से प्रशंसित ब्रह्मयज्ञ को जानकर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होगा—**'देवम् ईड्यं ब्रह्म-यज्ञं विदित्वा शान्तिम् अत्यन्तम् एति'**। यमाचार्य ने सर्व-साधारण के अनुष्ठान के लिए कौन-से कर्मों का, और उन कर्मों की किन तीन सन्धियों का ज़िक्र किया है—इसे समझ लेना ज़रूरी है।

जिस समय कठोपनिषद् की रचना हुई उस समय कर्मकाण्ड का बोलबाला था। कर्मकांडियों ने यज्ञ के विषय में अनेक विधि-विधान बनाये हुए थे। उनका कहना था कि इस प्रकार यज्ञ-कुंड का निर्माण करना चाहिए, उसमें इतनी ईंटें लगनी चाहियें, इतना परिमाण होना चाहिए, इस प्रकार अग्नि का आधान होना चाहिए—**'या इष्टका: यावतीः वा यथा वा'**। नचिकेता का पिता भी इसी फेर में मुक्ति प्राप्त करने के लिए यज्ञ रच रहा था। यमाचार्य कहते हैं कि यज्ञाग्नि से अभिप्राय इस भौतिक अग्नि से नहीं है, भौतिक यज्ञाग्नि **'ब्रह्मयज्ञ'** का प्रतीक है—**'ब्रह्मयज्ञं विदित्वा शान्तिम् अत्यन्तम् एति'**—असली यज्ञ **'ब्रह्मयज्ञ'** है जिसमें ईंटें नहीं चिनी जातीं, **'त्रि-कर्म'** करना होता है, और **'त्रि-संधि'**—जीवन के तीन मोड़ों में से गुज़रा जाता है। वह **'ब्रह्मयज्ञ'** क्या है?

कठोपनिषद् की इस गुत्थी को सुलझाने के लिए यह ध्यान में रहे कि वैदिक-संस्कृति में चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ

तथा संन्यास । आश्रम तो चार हैं पर इनकी संधियाँ तीन हैं । ब्रह्मचारी जब गृहस्थ में प्रवेश करता है तब इन दोनों आश्रमों की पहली सन्धि होती है; गृहस्थ जब वानप्रस्थ में प्रवेश करता है तब इन दोनों आश्रमों की दूसरी सन्धि होती है; वानप्रस्थी जब संन्यास में प्रवेश करता है तब इन दोनों आश्रमों की तीसरी सन्धि होती है । 'सन्धि' का अर्थ है—जहाँ दो मिलते हैं—एक एक तरफ़, दूसरा दूसरी तरफ़ । 'सन्धि' तो सिर्फ़ दो के जोड़ का नाम है । चारों आश्रमों के तीन जोड़ हैं, परन्तु एक में से दूसरे में जाना जोड़ नहीं 'कर्म' है । इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें आश्रम तो चार हैं, परन्तु जोड़ या **'सन्धि'** तीन हैं, **'कर्म'**—अर्थात् आश्रम के उस जोड़ में से पार हो जाना—ये भी तीन हैं । इसी दृष्टि से यमाचार्य ने कहा कि वैदिक संस्कृति की आश्रम-व्यवस्था में तीन 'सन्धि' तथा तीन 'कर्म' हैं— **'त्रिभिः एत्य संधिम्'** तथा **'त्रि-कर्मकृत्'** ।

अब रही 'अग्नि' की बात । नचिकेता ने यमाचार्य से उस अग्नि का वर मांगा था जिससे मनुष्य जरा-मरण से, शोक-सन्ताप से पार हो जाता है ।

स्वर्ग की साधक वह अग्नि कौन-सी है ? क्या वह जिससे यज्ञ करते हैं, या कोई और ? यमाचार्य कहते हैं कि यज्ञ-यागादि की अग्नि से स्वर्ग नहीं प्राप्त होता । स्वर्ग-साधक-अग्नि वह है जो 'ब्रह्मयज्ञ' की तरफ़ ले जाती है । 'ब्रह्म' का अर्थ है—महान् होना, बढ़ना, अपना विस्तार करना । वही मनुष्य 'ब्रह्मयज्ञ' करता है जो अपना विस्तार करता है, अपने जीवन को संकुचित नहीं रहने देता । यज्ञ में अग्नि होती है, तो इस 'ब्रह्मयज्ञ' में, व्यक्ति के महान् होने में कौन-सी अग्नि है ? यमाचार्य के अनुसार वह अग्नि तीन सन्धियों में से गुज़रने से उत्पन्न होती है जिसे उपनिषद् में **'त्रि-नाचिकेत-अग्नि'** का नाम दिया है । अग्नि सन्धि से, दो के संयोग से, उनकी रगड़ से उत्पन्न होती है, बिना सन्धि या रगड़ के अग्नि नहीं उत्पन्न होती । अरणियों को भी जब रगड़ा जाता है, तब आग पैदा होती है, बिना किसी रगड़ के अग्नि प्रकट नहीं होती । ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ का जहाँ मेल है वहाँ सन्धि है, वहाँ से जो गुज़र गया उसने **'ब्रह्मयज्ञ'** की एक अग्नि सिद्ध कर ली । जीवन की वास्तविकता सन्धि में से गुज़रना है । ब्रह्मचारी विचार में ही पड़ा रहे कि गृहस्थ में प्रवेश करूँ या न करूँ, गृहस्थी

विचार ही करता रहे कि समय आ जाने पर भी वानप्रस्थ आश्रम में जाऊँ या न जाऊँ, वानप्रस्थी भी अगर सोचता ही रहे कि वानप्रस्थ का समय बीत जाने पर संन्यास लूँ या न लूँ, तब समझ लो कि 'सन्धि' का समय आ जाने पर भी उसने 'कर्म' नहीं किया—तीनों सन्धियाँ सामने आ खड़ी हुईं परन्तु सन्धि को लांघकर अगले आश्रम में जाने का साहस नहीं हुआ। ऐसे समय साहस कर के अगले आश्रम में पग धर देना ही अग्नि है। जिसमें नचिकेता की आग होगी वही सन्धि को पार करेगा, नहीं तो सन्धि के इधर-या-उधर ही अटका रह जायगा। इस प्रकार जो तीनों सन्धियों में से गुज़र जाता है, वह तीनों अग्नियों को सिद्ध कर लेता है—**'त्रिभिः एत्य संधिम्'** तथा **'त्रि-कर्मकृत्'** हो जाता है, वह **'त्रि-नाचिकेत-अग्नि'** को, अर्थात् **'ब्रह्मयज्ञ'** को पूर्ण कर लेता है। चारों आश्रमों में से गुज़रना ही वास्तविक ब्रह्मयज्ञ है, उसी से मनुष्य महान् होता है क्योंकि वह तीनों अग्नियों में से तप कर निकला होता है। तीन प्रकार की सन्धियों को पार करना ही तीन प्रकार का कर्म है, यही **'ब्रह्मयज्ञ'** है। यमाचार्य ने नचिकेता की जिज्ञासा के उत्तर में यह उपदेश उसे दिया इसलिए इस अग्नि का नाम **'त्रि-नाचिकेत'** रख दिया। आश्रम-व्यवस्था को ब्रह्मयज्ञ क्यों कहा? यह इसलिए कहा क्योंकि यह यज्ञ सारा समाज कर सकता है, प्रत्येक व्यक्ति इस बृहत् (ब्रह्म) यज्ञ में से गुज़रकर जीवन बिता सकता है, ऐसा जीवन जिसमें वह अपने क्षुद्रपन को त्यागकर महान् बन सके। पहले ब्रह्मचर्य में उसका दायरा अपने तक सीमित रहता है, गृहस्थाश्रम में वह अपने दायरे को कुछ बढ़ाता है, वानप्रस्थ में घर के सीमित दायरे में से निकल कर समाज के दायरे में पहुँचता है, संन्यास में सब सीमाओं को लांघ कर विश्व के लिए अपने को समर्पित कर देता है। यही महान् बनने का रास्ता है जिसे उपनिषद् ने 'ब्रह्मयज्ञ' कहा है। व्यक्ति इस मार्ग का पथिक तभी हो सकता है जब उसमें जोश हो, उत्साह हो, साहस हो, उसकी हृदय-गुहा में आग हो। यमाचार्य ने इसी को **'स्वर्ग्य-अग्नि'** कहा है। यमाचार्य ने नचिकेता को दूसरा वर यह दिया कि यह **'स्वर्ग्य-अग्नि'** उसी के नाम से कही जायेगी। हमारे समाज में एक ही आश्रम रह गया है, न ब्रह्मचर्याश्रम, न वानप्रस्थाश्रम, न संन्यासाश्रम—जो-कुछ है वह सिर्फ़ गृहस्थाश्रम है क्योंकि किसी में वह अग्नि ही नहीं जो व्यक्ति को ब्रह्मयज्ञ करने के लिए प्रेरित करे। सब ठंडे हैं, गृहस्थ में

ही पलते, गृहस्थ में सड़-सड़कर ही मरते हैं, ऐसों को संसार के दुःख न सतायें तो किसे सतायें।

३. नचिकेता का तीसरा वर माँगना

नचिकेता आचार्य की, तीन दिन-रात बैठकर, बिना खाये-पीये बाट जोहता रहा था, इसलिए आचार्य ने उसे तीन वर मांगने के लिए कहा था—**'तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व'**। दो वर देने के बाद अब उसे तीसरा वर मांगने के लिए कहा।

नचिकेता आयु में तो छोटा था परन्तु मानसिक-दृष्टि में बड़ा था। ऐसे दृष्टांत इतिहास में बहुत पाये जाते हैं जो आयु में छोटे परन्तु अक्ल में बड़े होते हैं। जान स्टुअर्ट मिल ने छः वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू किया, मैकाले ने सात वर्ष की आयु में कविता लिखना शुरू कर दिया था, गेटे ने सात वर्ष की आयु में प्रहसन लिखा था, पास्कल ने बचपन में युक्लिड के अनेक प्रश्न हल कर दिये थे, मोज़ार्ट सात वर्ष की आयु में संगीत का धुरन्धर जानकार था, शंकराचार्य ६ वर्ष की आयु में संन्यासी होना चाहते थे। अगर इस कथानक में नचिकेता को अध्यात्म की बड़ी-बड़ी समस्याओं से जूझते दिखलाया गया है, तो कोई अनहोनी बात नहीं है। जब उसे तीसरा वर मांगने के लिए कहा गया, तब वह सोचने लगा कि क्या वर मांगूं। उसने सोचा कि स्वर्ग का प्रकरण चल रहा है, स्वर्ग का अभिप्राय यह भी होता है कि मरने के बाद मनुष्य की अच्छी या बुरी क्या गति होती है—इस बात को जानना! ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के बाद भी तो यही प्रश्न होगा कि अब क्या? संन्यास के बाद तो मरना ही रह जाता है। तो यह क्यों न पूछूं कि मरने के बाद क्या होता है। क्या मरने के बाद सब-कुछ समाप्त हो जाता है या कुछ बच रहता है? अगर सब-कुछ समाप्त हो जाता है तब दुनियां का यह गोरखधन्धा सब बेकार है क्योंकि इसका आगे कुछ रहनेवाला नहीं है। जब मरने के बाद हमारा कुछ रहना ही नहीं तब धर्म-कर्म क्या, लेना-देना क्या? अगर मरने के बाद सिर्फ़ शरीर मरता है, हम बच रहते हैं, तभी धर्म-कर्म, ईमानदारी-बेईमानी, सच-झूठ का कुछ अर्थ हो सकता है, नहीं तो **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'**—यही जीवन की दिशा रह

जाती है। यह सब सोचकर नचिकेता ने यमाचार्य से पूछा—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके
एतत् विद्यां अनुशिष्टस्त्वयाहम् वराणामेष वरस्तृतीयः।

हे यमाचार्य ! यह बतलाइये कि मृत्यु के बाद क्या होता है ? मृत्यु के बाद, शरीर के भस्म हो जाने के बाद भी मैं बचा रहूँगा या मैं भी नष्ट हो जाऊँगा ? कई कहते हैं—मैं शरीर नहीं हूँ, मैं शरीर के न होने पर भी बना रहूँगा—**'अस्तीत्येके'**; कई कहते हैं, मैं शरीर ही हूँ, शरीर गया तो मैं भी गया—**'नायमस्तीति चैके'**। हे यम देवता ! आप तो स्वयं मृत्यु-स्वरूप हो, आप बतलाओ—मृत्यु के बाद क्या बच रहता है ? अगर कुछ बच रहता है, तो वह अब भी शरीर के अतिरिक्त और शरीर के भीतर होना चाहिये, अगर कुछ नहीं बच रहता तो अब भी वह नहीं होना चाहिये।

यम ने देखा, बालक बड़ा बुद्धिमान् दीखता है, अगर इसे कह दिया गया कि शरीर अनित्य है, इसके भीतर बैठा आत्मा ही नित्य है, शरीर असत्य है, आत्मा ही सत्य है, तो मामला बिगड़ जाएगा, यह दीन-दुनियां का नहीं रहेगा, बचपन से ही भगवा पहन लेगा, माता-पिता के काम का नहीं रहेगा। इसलिए आचार्य ने उत्तर दिया—छोड़ो इन बातों को, इस समस्या को तू क्या समझ सकेगा, बड़े-बड़े धुरंधर पंडित और देवता लोग भी इस समस्या का पार नहीं पा सके—**'देवैः अत्र अपि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयम् अणुः एषः धर्मः'**—हे नचिकेता, तू और कोई वर मांग, इसे छोड़ दे—**'सृज एनम्'**। नचिकेता ने देखा कि आचार्य मुझे टालना चाहते हैं, बोला—आप कहते हो कि देवता लोग भी इस समस्या का पार नहीं पा सके। अगर यह बात है तो मैं तो टलनेवाला नहीं। अगर इस समस्या का हल मैं आप से नहीं पा सका, तो फिर तो यह समस्या आजीवन मुझे झकझोरती रहेगी। आप जैसे विद्वान् की शरण में आ जाने पर मैं अन्य गुरु का दरवाज़ा क्योंकर खटखटाऊँगा—**'वक्ता च अस्य त्वादृक् अन्यः न लभ्यः'**। हे आचार्य-प्रवर, मैं तो आपके चरणों में इसी वर को माँगने के लिए नत-मस्तक होकर खड़ा हूँ।

यमाचार्य ने देखा कि बालक अपने संकल्प को दोहराये चला जा रहा है। उन्होंने उसे कुछ और सांसारिक लोभ देकर यह देखना चाहा कि इसकी अध्यात्म में लगन कितनी गहरी है। आचार्य बालक को

प्रलोभन देते हुए बोले—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्ति हिरण्यम् अश्वान्,
भूमेः महत् आयतनम् वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदः यावत् इच्छसि।
एतत् तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च,
महाभूमौ नचिकेतः त्वम् एधि, कामनां त्वा कामभाजं कृणोमि।
ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोके, सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व,
इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः, न हि ईदृशाः लम्भनीयाः मनुष्यैः,
आभिः प्रमत्ताभिः परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं मा अनुप्राक्षीः।

संसार का सुख भोगने की बात कर, किस झंझट में पड़ रहा है। दीर्घ आयु का वर मांग, सौ-सौ बरस की आयु हो तेरे पुत्र-पौत्रों की—यह मांग। तेरे घर में गाय, बैल, घोड़े, हाथी झूमें—यह मांग, जितनी ज़मीन चाहिए वह मांग, स्वयं जितना जीना चाहे वह मांग। अगर तुझे समझ पड़े कि धन-सम्पत्ति तथा चिरजीविका तेरे मांगे वर को पूरा कर देते हैं, तो वह मांग, तेरी जितनी कामनाएँ हैं वे पूर्ण हो जायें—यह मांग। पृथ्वी-लोक में जो-कुछ भी दुर्लभ है बेखटके वह सब-कुछ मांग—मैं तेरी हर इच्छा को पूर्ण करने के लिए तैयार हूँ। अगर तुझे स्त्रियों का सुख चाहिए, तो रथ-वाद्यादि सहित दुर्लभ स्त्रियों से सेवा करवा—परन्तु हे नचिकेता! मृत्यु के विषय में मत पूछ—**'मरणं मा अनुप्राक्षीः'**।

यमाचार्य ने नचिकेता को कितने प्रलोभन दिये—एक-से-एक बढ़ कर, आचार्य प्रलोभन-पर-प्रलोभन देता चला गया। साधारण बुद्धि का व्यक्ति होता तो इतने में ही ढेर हो जाता, परन्तु नचिकेता अपने संकल्प पर दृढ़ रहा। नचिकेता ने यमाचार्य को जो उत्तर दिया वह सदियों तक संसार के सांस्कृतिक-क्षितिज में गूँजता रहेगा। नचिकेता ने कहा—

श्वोभावाः मर्त्यस्य यत् अन्तक एतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः,
अपि सर्वं जीवितं अल्पं एव तव एव वाहाः तव नृत्य-गीते।
न वित्तेन तर्पणीयः मनुष्यः लप्स्यामहे वित्तम् अद्राक्ष्म चेत् त्वा,
जीविष्यामः यावत् ईशिष्यसि त्वं, वरः तु मे वरणीयः स एव।

देखिये, नचिकेता कितना समझदार है। वह यमाचार्य को कहता है कि इसमें सन्देह नहीं कि आप मुझे सब प्रकार के सांसारिक सुख देने को तैयार हैं, परन्तु क्या ये सुख सदा बने रहेंगे? ये तो **'श्वोभाव'**

हैं—क्षणिक हैं—आज हैं, कल नहीं हैं। मनुष्य का जीवन कितना ही लम्बा हो जाय, जवानी तो सदा बनी नहीं रह सकती। संसार के भोग जितने भी आप दो उन्हें भोगने के लिए यह जीवन लम्बा होकर भी थोड़ा है—**'जीवितम् अल्पमेव'**। भोग भोगते-भोगते इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी भोग नहीं ख़त्म होंगे। संसार के भोग इन्द्रियों का सामर्थ्य खींच लेते हैं—**'जरयन्ति तेजः'**—इन्द्रियों का तेज ही समाप्त कर देते हैं। हे यमाचार्य ! आप जो रथों तथा वाहनों का मुझे प्रलोभन दे रहे हैं इन्हें अपने ही पास रखिये—**'तवैव वाहाः'**, नाचना-गाना सब आपको मुबारिक हो—**'तव नृत्यगीते'**। आप मुझे संसार की सारी सम्पदा देने के लिए तैयार हैं, परन्तु धन-सम्पत्ति से कब किसी का पेट भरा है, कब किसी की तृप्ति हुई है—**'न वित्तेन तर्पणीयः मनुष्यः'**। आज हज़ार हैं तो कल लाख चाहियें, आज लाख हैं तो कल करोड़ चाहियें, धन के लालच में कौन रजा है, जहाँ और-और की लालसा बनी रहे वहाँ सम्पदा नहीं दरिद्रता है। ग़रीब आदमी सैकड़ों में और-और करता रहता है, सेठ-साहूकार लाखों में और-और करता रहता है, बाहर से दोनों में भेद दिखलाई देता है परन्तु भीतर से दोनों खोखले होते हैं।

नचिकेता को सांसारिक सुख-भोग के प्रति पीठ फेर देने में तीन बातों ने प्रेरित किया जिसके लिए उसने तीन शब्दों का प्रयोग किया है जो महत्त्वपूर्ण हैं—वे शब्द हैं—**'श्वोभाव'**, **'जरयन्ति तेजः'** तथा **'न वित्तेन तर्पणीयः'**। आइये, इन तीन शब्दों पर ज़रा विचार कर लें :

(क) श्वोभाव—श्वः का अर्थ है—कल। 'श्वोभाव' का अर्थ है जो कल तक रहनेवाला है। आज शादी हो रही है, बाजे-गाजे बज रहे हैं, सारे घर में बिजली की रोशनी की गई है, तंबू-चाँदनी तनी है, दूर-दूर के मुलाकाती आए हैं, परन्तु अगले दिन सब रौनक ख़त्म हो जाती है। संसार में क्या टिकता है ? इसका नाम ही संसार है—सब बह रहा है, पानी की जो धारा सामने है क्षण-भर बाद वह आगे निकल जाती है। यमाचार्य नचिकेता को सुख-भोग दे रहे थे, संसार के सब विषय दे रहे थे, परन्तु नचिकेता के मन ने पूछा—कब तक ? क्या ये सिर्फ़ आज के लिए हैं, कल इन सबसे हाथ धोना पड़ेगा ? भीतर से आवाज़ आयी—यह सब भटकन है, मैं उस आनन्द की तलाश में हूँ जिसमें जीवन-भर भटकना न पड़े।

(ख) जरयन्ति तेजः—दूसरी बात जो नचिकेता के हृदय में उठी वह यह थी कि यमाचार्य मुझे जो-कुछ देने को कह रहे हैं उससे तो मेरी इन्द्रियाँ ही जीर्ण हो जायेंगी। जीर्ण क्यों हो जायेंगी? दो कारणों से जीर्ण हो जायेंगी। एक कारण तो यह कि विषयों का रस लेने के बाद वे फिर-फिर उस रस की आदी हो जायेंगी। एक बार जहाँ चस्का लगा तो उससे छुटकारा मिलना मुश्किल हो जाएगा। इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति ही ऐसी है, वे मनुष्य को अपना दास बना लेते हैं। जो दास हो गया उसमें सामर्थ्य कहाँ रहा? प्रलोभन आते ही मनुष्य हथियार डाल देगा। दूसरा कारण यह है कि पहली बार में विषय की जितनी मात्रा सन्तोष दे जाती है, दूसरी बार विषय की मात्रा को बढ़ाना पड़ता है। विषय की मात्रा बढ़ गई, परन्तु इन्द्रिय का सामर्थ्य तो नहीं बढ़ा। जो एक पेग शराब पीते हैं वे कुछ दिन बाद दो पेग पीने लगते हैं, एक पेग से उन्हें नशा नहीं आता। जो दो पेग पीने लगते हैं कुछ दिन बाद वे तीन पेग पीने लगते हैं, दो पेग काफ़ी नहीं रहते। संसार के सब विषयों का यही हाल है—इन्द्रिय का तेज शिथिल होता जाता है, विषय की चाह बढ़ती जाती है।

(ग) न वित्तेन तर्पणीयः—तीसरी बात जिसने नचिकेता को अपने निश्चय में दृढ़ कर दिया यह थी कि धन-धान्य-सम्पत्ति जो आचार्य देने का वायदा कर रहे थे उसमें उसे कहीं तृप्ति नज़र नहीं आयी। नचिकेता देख रहा था कि पैसे से कोई रजता नहीं है। आख़िर कितना पैसा चाहिए। आदमी छः फुट पानी में डूब जाता है। अगर छः हाथ के ऊपर दस फुट या पचास फुट पानी हो, तो डूबने के लिए वह सब बेकार है परन्तु पैसे के समुद्र में डूबने वालों की लालसा यही रहती है कि उनके ऊपर और ऊपर अनन्त पानी का भण्डार बना रहे। अगर डूबना ही है तो छः फुट में भी वैसा ही डूबना है जैसा अनन्त जल-राशि में—काम तो छः फुट का पानी ही देगा, बाकी सब बेकार होगा। धन-धान्य भी उतना काफ़ी है जिसमें जीवन आनन्द से चल सके, परन्तु कितनी ही सम्पत्ति जुट जाए तृप्ति किसी की नहीं होती। फिर धन-दौलत बटोर कर मैं क्या करूँगा।

संसार के विषय-भोग, धन-सम्पत्ति की तुलना में नचिकेता को आध्यात्मिक-जीवन में श्वोभाव की जगह अनन्तभाव दीखा, इन्द्रियों की क्षीणता की जगह इन्द्रियों का बढ़ता तेज दीखा, धन-सम्पत्ति की

लालसा की जगह सन्तोष दीखा, तृप्ति दीखी—इसलिए वह डट गया, उसने यमाचार्य से कहा कि मैं तो वही वर मांगता हूँ जो मैंने मांगा था—मुझे संसार की कोई वस्तु नहीं चाहिए, मुझे तो यही जानना है कि मृत्यु क्या है, और मरने के बाद कुछ बच रहता है या नहीं रहता, बच रहता है तो क्या बच रहता है।

नचिकेता मृत्यु के रहस्य को क्यों जानना चाहता है? इसका कारण यह है कि मृत्यु को देखकर मनुष्य अमरत्व को खोजने लगता है। बुद्ध ने एक मृत व्यक्ति की अर्थी निकलती देखी थी। उस अर्थी ने बुद्ध का सारा जीवन बदल दिया, उसे राजा से फ़कीर बना दिया। जब कोई मरता है तब देखनेवाले के लिए अमरत्व की खोज शुरू हो जाती है। मृत्यु को देखकर मनुष्य सोचने लगता है—यह जीवन क्या है, क्या जिधर हम भागे जा रहे हैं वही जीवन है, या जीवन इससे कुछ और आगे भी है। नचिकेता कहने लगा कि मृत्यु क्या है इसे मृत्यु के सिवा और कौन बतला सकता है—इसलिए यमाचार्य को वह साक्षात् मृत्यु का प्रतीक मानकर कह रहा है कि आप से मैं मृत्यु का आर-पार नहीं जान सका, तो दूसरे किसके पास जाऊँगा। इसलिए—**'नान्यं तस्मात् नचिकेतो वृणीते'**—मृत्यु के रहस्य को जानने के अतिरिक्त वह अन्य किसी वर को मांगने के लिए तैयार नहीं।

४. यमाचार्य द्वारा नचिकेता की प्रशंसा—श्रेय तथा प्रेय

यमाचार्य नचिकेता जैसे शिष्य को पाकर आश्चर्य में डूब गए। ऐसे भी बालक हैं जो दुनियाँ-भर के प्रलोभनों को ठुकरा सकते हैं। दुनियाँ किधर भागी जा रही है। हर-किसी को पैसा चाहिए, संसार के विषयों का भोग चाहिए, दिन-रात, जागते-सोते, उठते-बैठते सब पर यही एक धुन सवार रहती है, परन्तु एक यह युवक है जिसे आचार्य बिन मांगे सब-कुछ देने को तैयार हैं परन्तु वह एक ही बात की रट लगाए है—उसे दुनियाँ का कुछ नहीं चाहिए, सिर्फ़ मृत्यु का रहस्य पता लगना चाहिए। यह देखकर आचार्य इस बालक की प्रशंसा करने लगते हैं।

संसार में यात्रा प्रारम्भ करते समय हर व्यक्ति के सामने दो भिन्न-भिन्न रास्ते खुले हैं—एक श्रेय का मार्ग है—**'अन्यत् श्रेयः'**, और दूसरा 'प्रेय' का मार्ग है—**'अन्यत् उतैव प्रेयः'**। दोनों का लक्ष्य, दोनों की पहुंच अलग-अलग है—**'उभे नानार्थे'**। इनमें से जो 'श्रेय' को लक्ष्य

में रखकर चल पड़ता है उसका कल्याण हो जाता है—**'श्रेय श्राददा-नस्य साधुः भवति'**, जो 'प्रेय' को लक्ष्य में रखकर चल पड़ता है उसका जीवन व्यर्थ हो जाता है—**'हीयते श्रर्थात् य उ प्रेयो वृणीते'**। हे नचिकेता, तूने मन को लुभाने वाली जिन वस्तुश्रों को मैंने तुझे देना चाहा था, उन्हें झटके से पर फेंक दिया—**'श्रत्यस्राक्षीः'**। यह धन-सम्पत्ति, संसार के ये विषय-भोग तो ऐसी साँकलें हैं जिन में संसार के सभी नर-नारी बँध जाते हैं, इन प्रलोभनों में कौन नहीं फँसता, सभी इस कीचड़ में डूब जाते हैं—**'यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः'**, परन्तु तूने इन सब को लात मार दी, इसलिये तू सचमुच उस ज्ञान का श्रधिकारी है जिसे तू पाना चाहता है।

श्रभी कहा कि संसार की यात्रा प्रारम्भ करते समय हर व्यक्ति के सामने दो रास्ते खुले हैं—**'श्रेय'** तथा **'प्रेय'**। इन दो रास्तों को श्राचार्य यम ने **'विद्या'** तथा **'श्रविद्या'** भी कहा है—ये दोनों रास्ते एक-दूसरे से उल्टे हैं—**'विपरीते'**। इन दोनों में से 'विद्या' का मार्ग श्रध्यात्म-मार्ग है, 'श्रविद्या' का मार्ग सांसारिक-जीवन का मार्ग है। नचिकेता श्रेय-मार्ग का, विद्या-मार्ग का पथिक है क्योंकि उसे संसार के भिन्न-भिन्न प्रलोभन लुभा नहीं सके—**'न त्वा कामाः बहवः श्रलोलुपन्त'**। जिन ज्ञानों को लोग विद्या कहते हैं, उपनिषत्कार उन्हें श्रविद्या कहते हैं—संसार का सम्पूर्ण भौतिक-ज्ञान जिसका दूसरा नाम विज्ञान है, उपनिषद् की परिभाषा में श्रविद्या है क्योंकि इससे उन्हीं बातों का पता चलता है जिनसे संसार के विषयों को भोगा जा सके। इन विद्याश्रों से हम हवाई जहाज़ से उड़ सकते हैं, टेलीफ़ोन-तार से दूर-दूर के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, श्रपनी भौतिक श्रसुविधाश्रों को दूर कर सकते हैं, श्रपनी इच्छाश्रों तथा वासनाश्रों की पूर्ति कर सकते हैं। यह सब-कुछ तभी तक ठीक है श्रगर यह दीखने वाला जगत् ही विश्व की वास्तविक-सत्ता हो, परन्तु श्रगर शरीर के भीतर इसके जीवन का स्रोत श्रात्म-तत्त्व है, जगत के भीतर उसे नियन्त्रण करने वाला पर-मात्म-तत्त्व है, तो यथार्थ-सत्ता तो उसकी है, इसकी नहीं। इस दृष्टि से विद्या तो वही होगी जो इस दृश्य के पीछे श्रदृश्य है, यह दृश्य तब श्रविद्या कहा जायगा। उपनिषत्कार कहते हैं कि जो लोग इस दृश्य-जगत् को ही सब-कुछ मान बैठे हैं वे श्रविद्या में डूबे हुए हैं—**'श्रविद्यायां श्रन्तरे वर्तमानाः'**, वे श्रपने को पण्डित मानते हैं परन्तु वे मूढ़ हैं, उन

अन्धों के समान हैं जो दूसरे अन्धों को रास्ता दिखाने का दम्भ करते हैं —**'अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः'** । असली सुजाखे वे हैं जो दृश्य के पीछे बैठे अदृश्य को, स्थूल के पीछे बैठे सूक्ष्म को, शरीर के पीछे इसमें जीवन डाल रहे आत्मा को, प्रकृति का नियमन करने वाले परमात्मा को जानते हैं। विद्या का, अध्यात्म का मार्ग ही श्रेय-मार्ग है; अविद्या का, भौतिकवाद का मार्ग ही प्रेय-मार्ग है—'श्रेय' इसलिये क्योंकि इसी पर चलने से प्राणी का भला होता है, 'प्रेय' इसलिये क्योंकि वह प्यारा मार्ग है—उस तरफ़ जाने की हर व्यक्ति की रुचि होती है, परन्तु मनुष्य का कल्याण श्रेय-मार्ग पर ही चलने से होता है जिस मार्ग पर नचिकेता चल रहा है, प्रेय-मार्ग पर चलने से नहीं।

५. यमाचार्य द्वारा अध्यात्म-मार्ग की प्रशंसा

नचिकेता के सामने भौतिक-मार्ग था, और आध्यात्मिक-मार्ग भी था। भौतिक-माग ने उसे नहीं खींचा, आध्यात्मिक-मार्ग ने खींचा। मार्ग तो दोनों सामने थे, परन्तु एक की तरफ़ नज़र गई, दूसरे की तरफ़ यम द्वारा प्रेरणा देने पर भी नज़र नहीं गई। श्रेय और प्रेय, विद्या तथा अविद्या—दोनों उसके सामने थे, परन्तु वह श्रेय अथवा विद्या के मार्ग की तरफ़ खिचा चला जा रहा था, प्रेय अथवा अविद्या के मार्ग की तरफ़ देखता तक न था। यमाचार्य कहते हैं—पैसे के मोह के कारण यह अज्ञानी-जीव जो सामने है उसी को सब-कुछ समझ बैठता है, उसे परलोक नहीं दिखलाई देता। ऐसा व्यक्ति बुद्धि की दृष्टि से बच्चा है—**'न साम्परायः प्रतिभाति बालम्'**, प्रमादी है, पैसे के मोह में पड़ा हुआ है—इतना आलसी हो जाता है कि पैसे के आगे भी पाने के लिए कुछ हो सकता है यह वह सोच ही नहीं सकता—**'प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्'**। ऐसा व्यक्ति यह मान बैठता है कि यही लोक है, परलोक नहीं है—**'अयं लोकः न पर इति मानी'**। यमाचार्य मृत्यु-देवता के प्रतिनिधि होकर कहते हैं कि इस प्रकार के भोग-विलास में रमने वाले और पैसे को ही धर्म मानकर उसका ढेर जमा करने वाले प्राणी फिर-फिर जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं—**'पुनःपुनः वशमापद्यते मे'**।

नचिकेता तो बचपन में ही अध्यात्म की चर्चा करने लगा है। अध्यात्म की चर्चा बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलती—**'श्रवणा-**

यापि बहुभिर्यो न लभ्यः', और अगर चर्चा सुन ली तो कितने हैं जिन्हें कुछ समझ पड़ता है—**'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'** । अगर अध्यात्म की चर्चा करने वाला कोई मिल जाय, तो आश्चर्य समझो—**'आश्चर्यः अस्य वक्ता'** ; ऐसे ज्ञानी महापुरुष से अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला जो व्यक्ति होगा वह भी कोई कुशल व्यक्ति ही होगा—**'कुशलोऽस्य लब्धा'** । इस कुशल व्यक्ति से अध्यात्म की शिक्षा पाने वाला व्यक्ति—**'कुशलानुशिष्टः'**—भी कोई ऐसा ही व्यक्ति होगा जो संसार के लिये आश्चर्य कहा जायगा—**'आश्चार्यो ज्ञाता'** ।

यमाचार्य भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण की तुलना करते हुए कहते हैं कि भौतिक दृष्टिकोण का व्यक्ति बुद्धि में बच्चा है, प्रमादी है, आलसी है, वित्तमोही है, इस संसार को ही देखता है, इससे परे उसे कुछ दिखलाई नहीं देता, ऐसे व्यक्तियों से संसार भरा पड़ा है । आध्यात्मिक-दृष्टिकोण का व्यक्ति तो संसार का एक आश्चर्य है, उसकी बात विरले लोग ही सुनते हैं, जो सुनते हैं उनमें से विरले ही समझ पाते हैं, परन्तु वह बुद्धि में बच्चा नहीं प्रौढ़ है, प्रमादी नहीं सजग है, वित्त-मोही नहीं भगवान् की भक्ति ही उसका धन है, वह इस संसार को नहीं इस संसार के पार को भी देखता है ।

अध्यात्म का उपदेश सब-कोई करने लगते हैं । साधारण व्यक्ति अध्यात्म का उपदेश करे, तो कुछ पल्ले नहीं पड़ सकता—**'न अवरेण प्रोक्तः एष सुविज्ञेयः'** । जिस व्यक्ति ने अध्यात्म का अनुभव किया है वही इसके उपदेश देने का अधिकारी है। साधारण व्यक्ति अगर अध्यात्म का उपदेश देगा तो सुनने वाला अध्यात्म में गति नहीं कर सकता—**'अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति'**—क्योंकि अध्यात्म अत्यन्त सूक्ष्म-ज्ञान है, इसमें तर्क काम नहीं देता ।

हे मेरे प्रिय नचिकेता ! तेरे ज्ञान के लिए मैंने जो-कुछ कहा है उसे तर्क-वितर्क में उलझ कर अपने दिमाग़ में से निकाल मत देना । इस ज्ञान को दूसरा—अन्य—ही दे सकता है, अपने भीतर से यह आत्मज्ञान की मति स्वयं उत्पन्न नहीं होती—**'प्रोक्ता अन्येनैव'** । इस प्रकार के ज्ञान को देने वाला कोई अनुभवी व्यक्ति ही होना चाहिये, अन्यथा किताब पढ़ लेने मात्र में मनुष्य में आध्यात्मिकता नहीं उतर आती । ब्रह्मनिष्ट गुरु द्वारा ही अध्यात्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है । तुम सचमुच धैर्य वाले हो—**'सत्य धृतिर्बतासि'**—मैंने जो-कुछ कहा उसे धैर्य से सुनते रहे हो

इसलिए तुम्हें आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त हो गई है—**'यां त्वं आपः'** । हे नचिकेता, तेरे जैसा ही जिज्ञासु मुझे मिलता रहे तो मैं भी आत्म-ज्ञान का स्रोत बहाता रहूँ ।

हे नचिकेता, मैं जानता हूँ कि सब धन-दौलत अनित्य—**'जानाम्यहं शेवधिः इत्यनित्यम्'**, यह भी जानता हूँ कि अस्थिर, अनित्य से, ध्रुव या नित्य प्राप्त नहीं होता, लेकिन मैंने उस नाचिकेत-अग्नि को जिसका तुझे ज्ञान करा चुका हूँ अपने भीतर जगा लिया है, इसलिये मैं अनित्य से नित्य को प्राप्त कर चुका हूँ—**'अनित्यैः द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्'** । अनित्य से नित्य को प्राप्त करने का अर्थ है कि जब यह समझ पड़ गया कि संसार की धन-दौलत, सम्पत्ति, भोग-ऐश्वर्य—ये सब अनित्य हैं, टिकने वाले नहीं हैं, तब ये अपने-आप छूट जाते हैं । हम इनसे इसीलिए चिपटे रहते हैं क्योंकि हम इन्हें अनित्य के स्थान में नित्य मानने लगते हैं । नचिकेता को आचार्य यम समझा रहे हैं कि मैं मृत्यु इसीलिए कहलाता हूँ क्योंकि मेरी दृष्टि जब भोगवाद पर पड़ती है तब वह मानो मर जाता है । जब अनित्य न रहा तब नित्य ही बच रहता है । तू पूछता है कि मरने के बाद क्या बच रहता है । तू तो कभी मरता ही नहीं, शरीर ही मरता है । शरीर अनित्य है, जब यह अनित्य शरीर छूट जाता है, तब इसका वासी नित्य ही बच रहता है—अनित्य की डोर पकड़ कर ही नित्य हाथ आ जाता है । रस्सी को पकड़ कर दरिया के पार होते हैं, संसार को पकड़ कर संसार के पार जो है उसके दर्शन होते हैं क्योंकि संसार की अनित्यता देखकर नित्यता दीखने लगती है । यह विरोध दीखता है, परन्तु इस विरोध में ही सत्य छिपा है ।

हे नचिकेता, मैंने तेरी सब कामनाओं को पूर्ण करने का वायदा किया था—**'कामस्य आप्तिम्'**, मैंने संसार में तुझे प्रतिष्ठा देने का वचन दिया था—**'जगतः प्रतिष्ठाम्'**, मैंने तुझे अनन्त कर्म करने की शक्ति देनी चाही थी—**'क्रतोः अनन्त्यम्'**, मैंने तुझे निर्भीकता की पराकाष्ठा तक पहुंचाना चाहा था—**'अभयस्य पारम्'**, सब जगह उच्च स्वर से तेरी कीर्ति का स्तवन हो, यह भी प्रलोभन तुझे दिया था—**'स्तोमम् महत् उरुगायम्'**—परन्तु हे नचिकेता, तूने इन सब प्रलोभनों को अनित्य समझा और उन्हें छोड़ दिया—**'अत्यस्राक्षीः'**—और छोड़ कर श्रेय-मार्ग, नित्य का मार्ग, विद्या का मार्ग, अध्यात्म का मार्ग अपनाया—यह तेरे लिए कल्याणकर होगा ।

मनुष्य श्रेय-मार्ग का पथिक तभी बनता है जब वह सृष्टि में अध्यात्म-तत्त्व के दर्शन करने लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि अध्यात्म के दर्शन करना सहज नहीं है, सृष्टि दीखती है उसी के दर्शन होते हैं, परन्तु इस दीखनेवाली सृष्टि के पीछे वह न दीखनेवाला मौजूद है—**'दुर्दर्श'**; उसे **'गूढ़'** तथा **'गव्हरेष्ठ'** कहा गया है क्योंकि जैसे गुफ़ा दीखती है उसके भीतर जो बैठा है वह नहीं दीखता, इसी तरह सृष्टि दीखती है, परन्तु सृष्टि-चक्र के भीतर जो बैठा इसे चला रहा है वह नहीं दीखता। अगर दीखने वाली सृष्टि के भीतर न दीखनेवाला, सृष्टि की इस गुफ़ा में मानो छिपकर कोई न बैठा हो, तो सृष्टि का चक्र चल ही नहीं सकता। किसी भौतिक वस्तु में गति नहीं आ सकती अगर उसे कोई गति देने वाला न हो। अगर भौतिक को भौतिक ही गति दे रहा है, तो गति देने वाले उस भौतिक को कौन गति देता है? इस-लिए भौतिक के गतिमान् होने के लिए किसी अभौतिक का होना ज़रूरी है। फिर सृष्टि-चक्र तो अनादि-काल से चल रहा है—जब सृष्टि स्थूल रूप में नहीं होती, तब सूक्ष्म रूप में होती है, स्थूल रूप में या सूक्ष्म रूप में सृष्टि-चक्र सदा गति कर रहा है। अगर सृष्टि अनादि है तो इसका अदृश्य रूप में संचालक भी अनादि है, उसी को आचार्य यम ने **'पुराणम्'** कहा है—बहुत पुराना। हे नचिकेता, अध्यात्म-योग से जो उस परम देव को जान जाता है वह संसार के सुख-दुःख से मुक्त हो जाता है। अध्यात्म-योग क्या है? आत्मा-परमात्मा की तरफ़ मुड़ जाने को यमा-चार्य ने अध्यात्म-योग कहा है। इस समय हमारी इन्द्रियाँ बाहर के विषयों से जुड़ी हैं, बाहर जा रही हैं। बाहर जायेंगी तो वहाँ जो-कुछ देखेंगी वही तो उनकी पकड़ में आएगा। इन्द्रियों को अधि-आत्म—**आत्मा** की तरफ़ मोड़ देने को **अध्यात्म** कहा है—**'अध्यात्म-योगाधि-गमेन'**—अध्यात्म-योग की तरफ़ अधिगमन करने से, इन्द्रियों को भीतर मोड़ देने से, परम देव को मानना पड़ता है—**'देवं मत्वा'**, ऐसी हालत में हे नचिकेता, जब परम-देव का सान्निध्य हो गया, तब मनुष्य हर्ष-शोक से ऊपर उठ जाता है—**'हर्ष शोकौ जहाति'**।

हे नचिकेता, मैंने जो-कुछ कहा है उसे सुनकर—**'एतत् श्रुत्वा'**, सुनने के बाद एक कान से सुनकर दूसरे कान से उसे निकाल मत देना, उसे मन में पकड़ कर रख लेना—**'संपरिगृह्य'**, मन में पकड़ने के बाद उसे बढ़ाना, उस पर चिंतन कर उस विचार को फैलाना—**'प्रवृह्य'**

(वृहि वृद्धौ)—श्रवण, मनन, निदिध्यासन से इस सूक्ष्म अध्यात्म को तब तू पा लेगा—**'एतम् अणुं धर्म्यं आप्य'**—तब तुझे आमोद-ही-आमोद प्राप्त होगा, तू हर्ष के पारावार में डूब जायगा—**'मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा'**। हे नचिकेता, जब मनुष्य की आँखें उस परम-तत्व की तरफ़ खुल जाती हैं तब उसके सामने एक दूसरे ही संसार का दरवाज़ा खुल जाता है। यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता, तू जिस श्रेय-मार्ग पर चल पड़ा है उसमें तेरे सामने अध्यात्म का दरवाज़ा खुल गया है—इसमें प्रवेश कर—**'विवृतं सद्म'**। जीवन क्या है? आँखें संसार की तरफ़ हो जायें तो सांसारिक-जीवन हो जाता है, भगवान् की तरफ़ हो जायें तो आध्यात्मिक-जीवन हो जाता है, सिर्फ़ दिशा बदलने की ज़रूरत है। मनुष्य आनन्द की तलाश में है, आनन्द संसार के विषयों में भी है, भगवान् में चित्त लगाने में भी है, भेद इतना ही है कि विषयों का आनन्द स्वल्प है, क्षणिक है, आज है कल नहीं है; भगवान् में चित्त लगाने का आनन्द अनन्त है, चिरस्थायी है, उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, कभी समाप्त नहीं होता।

६. अध्यात्म का रूप—ओंकारोपासना

आचार्य से अध्यात्म की इतनी प्रशंसा सुनकर नचिकेता ने कहा—भगवन्! आपने अध्यात्म-मार्ग की इतनी प्रशंसा की, आपने कहा, इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो, आपने कहा कि उसे पाकर मनुष्य आनन्द के समुद्र में डूब जाता है, आपने कहा कि सांसारिक विषय-भोग क्षणिक हैं, अध्यात्म ही शाश्वत, चिरंतन है। यह सब ठीक है, इसीलिए जब आपने मुझे दुनियाँ की धन-दौलत देने का प्रलोभन दिया था मैंने उसे त्याग दिया था। मैं जानता हूँ कि जो-कुछ दीखता है वह सब मरण-धर्मा है। मैं जानना चाहता था कि मरण-धर्मा के पीछे अमरण-धर्मा क्या है, मृत्यु के पीछे क्या शेष रह जाता है। आपका उपदेश है कि मृत्यु तो शरीर की होती है, शरीर नष्ट हो जाय तब भी कुछ बच रहता है। जो बच रहता है वह आत्मा है। सृष्टि में भी नाम-रूप के नष्ट हो जाने पर जो बच रहता है वह परमात्मा है। भगवन्! उस आत्मा तथा परमात्मा का क्या रूप है, उसे किस नाम से स्मरण करें? संसार में धर्म का नाम लेने वाले कुछ कहते हैं अधर्म के नाम से चर्चा करने वाले कुछ और ही कहते हैं, आस्तिक एक बात कहते हैं नास्तिक

दूसरी बात कहते हैं, हम क्या करें क्या न करें—इस सम्बन्ध में सबके अलग-अलग मत हैं, पीछे क्या हो गुज़रा है आगे क्या होगा—इसमें भी सबकी अपनी-अपनी धारणाएँ हैं। इन बातों की चर्चा करने में मनुष्य व्यर्थ के वाद-विवाद में पड़ जाता है। आप बतलाइये—अध्यात्म का क्या रूप है, किस प्रकार हमें आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करना सम्भव है।

यमाचार्य ने उत्तर दिया—परमात्मा का न कोई नाम है, न रूप है, अध्यात्म तो जीवन की एक दिशा है। वेद-शास्त्र उस जीवन का ही वर्णन करते हैं, तपस्वी लोग उस जीवन की ही बात कहते हैं, उस जीवन की चाह से ही ब्रह्मचर्य का व्रत लिया जाता है, उस जीवन को अगर एक शब्द में कहना चाहें तो उसे 'ओं' कह सकते हैं। 'ओं' परमात्मा का नाम नहीं, 'ओं' तो एक पद है, एक ध्वनि है—**'सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति'**। नाम तो शरीरधारी का होता है, परमात्मा शरीरधारी नहीं है। 'ओम्'—इस 'पद' का, इस ध्वनि का उच्चारण करने से शरीर में ऐसे कम्पन—वाइब्रेशन—उत्पन्न होते हैं जिनसे—ओं की ध्वनि से—शरीर तथा मन में आध्यात्मिक तरंगें पैदा होनी शुरू हो जाती हैं।

'ओम्' शब्द का वैदिक संस्कृति में बड़ा महत्त्व है। माण्डूक्य उपनिषद् में ओम् की ही चर्चा है। माण्डूक्योपनिषत्कार का कहना है कि वर्तमान, भूत, भविष्यत्—सब ओंकार की ही व्याख्या है—**'ओंकारम् इत्येत्अक्षरम् इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम् भूतं भवत् भविष्यत् इति'**। ओंकार को **'चतुष्पाद्'** कहा गया है—अकार, उकार, मकार तथा अमात्र। अकार जागृतावस्था का सूचक है, उकार स्वप्नावस्था का, मकार सुषुप्ति अवस्था का—ये तीनों समान हैं, मनुष्य के भौतिक रूप के प्रतिनिधि हैं, अमात्र उसके आध्यात्मिक रूप का बोध कराता है। इस प्रकार **'चतुष्पाद् ओंकार'** सम्पूर्ण मनुष्य का—शरीर तथा आत्मा का—सूचक है। ओंकार की ध्वनि से अभिप्राय सम्पूर्ण मनुष्य का—शरीर तथा आत्मा का—आध्यात्मिक तरंगों से अप्लावित हो जाना है। अमात्र सहित ओंकार का विचार ग्रीक-लैटिन देशों में पहुंचा जहाँ इसे टैट्राग्रेमेटोन का नाम दिया गया। 'टैट्रा' अपभ्रंश है चतुर का—चार; 'ग्राम' का अर्थ है—शब्द या पाद जिससे ग्रामर शब्द बना है। 'ओम्' से 'आमीन' बना जो ईसाई तथा मुसलमान अपनी प्रार्थना के अन्त में

बोलते हैं। अंग्रेज़ी का 'ओम्नी-प्रेजेन्ट' तथा 'ओम्नी-पोटेन्ट' शब्द भी ओम् से ही बने हैं। यजुर्वेद में 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'—इस वाक्य में 'सोऽहम्'-पद पाया जाता है—इस 'सोऽहम्' का संक्षेप ही 'ओम्' है—'स' और 'ह' को हटाकर 'ओम्' रह जाता है। यमाचार्य ने अध्यात्म-साधना के लिए नचिकेता को जो उपदेश दिया वह ओंकार को स्वात्म-सिद्ध कर लेना ही था। मनुष्य के श्वास में 'सोहम्' की ध्वनि निकलती है। जब सांस भीतर जाता है तब 'सो' की ध्वनि होती है, जब बाहर निकलता है तब 'हम्' की ध्वनि होती है। इस ध्वनि का संक्षेप 'ओम्' है जो हर समय श्वास में चला करता है। श्वास के साथ ओम् के सहज तथा स्वाभाविक रूप में जुड़ जाने से मनुष्य ध्यान में टिक जाता है। मन क्षण-क्षण में भागता है। उसे टिकाने के लिये ऐसा सूत्र होना चाहिये जो स्वयं भी क्षण भर का हो। मन्त्र पाठ करें, तो जहाँ मन्त्र के चार शब्द बोलें, झट मन कोसों दूर भाग जाता है। मन क्षण भर में भाग जाता है, इसलिये इसे बाँधने के लिये क्षण भर की रस्सी होनी चाहिये। यमाचार्य का कहना है कि मन को, जो हर क्षण भागता है, हर क्षण पकड़ने की ज़रूरत है। वह काम 'ओम्' की ध्वनि-शब्द से होता है। यम के शब्दों में यह 'ओम्' अक्षर ही ब्रह्म है, यह 'ओम्' ही महान् मन्त्र है, इस 'ओम्' को जान कर ही अध्यात्म में गति हो जाती है, इसी का आलम्बन, सहारा लेकर मनुष्य ब्रह्म-लोक में महिमाशाली हो जाता है—**'एतत् एव अक्षरं ब्रह्म—एतत् आलम्बनं श्रेष्ठम्'**।

७. आत्मा का रूप तथा उसकी प्राप्ति

यमाचार्य का कहना है कि सृष्टि में जो-कुछ दीखता है उसके पीछे न दीखने वाला मौजूद रहता है। यथार्थ-सत्ता दीखने वाले की नहीं, न दीखने वाले की है क्योंकि न दीखने वाले के कारण ही दीखने वाला दीखता है। शरीर दीखता है परन्तु इसके पीछे न दीखने वाला आत्मा है, संसार दीखता है परन्तु इसके पीछे न दीखने वाला परमात्मा है। नचिकेता ने पूछा था—**'या इयं विचिकित्सा प्रेते अस्ति इति एके नायं अस्ति इति च एके'**—मरने के बाद जो यह शंका उठ खड़ी होती है कि मनुष्य मर गया, अब उसका कुछ नहीं बचा—इसका क्या उत्तर है? यमाचार्य कहते हैं कि इसका उत्तर यही है कि शरीर क्षर है, सृष्टि क्षर है, आत्मा अक्षर है, परमात्मा अक्षर है। अक्षर का प्रतिनिधि वैदिक

संस्कृति में 'ओम्' कहा गया है। आत्मा-परमात्मा का प्रतिनिधि 'ओम्' इसलिये कहा गया है क्योंकि 'ओम्' अक्षर है—'अक्षर' अर्थात् अ, उ, म आदि, और 'अक्षर' अर्थात् जो क्षर नहीं होता, नष्ट नहीं होता, जो अविनश्वर है। उस अक्षर-अविनश्वर आत्मा का वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः न हन्यते हन्यमाने शरीरे।
हन्ता चेत् मन्यते हन्तुं हतश्चेत् मन्यते हतम् उभौ तौ न
विजानीतः नायं हन्ति न हन्यते।

आत्मा अक्षर है, न पैदा होता है न मरता है, अनादि-काल से चला आ रहा है, पुराण है, शरीर मरता है, आत्मा नहीं मरता, आत्मा अज है, नित्य है। मारने वाला समझता है उसने मार दिया, मरने वाला समझता है वह मर गया—दोनों वास्तविकता नहीं जानते, न यह मारता है, न मरता है क्योंकि आत्मा शरीर नहीं है।

जो व्यक्ति यह जान जाता है कि इस भौतिक-शरीर में वह अशरीर आत्मा निवास करता है, इस भौतिक-सृष्टि में उस अशरीर परमात्मा का निवास है—**'अशरीरं शरीरेषु'**, वह महान् आत्मा और विभु परमात्मा को जानकर शरीर के नष्ट होने को, तथा सृष्टि के उपद्रवों को देखकर धैर्य नहीं खोता, शोक-सागर में नहीं डूबता—**'महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा धीरः न शोचति'**।

यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं कि आत्मा के विषय में तुमने जानना चाहा, मैंने भी तुम्हें आत्मा के विषय में बहुत-कुछ समझाया, परन्तु आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति मेरे या किसी दूसरे के कहने मात्र से नहीं होती—**'न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यः'**; न अक्ल लड़ाने या ज्ञानियों के उपदेश सुनने से होती है—**'न मेधया न बहुना श्रुतेन'**; जिस पर प्रभु की कृपा हो जाती है उसी को आत्मा-परमात्मा की लगन लग जाती है—**'यं एव एषः वृणुते तेन लभ्यः'**; और ऐसे लगन वाले व्यक्ति के सामने तो आत्मा-परमात्मा अपने-आप को खोलकर रख देते हैं—**'तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'**; फिर किसी को यह पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि वह है या नहीं है, उसे तो मानो आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

साक्षात्कार तो हो जाता है, पर किसको? जो दुश्चरित्र से अविरत

नहीं है, हटा नहीं है—**'न अविरतः दुश्चरितात्'**, जो अशान्त है, जो असमाहित है—जिसका मन तथा इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं—**'न असमाहितः'**—ऐसे व्यक्ति को आत्मा तथा परमात्मा के दर्शन नहीं होते।

यमाचार्य का कहना है कि आत्मा तथा परमात्मा की ही यथार्थ सत्ता है; शरीर तथा संसार **'क्षर'** हैं, आत्मा तथा परमात्मा **'अक्षर'** हैं; ओंकारोपासना से इनके दर्शन होते हैं, सिर्फ़ प्रवचन से या सिर्फ़ श्रवण से कुछ नहीं होता, तर्क से भी इन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो भगवान् का आशीर्वाद मिलना चाहिये, जब आशीर्वाद मिल जाता है तब जो नहीं दीखता वह दीखने लगता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये चरित्र शुद्ध होना चाहिये, मन शान्त होना चाहिये, इन्द्रियां वश में होनी चाहियें।

८. आध्यात्मिक-जीवन का रूप—आत्मा का भोक्ता रूप

शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता की प्रतीति तथा भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक-जीवन कैसा होगा—इसका वर्णन करते हुए यमाचार्य ने नचिकेता को कहा—

स्मरण रखो कि यह शरीर मानो रथ है—**'शरीरं रथम् एव तु'**, उस रथ पर सवारी करने वाला जो है वह आत्मा है—**'आत्मानं रथिनं विद्धि'**, रथ को हाँकने का काम सारथी करता है—बुद्धि सारथी है—**'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'**, सारथी के हाथ में लगाम होती है—मन लगाम है—**'मनः प्रग्रहम् एव च'**, लगाम से काबू किया जाता है घोड़ों को—इन्द्रियां घोड़े हैं—**'इन्द्रियाणि हयान् आहुः'**, घोड़े किसी लक्ष्य की तरफ़ जाते हैं—संसार के विषय वे लक्ष्य हैं जिधर इन्द्रिय रूपी घोड़े रथ पर बैठे सवार को लिए चले जा रहे हैं—**'विषयान् तेषु गोचरान्'**। अगर शरीर रूपी रथ पर बैठा आत्मा रूपी सवार, अपने सारथी रूपी बुद्धि को आदेश दे, बुद्धि मन रूपी लगाम को पकड़कर इन्द्रिय रूपी घोड़ों को परमात्मा रूपी लक्ष्य की तरफ़ चलने को कहे, तब आत्मा भोक्ता कहलाता है, मालिक कहलाता है—**'भोक्ता इति आहुः मनीषिणः'**, अगर यात्रा उल्टी हो, संसार के विषय इन्द्रिय रूपी घोड़ों को अपनी तरफ़ खींचें, इन्द्रिय रूपी घोड़े मन रूपी लगाम को जिधर चाहें उधर घसीटें, मन बुद्धि को भटकाए, तो आत्मा भोक्ता बनने के स्थान में भोग्य बन जायगा, और सवार जिधर जाना चाहेगा उधर जाने के स्थान

में दुष्ट घोड़े जिधर जाना चाहेंगे उसे उधर भटकाते फिरेंगे—**'दुष्टाश्वाः इव सारथेः'**। आध्यात्मिक-जीवन का मुख्य मंत्र है **'भोक्ता'** बन कर रहना, **'भोग्य'** बन कर न रहना। यमाचार्म का कहना है कि जो व्यक्ति संसार के विषयों में भटकते हैं विषय उनके स्वामी बन जाते हैं, वे विषयों के दास हो जाते हैं। नचिकेता ने संसार के प्रलोभनों को ठुकरा दिया। क्या-कुछ उसे नहीं दिया जा रहा था। यमाचार्य संसार की सब भौतिक-सम्पदा उसके हवाले कर रहे थे, परन्तु उसमें जो आत्मा निवास कर रही थी वह भोक्ता वनकर आयी थी, इन्द्रियों की स्वामी, इन्द्रियों की दास नहीं, इसलिए उसने सब प्रलोभनों को ठुकरा दिया। यम नचिकेता की परीक्षा ले रहे थे। नचिकेता उस परीक्षा में पूरा उतरा, इसलिए यमाचार्य अब स्वयं कह रहे हैं कि तूने ठीक किया, आध्यात्मिक-जीवन का यही मार्ग है जिधर तू जा रहा है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के वश हो जाता है वह मानो जीवन-संग्राम में हार गया, जो इन्द्रियों पर विजय पा जाता है वही इस संग्राम का विजेता है, वही विज्ञानवान् है, उसी की आँखें खुली हैं, बाकी सब अन्धे हैं। जो विज्ञानवान् होता है उसका मन आत्मा के अधीन होता है, उसकी इन्द्रियाँ अपने वश में होती हैं—**'तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि'**, ठीक इस तरह जैसे सधे हुए घोड़े सारथि के वश में होते हैं—**'सदश्वाः इव सारथेः'**। जो अविज्ञानवान् होता है, जिसका मन उसके अधीन नहीं होता—**'अमनस्कः'**, सदा अपवित्र—**'सदा अशुचिः'**, वह परम पद को नहीं पा सकता, वह संसार-चक्र में भटकता रहता है।

जैसा अभी कहा, आत्मा शरीर रूपी रथ का मालिक है, रथ की सारथि बुद्धि है, बुद्धि की लगाम मन है, मन के घोड़े इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों की दौड़ संसार के विषयों की तरफ़ है, साधारण मानव की दौड़ इसी दिशा की तरफ़ है। इस दिशा को बदला भी जा सकता है। इन्द्रियों की विषयों के प्रति भी दौड़ हो सकती है जैसी सब-किसी की होती ही है, इनकी विषयों के प्रतिकूल भी दौड़ हो सकती है। प्रतिकूल दौड़ यमाचार्य को अभिप्रेत है, और उसी मार्ग पर वे नचिकेता को डाल रहे हैं। यह विषयों के प्रति प्रतिकूल दौड़ ही श्रेय-मार्ग है। इसी का वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं: अध्यात्म का चिंतन करने वाले श्रेय-मार्ग के पथिक के लिए विषयों से इन्द्रियाँ दूर रह सकती हैं—**'इन्द्रियेभ्यः परा हि अर्थाः'**—अर्थ अर्थात् संसार के विषय; संसार के

विषयों से मन दूर रह सकता है—**'अर्थेभ्यश्च परं मनः'**; मन की चपलता से बुद्धि दूर रह सकती है—**'मनसस्तु परा बुद्धिः'**; बुद्धि से आत्मा बहुत दूर हो सकती है—**'बुद्धेः आत्मा महान् परः'**। आत्मा की बाहर की तरफ़ गति होने के स्थान में उसकी भीतर की गति होना अध्यात्म-मार्ग है—बाहर की तरफ़ गति करेगा, तो संसार के विषयों में जायगा, भीतर की तरफ़ गति करेगा, तो अपने-आप में जायगा। जैसे मनुष्य पहाड़ पर चढ़ता हुआ पीछे को छोड़ता जाता है, आगे को चढ़ता जाता है, वैसे ही अध्यात्म-मार्ग का पथिक बाहर को छोड़ता जायगा, भीतर को बढ़ता जायगा, भीतर चलते-चलते अव्यक्त तक पहुंचेगा—प्रकृति तक—संसार के हर विषय की जो कारण है उस तक, अव्यक्त तक पहुंचने के बाद परम-पुरुष भगवान् को पा लेगा। बस, बाहर की यात्रा में संसार मिलता है, उसके विषय मिलते हैं, यह 'प्रेय-मार्ग' है; भीतर की यात्रा में भगवान् मिलते हैं, भगवान् का आशीर्वाद मिलता है, यह 'श्रेय-मार्ग' है—**'अव्यक्तात् पुरुषः परः'**। भगवान् का आशीर्वाद मिलने के बाद यह यात्रा समाप्त हो जाती है क्योंकि मानव की जीवन-यात्रा का भगवान् ही टरमिनस है—**'पुरुषात् न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः'**—इसी लक्ष्य को पाने के लिए मानव की जीवन-यात्रा है।

यात्रा भगवान् को पाने के लिए है, परन्तु भगवान् कहीं दूर नहीं है। वह सब भूतों में—जड़-चेतन में—इतनी गहराई में छिपा है कि दिखलाई नहीं देता—**'एष सर्वेषु भूतेषु गूढः आत्मा न प्रकाशते।'** जड़-चेतन में जो दिखलाई पड़ता है उसके पीछे वही है। दृश्य के जो पार जा सकता है वही उस अदृश्य को देख पाता है। दो व्यक्ति जा रहे हैं—एक चोर है, दूसरा महात्मा है। बाहर से देखें तो चोर महात्मा दिखलाई दे सकता है, महात्मा चोर दिखलाई दे सकता है—असलीयत उनके भीतर छिपी है। असलीयत **'गूढः आत्मा'** है। असलीयत तक पहुंचने के लिए तीव्र-बुद्धि चाहिए—**'दृश्यते तु अग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**—अग्रगामी—आगे-आगे की तलाश वाली बुद्धि से वहाँ तक पहुंच जाते हैं। **'तीक्ष्ण बुद्धि'** तथा **'सूक्ष्म बुद्धि'** में भेद है। तीक्ष्ण-बुद्धि का व्यक्ति भौतिक-तत्त्वों को अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता से, पैनेपन से, तोड़कर उनके भीतर देखेगा कि क्या है। उसे भौतिक-तत्त्व को तोड़ते-तोड़ते भौतिक-तत्त्व ही दीख पड़ेगा—अणु तक पहुंचेगा, परमाणु तक चला जायगा, इलैक्ट्रोन-प्रोटोन देखेगा, परन्तु भौतिक के भीतर

उसे भौतिक ही दीखेगा, अभौतिक नहीं दीखेगा। सूक्ष्म-बुद्धि का व्यक्ति भौतिक-तत्त्व को बिना तोड़े स्थूल में सूक्ष्म, दृश्य में अदृश्य को पा लेगा। पंडित और सन्त में यही भेद है। पंडित में तीक्ष्ण-बुद्धि होती है, वह ग्रन्थों के उद्धरण दिया करता है, सन्त में सूक्ष्म-बुद्धि होती है, वह ग्रन्थों को न जानता हुआ भी ग्रन्थों की आत्मा को जानता है, आत्मज्ञानी होता है।

सूक्ष्म-बुद्धि से आत्म-ज्ञान कैसे होता है—इसकी चर्चा करते हुए यमाचार्य कहते हैं—अध्यात्म-मार्ग का पथिक वाणी आदि इन्द्रियों के पीछे चलने के स्थान में उन्हें मन के नियन्त्रण में ले आये—**'यच्छेत् वाङ् मनसि'**, मन को इधर-उधर भटकाने के स्थान में प्रबुद्ध आत्मा के नियन्त्रण में ले आये—**'तत् यच्छेत् ज्ञान-आत्मानि'**, प्रबुद्ध आत्मा को शान्त-स्वरूप महान् परमात्मा के हवाले कर दे—**'तत् यच्छेत् शान्त आत्मनि'**। इस प्रकार सूक्ष्म-बुद्धि वाला साधक जब अपने को भगवान् के भरोसे छोड़ देता है तब वह आध्यात्मिक-जीवन पा लेता है। आध्यात्मिक-साधना का यही उपाय है। इन्द्रियों को मन के आधीन, मन को बुद्धि के आधीन, बुद्धि को आत्मा के आधीन, आत्मा को परमात्मा के आधीन छोड़ दे।

९. यमाचार्य का उद्बोधन

नचिकेता ने यम से तीन वर मांगे थे—वे दे दिये। पहला वर यह मांगा था कि पिता स्वस्थ-चित्त हो जायें; दूसरा वर यह मांगा था कि यज्ञ-यागादि से पिता स्वर्ग प्राप्ति करना चाहते थे—वह 'स्वर्ग्य-अग्नि' क्या है जिससे मनुष्य भौतिक सुखों के स्थान में आध्यात्मिक सुख प्राप्त कर सकता है; तीसरा वर यह मांगा था कि मरने के बाद क्या सब-कुछ समाप्त हो जाता है या कुछ बच रहता है। यमाचार्य ने पहला वर यह दिया कि तू जब आध्यात्मिक जीवन में दीक्षित होकर घर लौटेगा तब तेरे अध्यात्म-भाव को देखकर तेरे पिता प्रसन्न होंगे। दूसरा वर यह दिया था कि जब तेरे भीतर आध्यात्मिक-जीवन को प्राप्त करने की अग्नि प्रज्वलित हो जायेगी तब वही स्वर्ग्य-अग्नि होगी। जब तक मनुष्य की आँख नहीं खुलती, वह पशुओं का जीवन बिताता रहता है। खाना, पीना, सोना, सन्तान उत्पन्न करना—इससे आगे नहीं बढ़ता। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह शरीर ही आदि

और अन्त नहीं है, तब उसमें अध्यात्म की ज्वाला जग उठती है—आध्यात्मिक-जीवन में गति करना ही स्वर्ग-साधक अग्नि है—अग्नि अर्थात् तीव्र लगन। तीसरा वर यह दिया था कि आत्मा के लिए मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा-परमात्मा अजर, अमर, अक्षर हैं—न उत्पन्न होते हैं, न मरते हैं। मनुष्य-जीवन का लक्ष्य आत्मा-परमात्मा को पाना है। इस लक्ष्य को पाने के लिए अध्यात्म-मार्ग का यात्री बनकर आगे-आगे बढ़ते जाना है। शरीर रथ है, आत्मा रथी है, शरीर साधन है, आत्मा उस साधन का उपयोग करने वाला है, शरीर भोग्य है, आत्मा इसका भोक्ता है।

इतना उपदेश देने के बाद यमाचार्य संसार के सब मनुष्यों को नचिकेता के माध्यम से उद्बोधन करते हुए कहते हैं—उठो, जागो, श्रेष्ठ जनों का संग करके उद्बुद्ध हो जाओ—**'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'**। अध्यात्म का मार्ग ही सत्य मार्ग है, परन्तु सत्य होता हुआ भी कठिन मार्ग है, छुरे की तेज़ धार पर चलने के समान है—**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'**, मार्ग बड़ा दुर्गम है परन्तु कल्याण का यही मार्ग है—**'दुर्गम् पथः तत् कवयः वदन्ति'**।

इस मार्ग पर चलकर तुम जहाँ पहुंचोगे वही परब्रह्म परमेश्वर है—वह शब्दरहित है, स्पर्शरहित है, रूपरहित है, नाशरहित है, रस-रहित है, गन्धरहित है, अनादि है, अनन्त है, जो-कुछ महान् है उससे भी परे है— उसे जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है—**'मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते'**।

मनुष्य को मृत्यु का भय क्यों सताता है? वह समझता है कि अब नहीं रहूँगा, सब-कुछ हाथ से चला जायगा। यमाचार्य कहते हैं कि तुम्हारे सामने दो रास्ते हैं—या संसार को सत्य समझो, या भगवान् को सत्य समझो। संसार को सत्य समझोगे तो मर कर बार-बार संसार हाथ आयेगा, भगवान् को सत्य समझोगे तो मरण के बन्धन से छूटकर भगवान् हाथ आयेगा। फिर मृत्यु से क्यों डरना। आत्मा तो दोनों हालात में अमर ही रहेगा—शरीर ही तो छूटेगा। संसार को सत्य समझोगे तो इस शरीर के छूटने पर दूसरा शरीर मिलेगा और लगातार मिलता रहेगा, परन्तु शरीर के बन्धन में पड़े रहोगे; भगवान् को सत्य समझोगे तो इस शरीर के छूटने पर भगवान् हाथ आयेगा—सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाओगे। मृत्यु का दुःख दोनों हालात

में नहीं होगा क्योंकि मृत्यु का इन दोनों में से किसी भी अवस्था में अस्तित्व नहीं है।

आचार्य मृत्यु के मुख से नचिकेता को यह उपाख्यान दिया गया। इसकी चर्चा करने तथा सुनने से मनुष्य ब्रह्मलोक के मार्ग पर चल पड़ता है—अनन्त काल तक मानव-समाज में इस उपाख्यान की चर्चा होती रहे, होती रहे—**'तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पते'**।

कठोपनिषद्—द्वितीय भाग (४ से ६ वल्ली)

नचिकेता की अमर कहानी

चतुर्थी वल्ली

यमाचार्य द्वारा आत्मा-परमात्मा का वर्णन

यमाचार्य ने नचिकेता को समझाया कि आत्मा-परमात्मा शब्द-रहित हैं—**'अशब्द'**, स्पर्श रहित हैं—**'अस्पर्श'**, रूप रहित हैं—**'अरूप'**, नाशरहित हैं—**'अव्यय'**। यही कारण है कि वे इन्द्रियों का विषय नहीं हैं। विधाता ने इन्द्रियों को बनाया ही ऐसा है कि वे बाहर जाती हैं, भीतर नहीं जातीं—**'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः'**। क्योंकि वे बाहर जाती हैं इसलिए बाहर का जो संसार है उसे वे देखती हैं—**'तस्मात् पराङ् पश्यति'**, अपने भीतर के आत्मा को नहीं देखतीं—**'न अन्तः आत्मन्'**। जो लोग शंका करते हैं कि आत्मा या परमात्मा इन्द्रियों से क्यों नहीं दीखते, उन्हें यमाचार्य उत्तर देते हैं कि इन्द्रियां तो आत्मा से जो परे है—**'पराङ्'**, उसे अर्थात् संसार के विषयों को ही देखने के लिए बनी हैं, फिर यह शंका करना कि इन्द्रियों से आत्मा-परमात्मा के दर्शन क्यों नहीं होते एक निरर्थक प्रश्न है। विधाता ने इन्द्रियों को आत्मा-परमात्मा के देखने के लिए बनाया ही नहीं है। हाँ, अगर आंख, कान, नाक आदि इन्द्रियों को विषयों से लौटाकर—बाहर के विषयों में सैर-सपाटा करने के स्थान में भीतर की सैर के लिए मोड़ दिया जाय, तो आत्मा के दर्शन होते हैं—**'प्रत्यग् आत्मानं ऐक्षत्'**।

मनुष्य अमृत की तलाश में है, परन्तु जिधर भी है उधर जाने से क्षणिक ही सुख प्राप्त होता है। हमारी दौड़ विषयों की तरफ़ है, परन्तु

सब विषय क्षणिक सुख ही देते हैं। शाश्वत सुख बाहर नहीं भीतर है—बाहर के विषय मरु-मरीचिका की तरह उसे भ्रम-जाल में दौड़ाते रहते हैं। मरु-मरीचिका में जैसे दूरी पर जल का भ्रम होता है, प्यासा उसकी तरफ़ जितना दौड़ता है उतना ही जल का भ्रम आगे-आगे चलता जाता है, इसी तरह संसार के विषयों में मनुष्य आनन्द ढूंढता-ढूंढता उनके पीछे दौड़ता ही रहता है, हाथ कुछ नहीं आता। कस्तूरी के मृग के पेट में कस्तूरी होती है, परन्तु वह उस गंध को चारों दिशाओं में ढूंढता फिरता है, इसी तरह अखंड आनन्द का स्रोत मनुष्य के हृदय में, उसके भीतर ही बह रहा है, बाहर के पट बन्द कर जब भीतर के पट खुलते हैं तब पता चलता है कि जिस आनन्द की हम अपने से बाहर विषयों में तलाश कर रहे थे उसका झरना तो अपने भीतर ही बह रहा था—इसी भाव को व्यक्त करने के लिए यमाचार्य ने कहा—**'आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम इच्छन्'**—अमृत की प्राप्ति के लिए अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों को अपने भीतर लौटा लायें तो आत्मा के दर्शन हो जाते हैं। बाहर देखना या भीतर देखना—इसी में अध्यात्म का सारा रहस्य छिपा है—**'आवृत्त'**, अर्थात् इन्द्रियों को बाहर से अन्दर को लौटा लाना।१।

परन्तु इन्द्रियाँ भीतर की तरफ़ नहीं आतीं, बाहर ही भागती फिरती हैं क्योंकि संसार के विषय बाहर हैं—**'परांचः'**। यमाचार्य कहते हैं कि वे लोग बाल-बुद्धि हैं—**'बालाः ते'**, जो इन विषयों की कामनाओं के पीछे भागते हैं—**'कामान् अनुयन्ति'**। परिणाम यह होता है कि सारा जीवन इन कामनाओं को पूर्ण करने में ही व्यतीत हो जाता है—हाथ कुछ नहीं लगता। संसार के क्षण-भंगुर विषयों में मृत्यु के सिवाय क्या पड़ा है? मनुष्य जितना विषय-भोग में लिप्त होता है उतना ही मृत्यु के निकट पहुंचता जाता है। संसार के विषय मानो मृत्यु का बिछा हुआ जाल है जिसमें हम उलझते जाते हैं—**'मृत्योः यन्ति विततस्य पाशम्'**। जो व्यक्ति बाल-बुद्धि नहीं हैं—बच्चों की तरह उतावले न होकर धैर्य से काम लेते हैं—**'धीराः'**, वे यह जानकर कि विषयों में अमृत नहीं, आत्म-ज्ञान में अमृत है—**'अमृतत्वं विदित्वा'**, क्षण-भंगुर अध्रुव संसार में—**'अध्रुवेषु'**, उस अखंड ब्रह्मानन्द की—**'ध्रुवं'**, तलाश नहीं करते—**'न प्रार्थयन्ते'**। जब यह आभास मिल गया कि संसार के विषयों में जो-कुछ भी आनन्द मिलता है वह क्षणिक है,

साथ ही मनुष्य को यह भी आभास है कि उसे क्षणिक नहीं परन्तु शाश्वत आनन्द की तलाश है—तब विषयों का क्षणिक आनन्द ही पुकार उठता है कि मुझे छोड़ो, वहाँ चलो जहां आनन्द का स्रोत सदा ही बहा करता है।२।

बाहर की हमारी इन्द्रियाँ हमें कहाँ ले जाती हैं? रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मैथुन—इन्हीं दिशाओं की तरफ़ ही तो इन्द्रियाँ भागती हैं—**'रूपं रसं गंधं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान्'**, परन्तु इनमें आनन्द ग्रहण करने की शक्ति कहाँ है? आँख-कान-नाक आदि इन्द्रियाँ तो माध्यम हैं—ये खोल हैं जिनके भीतर से कोई झांक रहा है। वह न हो तो कौन देखे, कौन सुने, कौन सूँघे। हमारी इन्द्रियों के पीछे जो बैठा है असल में वही देखता, सुनता, सूँघता है—वही सब ज्ञान ग्रहण करता है--**'एतद् एव विजानाति'**। यह जो इन इन्द्रियों के पीछे बैठा रूप, रस, गंध, स्पर्श को जानता है वह यह भी जानता है कि इस संसार में कुछ नहीं रखा—**'किम् अत्र परिशिष्यते'**। हे नचिकेता, तूने जो पूछा था कि मृत्यु के बाद क्या शेष रह जाता है—तेरा तीसरा प्रश्न—**'या इयं प्रेते विचिकित्सा'**, उसका उत्तर यही है कि जिससे आँखें देखती हैं, जिसके बिना नहीं देख सकतीं, जिससे कान सुनते हैं, जिसके बिना कान नहीं सुन सकते, वही मृत्यु के बाद शेष रह जाता है—**'एतत् वै तत्**।३।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि को देखने आदि का कार्य इन्द्रियाँ करती हैं, परन्तु वे इन्द्रियाँ भी अपने-आप में कुछ नहीं कर सकतीं। उनमें जो चेतना दिखलाई देती है, वह उनकी अपनी नहीं, किसी और की है। इन्द्रियों का क्या कहना—रूप, रस आदि भी विषयों के अपने नहीं हैं। इनमें भी जो आकर्षण दिखलाई देता है वह उसी शक्ति का डाला हुआ है जो चेतन-शक्ति घट-घट में व्याप्त है। इतना ही नहीं, हम रात को स्वप्न लेते रहते हैं, दिन को जागते रहते हैं—स्वप्न के अन्त और जागने के अन्त में अगर सोचें कि क्या शेष रहा, तो न स्वप्न शेष रहता है, न जागरण शेष रहता है—जो स्वप्न और जागरण दोनों के बीच बना रहता है वही शेष रह जाता है। जागते समय जागरण सत्य और स्वप्न असत्य हो जाता है, स्वप्न के समय स्वप्न सत्य और जागरण असत्य हो जाता है, परन्तु इन दोनों के बीच में रहने वाला—**'आत्मा'**—ही सत्य बना रहता है। जिससे मनुष्य

स्वप्न और जागरण दोनों की यथार्थता को देखता है—**'स्वप्नान्तं जागरितान्तं च उभौ येन अनुपश्यति'**, उस विभु आत्मा को जानकर—**'महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा'**, धीर मनुष्य शरीर के गिर जाने पर भी दुःखी नहीं होता—**'धीरः न शोचति'**—मृत्यु उसे दुःखदायी नहीं होती क्योंकि वह जान लेता है कि संसार के विषय नष्ट हो जाते हैं, शरीर मर जाता है, परन्तु शरीर में रहने वाला नष्ट नहीं होता, उसकी मृत्यु नहीं होती ।४।

जो आनन्द का आस्वादन करने वाले—**'मध्वदं'**, जीवात्मा को निकटता से जान लेता है—**'वेद आत्मानं जीवम् अन्तिकात्'**, उसे किसी प्रकार से ग्लानि नहीं होती—**'ततः न विजुगुप्सते'** । वह आत्मा हमारे भूत तथा भविष्यत् को निर्माण करने वाला है—**'ईशानं भूत-भव्यस्य'** । हे नचिकेता, मृत्यु के बाद क्या शेष रह जाता—यह तूने पूछा था । आत्मा ही है जो शरीर की मृत्यु के बाद शेष रह जाता है—**'एतद् वै तत्'** ।

आत्मा **'मध्वद'** है—मधु का आस्वादन करना चाहता है । जहाँ इसे मिठास मिलती है उधर ही चल देता है । विषयों में मिठास है इसलिए संसार के विषयों में उलझा रहता है, परन्तु विषयों की मिठास क्षणिक है, उनसे तृप्ति नहीं होती । इतना ही नहीं कि उनसे तृप्ति नहीं होती, वे अन्त में क्षीणता की तरफ़ ले जाते हैं । इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं परन्तु वासना बनी रहती है । कभी-कभी इन्द्रियाँ जितनी क्षीण होती हैं वासना उतनी ही तीव्र हो जाती है । जब कोई वस्तु हाथ नहीं आती तब उसे पाने की इच्छा और दुगुनी हो जाती है । इच्छा बनी रहे या बढ़ती रहे, और प्राप्ति की शक्ति घटती रहे, तो मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है । **'मधु'**—या मिठास पाने का एक दूसरा रास्ता भी है । जैसे विषयों को पाने में मिठास है, वैसे विषयों को छोड़ने में भी मिठास है । मनुष्य जितना ही इन्द्रियों पर विजय पाता है, उतना ही विजय का उल्लास उसे आनन्द विभोर कर देता है । यह आनन्द क्षणिक नहीं, शाश्वत है । यह आनन्द तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य बाहर की तरफ़ दौड़ने के स्थान में अन्दर को जाता है, आत्मा का—**'अन्तिकात्'**—निकटता से अनुभव करता है । विषयों की तरफ़ भागने से समय आता है जब आत्म-ग्लानि हाथ आती है—**'विजुगुप्सते'**, आत्मा का सान्निध्य पाने से आत्म-ग्लानि नहीं रहती—**'न**

विजुगुप्सते'। आत्मा को निकटता से जानना—**'अन्तिकात्'**—बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आत्मा इतना-इतना नज़दीक है कि नज़दीक होने के कारण ही नहीं दीखता। जो वस्तु अत्यन्त निकट होती है वही दूर चली जाती है, ध्यान में नहीं आती; जो दूर होती है वही ध्यान में आती है। आँख कितनी निकट है, परन्तु आँख आँख को नहीं देख पाती, इसी तरह आत्मा कितना निकट है परन्तु आत्मा ही अपने को भूला रहता है। परन्तु हम आत्मा को कितना ही भूले रहें यह भुलाया नहीं जा सकता। सब-कुछ भूल जाने पर भी जो बना रहता है, हे नचिकेता, वही आत्मा है।५।

क्योंकि यमाचार्य नचिकेता को आत्मा तथा परमात्मा दोनों के विषय में ज्ञान दे रहे हैं, इसलिए आत्मा की चर्चा करने के अनन्तर वे परमात्मा के विषय में कहते हैं—सृष्टि की उत्पत्ति में महान् प्रयत्न हुआ है, इस प्रयत्न को **'तप'** कहा जाता है। वह **'तप'** से पूर्व विद्यमान था—**'यः पूर्वम् तपसः जातः'**—इसलिए तप से पूर्व था क्योंकि उसी के प्रयत्न से ही तो सृष्टि का निर्माण हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति में पृथिवी जल, अग्नि, वायु, आकाश उत्पन्न हुए—वह आत्मा इन भौतिक-तत्त्वों से भी पूर्व था—**'अद्भ्यः पूर्वम् अजायत'**—**'अद्भ्यः'**—अर्थात् जल आदि से वह पूर्व था क्योंकि उसी के प्रयत्न से सब भौतिक-तत्त्व निर्मित हुए। ये पाँचों महाभूत मानो वे गुफ़ाएं हैं जिनके भीतर वह बैठा हुआ है—**'गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तम्'**। इस प्रकार इन पाँच महाभूतों के द्वारा वह जाना जाता है—**'यः भूतेभिः व्यपश्यत'**। सृष्टि की रचना जिन पाँच तत्त्वों से हुई है, वे तत्त्व ही पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि वे स्वयं कुछ नहीं हैं, वे सब तो उसी के सहारे टिके हुए हैं। कोई निरा भौतिक-तत्त्व रह नहीं सकता जब तक उसको शक्ति का सहारा न हो। भौतिक को तोड़ते-तोड़ते अभौतिक निकल आता है। अणु-परमाणु को वैज्ञानिकों ने तोड़ा, तो भीतर से विद्युत् का आविर्भाव हो गया—विद्युत् एक शक्ति है जो दीखती नहीं, भौतिक द्वारा ही दीखती है। हम बल्ब को देखते हैं, उसमें जड़े फिलेमेंट को देखते हैं जिसमें प्रकाश प्रकट होता है, विद्युत् की धारा तो करेंट रूपी गुफ़ा में छिपी ही बैठी है। इसी को यमाचार्य ने कहा—**'भूतेभिः व्यपश्यत'**, भौतिक से अभौतिक के दर्शन होते हैं। इस प्रकार दृश्य में जिस अदृश्य के दर्शन

होते हैं, हे नचिकेता, वही परमात्मा है जिसके विषय में तूने पूछा था —**'एतत् वै तत्'** ।६।

यमाचार्य परमात्म-तत्त्व का पुल्लिग में वर्णन करने के बाद स्त्री-लिंग में वर्णन करते हुए कहते हैं—वह देवतामयी परमात्म-शक्ति मातृ-तुल्य है, उसे **'अदिति'** कहा जा सकता है—**'अदिति'**, अर्थात् जो खंडित नहीं हो सकती, नष्ट नहीं हो सकती, जो नित्य है—**'अदितिः देवतामयी'**। परमात्मा की ब्रह्म-शक्ति अदिति है, माता के समान है जिसे प्राणायाम से अनुभव किया जा सकता है—**'या प्राणेन संभवति'**। प्राणायाम एकाग्रता का सबसे बड़ा साधन है। प्राणायाम से ही इन्द्रियों को मन के साथ, और मन को आत्मा के साथ नियुक्त कर परमात्म-दर्शन हो सकता है। परमात्मा की अदिति-रूपा मातृ-शक्ति पंच महाभूत रूपी गुफ़ाओं में मानो छिपी बैठी है—**'गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं'**, उसे पंच महाभूतों से ही जाना जा सकता है—**'या भूतेभिः व्यजायत'**—मानो पंच महाभूतों से उत्पन्न किया जा सकता है। उसे अदिति के नाम से मातृ-शक्ति कहा, इसलिए **'व्यपश्यत'** की जगह यहाँ यमाचार्य **'व्यजायत'**—उत्पन्न होने की बात कह रहे हैं। वैसे तो महाभूतों को परमात्म-शक्ति उत्पन्न करती है, परन्तु यहाँ यमाचार्य कह रहे हैं कि पंच महाभूतों से अदिति-रूपा मातृ-शक्ति उत्पन्न होती है। पंच महा-भूतों को देखकर यही समझ पड़ता है कि इनके उत्पन्न करने वाली कोई मातृ-शक्ति होनी चाहिए, ये अपने-आप तो उत्पन्न हुए नहीं होंगे, इसलिए पंच-महाभूत ही मानो कह रहे हैं कि हमारी कोई माता है। उस माता का नाम यमाचार्य ने **'अदिति'** कह दिया है। **'अदिति'** इस-लिए कहा क्योंकि महाभूत तो खंडित हो जाते हैं—**'दो अवखंडने'**—परन्तु परमात्म-शक्ति तो खंडित नहीं हो सकती, वह अखंडित है, नित्य है। अदिति का अर्थ ही है—अखंडित। हे नचिकेता, वही पर-मात्म-शक्ति है जिसके विषय में तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'** ।७।

यमाचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार अरणियों में अग्नि निहित होती है, दीखती नहीं, और उसे प्रकट करने के लिए रगड़ना ज़रूरी है—**'अरण्योः निहितः जातवेदाः'**, इसी प्रकार परमेश्वर मनुष्य के भीतर ही बैठा है, दीखता नहीं, परन्तु जैसे अरणियों को रगड़ें तो अप्रकट अग्नि प्रकट हो जाती है, अज्ञात ज्ञात हो जाता है, ऐसे ही परमेश्वर को पाने के लिए अरणियों को रगड़ने की तरह कुछ रगड़ना पड़ता है,

रगड़ने की तपस्या करनी पड़ती है, बिना तपस्या के कुछ हाथ नहीं आता। अरणियाँ सामने पड़ी रहें तो क्या होगा—आग सामने है, परन्तु होती हुई भी नहीं है। अग्नि का दृष्टांत बड़ा महत्त्वपूर्ण है—अग्नि की दो बातें अध्यात्म-मार्गी को ध्यान में रखनी हैं। अग्नि को **'जात-वेदाः'** कहा—जातवेदाः, अर्थात् **'जाते जाते विद्यते'**—हर वस्तु जो **'जात'** है, जन्मी है, उसमें अग्नि है, पर दीखती नहीं; परमात्मा भी हर **'जात'**—उत्पन्न वस्तु—में है, परन्तु दीखता नहीं। अग्नि के विषय में दूसरी जानने योग्य बात यह है कि इसकी लपट ऊपर को जाती है, नीचे को नहीं। जिसके साथ अग्नि का सम्पर्क हो जाता है उसकी गति ऊपर को जाने लगती है। पानी नीचे को बहता है, परन्तु अग्नि के सम्पर्क में आकर वह भाप बन जाता है, ऊपर जाता है। मनुष्य भी परमात्मा का सान्निध्य पा ऊपर-ही-ऊपर जाता है, फिर उसके पतन की कोई संभावना नहीं रहती। जैसे अग्नि अरणियों के भीतर छिपा बैठा है और अरणियों की रगड़ से वह दीखने लगता है, जैसे गर्भवती स्त्री का ध्यान चौबीसों घंटे उसी पर टिका रहता है, इसी प्रकार जो जागरूक मनुष्य है—**'जागृवद्भिः मनुष्येभिः'**—उनका ध्यान अपने जीवन को हवि बनाकर—**'हविष्मद्भिः'**—उस प्रतिदिन स्तुतियोग्य अग्नि रूप भगवान्—**'दिवे दिवे इड्यः अग्निः'**—की तरफ़ लगा रहता है। वे लोग अपने पास जो-कुछ है उसे 'हवि' समझते हैं, अपने जीवन को उस पर न्यौछावर कर देते हैं, किसी वस्तु से चिपटते नहीं। जैसे यज्ञाग्नि में सब-कुछ **'स्वाहा'** कह कर डाल दिया जाता है, वैसे ब्रह्माग्नि में वे सब-कुछ समर्पित कर देते हैं, उनका जीवन यज्ञमय हो जाता हैं। जैसे यज्ञाग्नि अरणियों की रगड़ से पैदा होती है, वैसे ब्रह्माग्नि तपस्या से प्रकट होती है, जैसे गर्भिणी का ध्यान सदा उसके भीतर विद्यमान गर्भ में अटका रहता है, वैसे भगवान् के दर्शन पाने वाले जिज्ञासु का ध्यान उसी के भीतर विद्यमान परमेश्वर की तरफ़ बना रहता है।८।

हे नचिकेता! देख, सूर्य कितना महान् है—इससे महान्, इससे अधिक प्रकाशमान कोई वस्तु संसार में नहीं है। यह सूर्य उसी की कारीगरी का नमूना है—सूर्य का उदय, सूर्य का अस्त उसी के द्वारा होता है—**'यतः उदेति सूर्यः अस्तं यत्र च गच्छति'**। सूर्य ही क्या, उसी के चरणों में सब का सिर नमा हुआ है—**'तं देवाः सर्वे अर्पिताः'**। हे नचिकेता, उसकी शक्ति को लांघने वाला इस विश्व में कोई नहीं है—

'तत् उ न अति एति कश्चन'। वही है जिसके विषय में तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'**।९।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवान् यहाँ है, वहाँ नहीं है, वह तो सब जगह है—**'यत् एव इह तत् अमुत्र'**। हे नचिकेता, तू यह भी समझ ले कि जो वहाँ है वही यहाँ भी है—**'यत् अमुत्र तत् अन्विह'**। कोई उसे मन्दिर-गिर्जे में देखता है, कोई उसे सातवें आसमान पर बैठा बतलाता है। दोनों ही ग़लत हैं। जहाँ-जहाँ सृष्टि का कोई भी चिह्न है, वहाँ-वहाँ वह मौजूद है क्योंकि सृष्टि का सर्जन करने वाला तो वही एक है। जो समझता है कि वह यहाँ है वहाँ नहीं है, या वहाँ है यहाँ नहीं है—**'यः इह नाना इव पश्यति'**, वह जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है—**'मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति यः इह नाना इव पश्यति'**। उसे सब जगह देखने की आँख चाहिये। वह तो सब जगह है—धरती पर भी, आसमान में भी, उसे सब जगह देखने की हमारी आंख नहीं है। अन्धा संसार को न देख सके, तो इसमें संसार का दोष नहीं, अन्धे का दोष है, सुजाखा भगवान् को न देख सके, इसमें भगवान् का दोष नहीं, सुजाखे का दोष है क्योंकि बाहर की आँखों के होते हुए भी वह भीतर की आँखों को नहीं खोल सकता।१०।

भगवान् के दर्शन करने हों, तो इन आंखों से नहीं, मन से उसके दर्शन होते हैं—**'मनसा एव इदम् आप्तव्यम्'**, यहाँ—इस विश्व में—अनेकता का नियम नहीं, एकता का नियम काम कर रहा है—**'इह किंचन नाना न अस्ति'**। जहाँ हम नाना देखते हैं वहाँ गहरे में चले जायें, तो नाना ही एकता की तरफ़ खींच लाती है। प्रकृति के पदार्थ नाना हैं, अनेक हैं, परन्तु उनके कारण की खोज की जाय, तो सब एक हो जाते हैं। कोई समय था जब भारत के दार्शनिक पांच तत्त्व मानते थे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। यह उनके विचार का तरीका था। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने खोजा, तो पहले उन्होंने ११२ तत्त्व खोजे, ऐसे तत्त्व जो शुद्ध कहे जा सकते थे, ये नाना थे, परन्तु खोज चलती चली गई, अब ३ तत्त्व माने जा रहे हैं—इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन—ये भी सिर्फ़ एक विद्युत् के ही रूप हैं। भौतिक-जगत् में अनेकता में से एकता को पा लिया गया है। इसी प्रकार आध्यात्मिक-जगत् में भी अनेकता नहीं है—एक ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, संसार का भला भी एकता के दर्शन से ही हो

सकता हैं, जब हम नाना को, अनेकता को देखते हैं—**'य इह नाना इव पश्यति'**—तब मृत्यु के सिवाय कुछ हाथ नहीं आता—**'मृत्योः स मृत्युं आप्नोति'**। जीवन का गुर एकता में है, मृत्यु का मार्ग अनेकता में है। इसमें सन्देह नहीं कि उथले तौर पर देखने से हमें सब बिखरे दिखलाई देते हैं, परन्तु बिखरेपन को देखने में मृत्यु है, गहराई में जाकर देखें तो बिखरे मोती भौतिक तथा अध्यात्म सूत्र में पिरोये हुए हैं—अनेकता में एकता का सूत्र देखनेवाला जीवन के रहस्य को समझता है।११।

सृष्टि में परमात्मा का दर्शन तभी होता है जब **'नानात्व'**—अनेकता—की जगह एकता का दर्शन हो। परमात्मा को योग-दर्शन में पुरुष-विशेष कहा है—**'क्लेश कर्म विपाक आशयैः अपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः'**। वह पुरुष-विशेष कहाँ है? यमाचार्य कहते हैं कि ईश्वर—'पुरुष-विशेष'—मानव-शरीर में ही बैठा है—**'मध्ये आत्मनि तिष्ठति'**—वह कहीं दूर नहीं, अपने भीतर ही विद्यमान है, उसे ढूँढने के लिए बाहर नहीं जाना पड़ता, अपने भीतर जाना होता है। **'आत्मनि'** का अर्थ शरीर में भी है, आत्मा में भी हैं। शरीर में भी परमात्मा के दर्शन होते हैं, आत्मा में भी। कैसे? जैसे मुट्ठी में चारों तरफ़ घिरा हुआ अंगूठा—**'अंगुष्ठमात्रः'**—अर्थात्, अंगूठे जितना। शरीर या आत्मा में सारा-का-सारा परमात्मा कैसे समा जाएगा—**'मध्ये आत्मनि तिष्ठति'**—यह यहाँ कैसे घटेगा? हम अपने शरीर या आत्मा में परमात्मा के जितने स्वरूप को जान पाते हैं वह इतना ही है मानो हमने उसका अंगूठा मात्र पकड़ लिया। यह ठीक ऐसे है जैसे बालक अपने पिता की अंगुली पकड़कर समझ लेता है कि उसने अपने पिता को—सम्पूर्ण पिता को—पकड़कर उसका सहारा ले लिया।

परमात्मा मानव के हृदय में अंगूठे के बराबर विद्यमान है—यह यमाचार्य का कथन है। इसका भावार्थ समझ लेना चाहिये। इसमें दो बातें कही गई हैं। पहली यह कि वह 'अंगुष्ठ-मात्र' है, दूसरी यह कि वह हृदय में है। परमात्मा तथा आत्मा को उपनिषदों में ज्योति रूप कहा गया है। जैसे ज्योति छोटी हो बड़ी हो, दीपक की बत्ती के बराबर हो या मशाल जैसी हो, वह सारे मकान को प्रकाशित कर देती है, वैसे ही आत्मा 'अगुष्ठ-मात्र' भी क्यों न हो, सम्पूर्ण शरीर में चैतन्य-भाव संचारित कर देता है। 'अंगुष्ठ-मात्र' का यह अर्थ नहीं है कि उसका परिमाण अंगूठे जितना है। अगर वह अंगूठे जितना हो तब वह भौतिक

हो जाता है, आध्यात्मिक नहीं रहता। 'अंगुष्ठमात्र'-शब्द का यहाँ प्रयोग सिर्फ़ यह समझाने के लिये है कि परमात्मा का थोड़ा-सा भी ज्ञान सम्पूर्ण के ज्ञान के बराबर है। परमात्मा का हृदय में निवास है—यह कहने का इतना ही अर्थ है कि जिस प्रकार हम कहते हैं कि मेरे हृदय में प्रेम है, द्वेष है, इसी प्रकार परमात्मा का भाव भी हृदय में होता है।

परमात्मा भूत तथा भविष्यत् का शासक है—**'ईशानः भूत-भव्यस्य'**। संसार के हर पदार्थ में वह विद्यमान है, हर वस्तु का स्वामी है। संसार के हर पदार्थ से किसी-न-किसी समय ग्लानि हो जाती है, परन्तु जिसके सम्बन्ध में यह जान लिया जाय कि वह भगवान् हर वस्तु का स्वामी है उसके प्रति ग्लानि नहीं हो सकती—**'न ततः विजुगुप्सते'**। हे नचिकेता, यही वह ब्रह्म है जिसके प्रति तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'**।१२।

वह परमात्मा जिसे यमाचार्य ने अभी आत्मा में विद्यमान **'अंगुष्ठ-मात्रः पुरुषः'** कहा, ऐसी ज्योति है जिसमें धुएं का नामोनिशान नहीं—**'ज्योतिः इव अधूमकः'**। धुएं के बिना ज्योति का क्या अर्थ है? हम जहाँ भी आग जलाते हैं वहाँ आग के साथ धुआँ भी होता है। दीये की लौ में धुआँ, रसोई की आग में धुआँ, जहाँ-जहाँ आग हो वहाँ-वहाँ धुआँ, परन्तु परमात्मा एक ऐसी ज्योति है जहाँ उस ज्योति को मन्द या मिटा देने वाला धुआँ नहीं है। ज्योति के साथ धुएँ का क्यों साहचर्य दिखलाई देता है? ऐसा इसलिये दिखलायी देता है क्योंकि लकड़ी गीली होती है, उसमें पानी होता है। आग का काम ऊपर जाना, पानी का काम नीचे जाना है। परमात्म-ज्योति आग की ज्योति के समान है, वह ऊपर-ही-ऊपर ले जाती है, वह धूम्र-सहित ज्योति के समान नहीं है---वह अधूमक-ज्योति है, निर्मल ज्योति, शुद्ध ज्योति। वह भूत तथा भविष्यत् का स्वामी है—**'ईशानः भूत भव्यस्य'**; वही आज है, वही कल होगा, वह सनातन है—**'स एव अद्य स उ श्वः'**। हे नचिकेता, यही वह ब्रह्म है जिसके प्रति तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'**।१३।

वह एक है परन्तु अनेक दिखलाई देता है। जिस प्रकार ऊँचे दुर्गमनीय शिखर पर बरसा हुआ पानी—**'यथा उदकं दुर्गे वृष्टं'**, पर्वतों के भिन्न-भिन्न मार्गों में भागता फिरता है—**'पर्वतेषु विधावति'**, परन्तु पानी भिन्न नहीं होता, एक ही होता है, भिन्न-भिन्न नालों से वह भिन्न-भिन्न दिखलाई देता है, इसी प्रकार परमात्मा की सृष्टि

में 'प्रकृति' तथा 'शक्ति' के भिन्न-भिन्न रूपों को देखकर—**'एवं धर्मान् पृथक् पश्यन्'**, मनुष्य सृष्टि में व्याप रहे एकता के सूत्र को भुलाकर पृथक्ता—अनेकता—के पीछे भागा फिरता है—**'तान् एव अनुधावति'** —यद्यपि मूल रूप में एक ही शक्ति काम कर रही होती है।१४।

जैसे शुद्ध जल शुद्ध जल में मिला दिया जाय, तो वह शुद्ध अर्थात् वैसा ही बना रहता है—**'यथा उदकं शुद्धे आसिक्तम् तादृग् एव भवति'**, और अशुद्ध में मिला दिया जाय तो अशुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार हे गौतमवंशीय नचिकेता, जानकार व्यक्ति को—**'एवं मुनेः विजानतः'**—समझ लेना चाहिये कि शुद्ध आत्मा का 'परमात्मा' से सम्पर्क होगा तो आत्मा शुद्ध रहेगा; शुद्ध आत्मा का अशुद्ध 'प्रकृति' से सम्पर्क होगा तो आत्मा में भी अशुद्धता आ जायगी—**'आत्मा भवति गौतम'**।

हम प्रकृति के विषयों में फंसे रहते हैं इसलिये आत्मा पर विषयों की वासनाएं ही छायी रहती हैं। अगर विषयों को छोड़कर परमात्मा के ध्यान में जीवन बिताने लगें, तो परमात्मा के गुण हमारे जीवन में उतरने लगेंगे।१५।

पंचमी वल्ली

हमारा शरीर ग्यारह द्वारों वाला एक नगर है—**'पुरम् एकादश द्वारम्'**। नगर में आने-जाने के अनेक मार्ग होते हैं। शरीर रूपी नगर में विहार करने के, हे नचिकेता, ग्यारह मार्ग हैं। वे मार्ग हैं—दो आँखें, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक तालु, एक नाभि, एक मल त्यागने का मार्ग, एक मूत्र त्यागने का मार्ग। इन ११ मार्गों वाले शरीर रुपी नगर में हमारा सारा कारोबार चलता है। परन्तु अगर इस नगर में कोई न रहता हो, तो नगर किस काम का? नगर नगर में नहीं रहता, इस नगर में हम रहते हैं, नगर हमारे रहने के लिए है, हम न रहें तो नगर निरर्थक हो जाता है। यह नगर है अ-वक्रचित्त, अज आत्मा का—**'अजस्य अवक्रचेतसः'**। इस कथन में आचार्य यम ने दो बातें कहीं। एक तो यह कि शरीर एक नगर के समान है, दूसरी यह कि इसका मालिक 'अज' तथा 'अ-वक्रचित्त' है। शरीर एक नगर के समान कैसे है। नगर में हज़ारों-लाखों लोग रहते हैं। शरीर की रचना में लाखों नहीं करोड़ों कोष्ठक हैं जो नगर के भिन्न-भिन्न निवासियों की तरह

स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हैं। इन सब के एक-साथ मिलकर रहने से ही इस शरीर रूपी नगर का समाज बनता है। नगर की व्यवस्था करने के लिए म्युनिसिपैलिटियां बनी होती हैं, उसी प्रकार शरीर रूपी नगर की व्यवस्था मस्तिष्क द्वारा होती है। इस नगर की सफ़ाई के लिये त्वचा से पसीना, गुदा-द्वार से मल, मूत्राशय से मूत्र बाहर निकलता रहता है। इस नगर का मालिक 'अज' तथा 'अ-वक्रचित्त' आत्मा है। वह 'अज' क्यों है? 'अज' का अर्थ है—अजन्मा। अगर इसका मालिक अजन्मा न हो, तो वह भी नगर का एक अंग हो जाय—नगर जन्मता है, इसका मालिक जन्मता नहीं, अजन्मा है, अज है। जन्मने वाला जन्मने वाले का मालिक नहीं हो सकता, अगर हो तो उसका मालिक कौन है? इसी को कहा है—**'संघात परार्थत्वात्'**—जो अवयवों से बना है, वह निरवयव के लिये ही होता है, जो जन्मा है वह अजन्मे के लिए होता है—यह सृष्टि का नियम है। शरीर रूपी नगर का मालिक जो 'अज' है, वह 'अ-वक्रचित्त' भी है—'अ-वक्रचित्त', अर्थात् सरल-स्वभाव, उसमें टेढ़ा-मेढ़ापन नहीं है। टेढ़ा-मेढ़ापन-चित्त—इस प्रकरण में मन का गुण है। 'वक्र'—अथात् टेढ़ा, दुष्ट, शरारती, जो सीधे रास्ते न चले। मन दो रास्तों में से किसी एक रास्ते से चल सकता है—सरल, सीधा, उचित या ठीक; विषम, टेढ़ा, अनुचित या ग़लत। भगवान् ने हमें सीधे रास्ते से चलने को भेजा है, उल्टे रास्ते से चलने को नहीं, परन्तु मनुष्य अवक्र-गति के स्थान में वक्र-गति से चलने लगता है। जब वह 'अ-वक्रचित्त' होने का रास्ता अपनाता है, तब उसे कोई कष्ट नहीं होता—**'अवक्रचित्तं अनुष्ठाय न शोचति'**; तब वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर दुःख से छूट जाता है—**'विमुक्तश्च विमुच्यते'**। हे नचिकेता, जिस शरीरस्थ आत्मा के विषय में तूने पूछा था वह इस प्रकार का है—**'एतत् वै तत्'**।१।

यह जीवात्मा 'हंस' है, 'वसु' है, 'होता' है, 'अतिथि' है। 'हंस' जिस प्रकार शुद्ध, पवित्र, धवल है, वैसे हंस-रूप जीव शुद्ध ब्रह्म में निवास करता है—**'हंसः शुचिषद्'**; 'वसु' जैसे अन्तरिक्ष में निवास करते हैं, वैसे वसु-रूप जीव हृदय रूपी अन्तरिक्ष में निवास करता है—**'वसुः अन्तरिक्षसद्'**; 'होता' जैसे यज्ञ की वेदी के सामने बैठ कर अग्नि-होत्र करता है, वैसे होतृ-रूप जीव तीनों नाचिकेत-अग्नियों को अपने भीतर प्रदीप्त करता है—**'होता वेदिषद्'**; 'अतिथि' जैसे दुरोण को—

गृहस्थी के घर को—अपना मानकर नहीं बैठ जाता, अतिथि रूप में रहता है और कुछ दिन बाद चल देता है, वैसे अतिथिरूप जीव इस नर-देह को सदा के लिए अपना समझकर नहीं बैठ रहता, जीवन में आगे-आगे विकास का प्रयत्न करता है—**'अतिथिः दुरोणसद्'**। जो जीवात्मा अपने को 'हंस', 'वसु', 'होता' और 'अतिथि' समझ कर जीवन बिताता है, वह उत्तरोत्तर विकास करता जाता है। वह 'नर-देह' से जीवन-यात्रा प्रारम्भ करता है—**'नृषद्'**, नर से अच्छे देह में पहुंचता है—**'वरसद्'**, इस प्रकार क्रमिक-विकास के मार्ग पर चलता हुआ वह वर-देह से **'ऋत-देह'** में वास करता है—**'ऋतसद्'**, अर्थात् सत्य उसके जीवन का आदर्श हो जाता है, उसके बाद वह सत्य से भी उत्कृष्ट-जीवन बिताने लगता है, इतना उत्कृष्ट, इतना ऊँचा जितना यह व्योम अर्थात् आकाश है—**'व्योमसद्'**। संसार के प्राणी जल में उत्पन्न होते है—**'अप् जाः'**, पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं—**'गो जाः'**, पहाड़ों पर उत्पन्न होते हैं—**'अद्रि जाः'**। ये सब उस सत्य स्वरूप पर-ब्रह्म की व्यवस्था से ही जन्म धारण करते हैं—**'ऋत जाः'**। उस 'ऋत'—भगवान् की यह व्यवस्था, उसके ये नियम महान् हैं, व्यापक हैं—**'ऋतं बृहत्'**। यमाचार्य कहते हैं कि पृथिवी, जल, पर्वत, आकाश, ऊँचे-नीचे, यहाँ-वहाँ—सब जगह उसी पर-ब्रह्म के अखंड नियम काम कर रहे हैं, उन्हीं नियमों के अनुसार जीवन ढालने से मानव का क्रमिक-विकास सम्भव है।

यमाचार्य ने हंस के साथ शुचिषद्, वसु के साथ अन्तरिक्षसद्, होता के साथ वेदिषद् तथा अतिथि के साथ दुरोणसद् का जो जोड़ा बनाया है, वह अत्यन्त अर्थपूर्ण है क्योंकि हंस का शुभ्रता से, वसु का अन्तरिक्ष से, होता का यज्ञ की वेदी से और अतिथि का निवास से विशेष सम्बन्ध स्पष्ट है।

जीवन की यात्रा का क्रम 'हंस', 'वसु', 'होता' तथा 'अतिथि'—इस प्रकार है। हंस प्रतिनिधि है सरलता का, शुद्धता का, शुचि का—इसीलिए इसे शुचिषद् कहा। यह जीवन की प्रथम अवस्था को, 'ब्रह्म-चर्य-आश्रम' को सूचित करता है जब बालक हंस की तरह सरल, शुद्ध, शुचि होता है—इसे यमाचार्य ने नृषद् कहा है—यह वह अवस्था है जिसमें मनुष्य नर बनने की स्थिति में है। हंस के बाद जीवन-यात्रा का दूसरा पड़ाव वसु कहलाता है। वसु का अर्थ है—बसना या बसाना।

पच्चीस वर्ष के ब्रह्मचारी को भी वसु कहा जाता है। बसना या बसाना 'गृहस्थाश्रम' को सूचित करता है। इसे वसु इसलिये कहा है क्योंकि वसु का लक्ष्य स्वयं बसना ही नहीं, दूसरों को बसाना भी है—**'वसुः कस्मात् वसति वासयते वा'**—बसता है और बसाता है, स्वार्थ में ही नहीं रहता, परार्थ भी करता है। जीवन-यात्रा में तीसरी अवस्था को यमाचार्य ने होता कहा है। इस अवस्था में मनुष्य का आदर्श अपने जीवन को समाज के लिए होम देना है—जीवन का यज्ञमय हो जाना है। यह जीवन का 'वानप्रस्थ-आश्रम' है जब वह संसार को निकटता से देखकर उसे छोड़ने के रास्ते पर चल पड़ता है। अन्त में जीवन का यह यात्री चौथी अवस्था में आ जाता है जिसे अतिथि अवस्था कहा है। इस अवस्था में आकर वह संसार में अतिथि की तरह विचरने लगता है। अतिथि का अर्थ है जिसकी कोई तिथि न हो, वह अपने को संसार में मेहमान समझने लगता है। यह 'संन्यास-आश्रम' को सूचित करता है। यमाचार्य ने जीवन के इन चार आश्रमों को क्रमशः नर-देह, वर-देह, ऋत-देह तथा व्योम-देह का नाम दिया है। ब्रह्मचर्याश्रम नर-देह है, इसलिये नर-देह है क्योंकि इससे नीचे की दशा तो पशु की दशा है, इसके नीचे पशु-देह है। ब्रह्मचर्याश्रम पूरा करने के बाद गृहस्थाश्रम को वर-देह कहा है क्योंकि नर-देह से यह अगला कदम है। वानप्रस्थाश्रम को ऋत-देह कहा है। ऋत का अर्थ है—**'निरपेक्ष सत्य'**। इस अवस्था में वह समझ जाता है कि संसार के विषय 'ऋत' नहीं, ब्रह्म ही 'ऋत' है, निरपेक्ष सत्य है। संन्यासाश्रम को व्योम-देह कहा है। इस आश्रम में वह व्योम—अर्थात् अन्तरिक्ष के समान ऊँचा और अपने पास कुछ न रखने वाला हो जाता है। इस प्रकार जो व्यक्ति आत्मा को रथी—रथ का मालिक—और शरीर को रथ के समान समझ कर, और जीवन को चारों आश्रमों की यात्रा मान कर, इस यात्रा को निभाता है वह ज्ञानात्मा से महानात्मा, महानात्मा से शांतात्मा हो जाता हे। उसी में तीनों नाचिकेत-अग्नियाँ प्रदीप्त होती हैं, और वही ज्ञानी मनुष्य ब्रह्म-यज्ञ के वास्तविक अर्थ को समझता है।२।

आत्मा को 'अंगुष्ठ-मात्र' कहा है। वही आत्मा शरीर के भीतर मध्य-भाग में आसीन है। मध्य-भाग के ऊपर प्राण-वायु है जिसे आत्मा ऊपर की तरफ़ उठाता है—**'ऊर्ध्वं प्राणं उन्नयति'**; मध्य-भाग के नीचे अपान-वायु है जिसे आत्मा नीचे की तरफ़ फेंकता है—**'अपानं प्रत्यग्**

अस्यति' । प्राण और अपान के बीच में—शरीर के मध्य-भाग में—यह छोटा-सा, वामन, अंगुष्ठमात्र आत्मा बैठा है—**'मध्ये वामनम् आसीनं'**, जिसे सब इन्द्रियां नमस्कार करती हैं—**'विश्वे देवाः उपासते'** । वामन का अर्थ सुन्दर भी है । मनुष्य का जीवन प्राण-शक्ति तथा अपान-शक्ति से बंधा हुआ है । प्राण-शक्ति का अर्थ है—जीवनी-शक्ति की संचय-शक्ति (Anabolic process), अपान-शक्ति का अर्थ है जीवनी-शक्ति की अपचय-शक्ति (Ketabolic process) । शरीर में इन दो शक्तियों के माध्यम से—संचय-अपचय से—जीवनी-शक्ति बनी रहती है, सभी इन्द्रियों में यह प्रक्रिया चलती है । इसका संचालन यह अंगुष्ठ-मात्र पुरुष—वामन—ही करता है ।३।

शरीर में स्थित यह 'देही'—जीवात्मा—जब शरीर में से सरकने लगता है—**'अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः'**, और शरीर का विमोचन कर देता है—**'देहात् विमुच्यमानस्य'**, तब यहाँ क्या शेष रह जाता है—**'किं अत्र परिशिष्यते'** । हे नचिकेता, यही वह आत्मा है जो शेष रह जाता है, जिसके विषय में तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'** ।४।

जब शरीर में से जीवात्मा निकल जाता है, तब यह शरीर मट्टी हो जाता है, प्राण-अपान भी कुछ नहीं कर सकते, इसलिए हे नचिकेता, तू यह समझ ले कि यह मरण-धर्मा शरीर न प्राण से—**'न प्राणेन'**, न अपान से जीता है—**'न अपानेन जीवति'** । तो फिर किससे जीता है ? प्राण-अपान से जो इतर है, भिन्न है, उस आत्मा से जीता है—**'इतरेण तु जीवन्ति'** । उस आत्मा पर ही ये दोनों, प्राण तथा अपान, आश्रित हैं, टिके हुए हैं—**'यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ** ।५।

हे गौतमवंशीय नचिकेता, वह गुह्य, सनातन ब्रह्म—**'गुह्यं ब्रह्म सनातनम्'**, तथा मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है—**'यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति'**—इस बात के विषय में अब तुझे बतलाऊंगा—**'हन्त ते इदं प्रवक्ष्यामि'** ।६।

मृत्यु के उपरान्त, जिनका जैसा कर्म होता है—**'यथा कर्म'**, तथा जिनका जैसा ज्ञान होता है—**'यथा श्रुतम्'**, उसके अनुसार देहधारी जीव नया शरीर धारण करने के लिए—**'शरीरत्वाय देहिनः'**, भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त होते हैं—**'योनिं अन्ये प्रपद्यन्ते'**, और कितने ही स्थाणुभाव को प्राप्त होते हैं—**'स्थाणुं अन्ये अनुसंयन्ति'** ।७।

आत्मा का मृत्यु के उपरान्त क्या होता है—यह बतलाकर यमाचार्य परमात्मा—ब्रह्म—के विषय में कहते हैं : जब सारी सृष्टि प्रलय-काल में सो जाती है, तब भी जो जागता रहता है—**'यः एषः सुप्तेषु जागर्ति'**, और जो वस्तु जैसी होनी चाहिए उसका वैसा ही निर्माण करता रहता है—**'कामं कामं निर्मिमाणः'**, वही शुद्ध स्वरूप—**'तदेव शुक्रं'**, वही ब्रह्म—**'तदेव ब्रह्म'**, वही अमृत—**'तदेव अमृतं'**—कहा जाता है—**'उच्यते'**। उसी में चराचर जगत् के सब लोक टिके हुए हैं—**'तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे'**, उससे कोई बढ़-चढ़ कर नहीं है—**'तत् उ न अति एति कश्चन'**। हे नचिकेता, यही है वह परमेश्वर जिसके विषय में तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'**।

'यः एषः सुप्तेषु जागर्ति'—जो सोते हुओं में भी जागता रहता है—यमाचार्य का यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है। 'शरीर' सो जाता है, परन्तु उसके भीतर कोई तत्त्व है जो जागरूक रहता है; 'प्रकृति' सो जाती है, परन्तु उसके भीतर भी कोई तत्व है जो नहीं सोता। यह जो शरीर के सो जाने पर भी जागरूक है, यह जो सृष्टि के प्रलय में विलीन हो जाने पर भी विलीन नहीं होता—हे नचिकेता, यही तो शरीर में आत्मा है, सृष्टि में परमात्मा है। उपनिषदों में **'शरीर की चार अवस्थाओं'** तथा **'चेतना के चार स्थानों'** का वर्णन है। जो शरीर में है वही सृष्टि में है। ये चार हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। शरीर या सृष्टि की जब जाग्रत् अवस्था होती है, तब चेतना का जाग्रत् स्थान होता है। शरीर की जाग्रत् अवस्था क्या है? हम चलते-फिरते हैं, खाते हैं, काम-काज करते हैं—यह शरीर की जाग्रत् अवस्था है। शरीर की इस अवस्था में शरीर की चेतना का स्थान अंग-प्रत्यंग में है जिनसे हम काम लेते हैं। चेतना का वहाँ स्थान न हो, तो हिलना-जुलना, दौड़ना-धूपना न हो सके। उस समय चेतना हमारे अंगों में जाग रही होती है। सृष्टि में चेतना का जाग्रत् स्थान वह है जिसमें संसार का कारो-बार चलता है। जब सृष्टि का कारोबार चल रहा होता है, तब सृष्टि की जाग्रत्-अवस्था होती है, और चेतना का जाग्रत्-स्थान होता है। तब चेतना सृष्टि के भिन्न-भिन्न रूपों में आ बैठती है। हिमालय पर्वत, गहन गम्भीर समुद्र, आकाश में देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र-तारे—इन सब में चेतना प्रत्यक्ष जाग रही होती है। इनका जो वैभव हमें दीखता है वह चेतना का जागरण है। शरीर तथा सृष्टि के जाग्रत्

की तरह इनका स्वप्न भी होता है—ये सो भी जाते हैं जिसमें चेतना जागती रहती है। शरीर की स्वप्नावस्था में चेतना का स्वप्न-स्थान वह है जब हम शरीर से तो सो जाते हैं, परन्तु स्वप्न में संसार के सब काम-धंधे करते हैं। स्वप्न का जागरण इतना प्रबल होता है कि स्वप्न लेने वाले को कभी भ्रम नहीं होता कि यह स्वप्न है। स्वप्न में अगर कभी भ्रम हो जाय कि यह भ्रम है, मैं स्वप्न तो नहीं ले रहा, तो स्वप्न लेने वाला अपने को कहता है कि मेरे जानते-बूझते यह सब हो रहा है, यह भ्रम कैसे हो सकता है। स्वप्न में आदमी उड़ता है और कहता जाता है—कितना कमाल हो गया, स्वप्न देखता हुआ कहता है—मैं जाग रहा हूँ—कोई है जो सोते में जागता है। सृष्टि की स्वप्नावस्था तब होती है जब प्रकृति कार्य रूप में न रहकर कारण रूप में होती है। हिमालय, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारे—ये सब कार्य रूप हैं, जब ये इस प्रकार स्थूल रूप में नहीं थे, सूक्ष्म रूप में थे, जब इनका किसी शक्ति के सामने सिर्फ़ ब्ल्यू-प्रिंट था, ये बने नहीं थे परन्तु सूक्ष्म में बने थे, तब सृष्टि स्वप्नावस्था में थी, परन्तु तब सृष्टि में विद्यमान चेतना का स्वप्न-स्थान था। तब सृष्टि सो रही थी, चेतना जाग रही थी। उस समय सृष्टि कार्य रूप में न होकर कारण रूप में थी—ऐसा कारण-रूप जिसमें घट-पट आदि स्थूल आकार मिट जाते हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप में उनकी संभावना बनी रहती है। जिसके ध्यान में सूक्ष्म-प्रकृति से स्थूल-विकार बन सकने की सम्भावना मौजूद रहती है, वही, सृष्टि के सो जाने, प्रलय में विलीन हो जाने पर भी स्वप्न-स्थान में बैठा जागता रहता है। जाग्रत् तथा स्वप्न के बाद शरीर की सुषुप्तावस्था होती है। जाग्रत् में चेतना ने अंग-प्रत्यंग में अपना स्थान बना लिया था, स्वप्न में चेतना अन्दर को मुड़ जाती है, स्वप्न में अपना स्थान बना लेती है, सुषुप्ति में जाग्रत् को छोड़ देती है, स्वप्न को छोड़ देती है, और भीतर चली जाती है। जब चेतना जाग्रत् को खो देती है, स्वप्न को खो देती है, तब भी जागने से हट कर, स्वप्न से हट कर मिट नहीं जाती, बनी रहती है क्योंकि सुषुप्ति से लौटकर सोने वाला कहता है—बड़ा आनन्द आया। सुषुप्ति से लौट आने पर आनन्द का स्मरण करने वाला सुषुप्ति में सो नहीं गया था, भरपूर जाग रहा था, अखंड, आनन्द के स्रोत में गोते लगा रहा था। उस समय उसका जाग्रत् से सम्बन्ध टूट गया था, स्वप्न से सम्बन्ध टूट गया था, वह अपनेपन में आ रहा था—

उसी आनन्द को तो सुषुप्ति से लौट कर यह स्मरण करता है, इसलिए स्मरण करता है क्योंकि उस समय यह सोते हुए शरीर से विलग हो गया था। सारा दुःख तो शरीर का था, शरीर के दुःख को यह अपने ऊपर ओढ़े फिरता था। बिलगपना आया, स्वरूप में यह गया, दुःख छूटा—उसी का यह स्मरण कर रहा है। उस समय सोते हुए भी जाग रहा था। सृष्टि की सुषुप्तावस्था वह है जब प्रकृति साम्यावस्था में आ जाती है, अपने सब आकारों—ब्ल्यू-प्रिंटों—को खोकर प्रलयावस्था में आ जाती है। उस समय प्रलयावस्था जिसके सहारे टिकी रहती है, प्रकृति का जो अधिष्ठाता है—चैतन्यस्वरूप—वह सुषुप्त-स्थान में विराजमान होता है, यह उसका जागरण है। सृष्टि की सुषुप्तावस्था चेतना का जागरण स्थान न हो, तो सृष्टि टिक नहीं सकती—न जाग्रत् में, न स्वप्न में, न सुषुप्ति में। संसार में जो-कुछ टिका हुआ है चैतन्य के आसरे टिका हुआ है, कोई थामने वाला है तभी सब-कुछ थम रहा है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के बाद तुरीय है—तुरीय, अर्थात् चतुर्थ अवस्था या स्थान। शरीर तथा सृष्टि की तुरीय-अवस्था एवं चेतना का तुरीय-स्थान वह है जिसमें न जाग्रत् रहता है, न स्वप्न रहता है, न सुषुप्ति रहती है, जब शरीर की तथा सृष्टि की चेतना इन तीनों को छोड़ कर अपने शुद्ध, चैतन्य रूप में आ जाती है, उस समय चेतना शरीर से पृथक्, प्रकृति से पृथक् अपने-आप में प्रतिष्ठित हो जाती है। जब चेतना की अनुभूति शरीर से पृथक्, स्वरूप में प्रतीत होने लगती है, तब उस जागरूक चेतना को उपनिषत्कार 'आत्मा' कहता है, उसे ही **'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'** कहा है; जब चेतना की अनुभूति प्रकृति से, सृष्टि से पृथक्, स्वरूप में प्रतीत होने लगती है, तब उस जागरूक चेतना को उपनिषत्कार ने 'परमात्मा' कहा है, उसे ही **'क्लेश कर्म विपाक आशयैः अपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः'** कहा है, तब शरीर तथा सृष्टि को अनुप्राणित करने वाला चैतन्य गुण तुरीय-स्थान में मिलता है—हे नचिकेता, इसी को जान लेना आत्मा तथा परमात्मा का दर्शन है।

शरीर में चेतना के ये रूप हम प्रतिदिन अपने जीवन में देखते हैं। उन्हें देखकर सृष्टि में भी ये रूप हैं—ऐसी प्रतीति का यमाचार्य ने नचिकेता को अनुभव कराया।८।

हे नचिकेता, आत्मा की शरीर से तथा परमात्मा की सृष्टि से पृथक्, स्वतन्त्र सत्ता है; जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में विचरण करता हुआ भी इन तीनों से अलग चेतन-शक्ति है जिसका तुरीय में बोध होता है, वह ठीक ऐसे है जैसे अग्नि एक होती हुई भी—**'अग्निः यथा एकः'**, संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रविष्ट होती हुई भी—**'भुवनं प्रविष्टः'**, उन पदार्थों का रूप धारण कर लेती है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**; इसी प्रकार यह परमात्मा एक होता हुआ भी सब भूतों—पदार्थों—के अन्दर मौजूद रहता है—**'एकः तथा सर्वभूत अन्तरात्मा'**, उन पदार्थों का मानो रूप धारण कर लेता है, और क्योंकि वह चेतना सर्वव्यापक है, संसार के अणु-अणु में मौजूद है इसलिये उन पदार्थों के बाहर भी वर्तमान रहती है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपः बहिश्च'** ।९।

हे नचिकेता, अग्नि की तरह वायु भी जैसे एक होती हुई—**'वायुः यथा एकः'**, संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों में प्रविष्ट होती हुई—**'भुवनं प्रविष्टः'**, उन पदार्थों का रूप धारण कर लेती है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**, इसी प्रकार वह परमात्मा एक होता हुआ भी सब भूतों—पदार्थों—के अन्दर मौजूद रहता है—**'एकः तथा सर्वभूत अन्तरात्मा'**, उन पदार्थों का मानो रूप धारण लेता है, और क्योंकि वह चेतना सर्व-व्यापक है, संसार के अणु-अणु में मौजूद है इसलिये उन पदार्थों के बाहर भी वर्तमान रहती है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च'** ।१०।

हे नचिकेता, सूर्य जैसे सब लोकों का प्रकाशक है—उनकी मानो आंख है—**'सूर्यः यथा सर्व लोकस्य चक्षुः'**, परन्तु हमारी आंखों के दोषों से वह लिप्त नहीं होता—**'न लिप्यते चाक्षुषैः बाह्य दोषैः'**, इसी प्रकार परमात्मा एक होता हुआ भी सब भूतों—पदार्थों तथा प्राणियों—के भीतर मौजूद रहता हुआ भी—**'एकः तथा सर्वभूत अन्तरात्मा'**, उनके दुःखों से लिप्त नहीं होता—**'न लिप्यते लोकदुःखेन'**, क्योंकि वह उनके भीतर मौजूद होता हुआ भी उनसे बाहर है—**'बाह्यः'** ।११।

हे नचिकेता, सब भूतों—पदार्थों तथा प्राणियों—को वश में रखने वाली चेतन-शक्ति एक है—**'एकः वशी'**, वही सब भूतों के भीतर बैठी है—**'सर्वभूत अन्तरात्मा'**, अन्दर बैठी वह उनके नाना रूपों का भीतर से निर्माण कर रही है—**'रूपं रूपं बहुधा यः करोति'** । जीवात्मा के भीतर भी वह परमात्म-शक्ति बैठी है, वह शरीरस्थ ही नहीं, आत्मस्थ भी है । उस शरीरस्थ तथा आत्मस्थ परमात्म-शक्ति को जो धीर पुरुष

देख लेते हैं—**'तं आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः'**, उन्हीं को शाश्वत—निरन्तर—सुख प्राप्त होता है—**'तेषां सुखं शाश्वतं'**, दूसरों को नहीं—**'न इतरेषाम्'** ।१२।

हे नचिकेता, सृष्टि को दो भागों में देखा जा सकता है—निर्जीव तथा सजीव । निर्जीव में पृथिवी, द्यौ तथा अन्तरिक्ष हैं, सजीव में प्राणी हैं । पृथिवी पर अग्नि, द्यौ में वायु, अन्तरिक्ष में सूर्य—ये तीन निर्जीव-सृष्टि के प्रतिनिधि हैं, इन तीनों में परमात्मा बैठा हुआ इनको वश में रख रहा है—**'वशी'** है, प्राणियों में जीवात्मा है, उसमें भी वही भगवान् विद्यमान है—इनके भीतर ही नहीं, बाहर भी वही विद्यमान है, वही इनके नाना रूपों का निर्माण करता है । भौतिक-जगत्—अग्नि, वायु, सूर्य तथा आध्यात्मिक-जगत्—जीवात्मा, इन सबमें वही है, भौतिक-जगत् में नानात्व—**'रूपं रूपं'**—वही करता है, आध्यात्मिक-जगत् में वही जीवात्मा में स्थित है—**'आत्मस्थ'** है । इनके भीतर भी वही, इनके बाहर भी वही ।

नित्यों में वही एकमात्र नित्य है—**'नित्यः नित्यानाम्'**, चेतनों में वही एकमात्र चेतन है—**'चेतनः चेतनानाम्'**, अनेकों में वही एकमात्र एक है—**'एकः बहूनाम्'**, हमारी कामनाओं को वही-एक पूर्ण करने वाला है—**'यः विदधाति कामान्'** । उस आत्मा में स्थित भगवान् को जो धीर पुरुष देख पाते हैं—**'तं आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः'**, उन्हें शाश्वत—निरन्तर-शान्ति—प्राप्त होती है—**'तेषाम् शान्तिः शाश्वती'**, दूसरों को नहीं—**'न इतरेषाम्** ।१३।

यमाचार्य ने परमात्मा के सम्बन्ध में नचिकेता को जो-कुछ कहा—परमात्मा को सर्वत्र जान कर जिस प्रकार शान्ति प्राप्त होती है—यह-सब सुनकर वह मन-ही-मन सोचने लगा—हे आचार्य, आप अब तक कहते रहे—**'एतत् वै तत्'**—वह परमात्मा ऐसा है जिसके विषय में मैंने पूछा था । ठीक है, वह ऐसा है—**'तत् एतत्'**—इस प्रकार परमात्म-ज्ञानी उसे मानते हैं—**'इति मन्यन्ते'**, वह ऐसा होते हुए भी अनिर्वचनीय है—**'अनिर्देश्यम्'**, उसे जानकर परम सुख प्राप्त होता है—**'परम् सुखम्'**, परन्तु मेरे भीतर प्रश्न उठ रहा है कि मैं उसे कैसे जानूँ—**'कथं नु तत् विजानीयाम्'** । नचिकेता के मन की शंका है—क्या वह प्रकाशित होता है—**'किम् उ भाति'**, या अनुभव में आता है—**'विभाति वा'** ।

प्रकाशित होने तथा अनुभव में आने में भेद है । प्रकाशित होने में

दूसरे की अपेक्षा है, अनुभव में आने में दूसरे की अपेक्षा नहीं है। रात्रि के समय हम सभा-भवन में बैठे हैं, बिजली की रोशनी हो रही है। सभा-भवन में जो बैठे हैं उन्हें बिजली की रोशनी प्रकाशित कर रही है। बत्ती बुझ जाय, तो जो-कुछ प्रकाशित हो रहा था वह अन्धेरे में विलीन हो जाता है, परन्तु अपने प्रति अनुभव बना रहता है। अनुभव में बाहर के प्रकाश की ज़रूरत नहीं रहती, अनुभव स्वतः प्रकाश है। नचिकेता के मन में शंका है कि परमात्मा को कैसे जानूँ। क्या मन्दिर में जाऊँ, मस्जिद में जाऊँ, गिरजे में जाऊँ, वहाँ परमात्मा के दर्शन मिलेंगे या उसका दर्शन आत्मानुभूति की तरह अपने भीतर खोजूँ ?

यमाचार्य कहते हैं, नहीं, उसे खोजने के लिये बाहर के प्रकाश की ज़रूरत नहीं है, वहाँ न सूरज की रोशनी की ज़रूरत है, न चाँद, न तारों, न विद्युत् की रोशनी काम देती है—**'न तत्र सूर्यः भाति, न चन्द्र-तारकं, न इमाः विद्युतः भान्ति'**। वह इन रोशनियों का विषय नहीं है, आग की तो बात ही क्या है—**'कुतः अयं अग्निः'** ? इन सबमें प्रकाश तो उसी से आता है, इनसे उसको नहीं देखा जाता, उससे इनको देखा जाता है—उसके प्रकाश को लेकर ये प्रकाशमान हैं—**'तं एव भान्तं अनुभाति सर्वं'**,उसका प्रकाश सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत्, अग्नि को प्रकाशमान कर रहा—**'तस्य भासा सर्वं इदं विभाति'**। उसकी ज्योति न हो, तो न सूर्य में ज्योति रहेगी, न चांद में, न तारों में, न विद्युत् में, न अग्नि में। इसलिये बाहर के प्रकाश से वह नहीं जाना जाता, भीतर के प्रकाश से—अन्तरात्मा के अनुभव से ही उसे जान पाते हैं जैसे बत्ती के बुझ जाने पर भी हमें अपना प्रतीति-जन्य ज्ञान बना रहता है। इसलिये, हे नचिकेता, तू परमात्मा के ज्ञान के लिये बाहर के प्रकाशक साधनों पर आश्रित न रह कर भीतर की ज्योति से उसके दर्शन कर, वह बाहर के साधनों का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है।१५।

षष्ठी वल्ली

नचिकेता सोचता है कि सृष्टि में परमात्मा नहीं दीखता, न अनुभव में आता है—फिर परमात्मा की बात ध्यान में नहीं बैठती। यमाचार्य कहते हैं—नहीं दीखता, नहीं अनुभव में आता क्योंकि संसार तो है ही उल्टा। संसार तो ऐसा बना है कि जो दीखता है वह ग़लत है, जो नहीं दीखता वह सही है—सब-कुछ उल्टा है। नदी के पास पेड़ खड़ा हो, तो

जड़ ऊपर दीखती है, शाखाएँ नीचे दीखती है, शीशे में मुख देखें तो दायां बायीं तरफ़ और बायां दायीं तरफ़ दीखता है। प्रतिबिम्ब सदा उल्टा होता है। संसार का भी तो आंख में प्रतिबिम्ब पड़ता है। संसार में प्राकृतिक-पदार्थ दीखते हैं, परमात्मा नहीं दीखता, प्राकृतिक सत्य प्रतीत होता है, परमात्मा असत्य प्रतीत होता है। असलीयत उल्टी है। प्राकृतिक-पदार्थ असत्य हैं, परमात्मा सत्य है। यह संसार एक सनातन 'अश्वत्थ'-वृक्ष के समान है जिसकी जड़ ऊपर है, शाखाएँ नीचे हैं— **'ऊर्ध्व मूलः अवाक्शाखः एषः अश्वत्थः सनातनः'**। यह 'अश्वत्थ' इसलिये है क्योंकि आज है, कल नहीं है—'अ' अर्थात् नहीं, 'श्वः' अर्थात् कल—जो कल तक स्थित नहीं रहता वह 'अश्वत्थ' है। इसके अतिरिक्त यह संसार उल्टे वृक्ष के समान है। वृक्ष की जड़, उसका मूल नीचे होता है शाखाएं ऊपर होती हैं, परन्तु भगवान् तथा प्रकृति से बना यह संसार रूपी वृक्ष उल्टा है। भगवान् जो संसार-वृक्ष का मूल है, उसे ऊपर समझ लो, प्रकृति जो संसार-वृक्ष की शाखाएं हैं, उन्हें नीचे समझ लो, तो सत्य का स्वरूप निखर आता है। हम प्रकृति तथा भगवान् को साधारण वृक्ष की तरह समझे बैठे हैं जिसकी जड़ नीचे और शाखाएं ऊपर हैं। परन्तु संसार की असलीयत तो इससे उल्टी है। इस अद्भुत वृक्ष की जड़ ऊपर है, इसकी शाखाएं नीचे हैं—भगवान् संसार रूपी वृक्ष का मूल है, प्रकृति अपने फैलाव के साथ इस वृक्ष की टहनियां हैं। ब्रह्माण्ड में जो है वही तो पिंड में है। पिंड में सिर जो सारे शरीर का नियंत्रण करता है वह ऊपर है, हाथ-पैर जो इस शरीर रूपी वृक्ष की शाखाएं हैं वे नीचे हैं। अश्वत्थ-वृक्ष को उल्टा खड़ा कर लो तो संसार का रहस्य समझ आ जायगा—जड़ें इसका प्राण हैं, इसका जीवन हैं, भगवान् भी सृष्टि का मूल है, उसका जीवन है।

सृष्टि का मूल-तत्त्व भगवान् है, परमेश्वर है, वह ही शुद्धतम है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है—**'तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेव अमृतं उच्यते'**। चराचर जगत् के सब लोक-लोकान्तर उसी के सहारे टिके हुए हैं, उसी पर उनका अस्तित्व आश्रित है—**'तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे'**, उसको कोई पार नहीं कर सकता, वही अन्त है, उसके आगे कुछ नहीं है— **'तत् उ न अत्येति कश्चन'**। हे नचिकेता, यही परमेश्वर है जिसके विषय में तूने पूछा था—**'एतत् वै तत्'**।१।

यह जो भी सम्पूर्ण जगत् है—**'यत् इदं किंच जगत् सर्वं'**—यह

निसृत है, निकला है—अव्यक्त से व्यक्त होकर, प्राण में गति करता हुआ है—**'प्राणे एजति निसृतम्'**। प्राण ही तो मनुष्य का जीवन है, यही प्राण-शक्ति जगत् को जीवन प्रदान करती है। यह प्राण-शक्ति न हो, तो शरीर तथा जगत् दोनों जड़ हैं। परन्तु प्राण-शक्ति स्वयं गति नहीं करती, इसे भी कोई गति देता है, गति देने वाले के भय से प्राण-शक्ति गति करती रहती है। प्राण-शक्ति गतिमान् रहती है, तो जगत् भी गतिमान् रहता है। जगत् को जगत् कहते ही इसलिये हैं क्योंकि यह एक क्षण को भी नहीं ठहरता, हर क्षण गति बनी रहती है। यह ऐसे ही है जैसे कोई सामने वज्र लेकर खड़ा हो, रुके नहीं कि वज्रपात हुआ नहीं। मानो वज्रपात के महाभय से संसार में गति बनी रहती है—**'महद् भयं वज्रम् उद्यतम्'**। परमात्मा के नियम, उसका विधान वज्र सदृश है। भगवान् के नियमों में ढील नहीं होती, पूजा-प्रार्थना से नियम बदल नहीं जाते, उसका विधान वज्र से भी कठोर है। नियम का उल्लंघन किया कि मार पड़ी—यह भय भगवान् के शासन में सर्वत्र व्याप रहा है। उसके राज्य में सिफ़ारिश नहीं चलती, ढील नहीं होती। नियमों का पालन होगा तो भय नहीं, नियमों का उल्लंघन होगा तो क्षमा नहीं, ऐसे शासन की कठोरता को जो जानते हैं—**'ये एतत् विदुः'**, वे निर्भय हो जाते हैं, अमर-पद को प्राप्त कर लेते हैं—**'अमृताः ते भवन्ति'**, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, कष्ट तो तब हो जब वे भगवान् के विधान के इधर-उधर जायें, उसका उल्लंघन करें।२।

जैसे उसके भय से प्राण-शक्ति जगत् को गतिमान् रखती है, वैसे उसी के भय से अग्नि तपती है—**'भयात् अग्निः तपति'**, उसी के भय से सूर्य तपता है—**'भयात् तपति सूर्यः'**, इन्द्र और वायु भी उसी के भय से फिरते हैं—**'भयात् इन्द्रश्च वायुश्च'**, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु के अलावा पांचवाँ मृत्यु भी उसी के भय से भागा फिरता है—**'मृत्युः धावति पंचमः'**।३।

हे नचिकेता, अगर उस भगवान् को तू यहाँ, इस जन्म में, जानने में समर्थ हो गया—**'इह चेत् अशकत् बोद्धुं'**, शरीर छूटने से पहले—**'प्राक् शरीरस्य विस्रसः'**, तो फिर इस सृष्टि के रहते तेरा जन्म नहीं होगा, परन्तु इस सृष्टि के बाद जो लोक होंगे—**'ततः सर्गेषु लोकेषु'**, तू फिर उनमें शरीर धारण करेगा—**'शरीरत्वाय कल्पते'**। जीवन की यह यात्रा बहुत लम्बी है। इस यात्रा में यह मानव-शरीर मिला है।

इसमें समझ ले कि परमेश्वर क्या है। अगर समझ लिया तो यात्रा छोटी हो जायगी, नहीं तो जन्म-जन्मान्तर का सिलसिला बना रहेगा।४।

शरीर छूटने से पहले भगवान् का बोध हो जाना चाहिये। यमाचार्य कहते हैं कि भगवान् का दर्शन चार स्थानों पर होता है। पहला स्थान **'आत्म-लोक'** है, अपना आत्मा, अपना अन्तःकरण। अगर अन्तःकरण में कोई मल, कोई विकार नहीं है, अन्तःकरण शुद्ध है, तब जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दीखता है वैसे परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। दर्पण शुद्ध हो तो प्रतिबिम्ब शुद्ध, दर्पण मलिन हो तो प्रतिबिम्ब मलिन। इसी तरह अन्तःकरण शुद्ध हो तो अपने भीतर ही परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं—**'यथा आदर्शे तथा आत्मनि'**। आदर्श का अर्थ है दर्पण। भगवान् के दर्शन का दूसरा स्थल **'पितृ-लोक'** है। पितृलोक का अर्थ है बड़े-बूढ़ों, बुजुर्गों का लोक। समाज के जो बुजुर्ग होते हैं वे अपने अनुभव से परमात्मा की चर्चा करते हैं, उनकी चर्चा सुनकर भी परमात्मा के विषय में आस्था जमती है, परन्तु वह ऐसी होती है जैसे स्वप्न में कोई व्यक्ति कुछ देखता है। जब तक स्वप्न चलता है तब तक प्रतीत होता है कि सब-कुछ ठीक है, परन्तु स्वप्न टूटने पर, जाग उठने पर सब विलीन हो जाता है। जब तक बुजुर्गों के पास बैठे रहते हैं, उनकी बात सुनते हैं, तब तक ही परमात्मा की चर्चा मन में घर करती है, बाद को स्वप्न के टूटने की तरह भंग हो जाती है—**'यथा स्वप्ने तथा पितृलोके'**। भगवान् के दर्शन का तीसरा स्थान **'गन्धर्व-लोक'** है। गन्धर्व का अर्थ है—**'ज्ञानी'**—**'गां धारयति इति गन्धर्वः'**। बड़े-बूढ़ों की बात को हम उनकी बुजुर्गी के कारण मानते हैं, विद्वत्ता के कारण नहीं, परन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो आयु में भले ही छोटे हों, ज्ञान में बड़े होते हैं। ऐसे लोग अपने ज्ञान से परमात्म-सत्ता में विश्वास करा देते हैं। ऐसे लोगों से प्राप्त ब्रह्म-ज्ञान ऐसा है जैसे जल की लहर में कोई प्रतिबिम्ब दीखता है, और लहर के साथ ही समाप्त हो जाता है—**'यथा अप्सु इव परिदृश्यते'**। भगवान् के दर्शन का चौथा स्थल **'ब्रह्म-लोक'** है। ब्रह्म-लोक में, अर्थात् ध्यानी-पुरुषों की सहायता से ध्यान-योग के द्वारा ब्रह्म के दर्शन ऐसे होते हैं जैसे धूप और छांह को कोई स्पष्ट तौर पर अलग-अलग देख लेता है, वह जगत् और ब्रह्म को छाया और आतप की तरह बिल्कुल स्पष्ट—साफ़-साफ़ देखने लगता है—**'छाया आतपयोः इव ब्रह्मलोके'**।५।

जगत् तथा ब्रह्म के पृथक्-भाव को स्पष्ट करते हुए यमाचार्य पहले शरीर में इन्द्रियों तथा आत्मा की पृथक्ता को दर्शाते हुए कहते हैं—इन्द्रियों तथा आत्मा में भिन्नता—अर्थात् पृथक्ता—यह है कि इन्द्रियों का 'उदय'—उत्पत्ति होती है, उनका 'अस्त'—विनाश होता है—**'इन्द्रियाणां पृथक् भावं उदय अस्तमयौ च यत्'**, आत्मा का न उदय है, न अस्त है, आत्मा अविनश्वर है। दोनों की उत्पत्ति अलग-अलग है, इन्द्रियों का स्रोत अलग है, आत्मा का स्रोत अलग है—यह जान लेने पर **'पृथक् उत्पद्यमानानां मत्वा'**—धीर पुरुष शोकाकुल नहीं होता—**'धीरः न शोचति'**। संसार का सुख-दुःख इन्द्रियों को होता है, आत्मा को नहीं। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि इन्द्रियाँ अलग हैं, आत्मा अलग है, तब यह प्रतीति होने लगती है कि इन्द्रियों का दुःख मैं अपने ऊपर आरोपित कर रहा हूँ, यह दुःख आत्मा का नहीं है।६।

इन्द्रियों से मन उत्तम है—**'इन्द्रियेभ्यः परं मनः'**, मन से बुद्धि उत्तम है—**'मनसः सत्वं उत्तमम्'**, बुद्धि से आत्मा महान् है—**'सत्वात् अधि महान् आत्मा'**। आत्मा से अव्यक्त, अर्थात् परमात्मा की अव्यक्त-शक्ति (अव्यक्त प्रकृति) उत्तम है—**'महतः अव्यक्तं उत्तमम्'**, अव्यक्त प्रकृति से सर्वव्यापक, अनिवर्चनीय परम पुरुष भगवान् उत्तम है—**'अव्यक्तात् पुरुषः परः व्यापकः अलिंगः एव च'**। उसी परम पुरुष भगवान् को जानकर—**'यं ज्ञात्वा'**, यह जन्मधारी जीवात्मा अमर-पद को प्राप्त होता है—**'जन्तुः अमृतत्वं च गच्छति'**।

हम इन्द्रियों में रमण कर रहे हैं—**'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः'**, अर्थात् खानि (इन्द्रियां) बाहर रमण कर रही हैं, बाहर के जगत् में अपने को खो रही हैं, परन्तु हमें पता नहीं कि इस बाहर की यात्रा की अपेक्षा भीतर की यात्रा उत्तम है। इन्द्रियों के जगत् की तरफ़ यात्रा करना भौतिकवाद है, इन्द्रियों की तरफ़ तो सब जाते ही हैं, वहाँ का रंग देखकर भीतर की यात्रा भौतिक यात्रा से अधिक उत्तम है—वह अध्यात्मवाद है। इन्द्रियों का भोग भोगकर, हे नचिकेता, पीछे की तरफ़ लौटो, इस मिट जाने वाले क्षणिक भौतिक सुख से न मिटने वाला अध्यात्म का आनन्द कई गुणा श्रेष्ठ है। पीछे की तरफ़ लौट। इन्द्रियों के सुख से मन में रमने का आनन्द, मन के आनन्द से बुद्धि का आनन्द, बुद्धि के आनन्द से आत्मा का आनन्द और आत्मा के आनन्द से परमात्मा के आनन्द में डूब जाने का आनन्द कहीं बढ़-चढ़कर है, उस

आनन्द को पाकर अमर-पद प्राप्त होता है ।७,८।

अगर उसको देखना चाहें तो उसका कोई रूप सामने नहीं टिकता—**'न संदृशे तिष्ठति रूपं अस्य'**, उसे आँख से कोई भी नहीं देख सकता—**'न चक्षुषा पश्यति कश्चन एनम्'**, हृदय के प्रेममय भक्ति-भाव से या मनीषी लोग मन से युक्त होकर—**'हृदा मनीषी मनसा अभिक्लृप्तः'**, जो उसे जान जाते हैं—**'ये एतद् विदुः'**, वे अमर-पद को प्राप्त होते हैं—**'अमृताः ते भवन्ति'** ।

हम लोग आँख से प्रभु को देखना चाहते हैं, कई लोग आडम्बर भी भरते हैं कि उन्होंने भगवान् को आँखों से देखा है, परन्तु उसका तो कोई भौतिक शरीर नहीं है, वह हृदय या मन से देखा जाता है—हृदय में प्रेम भरा हो, तो प्रेममय भगवान् का अनुभव होता है, मन से मनन करें—विचार करें, तो भगवान् की प्रतीति होती है । वह अनुभव-जन्य है, या प्रतीति-जन्य है, प्रत्यक्ष-जन्य नहीं है ।९।

हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा—भागती-फिरती हैं, अपने-अपने विषयों की तरफ़ लपकती रहती हैं, मन भी इनके साथ जुड़ा रहता है । जब तक मन तथा इन्द्रियों की चपलता नहीं मिटती, जब तक ये एक-जुट होकर चंचलता-शून्य, ठहर नहीं जाते—**'यदा पंच अवतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह'**, और बुद्धि चपलता नहीं छोड़ती—**'बुद्धिश्च न विचेष्टति'**, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि एक-साथ होकर अध्यात्म-मार्ग पर चल पड़ते हैं तब परम-पुरुष भगवान् को प्राप्त करने की गति हो जाती है—**'ताम् आहुः परमां गतिम्'** ।१०।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि भिन्न-भिन्न मार्गों पर दौड़ा करती हैं । भिन्न-भिन्न विषयों में दौड़ने के स्थान में सबके मिल कर एक-साथ गति करने को 'परम-गति' या 'योग' कहते हैं । इस प्रकार मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का एक-साथ मिलकर स्थिर रूप से प्रभु को पाने के लिये चल पड़ना ही योग है—**'तां योगं इति मन्यन्ते स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्'** । जब इस प्रकार योग-मार्ग पर चल पड़ते हैं, और जब यह योग-यात्रा सावधानी से चलती है—**'अप्रमत्तः तदा भवति'**, तब उतराव-चढ़ाव भी आते हैं—**'योगः प्रभव अप्ययौ'** । प्रभु की प्राप्ति 'प्रभव' है, फिर उसका हाथ में आकर छूट जाना 'अप्यय' है । इस मार्ग पर लगातार चलते चले जाना, अप्रमत्त होकर आगे बढ़ते जाना—यही योग-मार्ग है, इस प्रकार जो चलते जाते हैं, वे जो-कुछ पाने के लिये

जीवन-मार्ग पर चले थे उसे पा लेते हैं, प्रमाद करने से प्रभु-प्रसाद हाथ आता-आता निकल जाता है। 'प्रभव' ही रहे, 'अप्यय' न हो, इस दृष्टि से इस मार्ग पर लगातार चलते रहना आवश्यक है, उसी को 'अप्रमत्तः' कहा है।११।

वह प्रभु वाणी से, मन से, आँखों से प्राप्त करना शक्य नहीं है—**'नैव वाचा, न मनसा प्राप्तुं शक्यः, न चक्षुषा'**। उसे तो—**'वह है'**—यह कह कर ही पाया जा सकता है—**'अस्ति इति ब्रुवतः'**, इसके सिवा उसे कैसे पाया जा सकता है—**'अन्यत्र कथं तत् उपलभ्यते'**। प्रभु के पा सकने के दो ही मार्ग हैं—या तो युक्तियों से उसे सिद्ध करें, या **'वह है'**—यह धारणा मन में लेकर चलें। यमाचार्य कहते हैं कि वाणी तथा मन द्वारा युक्तियाँ लड़ाने से कुछ हाथ नहीं आता, युक्तियाँ दो-धारी तलवार हैं—उनसे परमात्मा सिद्ध भी हो सकता है, खंडित भी हो सकता है। युक्ति द्वारा परमात्मा को सिद्ध करने वाला सदा दुविधा में बना रहता है—युक्ति इधर भी जाती है, उधर भी जाती है। प्रभु की सत्ता को मानकर जो चलता है वह दुविधा में नहीं रहता, उसका मार्ग स्पष्ट तथा सीधा रहता है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य शान्ति तथा संतोष है—ये उसे ही मिलते हैं जो **'अस्ति इति'**—यह मान कर जीवन-यात्रा में पग बढ़ाता है, दूसरे रास्ते पर चलने से शान्ति तथा संतोष न किसी को मिले हैं, न मिल सकते हैं।१२।

प्रभु को पाने का यही रास्ता है कि हम मानकर चलें कि **'वह है'**—**'अस्ति इति एव उपलब्धव्यः'**। वैसे तो दो रास्ते हैं—**'वह है'**—यह मान कर चलने का एक रास्ता, और तात्त्विक-विवेचना का अर्थात् युक्ति का दूसरा रास्ता—**'तत्त्वभावेन च उभयोः'**, परन्तु इन दोनों में **'वह है'**—यह मान कर चलने से ही प्रभु को पाना चाहिए क्योंकि 'वह है'—यह मान कर चलने वाले का विवेचन—**'अस्ति इति एव उपलब्धस्य'**, युक्ति से प्रभु का वर्णन करनेवालों की अपेक्षा सुननेवालों को अधिक प्रसन्न करता है—**'तत्वभावः प्रसीदति'**। जिसने अपने अन्तःकरण से प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार किया उसकी वाणी में, उसके मन में एक प्रकार का आनन्द, प्रसाद भरा होता है जिससे चारों तरफ़ उसकी वाणी तथा मन से आनन्द की वर्षा होती है। युक्तियों से प्रभु को सिद्ध करना कोरा प्रवचन है क्योंकि युक्ति अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों तरफ़ प्रहार करती है, अपने अन्तःकरण से प्रभु को

स्वीकार करते हुए उसका बखान करना एक देखी हुई, प्रत्यक्ष की हुई घटना का वर्णन करने के समान है ।१३।

'प्रभु' तथा 'कामनाएं'—इन दो में से एक वस्तु हृदय में रह सकती है । जब तक हृदय कामनाओं से, वासनाओं से भरा हुआ है, तब तक भगवान् का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता । जब हृदय में स्थित कामनाएँ छूट जाती हैं—**'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ये अस्य हृदि स्थिताः'**, तब कामनाओं, इच्छाओं, वासनाओं के छूट जाने से यह मरण-धर्मा मनुष्य अमर हो जाता है—**'अथ मर्त्यः अमृतः भवति'**, और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है—**'अत्र ब्रह्म समश्नुते'** । अस्ल में आत्मा तो अमर है ही, परन्तु वासनाओं के साथ एकात्म-भाव के कारण अपने को मरण-धर्मा समझने लगता है । वासनाएं नष्ट हुईं तो अपने स्वरूप में आ जाता है, अमृत हो जाता है, और ब्रह्म के साथ हो जाता है ।१४।

जब मनुष्य के हृदय में पड़ी हुई वासनाओं की सब गाँठें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं—**'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्य इह ग्रन्थयः'**, तब यह मरण-धर्मा मनुष्य अमर हो जाता है—**'अथ मर्त्यः अमृतः भवति'** । इतना ही शास्त्रों का उपदेश है—**'एतावत् अनुशासनम्'** । अमर होने के लिए और-कुछ करने की ज़रूरत नहीं, वासनाओं को ही नष्ट करना है क्योंकि वासनाओं में लिप्त होकर ही यह अमर-धर्मा अपने को मरण-धर्मा समझने लगता है । अगर यह वासनाओं को मिटा दे, तो यह मर्त्य अमर हो जाता है ।१५।

वासनाएं कैसे मिटती हैं और उनके मिटने पर अमरत्व कैसे प्राप्त होता है—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं : हृदय की १०१ नाड़ियां हैं जिनमें से एक मूर्धा—कपाल—को निकल जाती है—**'शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानं अभिनिःसृता एका'** । यह नाड़ी जो मूर्धा को चली जाती है उसे सुषुम्णा कहा जाता है—बाक़ी सौ नाड़ियां रह जाती हैं । आत्मा उस एक नाड़ी से ऊपर की तरफ़ आता हुआ अमरता को प्राप्त करता है—**'तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वं एति'** । दूसरी जो नाना गति वाली १०० नाड़ियां हैं—**'विश्वङ् अन्याः'**, वे आत्मा के शरीर से निकलने पर—**'उत्क्रमणे'**, उसे अन्य नाना योनियों में ले जाती हैं, अमरता की तरफ़ नहीं ले जातीं ।

ये १०१ नाड़ियां कहाँ हैं—इस सम्बन्ध में शंका बनी रहती है । चीर-फाड़ करने पर ये नाड़ियां कहीं नहीं पायी गईं । इससे यह प्रतीत

होता है कि ये नाड़ियां उन नाड़ियों की सूचक नहीं हैं जिन्हें आर्टरी तथा वेन कहा जाता है। अनेक अध्यात्म-शास्त्रियों का कथन है कि उपनिषद् में नाड़ी शब्द का अर्थ 'आर्टरी' तथा 'वेन' न होकर सूक्ष्म-शरीर की अदृश्य नाड़ियों से है जिनका सम्बन्ध षट्-चक्रों से है। इन चक्रों का वर्णन तंत्र-ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें जो नाड़ी मूर्धा को जाती है उसे सुषुम्णा कहा जाता है। चक्रों में दो चक्र मुख्य हैं—मूलाधार-चक्र तथा सहस्रार-चक्र। मूलाधार-चक्र वीर्य-स्थान में तथा सहस्रार-चक्र मस्तिष्क में है। वीर्य की दो गतियां हैं—या तो मूलाधार से वह बाहर निकल जाता है, या उसकी सुषुम्णा से ऊर्ध्व-गति होकर वह मस्तिष्क को पुष्ट करता है। जो योगी वीर्य को नष्ट नहीं होने देते, उसे ऊर्ध्वगति द्वारा उसका मस्तिष्क में संचार करते हैं उन्हें 'ऊर्ध्वरेता' कहा जाता है। ये ऊर्ध्वरेता लोग अमृतत्व को प्राप्त करते हैं, उनका आत्मा मृत्यु के समय सुषुम्णा के माध्यम से कपाल से निसृत होता है, अन्य जीवधारियों का आत्मा शेष १०० नाड़ियों से निसृत होता है। सुषुम्णा का मार्ग रीढ़ की हड्डी के भीतर से बताया गया है।

परन्तु १०१ नाड़ियों का वर्णन उपनिषद् में अन्य स्थानों पर भी पाया जाता है। प्रश्नोपनिषद् (३-६, ७) में लिखा है कि आत्मा का निवास हृदय में है। हृदय में ही ये १०१ नाड़ियां हैं। इनमें से एक-एक से सौ-सौ शाखाएं फूटी हैं, फिर उन सौ-सौ में से बहत्तर-बहत्तर प्रति-शाखाएं फूटी हैं। इस प्रकार प्रति-शाखा नाड़ियां सहस्रों हो जाती हैं। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि यह वर्णन 'रक्त-संचारिणी-संस्थान' (Circulatory system) का है जिसके अनुसार आर्टरी तथा वेन शाखा-प्रतिशाखा में फूटते-फूटते प्रतिशिराओं (Capillaries) में बंट जाती है।

छान्दोग्य (अष्टम प्रपाठक, छटा खंड, १) में भी लिखा है : हृदय की जो नाड़ियां हैं वे—'**अथ या एता हृदयस्य नाड्यः ताः**'—पीले, सफ़ेद, नीले, लाल वर्ण की हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरणें फैलती हैं उसी प्रकार हृदय रूपी सूर्य से मानो ये किरणें शरीर में फैल रही हैं। यह वर्णन भी '**रक्त-संचारिणी-संस्थान**' का है, परन्तु यहाँ १०१ का वर्णन नहीं है। बृहदारण्यक (२-१-१९, द्वितीय अध्याय, प्रथम ब्राह्मण, १९) में ७२००० नाड़ियों का वर्णन है जिन्हें 'हिता' कहा गया है—ये हृदय से '**पुरीतत्**' को जाती हैं। इस स्थल पर १०१, वर्ण तथा सुषुम्णा का

वर्णन नहीं है। इसी उपनिषद् में ४-३-२० में केश के समान **'हिता'**—नामक बारीक नाड़ियों का वर्णन है—परन्तु यहाँ भी १०१ या सुषुम्णा का उल्लेख नहीं है। यही बात बृहदारण्यक, ४-२-३ तथा ४-४-२ के विषय में कही जा सकती है जहाँ हृदय की नाड़ियों का उल्लेख है। बृहदारण्यक का उल्लेख 'रक्त-संचारिणी-संस्थान' (Circulatory System) का वर्णन प्रतीत होता है।१६।

भगवान् को पाने कहीं बाहर नहीं जाना होता, बाहर तो संसार बिखरा पड़ा है। अपने आतमा के भीतर ही वह 'पुरुष'—ब्रह्म—छिपा बैठा है। उसे योग-दर्शन में **'पुरुष-विशेष'** कहा है—**'सः पुरुष-विशेषः ईश्वरः'**। आत्मा के भीतर अन्तरात्मा है। वह **'अंगुष्ठमात्र'** है, मानो सिर्फ़ ब्रह्म का अंगूठा है—**'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः'**—प्रत्येक जीव के हृदय में ही वह सन्निविष्ट है। जैसे अंगूठे को पकड़कर किसी को बाहर खींच लिया जाता है, वैसे हम भी हमारी हृदय की भीतरी गुफ़ा में बैठे ब्रह्म को खींच कर बाहर ले आयें—यह हमारे अपने हाथ में है—**'तं स्वात् शरीरात् प्रवृहेत्'**, उसे अपने में से बाहर ले आये जैसे मूंज में दबी सींक को खींच कर बाहर निकाल लिया जाता है—**मुंजात् इव इषीकाम्'**। इसमें जल्दी से काम नहीं होता, धैर्य से, सतत प्रयत्न से यह काम सिद्ध हो जाता है—**'धैर्येण'**। वह ब्रह्म शुद्ध है, वही अमृत है, वह शुक्र है, वही अमृत है, हे नचिकेता, यह समझ ले—**'तं विद्यात् शुक्रं अमृतं, तं विद्यात् शुक्रं अमृतम्'**।१७।

यमाचार्य ने नचिकेता को जिस सम्पूर्ण 'योग-विद्या' तथा 'योग-विधि' का उपदेश दिया—**'मृत्यु प्रोक्तां नचिकेतः अथ लब्ध्वा विद्यां एतां योग-विधिं च कृत्स्नम्'**, उसे पाकर उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो गई—**'ब्रह्मप्राप्तः'**, वह मानसिक-विकारों से मुक्त हो गया, उसकी वासनाएं मिट गईं—**'विरजः'**, वह समझ गया कि मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा मरण के बन्धन से मुक्त होता है—**'विमृत्युः'**। दूसरा भी जो-कोई इस अध्यात्म-विद्या को जानेगा—**'अन्यः अपि एवं यः विदध्यात्'**, वह भी नचिकेता के समान हो जायगा—**'आत्मेव भवति'**।

प्रश्नोपनिषद्

इस उपनिषद् में छः जिज्ञासु जो किसी ब्रह्म-ज्ञानी की खोज में थे पिप्पलाद ऋषि की कुटिया पर पहुँचे और उनसे ब्रह्म-विषयक ज्ञान ग्रहण करना चाहा। उन छः जिज्ञासुओं के नाम हैं—भारद्वाज के गोत्र में उत्पन्न सुकेश, शिवि का पुत्र सत्यकाम, सूर्य का पोता गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौशल्य, भृगुगोत्री वैदर्भि, कत्य का पुत्र कबन्धी। इन छहों के प्रश्नों से यह उपनिषद् प्रारम्भ होती है। जिज्ञासुओं के नाम का जो क्रम शुरू-शुरू में दिया गया है उनके प्रश्नों का उत्तर उल्टे क्रम से दिया गया है। शुरू के क्रम में कबन्धी का नाम सबसे अन्त में है, उत्तर के क्रम में उसके प्रश्न का उत्तर सबसे पहले है। इसका कारण यह है कि कबन्धी के प्रश्न से जो भूमिका बनी उससे आगे-आगे प्रश्नों का सिलसिला बनता चला गया, और उनका उत्तर आता चला गया। उसका प्रश्न भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्व था।

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैव्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौशल्यश्च आश्वलायनः, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनः—ते हैते ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः, परम् ब्रह्म अन्वेषमाणाः, एषः ह वै तत् सर्वं वक्ष्यति इति, ते ह समित्पाणयः भगवन्तं पिप्पलादं उपसम्पन्नाः ॥१॥

इन छहों जिज्ञासुओं को ब्रह्म में निष्ठा थी—**'ब्रह्मपराः ब्रह्मनिष्ठाः'**, परम ब्रह्म का अन्वेषण कर रहे थे—**'परं ब्रह्म अन्वेषमाणाः'**। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उन्हें जो-कुछ भी जिज्ञासा है उसका समाधान पिप्पलाद ऋषि ही कर सकेंगे —**'एषः ह वै तत् सर्वं वक्ष्यति इति'**। यह सोच कर वे हाथ में समिधा लेकर—**'ते ह समित् पाणयः'**, आदरणीय पिप्पलाद ऋषि के पास पहुँचे—**'भगवन्तं पिप्पलादं उपसन्नाः'** ॥१॥

उपनिषत्काल में जिज्ञासु हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास पहुँचता था। समिधा इस बात की सूचक थी कि जिज्ञासु के हाथ में जो सूकी समिधा है वह उसके अज्ञानी-चित्त की प्रतिनिधि है। जैसे अग्नि से शुष्क-समिधा को प्रज्वलित किया जाता है, वैसे जिज्ञासु गुरु के द्वारा अपने शुष्क-चित्त को ज्ञानाग्नि से प्रदीप्त करना चाहता है। वही समिधा प्रज्वलित हो सकती है, जो भीगी न हो। जिज्ञासु भी जब गुरु के पास पहुँचता है तब अपने अहंकार रूपी भीगेपन को छोड़ कर आता है। गुरु का नाम पिप्पलाद है। पिप्पलाद का अर्थ है—जो पिप्पल को खाकर गुज़र करता हो। इसी तरह का कणाद शब्द है। कणाद का अर्थ है—जो कण को खाकर गुज़र करता हो। वैशेषिक दर्शन के रचयिता का नाम कणाद है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पिप्पलाद पिप्पल की कलियां खाकर और कणाद खेत कट चुकने पर उसमें झड़ पड़े कणों को चुग-चुग कर गुज़र करते थे, इन नामों का यही अर्थ प्रतीत होता है कि ये आचार्य स्वल्पाहारी थे, जो-कुछ थोड़ा-बहुत खाने को मिल जाता था उसी से सन्तुष्ट रहते थे ।।१।।

तान् ह सः ऋषिः उवाच, भूयः एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया,
संवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ,
यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वः वक्ष्यामः इति ।।२।।

जब ये जिज्ञासु पिप्पलाद के पास पहुँचे तब उस ऋषि ने उन्हें कहा—**'तान् ह सः ऋषिः उवाच'**, यद्यपि आप लोग तपस्या करके, ब्रह्मचर्य का जीवन बिता कर तथा श्रद्धा-पूर्वक आये हो, तो भी एक बार और साल भर—**'भूयः एव तपसा, ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं'**—मेरे पास निवास करो—**'संवत्स्यथ'**। उसके बाद जैसा आप उचित समझें प्रश्न पूछें—**'यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ'**। अगर उन प्रश्नों का समाधान मैं जानता होऊँगा—**'यदि विज्ञास्यामः'**, तो सब-कुछ आपको बतला दूँगा—**'सर्वं ह वः वक्ष्यामः इति'** ।२।

इस प्रकरण में ऋषि ने 'तप'—'ब्रह्मचर्य'—'श्रद्धा'—इन तीन गुणों की चर्चा की है जिनके जीवन में उतरने पर वे ब्रह्म-ज्ञान देने को तैयार हुए। **'तप'** का अर्थ है—शारीरिक-साधना। ब्रह्म-ज्ञान के रास्ते पर जो चल रहा हो, उसे तपस्या में से गुज़रना आवश्यक है। ब्रह्म-ज्ञान का प्रथम साधन तो शरीर ही है। जिसका शरीर रोगी हो, कमज़ोर हो, थोड़ी सर्दी से खांसी-जुकाम हो जाय, थोड़ी गर्मी से सिर-

दर्द होने लगे, वह अध्यात्म के मार्ग पर कैसे चलेगा, उसका तो शरीर ही हर समय उसे तंग करता रहेगा। शरीर की चिन्ता से मुक्त होकर ही व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान की तरफ़ बढ़ता है। दूसरी बात कही, **'ब्रह्मचर्य'**। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ है—विषय-वासनाओं से मुक्त होना—मानसिक-साधना। जिसका मन विषयों की तरफ़ भटकता फिरे वह अध्यात्म के मार्ग पर कैसे चलेगा, उसका तो मन ही हर समय उसे तंग करता रहेगा। मन की वासनाओं से मुक्त होकर ही व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी बनता है। शरीर तथा मन के साधन के बाद तीसरी बात कही, **'श्रद्धा'**। मन जब संकल्प-विकल्प के जाल में से निकलकर ब्रह्म-ज्ञान के लक्ष्य पर दृढ़ हो जाता है, तब श्रद्धा की अवस्था आती है। ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान के लिए मनुष्य की ये तीन अवस्थाएं आवश्यक हैं। जब उन्हें निश्चय हो जाएगा कि जिज्ञासु लोग तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा के कारण सचमुच ब्रह्मपर, ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्मान्वेषण के लिए उत्सुक हैं, तब जो-कुछ वे जानते होंगे वह बतला देंगे। पिप्पलाद ऋषि की नम्रता इसी से टपकती है कि वे ब्रह्मज्ञान का दावा नहीं भरते, इतना ही कहते हैं कि ब्रह्म के विषय में उनकी समझ में जो-कुछ आया है वह बतला देंगे।२।

ऋषि की बात सुनकर छहों जिज्ञासु साल भर तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धापूर्वक पिप्पलाद के आश्रम में निवास कर रहने लगे। जब एक साल बीत गया तब पहले कत्य का पुत्र कबन्धी ऋषि के पास पहुँचा और उसने अपना प्रश्न किया—

१. कबन्धी का प्रश्न—सृष्टि किस से उत्पन्न हुई ?

अथ कबन्धी कात्यायनः उपेत्य पप्रच्छ। भगवन् !
कुतः ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति ॥३॥

साल भर बीत जाने पर कत्य के पुत्र कबन्धी ने—**'अथ कबन्धी कात्यायनः'**, पिप्पलाद ऋषि के पास आकर पूछा—**'उपेत्य पप्रच्छ'**, हे भगवन् ! जो-कुछ भी उत्पन्न हुआ-हुआ सम्पूर्ण नानाविध विश्व दिखलाई देता है वह किससे उत्पन्न हुआ—**'भगवन् ! कुतः ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति'**।३।

यह बड़ा स्वाभाविक प्रश्न था। हम जन्म लेते ही सृष्टि को देखते

हैं। **कौन है,** जो जड़-चेतन जगत् को देखकर यह सोचने नहीं लगता कि यह सृष्टि कहाँ से आयी, किसने इसे रचा। ऋग्वेद (१०,१२६,७) में इसी शंका को उठा कर कहा है : **'इयं विसृष्टिः यत आ बभूव'**—यह सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुई, वह कौन है ? उसकी खोज आदि-काल से चली आ रही है, इसलिये सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक कबन्धी का प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक था।

मनुष्य और पशु में क्या भेद है ? पशु, सृष्टि जैसी है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेता है। सर्दी है, गर्मी है, वर्षा है, आंधी है, तूफ़ान है—इनसे बचने का तो वह प्रयत्न करता है, परन्तु—**'कुतः ह व इमाः'**, यह-सब कहां से होता है, कैसे होता है, कौन करता है—यह जिज्ञासा पशु के हृदय में नहीं उठती। मनुष्य में सृष्टि के विषय में यह जिज्ञासा उठती है। ऐसे भी लोग हैं, जो पशुओं की तरह ही सृष्टि जैसी है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लेते हैं, किसी प्रकार की जिज्ञासा उनके हृदय में नहीं उठती, परन्तु वे पशु के स्तर पर ही हैं। कबन्धी, जिसने 'सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई'—यह प्रश्न पिप्पिलाद ऋषि के सामने उठाया एक दार्शनिक प्रश्न उठा रहा है। प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि मनुष्य सृष्टि के प्रवाह में बहता-बहता सैकड़ों वर्षों तक चला जा सकता है, परन्तु ज्यों ही वह अचानक खड़ा होकर 'क्यों' और 'कैसे' का विवेचन करने लगता है, वह दार्शनिक बन जाता है।

'सृष्टि कैसे बनी'—यह जिज्ञासा मनुष्य के मन में तब से उठी जब से उसने सोचना शुरू किया। यह जिज्ञासा मनुष्य के मन में पूर्व में उठी, पश्चिम में भी उठी। पूर्व में जैसे उठी—उसका उल्लेख वेद में, उपनिषद् में पाया जाता है। पश्चिम में ग्रीक दार्शनिकों के मन में उठी। अनेक दार्शनिक यह कहते रहे कि सृष्टि की रचना पृथिवी, अप्, तेज, वायु—इन तत्त्वों से ही हुई, परन्तु ये जड़-तत्व सृष्टि की रचना कैसे कर सके इसका किसी के पास उत्तर नहीं था। पाँचों महाभूत तो जड़ हैं, वे सृष्टि का निर्माण अपने-आप कैसे करेंगे ? ग्रीस में एक दार्शनिक हुआ जिसका नाम एनेक्सेगोरस था। उसने कहा कि जड़ इकला सृष्टि का निर्माण नहीं कर सकता, जड़ के अतिरिक्त सृष्टि में चेतन तत्व को भी मानना पड़ेगा। जड़-चेतन—दो तत्त्व मानकर ही सृष्टि चल सकती है। अरस्तु ने एनेक्सेगोरस के चिन्तन की दिशा को स्वीकार किया और कहा कि जो सिर्फ़ जड़ से सृष्टि की रचना की बात कहते हैं वे

ग्रन्थे हैं। इन ग्रन्थों में केवल एनक्सेगोरस ही सुजाखा प्रतीत होता है जो जड़-चेतन—इन दो के युगल से सृष्टि-रचना की बात कहता है। डॉ० रामचन्द दत्तात्रेय रानाडे अपने ग्रन्थ 'उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण' में लिखते हैं कि यही कारण है कि अरस्तु ने सृष्टि-रचना में 'जड़' (Matter) तथा 'चेतना' (Form) की कल्पना की। डॉ० रानाडे के अनुसार सृष्टि जड़ से विकसित नहीं हुई, जड़-चेतन—इस युगल से हुई—यह कल्पना ग्रीक विचारक एनक्सेगोरस तथा अरस्तु से भी पहले पिप्पलाद ऋषि ने कबन्धी को समझायी। सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई—इस बात को समझाते हुए पिप्पलाद कहते हैं :

तस्मै सः ह उवाच, प्रजाकामः वै प्रजापतिः। सः तपः अतप्यत। सः तपः तप्त्वा, सः मिथुनम् उत्पादयते, रयिं च प्राणं च। इति एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्येते इति ।।४।।

पिप्पलाद ऋषि कबन्धी को समझाते हुए बोले—**'तस्मै सः ह उवाच'**—कि चराचर जगत् के स्वामी प्रजापति को सृष्टि की उत्पत्ति के लिये जब कामना हुई—**'प्रजाकामः वै प्रजापतिः'**—तब उसने तप किया—**'सः तपः अतप्यत'**, और तप करने के बाद उसने मिथुन को—एक जोड़े को—उत्पन्न किया—**'सः मिथुनम् उत्पादयते'**। इस मिथुन का नाम है 'रयि' तथा 'प्राण'—**'रयिं च प्राणं च'**। इस मिथुन को उत्पन्न करने के बाद उसने समझ लिया कि यह जोड़ा—**'इति एतौ'**—मेरी नानारूप जड़-चेतन सृष्टि (प्रजा) को उत्पन्न करेंगे—**'मे बहुधा प्रजाः करिष्येते इति'** ।।४।।

प्रजापति ने जब सृष्टि की रचना के लिए कामना की तब अव्यक्त प्रकृति में प्रजापति की प्रेरणा से क्रिया प्रारम्भ हुई। यह क्रिया जब अपनी चरम-सीमा पर आ पहुँची उसी अवस्था का नाम यहाँ प्रजापति का 'तप' कहा गया है। 'तप' के बाद 'मिथुन' उत्पन्न हुआ। इसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि पहले 'एकत्व' था, फिर 'द्वित्व' हुआ। 'एकत्व' से सृष्टि नहीं हो सकती क्योंकि सृष्टि में 'बहुत्व' है, 'नानात्व' है। जबतक 'एकत्व' का कोई भेदक दूसरा तत्त्व नहीं होगा, तब तक एकत्व एकत्व ही बना रहेगा। 'एकत्व' के बाद 'द्वित्व' आ जाय, तब तो 'नानात्व' आ सकता है, द्वित्व आये बग़ैर नानात्व नहीं नहीं आ सकता। 'एकत्व' तथा 'नानात्व' के बीच की कड़ी 'द्वित्व' है—

इसी को पिप्पलाद ऋषि ने 'मिथुन' कहा है—मिथुन, अर्थात् एक से दो। एक से सीधा अनेक नहीं हो सकते, एक से जहाँ अनेक होते दिखाई देते हैं वहाँ एक के साथ किसी दूसरे का संयोग होता है, तभी अनेक बनते हैं। उत्पत्ति का प्रारम्भ एक से नहीं हो सकता, अनेक सीधा एक से नहीं बन सकता, इसलिये एक तथा अनेक के बीच द्वित्व का होना लाज़मी है। इसी को 'मिथुन' कहा जाता है। 'मैथुन'-शब्द का भी मूल-शब्द 'मिथुन' ही है। मिथुन का अर्थ है—'द्वित्व'।

यह 'मिथुन' क्या है? पिप्पलाद ऋषि ने इस मिथुन का नाम रखा है—'रयि' तथा 'प्राण'। हम पहले लिख आये हैं कि अरस्तु ने सृष्टि की उत्पत्ति जड़ तथा चेतन से बतलायी है। जड़ को उसने मैटर (Matter) कहा है, चेतन को फ़ौर्म (Form) कहा है; वेदान्त में इसे 'नाम' और 'रूप' कहा है; पिप्पलाद ने इसे 'रयि' तथा 'प्राण' कहा है। नाम-रूप, मैटर-फ़ौर्म, जड़-चेतन तथा रयि-प्राण का आपस में क्या मेल है—इसे हम यहीं छोड़ 'रयि' तथा 'प्राण' के मिथुन की चर्चा करेंगे।

'रयि' का क्या अर्थ है? ऋग्वेद (१०,१२१,१०) में **'प्रजापते न त्वदेता'** मंत्र में **'स्याम पतयो रयीणाम्'** आया है। स्वस्तिवाचन-प्रकरण में **'स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु'**—इस मन्त्र में **'स्वस्ति राये मरुतो दधातन'**—आया है। शान्तिप्रकरण में **'शं नो भगः'** मन्त्र में **'शमु संतु रायः'** आया है। इन सब स्थलों पर भाष्यकारों ने 'राय'—'रयि' आदि का अर्थ धन-ऐश्वर्य किया है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो 'रयि' का अर्थ धन-ऐश्वर्य आदि की प्रतीक **प्रकृति** समझना चाहिये, 'प्राण' के जीवन का प्रतिनिधि होने के कारण प्राण का अर्थ **चेतन** समझना चाहिये। दूसरे शब्दों में 'रयि'-शब्द जड़ को सूचित करता है, 'प्राण'-शब्द चेतन को सूचित करता है। कबन्धी का प्रश्न यह था कि सृष्टि की रचना कैसे हुई—**'कुतः ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति'**। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पिप्पलाद ऋषि ने तीन बातें कहीं:

कबन्धी के प्रश्न का उत्तर—प्राण तथा रयि

(क) सृष्टि-मिथुन से उत्पन्न हुई—पहली बात तो यह कही कि सृष्टि एक ही तत्त्व से नहीं उत्पन्न हुई। जो कहते हैं कि केवल भौतिक-तत्त्वों के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न हुई—यह ग़लत है; जो कहते हैं कि केवल चेतन-तत्त्व ने ही भौतिक-तत्त्व को भी उत्पन्न कर दिया—**यह**

भी ग़लत है। सृष्टि एक तत्त्व से उत्पन्न हो ही नहीं सकती। अगर संसार में एक ही तत्त्व हो—चाहे प्रकृति हो, चाहे ब्रह्म हो—सृष्टि की रचना आगे नहीं चल सकती। सृष्टि बनी हुई है—इसलिये यह द्वित्व से बनी है, एकत्व से नहीं बनी। इसी को मिथुन कहा जाता है, अर्थात् सृष्टि दो तत्त्वों के मिलने से बनी है। यद्यपि यह कथन बहुत साधारण-सा प्रतीत होता है, तथापि यह एक गहन दार्शनिक विचार का द्योतक है। क्योंकि विचारकों में एक वर्ग का कहना है कि सृष्टि भौतिक-तत्त्वों से ही बनी है, भौतिक-तत्त्वों के संयोग से ही चेतना उत्पन्न हो जाती है, दूसरे वर्ग का कहना है कि सृष्टि चेतन-तत्त्व से ही बनी है, चेतन-तत्त्व से ही भौतिक का निर्माण हो गया, इसलिये पिप्पलाद ऋषि के लिए स्पष्ट कर देना आवश्यक हो गया कि एकत्व से नानात्व बन ही नहीं सकता जब तक इन दोनों के बीच में द्वित्व का प्रवेश न हो। इस द्वित्व को ही ऋषि ने मिथुन कहा है, दो तत्वों का मेल कहा है।

(ख) मिथुन के दो तत्त्व जड़ तथा चेतन (रयि तथा प्राण) हैं— दूसरी बात यह कही कि सृष्टि को उत्पन्न करने वाले मिथुनों में एक जड़ है, दूसरा चेतन है, दोनों परस्पर-विरोधी होते हुए एक-दूसरे के पूरक हैं। अगर दोनों जड़ हों, तो जड़ से जड़ ही बनेगा, अगर दोनों चेतन हों तो चेतन से चेतन ही उत्पन्न होगा, परन्तु सृष्टि में तो जड़ तथा चेतन दोनों ही दिखलायी देते हैं, इसलिये इन दोनों मिथुनों में से एक जड़ होना चाहिये, दूसरा चेतन होना चाहिये। यही कारण है कि सृष्टि में जड़-चेतन का युगल दिखलाई देता है। ये दोनों एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत भी नहीं हो सकते, एक-दूसरे के पूरक ही हो सकते हैं, अन्यथा दोनों का मेल ही नहीं हो सकता। सृष्टि की उत्पत्ति मेल से ही होती है, अलग-अलग रहने से नहीं होती।

पिप्पलाद ऋषि ने सृष्टि की उत्पत्ति का एक आधार बतला दिया। उनका कहना है कि सृष्टि में दो भेदक तत्त्व मिलते हैं, तब नूतनता का जन्म होता है। इस सूत्र को जीवन में सब जगह घटा कर देखा जा सकता है। स्त्री-पुरुष के मिलाप से जीवन की सृष्टि होती है, सब प्राणियों की सृष्टि का यही नियम है। समाज की रचना में भी दो भिन्न-भिन्न तत्त्व, जो भिन्न तो हों परन्तु सर्वथा विरोधी न हों, जब मिलते हैं, तब समाज का अभ्युदय होता है। सर्वथा विरोध में तो एक-दूसरे का नाश होता है। भेदक-तत्त्व हो, दूसरे से भिन्न हो, भिन्न होता

हुआ पूरक हो, तब सृष्टि चलती है। इसी को 'रयि' तथा 'प्राण' का, शरीर तथा आत्मा का, प्रकृति तथा परमात्मा का मिथुन—जोड़ा—कहा जा सकता है जिससे सृष्टि का चक्र चलता है।

(ग) **रयि तथा प्राण सापेक्षिक शब्द हैं**—इस प्रकरण में ऋषि ने एक तीसरी बात भी कही। पिप्पलाद ऋषि के कहने का यह भी अर्थ है कि 'प्राण' धनात्मक-शक्ति (Positive Force) है, 'रयि' ऋणात्मक-शक्ति (Negative Force) है। 'प्राण' आत्म-शक्ति का सूचक है, 'रयि' प्रकृति-शक्ति का सूचक है। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये दोनों शक्तियाँ सापेक्षिक है। प्रकृति की अपेक्षा ब्रह्म प्राण-शक्ति है, परन्तु प्रकृति के विकारों की तुलना की जाय तो प्रकृति 'प्राण'-शक्ति हो जायगी, प्रकृति के विकार 'रयि' हो जायेंगे। उदाहरणार्थ, प्रकृति प्राण है, प्रकृति से उत्पन्न पृथिवी, अप्, तेज, वायु रयि हैं। कर्तृत्व-शक्ति प्राण है, क्रियमाण-शक्ति रयि है, कर्ता प्राण है, कर्म रयि है।

रयि तथा प्राण को विश्व में घटाते हुए पिप्पलाद ऋषि ने अनेक दृष्टांत दिये हैं। अपने अर्थ को स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं—

आदित्यः ह वै प्राणः रयिः एव चन्द्रमा, रयिः वै एतत्
सर्वं यत् मूर्तं च अमूर्तं च, तस्मात् मूर्तिः एव रयिः ॥५॥

सूर्य प्राण-शक्ति का सूचक है, चन्द्र रयि-शक्ति का सूचक है, भोक्तृ-शक्ति को बढाने वाला सूर्य है, भोग्य-शक्ति को बढ़ाने वाला चन्द्र है, सूर्य तथा चन्द्र क्रमशः प्राण तथा रयि हैं क्योंकि इन्हीं से विविध प्रकार की सृष्टि होती है—**'आदित्यः ह वै प्राणः रयिः एव चन्द्रमा'**। रयि भोग्य-शक्ति को कहते हैं। जितना भोग्य-जगत् है वह सब रयि है। भोग्य-जगत् कितना है? संसार में जितना मूर्त तथा अमूर्त पदार्थ है, दीखता है या नहीं दीखता, हमारे सामने है या नहीं सामने है परन्तु किसी भी समय उसे भोगा जा सकता है, वह सब रयि है—**'रयिः वै एतत् सर्वं यत् मूर्तं च अमूर्तं च'**—इसलिये मूर्तिमान् पदार्थ जो भोग्य हैं, वे सब रयि हैं—**'तस्मात् मूर्तिः एव रयिः'**।५।

वैसे तो सूर्य को यहां भोक्ता कोटि में, प्राण की कोटि में रखा गया है, परन्तु ब्रह्म की दृष्टि से सूर्य भी रयि है क्योंकि सूर्य भी मूर्त है, ब्रह्म अथवा जीव उसका भोक्ता है, इसलिये जब ब्रह्म प्राण है, तब सूर्य रयि है—हमने ऊपर कहा है कि 'प्राण' तथा 'रयि' सापेक्षिक शब्द हैं।

ब्रह्म की दृष्टि से भले ही सूर्य भी रयि मान लिया जाय, परन्तु

हमारे लिये तो सूर्य ही प्राण है क्योंकि वही हम में जीवन का संचार करता है, उस जीवन का जिससे हम रयि बन कर संसार का उपयोग करते हैं। सूर्य के द्वारा हमें प्राण-शक्ति कैसे प्राप्त होती है—इसका उल्लेख करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं :

अथ आदित्यः उदयन् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यत् दक्षिणां, यत् प्रतीचीं, यत् उदीचीं, यत् अधः, यत् ऊर्ध्वं, यत् अन्तरा दिशः, यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते ॥६॥

प्रातःकाल सूर्य जब उदय होकर—'**अथ आदित्यः उदयन्**', पूर्व-दिशा में प्रवेश करता है—'**प्राचीं दिशं प्रविशति**', तब वह अपनी प्राण-शक्ति को अपनी किरणों में डाल कर विश्व में फैला देता है—'**तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते**'—ताकि उस प्राण-शक्ति को सूर्य की किरणों से अपने भीतर लेकर हम लोग जीवन का आनन्द लें। हम 'रयि' हैं, सूर्य की किरणें 'प्राण' हैं। चाहे हम दक्षिण में हों, पश्चिम में हों, उत्तर में हों, नीचे हों, ऊपर हों, चाहे इन दिशाओं के बीच में हों—'**यत् दक्षिणां, यत् प्रतीचीं, यत् उदीचीं, यत् अधः, यत् ऊर्ध्वं, यत् अन्तरा**'—सूर्य की किरणें जहाँ-तहाँ भी प्राण-शक्ति द्वारा प्रकाश बिखेरती हैं—'**यत् सर्वं प्रकाशयति**'—जिससे यह स्पष्ट है—'**तेन**'—कि सम्पूर्ण प्राण-शक्तियों को—'**सर्वान् प्राणान्**'—सूर्य अपनी किरणों में धारे रहता है—'**रश्मिषु सन्निधत्ते**'।६।

पिप्पलाद-ऋषि का कहना है कि संसार को दो भागों में बांटा जा सकता है—'प्राण-शक्ति' तथा 'रयि-शक्ति', 'भोक्तृ-शक्ति' तथा 'भोग्य-शक्ति'। भौतिक जगत् में सूर्य प्राण-शक्ति का प्रतिनिधि है, चन्द्र रयि-शक्ति का प्रतिनिधि है। सूर्य की प्राण-शक्ति उसकी किरणों में है—ये किरणें सूर्योदय के समय से प्रारम्भ होकर पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, इन दिशाओं के बीच में, दिन भर प्राण-शक्ति का संचार करती रहती हैं। जितनी प्राण-शक्ति है—लता, वृक्ष, पृथ्वी, पशु, मनुष्य—इन सब में सूर्य की किरणों से प्राण-शक्ति का संचार होता है, उसी प्राण-शक्ति का संचार करने के कारण जीव-जन्तु-मनुष्य संसार का भोग करने में समर्थ होते हैं।६।

सूर्य की वही वैश्वानर तथा विश्वरूप प्राण-शक्ति—'**सः एष वैश्वानरः विश्वरूपः प्राणः**'—संसार में अग्नि के रूप में प्रकट होती है—

'अग्नि: उदयते' । वेद की ऋचा का यही कथन है—**'तत् एतत् ऋचा अभ्युक्तम्'** । द्यु-लोक में जो सौर-शक्ति है, वही भू-लोक में अग्नि-शक्ति है, अग्नि सूर्य का ही क्षुद्र रूप है—सूर्य प्राण-शक्ति का संचार करता है, अग्नि भी प्राण-शक्ति का ही संचार करती है ।७।

वेद की ऋचा ने क्या कहा है—इसका उल्लेख करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं—

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिः एकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानाम् उदयति एषः सूर्यः ॥८॥

सूर्य की प्राण-शक्ति से विश्व का रूप खिलता है—**'विश्व-रूपं'** । जैसे 'विश्व-बन्धु' का अर्थ है, विश्व का बन्धु, वैसे ही 'विश्व-रूप' का अर्थ है, विश्व का रूप, उसी से—सूर्य से—विश्व में रूप आता है । प्राण-शक्ति 'हरिण' है—'हरिण'—अर्थात् 'हरति'—जीवन को हर लेती है, वह न हो तो जीवन नहीं रहता—**'हरिणम्'** । वही सब जगह विद्यमान है, **'जाते जाते विद्यते'—'जात-वेदसम्'** । वही विश्व का परम अयन है—आश्रय है, उसी प्राण-शक्ति के सहारे सारा विश्व टिका हुआ है—**'परायणम्'** । वही एकमात्र ज्योति है—**'ज्योतिः एकम्'** । वह ज्योति परम ताप वाली है—**'तपन्तम्'**, सहस्र किरणों वाली है—**'सहस्ररश्मिः'**, सैकड़ों उसके रूप हैं—**'शतधा वर्तमानः'**, वही सूर्य प्रजाओं का प्राण है—जीवन है—**'प्राणः प्रजानाम्'** । वह प्राण-शक्ति इस सूर्य के रूप में प्रकट हो रही है—**'उदयति एषः सूर्यः'** ।८।

इस ऋचा में पुल्लिग तथा नपुंसक लिंग के भेद को सामने नहीं रखा गया । अगर लिंग-भेद को ध्यान में रखा जाय, तो वाक्य को व्याकरण के अनुसार बनाने के लिये कुछ सन्दर्भ का अध्याहार करना पड़ता है । वैदिक संस्कृत में कहीं-कहीं लिंग-व्यत्यय मिलता है । लिंग-भेद को ध्यान में न रखते हुए पिप्पलाद ऋषि का कहना है कि सृष्टि द्वित्व से उत्पन्न हुई है । इस द्वित्व में दो शक्तियाँ काम कर रही हैं—'प्राण' तथा 'रयि' । सूर्य प्राण-शक्ति का प्रतिनिधि है, चन्द्र रयि-शक्ति का प्रतिनिधि है । क्योंकि जीवन का आधार प्राण है, और प्राण-शक्ति का स्रोत सूर्य है, इसलिये ऋषि सूर्य की महिमा का वर्णन किये जा रहे हैं । सूर्य जीवन के लिये कितना आवश्यक है—प्राण-शक्ति के लिये—इसी पर ज़ोर देने के लिये सूर्य के सम्बन्ध में इस ऋचा में विश्व रूपं,

हरिणं, जातवेदसम्, परायणं, एक ज्योतिः, परंतपं, सहस्ररश्मिः, शतधा वर्तमानः, प्रजानाम् प्राणः—इन विशेषणों का भरपूर प्रयोग किया गया है। सूर्य हमारे लिए प्राण-शक्ति का प्रतीक है इसलिए उसकी महिमा बखानने के लिए प्राण-शक्ति के इतने विशेषण कहे गये हैं।

प्राण तथा रयि का आदि-कारण 'प्रजापति' क्या है?

कबन्धी ने पूछा था, सृष्टि किससे उत्पन्न हुई। पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि प्रजापति ने मिथुन से सृष्टि को उत्पन्न किया। मिथुन का अर्थ है—द्वित्व'—एक नहीं, दो। दो क्या हैं—इसे स्पष्ट करते हुए पिप्पलाद ने कहा कि वे दो हैं—'प्राण' तथा 'रयि'—'कर्तृत्व-शक्ति' तथा 'भोक्तृ-शक्ति'। सारे संसार को 'कर्ता' तथा 'भोक्ता'—इन दो में विभक्त किया जा सकता है। ये दो हों तभी सृष्टि चलती है, एक से सृष्टि नहीं चलती। परन्तु पिप्पलाद ने स्वयं बीच में एक नया प्रश्न उठा दिया—यह प्रश्न कि प्रजापति क्या है, और कौन है? प्रजापति का अर्थ है—जो-कुछ भी उत्पन्न हुआ है उसका कर्ता, उसका स्वामी। पिप्पलाद की विचार-धारा में इस जगह प्रजापति का अर्थ ब्रह्म, परमेश्वर आदि नहीं है। जो भी सृष्टि का आदि-कारण है वह प्रजापति है। सृष्टि का कोई-न-कोई तो आदि-कारण मानना पड़ेगा। कोई 'काल' को सृष्टि का आदि कारण मानते हैं, कोई 'स्वभाव' को, कोई 'नियति' को, कोई 'पंच महाभूतों' को, कोई 'ब्रह्म' को, कोई 'ईश्वर' को। जो भी आदि-कारण है, उसे पिप्पलाद ने 'प्रजापति' का नाम दिया है—प्रजा का पति, अर्थात् सृष्टि का आदि-कारण। मान लो सृष्टि का आदि-कारण ब्रह्म नहीं, ईश्वर नहीं, काल है, समय है। समय का अर्थ है कि काल की गति से, समय बीतते-बीतते सृष्टि बनती-बिगड़ती है। विकासवादियों का कहना है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है, परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं, सृष्टि में परिवर्तन होता रहता है, परिस्थितियों तथा पर्यावरण में अनेक प्रकार का बनना-बिगड़ना होता रहता है। पिप्पलाद का कहना है कि अगर काल ही सृष्टि का रचनेहारा है, तो काल भी द्वित्व को उत्पन्न करेगा। यही बात स्वभाव, नियति, पंच महाभूतों, ब्रह्म तथा ईश्वर के विषय में कही जा सकती है। जो भी सृष्टि का आदि-कारण है, उसी को ऋषि ने प्रजापति कहा है, और साथ यह भी कहा है कि वह आदि-कारण इकला कुछ नहीं कर सकता, उसे

मिथुन—द्वित्व—का सहारा लेना ही पड़ता है, तभी सृष्टि का चक्र चल सकता है। उस द्वित्व का नाम ऋषि ने 'प्राण' तथा 'रयि'—यह दिया है, यह नाम इसलिये दिया है क्योंकि सृष्टि चल ही तब सकती है जब इसमें कोई भोक्ता हो, कोई भोग्य हो, कोई इस्तेमाल करने वाला हो, कोई इस्तेमाल किये जाने जाने वाला हो। पिप्पलाद ने श्वेताश्वतर में गिनाये गये 'काल', 'स्वभाव', 'नियति' आदि में से 'काल' को चुन कर उसे 'संवत्सर' कह कर अपने विचार को आगे बढ़ाया है।

'प्राण' तथा 'रयि' के सिद्धान्त को सृष्टि में घटाते हुए पिप्पलाद ने पहले बतलाया कि जो-कोई भी प्रजापति हो उसे सृष्टि की रचना को आगे बढ़ाने के लिये प्राण का प्रतिनिधि सूर्य तथा रयि का प्रतिनिधि चन्द्र—इस द्वित्व की, मिथुन की कल्पना करनी ही होगी। यह मिथुन न हो तो सृष्टि का चक्र चलता ही नहीं।

सूर्य-चन्द्र से काल का निर्माण होता है। काल को हम किस प्रकार जानते हैं? काल को हम जानते है—संवत्सर, मास, रात-दिन से, इसलिये पिप्पलाद कहते हैं कि अगर काल को—संवत्सर को—प्रजापति मान लिया जाय, तो यहां भी 'प्राण' तथा 'रयि' का मिथुन—द्वित्व—पाया जाता है और उसी से लोक में काल का व्यवहार चलता है। वह कैसे—

> **संवत्सरो वै प्रजापतिः, तस्य अयने दक्षिणं च उत्तरं च। तत् ये ह वै तत् इष्टापूर्ते कृतं इति उपासते ते चन्द्रमसं एव लोकं अभिजयन्ते। त एव पुनः आवर्तन्ते। तस्मात् एते ऋषयः प्रजाकामाः दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एषः ह वै रयिः यः पितृयाणः ॥९॥**

अगर काल की दृष्टि से विचार किया जाय, तो 'संवत्सर' को हम प्रजापति कह सकते हैं—**'संवत्सरो वै प्रजापतिः'**। संवत्सर के—अर्थात् वर्ष के दो मार्ग हैं—दक्षिण तथा उत्तर—**'तस्य अयने दक्षिणं च उत्तरं च'**। छः मास तक सूर्य दक्षिणायन रहता है, छः मास तक उत्तरायण रहता है। दक्षिणायन तथा उत्तरायण के मिल कर ही संवत्सर—वर्ष—बनता है। जो लोग 'इष्ट' (कामना-साधक यज्ञ-यागादि) तथा 'आपूर्त' (कूप-वापी-तड़ागादि का निर्माण)—इतने मात्र को 'बसकर लिया जो करना चाहिये था'—यह मान कर काम करते हैं—**'तत् ये ह वै तत् इष्टापूर्ते कृतं इति उपासते'**, वे चन्द्र-लोक को जीत लेते हैं—

'ते चन्द्रमसं एव लोकं अभिजयन्ते'। और क्योंकि चन्द्र भोग्य-लोक का प्रतिनिधि है—'रयि' है—इसलिये अपनी कामनाओं को भोगने के लिये वे फिर भू-लोक में आते हैं—**'त एव पुनः आवर्तन्ते'**। पुत्र-पौत्रादि की कामना तथा कूप-वापी-तड़ाग आदि बनवाकर यश प्राप्त करने की कामना वाले ये ऋषि—**'तस्मात् एते ऋषयः प्रजाकामाः'**, दक्षिण-मार्ग को प्राप्त करते हैं—**'दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते'**—इसे दक्षिणायन-मार्ग कहा जा सकता है। यह दक्षिणायन-मार्ग ही रयि-मार्ग है, यही पितृयाण-मार्ग है--**'एव ह वै रयिः यः पितृयाणः'** ।९।

इस श्रुति में 'संवत्सर' को प्रजापति कहा गया है और उससे बँधे 'उत्तरायण-दक्षिणायन' तथा 'देवयान-पितृयाण' की चर्चा की गई है। इन तीनों पर कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

प्राण तथा रयि का आदि-कारण संवत्सर-प्रजापति है

संवत्सर ही प्रजापति है—पिप्पलाद ऋषि का यह कहना नहीं है कि संवत्सर—अर्थात् काल—सृष्टि का रचनेहारा है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिप्पलाद ऋषि के सम्मुख ऐसे लोगों के विचार थे, जो 'काल' (Time) को सृष्टि का रचने वाला मानते थे। काल ने सृष्टि को रचा—इसका यह अर्थ नहीं है कि काल कोई ऐसी लौकिक या पारलौकिक सत्ता है, जो सृष्टि का निर्माण करती है। जो लोग काल को सृष्टि का रचयिता मानते हैं उनका कहना इतना ही है कि समय के परिवर्तन के साथ सृष्टि बनती-बिगड़ती रहती है। इस दृष्टि से उनका कहना है कि जो-कुछ होता है समय के कारण ही होता है। हम भी तो आम बोलचाल में कहा करते हैं—समय ही ऐसा आ गया है, वक्त का खेल है। समय तथा इसी प्रकार के तत्त्वों को सृष्टि का कारण मानने वालों की चर्चा श्वेताश्वतरोपनिषद् के दूसरे श्लोक में भी की गई है। वहाँ लिखा है—

कालः स्वभावो नियतिः यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः इति चिन्त्यम्

अर्थात्, यह सोचने की बात है कि सृष्टि का कारण क्या 'काल' है; क्या अपने 'स्वभाव' से ही सृष्टि बना-बिगड़ा करती है; क्या 'नियति', अर्थात् यह नियत है कि जो-कुछ हो रहा है ऐसा होना ही है, हम अपनी इच्छा से इसे बदल नहीं सकते; क्या पाँचों 'महाभूत'—पृथ्वी,

अप्, तेज, वायु, आकाश—ही सृष्टि का निर्माण कर रहे हैं; क्या इन सब से अतिरिक्त कोई चेतन-सत्ता—'पुरुष'—है जो सृष्टि का निर्माण कर रहा है।

पिप्पलाद ने अपनी तरफ़ से इस विषय में इस स्थल में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा कि सृष्टि का निर्माण कौन कर रहा है। जो कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि का निर्माण करता है उनके लिये भी पिप्पलाद का कहना है कि 'ईश्वर' ही प्रजापति है; जो कहते हैं कि काल सृष्टि का निर्माण करता है उनके लिए भी पिप्पलाद का कहना है कि 'काल' ही प्रजापति है; जो कहते हैं कि स्वभाव ही सृष्टि का निर्माण करता है उनके लिए पिप्पलाद का कहना है कि फिर 'स्वभाव' ही प्रजापति है; जो कहते हैं कि पुरुष-विशेष (ईश्वर) सृष्टि का निर्माण करता है उनके लिये पिप्पलाद का कहना है कि 'पुरुष-विशेष' ही प्रजापति है। पिप्पलाद की भाषावली में जो भी सृष्टि का निर्माण करता है उसे वह प्रजापति संज्ञा देता है। हाँ, इतना उसके साथ ज़रूर जोड़ देता है कि वह प्रजापति इकला कुछ नहीं कर सकता, सृष्टि को चलाने के लिये प्रजापति द्वारा मिथुन या द्वित्व का होना या मानना आवश्यक है। अगर संवत्सर या काल प्रजापति है, तो काल के प्राण तथा रयि—ये मिथुन हैं, द्वित्व हैं। इन मिथुनों को दक्षिणायन तथा उत्तरायण कहा जा सकता है, दिन तथा रात या प्राण तथा रयि कहा जा सकता है।

उत्तरायण तथा दक्षिणायन मार्ग

मरने के बाद क्या होता है, इस सम्बन्ध में विचार करते हुए उपनिषदों में आत्माओं को तीन श्रेणियों में बांटा है—पापात्मा, पुण्यात्मा तथा साधारण आत्मा। इन तीनों की भिन्न-भिन्न गतियों का वहाँ वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

(क) **पापात्मा की गति (असुर-लोक)**—ईशोपनिषद् के तीसरे मंत्र में लिखा है—**'असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः तान् प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनः जनाः'**—जो व्यक्ति आत्महत्या करते हैं वे अन्धकारमय असुर लोक को जाते हैं। इसी उपनिषद् के नवें मन्त्र में लखा है—**'अंधं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यां उपासते'**—जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अन्धतमस् में प्रवेश करते हैं। कठोपनिषद्

(१, १, ३) में लिखा है—'**पीतोदकाः जग्धतृणाः दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः अनन्दा नाम ते लोकाः तान् स गच्छति ताः ददत्**'—जो ऐसी गौओं का दान करते हैं जो दूध नहीं दे सकतीं वे आनन्दरहित लोकों में जाते हैं। बृहदारण्यक (४-४-११) में लिखा है—'**अनन्दा नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः तान् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसः अबुधाः जनाः**'—जो अविद्वान् तथा अबुध हैं, वे मर कर आनन्द से शून्य तथा अन्धकार से आवृत लोकों में जाते हैं।

'असुर' लोक क्या है—इस सम्बन्ध में डॉ० आर० जी० भंडारकर का कथन है कि इसका अर्थ असीरिया-देश से है। ग्रीक भाषा में उ तथा इ का व्यत्यय प्रायः पाया जाता है जिससे **असुर** का **असीरिया** हो गया है। उक्त उद्धरणों से अनेक विद्वानों का कथन है कि पापात्मा लोग या तो जीवन-काल में असीरिया की तरफ़ निकाल दिये जाते थे, या यह समझा जाता था कि मर कर वे असुर, अर्थात् अन्धकारमय लोक में जाते थे। द्वितीय अर्थ ही अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार के अर्थ इसलिये किये जाते हैं क्योंकि अनेक धर्मों में पापात्माओं के लिये नरक तथा पुण्यात्माओं के लिये स्वर्ग की कल्पना पायी जाती है। हमारी सम्मति में इन उद्धरणों में स्वर्ग-नरक का वर्णन नहीं है, इन वर्णनों को न समझ कर अन्य धर्मों में इनके आधार पर स्वर्ग-नरक की कल्पना कर ली गई है। इनमें तो इतना ही लिखा है कि जो आत्महन हैं, अविद्वान् हैं, अबुध हैं, अविद्या की उपासना करते हैं, वे आनन्दरहित लोकों में जाते हैं, अन्धकारमय लोकों में। जब इसी भूमि पर आनन्दरहित तथा अन्धकारमय जीवन बिता सकते हैं, तब किसी दूसरे लोक की कल्पना करने की आवश्यकता क्या रहती है?

(ख) पुण्यात्मा की गति (उत्तरायण-गति)—प्रश्नोपनिषद् के जिस स्थल पर हम विवेचन कर रहे हैं उसमें पिप्पलाद-ऋषि ने प्राण-मार्ग को उत्तरायण-गति का मार्ग कहा है।

उत्तरायण-मार्ग की चर्चा करते हुए छान्दोग्योपनिषद् के ४ र्थ प्रपाठक, १५ वें खंड की ५-६ श्रुतियों में लिखा है कि जो श्रद्धा सहित वन में तप करते हैं, चाहे उनकी शव्य-क्रिया की जाय या न की जाय, मरने के बाद उनकी आत्मा तेजोमय मार्ग में प्रवेश करती है। वे क्रमशः तेज से दिवस्, दिवस् से शुक्ल-पक्ष, शुक्ल-पक्ष से उत्तरायण षण्मास में, उत्तरायण षण्मास से संवत्सर, संवत्सर से सूर्य, सूर्य से चन्द्र

तथा चन्द्र से विद्युत् की ओर जाते हैं। वहाँ एक दिव्य-पुरुष उन्हें ब्रह्म के पास ले जाता है। यह मार्ग देवयान या ब्रह्म-पथ कहलाता है। जो इस मार्ग से जाते हैं वे फिर कभी जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते, लौट कर नहीं आते—**'नावर्तन्ते नावर्तन्ते'**—वे मानव से अमानव हो जाते हैं।

मुण्डकोपनिषद् की प्रथम मुंडक के द्वितीय खंड की ग्यारहवीं ऋचा में लिखा है--**'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्र अमृतः सः पुरुषः हि अव्यय आत्मा'**—जो लोग तप साधना करते हैं वे सूर्य-द्वार से वहाँ पहुँचते हैं जहाँ अव्ययात्मा अमृत पुरुष है।

महाभारत में भी भीष्म पितामह के विषय में लिखा है कि जब-तक सूर्य दक्षिणायन में था तबतक उन्होंने प्राण त्याग नहीं किया, सूर्य के उत्तरायण में जाने पर ही प्राण-त्याग किया। इसका आशय यही प्रतीत होता है कि इस कथानक के रचयिता के सामने उपनिषद् का यही विचार काम कर रहा था कि पुण्यात्मा की गति उत्तरायण-गति होती है, दक्षिणायन-गति नहीं होती। उत्तरायण-मार्ग देव-मार्ग कहलाता है, दिव्य-गुण धारण कर भोगों से उपराम हो जाने का मार्ग। यह संन्यास-मार्ग है।

(ग) साधारण आत्मा की गति (दक्षिणायन-गति)—प्रश्नोपनिषद् के जिस स्थल पर हम विचार कर रहे हैं उसमें पिप्पलाद ऋषि ने रयि-मार्ग को दक्षिणायन-मार्ग कहा है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यह मार्ग उत्तरायण के विपरीत मार्ग है, साधारण व्यक्तियों का मार्ग है। जैसे उत्तरायण को देव-मार्ग कहा जाता है, वैसे दक्षिणायन को पितृ-मार्ग कहा जाता है। यह मार्ग उन लोगों का है जो वन में रहकर तप आदि तो नहीं करते, परन्तु नगर-ग्राम में रहकर दान-पुण्य आदि का जीवन व्यतीत करते हैं, कूआँ, तड़ाग, वापी, धर्मशाला आदि बनवा कर, यज्ञ-यागादि करके पुण्य तथा यश कमाना चाहते हैं। इस मार्ग का वर्णन छान्दोग्य ने ५ म प्रपाठक के १० वें खंड की ५-६ श्रुतियों में किया है। जहाँ पुण्यात्मा सूर्य-मार्ग से जाते हैं जो देव-मार्ग है, वहाँ साधारण व्यक्ति धूम्र-मार्ग से जाते हैं जो पितृ-मार्ग है। पितृ-मार्ग से जाने वाले धूम्र से निशा में प्रवेश करते हैं, निशा से कृष्ण पक्ष में, कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन षण्मास में, दक्षिणायन से—किन्तु स्मरण रहे वे संवत्सर तक नहीं पहुँचते—वे पितृ-लोक में चले जाते हैं, पितृ-लोक से स्वर्ग-लोक को, स्वर्ग-लोक से चन्द्र-लोक को। चन्द्रलोक में निवास-काल

समाप्त हो जाने पर वे स्वर्ग लोक में उतरते हैं, और जिस मार्ग से गये थे उसी मार्ग से वापस लौट आते हैं— **'अथ एतं एव अध्वानं पुनः निवर्तन्ते'**। वे आकाश-लोक से वायु-लोक में उतरते हैं, वायु-रूप होकर धूम्र-रूप धारण करते हैं, धूम्र-रूप से अभ्र-रूप, अभ्र-रूप से मेघ-रूप, मेघ-रूप से वृष्टि-रूप में नीचे उतरते हैं। फिर चावल, जौ, वनस्पति, वृक्ष, तिल, उड़द आदि किसी रूप में जा पहुँचते हैं। इससे आगे का मार्ग निरूपण करना कठिन है। मनुष्य जो अन्न खाता है उस अन्न में वे उसका वीर्य बन कर फिर जन्म धारण करते हैं। दक्षिणायन पितृ-मार्ग कहलाता है, माता-पिता बनकर संसार चलाने का मार्ग। यह गृहस्थ-मार्ग है।

गीता में उत्तरायण तथा दक्षिणायन का वर्णन

भगवद् गीता (८-२४-२६) में उपनिषद् के इसी उत्तरायण तथा दक्षिणायन मार्ग की निम्न श्लोकों में चर्चा की गई है:

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता: गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूम्रो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः योगी प्राप्य निवर्तते॥
शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्ति अन्यया ऽऽवर्तते पुनः॥

अर्थात्, उत्तरायण का मार्ग ज्योति का मार्ग है जिस मार्ग से जाने पर ब्रह्म प्राप्त होता है, जिस मार्ग से जाने पर पुनरागमन नहीं होता, दक्षिणायन का मार्ग धूम्र-मार्ग है जिस मार्ग से जाने पर पुनरागमन होता है। संसार में यह शुक्ल तथा कृष्ण गति निरन्तर चला करती है जिसमें एक मार्ग पर चलने से जन्म-मरण से मुक्ति हो जाती है, दूसरे मार्ग पर चलने से जन्म-मरण का सिलसिला बना रहता है।

उत्तरायण का मार्ग साधु-संन्यासियों मार्ग है, उन लोगों का मार्ग जो वन-पर्वत में तपस्या का जीवन बिताते हैं; दक्षिणायन का मार्ग गृहस्थियों का मार्ग है, उन लोगों का मार्ग जो यज्ञ-यागादि करके, दान-दक्षिणा देकर यश प्राप्त करना चाहते हैं। उपनिषत्कार का कहना है कि तपस्वी लोग उत्तरायण के मार्ग से जाते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं

होता, गृहस्थी लोग दक्षिणायन के मार्ग से जाते हैं, उनका पुनर्जन्म होता है—पहला मार्ग देव-मार्ग है, दूसरा पितृ-मार्ग है।

बृहदारण्यक में उत्तरायण का वर्णन

उत्तरायण-दक्षिणायन-गति का सम्बन्ध मृत्यु के बाद क्या होता है—इस बात से है। इसी सम्बन्ध में बृहदारण्यक (४-१०-१) में लिखा है कि मृत्यु के अनन्तर आत्मा वायु-लोक, सूर्य-लोक, चन्द्र-लोक आदि में से गुज़रता है और अन्त में जाकर ऐसे लोक में निवास करता है जहाँ न शोक है, न हिम—बर्फ़—है। वहाँ लिखा है : 'जब पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है तब वह पहले वायु-लोक में जाता है। वहाँ वायु उसके लिये रथ के गुज़रने के लायक द्वार खोल देती है। वहाँ से निकल कर आत्मा ऊपर को चन्द्र-लोक को चढ़ता है। वहाँ उसके गुज़रने के लिए चन्द्र उसके लिए एक दुन्दुभि के बराबर रास्ता खोल देता है जिसमें से होकर आत्मा ऊपर को चढ़ता है। अब वह उस लोक में पहुँच जाता है जहाँ न मन का कष्ट—शोक—है, न शरीर का कष्ट—सर्दी—है। वहाँ आत्मा सदा के लिए निवास करता है।'

यह नहीं कहा जा सकता कि बृहदारण्यक ने आत्मा के जिस लोक में जाने की बात कही है, वह क्या सभी आत्माओं के लिए कहा है, या केवल उत्तरायण-गति या देवयान की आत्माओं के विषय में कहा है। ईशोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद् ने तो आत्मा के सम्बन्ध में दो गतियों का वर्णन किया है—प्रकाश की गति तथा अन्धकार की गति—जिसे अन्य धर्म-पुस्तकों ने स्वर्ग तथा नरक का रूप दे दिया है, परन्तु बृहदारण्यक में सिर्फ़ एक गति का वर्णन है, और वह भी उत्तरायण की गति, जन्म-मरण से रहित अवस्था की गति, आनन्द की गति। इस उपनिषद् में आत्मा की पापात्मा-गति या दक्षिणायन-गति का वर्णन नहीं है।

उपनिषदों के उत्तरायण तथा दक्षिणायन की कल्पना से ही अन्य धर्मों में स्वर्ग तथा नरक की कल्पना की सृष्टि हुई है। प्लेटो ने भी इसी कल्पना को आधार बना कर यह कल्पना की थी कि उच्च आत्मा मर कर आनन्द-लोक में जाता है जिसे उसने 'आनन्द-द्वीप' (Isles of the blessed) नाम दिया है, नीच आत्मा पापियों के लोक में जाता है जिसे उसने निम्न-लोक (Hades) का नाम दिया है।

लोकमान्य तिलक का उत्तरायण-दक्षिणायन-संबंधी-विचार

उपनिषदों तथा गीता में उत्तरायण तथा दक्षिणायन—इन शब्दों का प्रयोग आध्यात्मिक-दृष्टि से किया है। मृत्यु के अनन्तर आत्मा की गति क्या होती है—वह मुक्ति के मार्ग पर चल पड़ता है, या संसार में आवागमन के मार्ग पर चल पड़ता है—इस लक्ष्य को सम्मुख रख-कर उपनिषदों तथा गीता में इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। सूर्य के उत्तरायण में होनेपर अगर मृत्यु हो जाय, तो आत्मा फिर लौट-कर नहीं आता, सूर्य के दक्षिणायन में होने पर मृत्यु हो जाय, तो आत्मा फिर-से जन्म लेता है—यह कुछ ऋषियों का कहना है।

तिलक इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि आर्य-लोग पृथ्वी के ध्रुव बिन्दु पर रहते थे। वहाँ छः महीने का दिन और छः महीने की रात होती है। सूर्य जब पृथ्वी की उत्तर दिशा में होता है, तब वहाँ छः महीने का दिन होता है, जब दक्षिण की दिशा में होता है तब वहाँ छः महीने की रात होती है। उत्तरायण में छः महीने का दिन, दक्षिणायन में छः महीने की रात। छः महीने तक रात में रहना कौन पसन्द करता है? इसलिये वे लोग सूर्य की उत्तरायण-गति को पसन्द करते थे क्योंकि उस गति में उन्हें शीत तथा अन्धकार का निवारण करने के लिये सूर्य का ताप तथा प्रकाश मिलता था, वे दक्षिणा-यन-गति को पसन्द नहीं करते थे क्योंकि उस गति में शीत तथा अन्ध-कार का दुःख भोगना पड़ता था। उत्तरायण के विषय में गीता ने कहा है कि यह छः महीने का अग्नि का, दिन का मार्ग है; दक्षिणायन भी छः महीने का, रात्रि का मार्ग है। उत्तरायण तथा दक्षिणायन मिल कर एक संवत्सर बनाते हैं—एक वर्ष। इससे तिलक का कहना है कि उत्तरायण तथा दक्षिणायन ध्रुव-प्रदेश को सूचित करते हैं। आर्य लोग प्रारम्भ में वहीं रहते थे, वहीं से संसार भर में फैले। ध्रुव-प्रदेश में जो छः महीने का दिन तथा छः महीने की रात होती थी उसे वे नहीं भूले। उनका वर्णन वे लगातार अपने साहित्य में करते रहे। जब वे कहते थे कि अविद्या के उपासक अन्धकार में प्रवेश करते हैं—'**अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यां उपासते**'—तब उनका अभिप्राय यह था कि जो अविद्या की उपासना करते हैं वे ध्रुव-प्रदेश के अन्धकारमय प्रदेश में धकेल दिये जाने योग्य हैं।

तिलक की दृष्टि से उत्तरायण तथा दक्षिणायन शब्दों का संस्कृत-साहित्य में बार-बार प्रयोग उस समय की स्मृति का प्रदर्शन है जब वे ध्रुव-प्रदेश में रहते थे जहाँ छः महीने का दिन, छः महीने की रात, और लम्बा प्रातःकाल होता था। जब छः महीने की रात के बाद छः महीने के दिन का प्रारम्भ होता था, तब इन दोनों के बीच का उषः काल का समय भी तो कई दिनों तक का होता होगा। यह समय अत्यन्त सुहावना होगा। उषः काल सुहावना होता ही है। तिलक का कहना है कि ऋग्वेद में उषः काल के लगभग बीस मंत्र हैं जो अत्यन्त भावपूर्ण हैं। ऋग्वेद में उषा का वर्णन तीन सौ से भी अधिक बार आया है क्योंकि छः महीने अन्धकार में रहते-रहते वे उषा की प्रतीक्षा में व्याकुल हो जाते थे।

तिलक का यह कथन तभी संगत है जब यह मान लिया जाय कि आर्य लोगों का मूल-स्थान ध्रुव-प्रदेश था। अगर सप्त-सैंधव-प्रदेश—जहाँ पश्चमी पंजाब के सातों दरिया मिलते हैं—वह आर्यों का मूल-स्थान रहा हो, अगर वे बाहर से न आकर यहीं के निवासी रहे हों, तब तिलक की विचारधारा कट जाती है, और उत्तरायण और दक्षिणायन का अर्थ वही करना पड़ता है जो उपनिषदों ने, गीता ने तथा पिप्पलाद ऋषि ने किया है।

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तरायण तथा दक्षिणायन का क्या अर्थ किया है ?

पिप्पलाद का उत्तरायण तथा दक्षिणायन संबंधी विचार

मृत्यु के बाद क्या होता है—इसे कौन जानता है, परन्तु इस सम्बन्ध में ईश, कठ, माण्डूक्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, गीता आदि का उत्तरायण तथा दक्षिणायन गति सम्बन्धी जो कथन है, उसका हमने उल्लेख किया। तिलक ने इस विषय में जो कहा है उसका भी हमने वर्णन कर दिया है। पिप्पलाद ऋषि न ईश्वर के, न ब्रह्म के विवाद में पड़ते हैं, न मृत्यु के बाद आत्मा के उत्तरायण-दक्षिणायन के झमेले में पड़ते हैं। उन्होंने इन सब विचारों को 'प्राण' तथा 'रयि'—इन दो में समेट दिया है। उनका कहना है कि विश्व की हर बात—जीवन हो, मृत्यु हो—द्वित्त्व में बंट जाती है। इस द्वित्त्व को वे मिथुन भी

कहते हैं। ये द्वित्व हैं—'प्राण' तथा 'रयि'। 'प्राण' सृष्टि का 'धनात्मक' (Positive) पक्ष है, 'रयि' सृष्टि का 'ऋणात्मक' (Negative) पक्ष है। हर क्षेत्र में प्राण तथा रयि, धन तथा ऋण की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। जो लोग 'उत्तरायण' की बात कहते हैं, वह प्राण है, जो लोग 'दक्षिणायन' की बात कहते हैं, वह रयि है—धनात्मक तथा ऋणात्मक। जो लोग 'स्वर्ग' की बात कहते हैं, वह प्राण है, आत्मा की धनात्मक स्थिति है, जो लोग 'नरक' की बात कहते हैं, वह रयि है, आत्मा की ऋणात्मक स्थिति है। जो लोग देवलोक की बात कहते हैं, वह धनात्मक लोक है, जो लोग पितृलोक की बात कहते हैं, वह ऋणात्मक लोक है। पिप्पलाद ने सृष्टि की रचना को दो भागों में बांट दिया है—प्राण तथा रयि। जीवन पर विचार करें, तो प्राण तथा रयि की परिभाषा में सोच सकते हैं, मृत्यु पर विचार करें, तो भी इसी परिभाषा में सोच सकते हैं। जीवन दो तरह का है—अध्यात्म-मार्ग का जीवन, भौतिक-मार्ग का जीवन। इसी को कठोपनिषद् में यमाचार्य ने श्रेय तथा प्रेय कहा है। मृत्यु भी दो तरह की है—फल का पक कर गिर जाने की तरह या सड़ कर झड़ जाने की तरह। इन में पहला प्राण है, दूसरा रयि है। मृत्यु के अनन्तर आत्मा की जो स्थिति होती है वह भी दो तरह की है—सौर-गति या तामिस्र-गति। सूर्य की किरणों के सहारे आत्मा भिन्न-भिन्न क्रमों से गुज़रता हुआ ब्रह्मलोक में पहुंचता है, या धूम्र-गति से ऊपर चढ़ कर नीचे उतर आता है—इस विवाद में न पड़ कर पिप्पलाद पहली स्थिति को प्राण तथा दूसरी स्थिति को रयि कह कर अपनी छुट्टी कर लेते हैं। पिप्पलाद ने उत्तरायण-दक्षिणायन, इष्टापूर्त आदि सब शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु अपनी टेक इसी बात पर तोड़ी है कि सृष्टि का उद्‌गम प्राण तथा रयि के द्वित्व पर ही आश्रित है, फिर भले ही उस द्वित्व का विस्तार किसी प्रकार भी कर लिया जाय—उत्तरायण-दक्षिणायन के द्वित्व द्वारा, देवयान-पितृयाण के द्वित्व द्वारा, सूर्य-चन्द्र के द्वित्व द्वारा, दिन-रात्रि के द्वित्व द्वारा, जीवन-मृत्यु के द्वित्व द्वारा, प्रकाश-अन्धकार के द्वित्व द्वारा।

देवयान तथा पितृयाण मार्ग

हम अभी प्रश्नोपनिषद् की ९ वीं ऋचा पर विचार कर रहे हैं। उस ऋचा के अन्त में 'पितृयाणाः'—यह शब्द आया है। पिप्पलाद ऋषि का कहना है—'**एष ह वै रयिः यः पितृयाणः**', अर्थात् रयि का मार्ग पितृयाण-मार्ग है। ऋग्वेद (१०-८८,१५) में दो मार्गों का उल्लेख है। वहाँ लिखा है :

द्वे सृती अशृणवं पितृणां अहम् देवानां उत मर्त्यानाम्

अर्थात्, मर्त्यानाम्—मनुष्यों के—दो मार्ग सुने हैं—पितृमार्ग तथा देवमार्ग। इन्हीं दो मार्गों को पितृयाण तथा देवयान कहा जाता है। ये दो मार्ग कौन-से हैं ? इस सम्बन्ध में तीन विचार पाये जाते हैं जिन पर प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है :

(क) डा० सम्पूर्णानन्द का विचार—डा० सम्पूर्णानन्द उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री रहे थे, परन्तु वे प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे। उन्होंने 'आर्यों का आदि-देश'—इस नाम से एक ग्रन्थ लिखा था। उसके ११वें अध्याय में वे लिखते हैं :

'देवयान का अर्थ है—देवों का मार्ग, और पितृयाण का अर्थ है—पितरों का मार्ग। देवयान वह सड़क है जिससे देवगण यज्ञ में दिये हुए हव्य को लेने पृथ्वी पर आते हैं और पुण्यातमा मनुष्य शरीर छोड़ने पर स्वर्गादि ऊपर के लोक में जाते हैं। पितृयाण वह सड़क है जिससे पितृ-गण अपनी सन्तान के दिये हुए हव्य को ग्रहण करने के लिये पृथिवी पर आते हैं, और साधारण मनुष्य शरीर छोड़ने पर पितृलोक और यम-सदन को जाते हैं। देवयान प्रकाशमय और पितृयाण अन्धकारमय हैं।' डॉ० सम्पूर्णानन्द का यह विचार सम्पूर्ण सनातन-धर्म का है। इसी विचार के आधार पर श्राद्ध आदि किये जाते हैं।

(ख) लोकमान्य तिलक का विचार—लोकमान्य तिलक कहते हैं कि वैदिक-काल में देवयान उत्तरायण और पितृयाण दक्षिणायन का नाम था। दोनों छः-छः महीने के थे। दोनों मिलकर एक संवत्सर—वर्ष—के बराबर होते थे। देवयान उत्तरीय ध्रुव-प्रदेश (North Pole) का छः मास का लम्बा दिन था, और पितृयाण वहाँ की छः मास की लम्बी रात थी। तिलक का यह विचार हम ऊपर लिख आये हैं।

(ग) पिप्पलाद ऋषि का विचार—पिप्पलाद ऋषि का विचार

उक्त दोनों विचारों से भिन्न है। इस ऋषि का कहना है कि उत्तरायण तथा देवयान दोनों का एक ही अर्थ है, दक्षिणायन तथा पितृयाण का भी एक ही अर्थ है। उत्तरायण तथा देवयान प्राण-मार्ग हैं, दक्षिणायन तथा पितृयाण रयि-मार्ग हैं। सृष्टि दो भागों में विभक्त है—प्राण तथा रयि, भोक्ता तथा भोग्य, धन तथा ऋण, पाज़िटिव (Positive) तथा नेगेटिव (Negative)। इन दोनों में प्राण-शक्ति जीवन की प्रतिनिधि है, रयि-शक्ति मृत्यु की प्रतिनिधि है, प्राण-शक्ति अध्यात्म है, रयि-शक्ति अधिभूत है। इन दोनों में प्राण का मार्ग रयि के मार्ग से उत्कृष्ट है—प्राण-मार्ग श्रेय-मार्ग है, रयि-मार्ग प्रेय-मार्ग है।

वैसे तो सृष्टि की रचना में प्राण तथा रयि दोनों का योगदान है, फिर भी पिप्पलाद के लिये जो-कुछ है, वह प्राण है क्योंकि प्राण जीवन का प्रतिनिधि है, रयि मृत्यु का प्रतिनिधि है, इसलिये प्राण की महत्ता दर्शाते हुए वे उत्तरायण की चर्चा करते हैं और कहते हैं :

अथ उत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानं अन्विष्य
आदित्यं अभिजयन्ते। एतत् वै प्राणानाम् आयतनम्,
एतत् अमृतं अभयं, एतत् परायणं, एतस्मात् न पुनः आवर्तन्ते,
इति एषः निरोधः, तत् एषः श्लोकः ॥१०॥

अर्थात्, जो व्यक्ति उत्तरायण-मार्ग का अवलम्बन करते हैं - प्रवृत्ति-मार्ग के स्थान में निवृत्ति-मार्ग पर, प्रेय के स्थान में श्रेय-मार्ग पर, रयि के स्थान में प्राण मार्ग पर चलते हैं—**'अथ उत्तरेण'**—'उत्' का अर्थ है ऊपर उठना, 'उत्तर' का अर्थ हुआ (उत्+तर) तुलना की दृष्टि से अधिक ऊपर उठ जाना—ऐसे व्यक्ति तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा तथा विद्या के सहारे आत्मा को पा लेते हैं और आत्मा को पाकर **'तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्यया आत्मानं अन्विष्य'**—आदित्य लोक को जीत लेते हैं—**'आदित्यं अभिजयन्ते'**। चन्द्र-लोक 'रयि'-प्रधान है, आदित्य-लोक 'प्राण'-प्रधान है। आदित्य—सूर्य—प्राण-शक्ति का आयतन है, भंडार है—**'एतत् वै प्राणानाम् आयतनम्'**; सूर्य से प्राप्त होने वाली प्राण-शक्ति अमरता देने वाली है, अभय देने वाली है—**'एतत् अमृतम् अभयम्'**; यही मार्ग हम सबकी गति का परम-लक्ष्य है—**'एतत् परायणम्'**। अध्यात्म-गति के इस लक्ष्य को पाकर मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है; जो यहाँ पहुंच जाते हैं, वे फिर लौटकर नहीं आते—**'एतस्मात् न पुनः आवर्तन्ते'**; जन्म-जन्मान्तर की गति का यह

निरोध-स्थल है—**'इति एषः निरोधः'**—यहाँ आकर मानव की जन्मों-जन्मों की गति रुक जाती है क्योंकि उसी लक्ष्य को पाने के लिये ही तो—ऊर्ध्वगामी होने के लिये ही तो—उत्तरायण-मार्ग अवलम्बन किया जाता है।१०।

यह प्रकरण 'संवत्सर' से प्रारंभ हुआ है। 'संवत्सर' अर्थात्—'काल'—'काल' जिसका ज्ञान 'सूर्य' के कारण होता है। सूर्य ही दिन-रात, पहर, घंटा, मिनट, सैकेन्ड का निर्माण करता है। उसी सूर्य की प्रशंसा में किसी सूक्तिकार ने एक श्लोक कहा है जिसका उल्लेख प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार किया गया है :

पंचपादं पितरं, द्वादश आकृतिं, दिवः आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथ इमे अन्ये उ, परे विचक्षणं, सप्तचक्रे, षडरे, आहुः अर्पितम्
इति।११।

सूर्य एक पाँच पाओं वाला पितर है—पितर, अर्थात् सब को प्राण-शक्ति देकर पालने हारा—**'पंचपादं पितरम्'**। वैसे तो सूर्य के कारण छः ऋतु होती हैं, परन्तु यहाँ हेमन्त तथा शिशिर को एक मानकर छः की जगह पाँच ऋतुओं का उल्लेख किया गया है—ये पाँच ऋतुएँ उसके पाँच पाद हैं। बारह मासमानो सूर्य की बारह आकृतियाँ हैं—**'द्वादश आकृतिम्'**। जब सूर्य उदय होकर, आसमान में चढ़ कर, सायंकाल में अस्त होता है, तब मानो द्यु-लोक के इस आधे हिस्से में जाकर शयन कर लेता है—**'दिवः आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्'**। कुछ अन्य सूक्तिकारों ने—**'अथ इमे अन्ये उ'**, इस परम-विचक्षण—**'परे विचक्षणं'**, अन्तरिक्ष में अत्यन्त ऊपर जाकर विश्व को देखने वाले सूर्य का वर्णन दूसरी तरह से किया है। वे अपनी सूक्तियों में कहते हैं कि यह सब को प्राणशक्ति देनेवाला, सूर्य-पितर, सात चक्रों—सात रंगों की किरणों—**'सप्तचक्रे'** तथा छः ऋतु रूपी अरों—**'षडरे'**—में अर्पित, विराजमान कहा जाता है—**'आहुः अर्पितम् इति'**।११।

उक्त ऋचा में तो सिर्फ़ सूर्य की प्रशंसा करते हुए उसे पितर कहा गया है क्योंकि सूर्य अपनी प्राण-शक्ति से सबका पालन करता है, परन्तु इस ऋचा से पहली १०वीं ऋचा में जो-कुछ कहा गया है वह विशेष महत्त्व का है। उस ऋचा में क्या कहा गया है?

पिप्पलाद ऋषि का कहना है कि उत्तरायण-मार्ग आत्मा के अन्वेषण का मार्ग है। ऋषि ने—**'आत्मानं अन्विष्य'**—इन शब्दों का

प्रयोग किया है। **आत्मान्वेषण** के वहाँ चार साधन बतलाये हैं—तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या। जब ये छः ऋषि पिप्पलाद के पास आये थे, तब उनसे कहा गया था—**'तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया संवत्स्यथ'**—तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से एक साल तक आश्रम में निवास करो। इन तीन साधनों से जिस वस्तु की प्राप्ति होती है वह है—'विद्या'—'ज्ञान'—इसीलिये १०वीं ऋचा में पहले तीन साधनों को दोहरा कर उनके साथ चौथी वस्तु 'विद्या' को जोड़ दिया—**'तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्यया'**—यह कहा।

उपनिषदों में जगह-जगह इन साधनों की चर्चा है। केन उपनिषद् (४-८) में ब्रह्म-ज्ञान की प्रतिष्ठा, तप, दम तथा कर्म—इन तीन से कही गई है; प्रश्न उपनिषद् (१-१०) में आत्मान्वेषण के साधन तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा तथा विद्या बतलाये गये हैं। शरीर की साधना का नाम तप है, मन की साधना का नाम केन उपनिषद् में दम कहा है, प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्मचर्य कहा है। दम तथा ब्रह्मचर्य—इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है—दोनों का अर्थ मन की साधना है। मन संकल्प-विकल्प में उलझा रहता है। इस उलझन में से निकलने के दो ही रास्ते हैं। या तो मनुष्य कर्म में जुट जाय, मन के तर्कों को विदा कर दे, या तर्क-वितर्कों को छोड़कर श्रद्धा का जीवन व्यतीत करे। तर्क-वितर्कों को विदा करके **'कर्म'** में जुट जाने का मार्ग केन उपनिषद् ने बतलाया, तर्क-वितर्कों को भुलाकर **'श्रद्धा'** से जीवन व्यतीत करने का रास्ता प्रश्नोपनिषद् ने बतलाया। ब्रह्म-ज्ञानी के जीवन के आधार तप, दम और कर्म हैं; ब्रह्म-ज्ञान के जिज्ञासु के जीवन के आधार तप, ब्रह्मचर्य (दम) और श्रद्धा हैं। जिज्ञासु श्रद्धा को लेकर आता है, ब्रह्म-ज्ञानी को श्रद्धा की आवश्यकता नहीं रहती, वह कर्म में निमग्न रहता है। श्रद्धा की अन्तिम परिणति विद्या में होती है।

केन उपनिषद् ने कर्म-मार्ग का प्रतिपादन किया, प्रश्न उपनिषद् ने ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन किया। पिप्पलाद ऋषि के कथन के अनुसार ज्ञान-मार्ग कर्म-मार्ग से ज़्यादा उत्कृष्ट है। प्रो० दीवानचन्द के शब्दों में प्रश्नोपनिषद् के आत्मान्वेषण के इन चार साधनों में कर्म और ज्ञान की तुलना की गई है। वे कहते हैं कि कर्म में वासना का अंश होता है, उसका सीमित फल होता है, जिस फल के लिये कामना की गई है उस तक फल सीमित रहता है, ज्ञान या आत्मान्वेषण का **फल सीमित नहीं**

होता, उसका क्षेत्र तो ज्ञानमात्र है, इसलिये सकाम-कर्म ज्ञान से निचले स्तर का है।

प्राण तथा रयि के विचार का सर्वत्र विनियोग

प्राण तथा रयि का विचार उपनिषदों में सिर्फ़ प्रश्न उपनिषद् में पाया जाता है। पिप्पलाद ने इस विचार को विश्व भर में घटाने का प्रयत्न किया है। ऋषि का कहना है कि संसार में सर्वत्र द्वित्व का नियम काम कर रहा है, इस द्वित्व में भी एक शक्ति भोक्ता है, दूसरी भोग्य है। भोक्ता-भोग्य का विचार भी सापेक्ष है। जो भोक्ता है वह किसी अन्य की दृष्टि से भोग्य है। इसी विचार का विस्तार करते हुए पिप्पलाद कहते हैं—

मासः वै प्रजापतिः, तस्य कृष्णः पक्षः एव रयिः, शुक्लः प्राणः। तस्मात् एते ऋषयः शुक्ले इष्टं कुर्वन्ति, इतरे इतरस्मिन् ।।१२।।

पहले ९वीं ऋचा में संवत्सर—वर्ष—को दो भागों में बांट कर दक्षिणायन के छः मासों को रयि कहा था, उत्तरायण के छः मासों को प्राण कहा था। क्योंकि रयि तथा प्राण सापेक्षिक शब्द हैं इसलिये १२वीं ऋचा में मास को दो भागों में बांट कर कृष्णपक्ष को रयि तथा शुक्लपक्ष को प्राण कहा है। इस ऋचा में संवत्सर को प्रजापति कहने के स्थान में मास को प्रजापति कहा है—**'मासः वै प्रजापतिः'**। मास का कृष्णपक्ष रयि है—**'तस्य कृष्णः पक्षः रयिः'**, उसका शुक्लपक्ष प्राण है—**'शुक्लः प्राणः'**। इसलिये ऋषि लोग—**'तस्मात् एते ऋषयः'**, यज्ञ-यागादि इष्ट-कर्म शुक्ल-पक्ष में करते हैं—**'शुक्ले इष्टं कुर्वन्ति'**—क्योंकि शुक्ल-पक्ष प्राण का प्रतिनिधि है, दूसरे लोग—**'इतरे'**—अपने काम कृष्ण-पक्ष में करते हैं—**'इतरस्मिन्'**। अभिप्राय यह है कि मास को प्रजापति माना जाय, तो 'प्राण' का उपासक अपने जीवन में हर समय शुक्ल-पक्ष का उजाला बनाये रखता है, 'रयि' का उपासक अपने जीवन में हर समय कृष्ण-पक्ष का अन्धेरा बनाये रखता है। जिसके जीवन में उजाला है उसके जीवन में मानो शुक्लपक्ष है, उसका प्राण-शक्ति का जीवन है, जिसके जीवन में अन्धेरा है उसके जीवन में मानो कृष्णपक्ष है, उसका रयि-शक्ति का जीवन है ।।१२।।

'संवत्सर' को प्रजापति कहा, 'मास' को प्रजापति कहा, अब 'दिन-रात' को प्रजापति कहते हैं। संवत्सर में उत्तरायण प्राण है, दक्षिणायन रयि है; मास में शुक्लपक्ष प्राण है, कृष्णपक्ष रयि है; दिन-रात में दिन प्राण है, रात रयि है।

अहोरात्रो वै प्रजापतिः, तस्य अहः एव प्राणः, रात्रिः एव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति, ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यं एव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

दिन-रात को अगर प्रजापति मान लें—'**अहोरात्रो वै प्रजापतिः**'—तो दिन प्राण-शक्ति का प्रतिनिधि है—'**तस्य अहः एव प्राणः**', और रात्रि रयि-शक्ति की प्रतिनिधि है—'**रात्रिः एव रयिः**'। वे प्राण-शक्ति को नष्ट कर देते हैं—'**प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति**', जो दिन को रति-कर्म में जुट जाते हैं—'**ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते**'। यह तो ब्रह्मचर्य ही है—'**ब्रह्मचर्यं एव तद्**', जो रात्रि में रति-कर्म करते हैं—'**यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते**'।१३।

इस प्रकरण में पिप्पलाद ऋषि दिन और रात में प्राण तथा रयि को घटाते हुए रति का वर्णन करने लगे हैं। दिन का प्राण के साथ तथा रात्रि का रयि के साथ सम्बन्ध है। पिप्पलाद की दृष्टि में दिन में रति-कर्म से प्राण-शक्ति का नाश होता है, इसलिये उन्होंने इस कर्म को रात्रि पर छोड़ दिया है। मनुष्य दिन में उद्योग-धन्धों में लगा रहता है जिससे उसकी प्राण-शक्ति का व्यय होता है। इस व्यय के साथ अगर भोग-विलास को भी दिन के शक्ति-व्यय के साथ जोड़ दिया जाय, तो प्राण-शक्ति का सर्वतोमुखी ह्रास होगा—यह पिप्पलाद का विचार है जो बुद्धिसंगत है।

संवत्सर, मास, अहोरात्र को प्रजापति कहा—इनमें प्राण तथा रयि का क्या रूप है, यह भी बतलाया, परन्तु असली प्रजापति अन्न है क्योंकि अन्न से ही वीर्य बनता है, वीर्य से प्रजा की, सन्तान की उत्पत्ति होती है। इसलिये अन्न को प्रजापति मान कर विचार किया जाय, तो प्राण क्या है, रयि क्या है? इस बात को स्पष्ट करने के लिये अगली श्रुति में कहा है—

अन्नं वै प्रजापतिः, ततः ह वै तद् रेतः, तस्मात् इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति ॥१४॥

जैसे संवत्सर, मास, अहोरात्र प्रजापति हैं, वैसे अन्न तो निश्चय से प्रजापति है—**'अन्नं वै प्रजापतिः'**। अन्न से वीर्य बनता है—**'ततः ह वै तद् रेतः'**। वीर्य से ही ये सन्तानें उत्पन्न होती हैं—**'तस्मात् इमाः प्रजाः प्रजायन्ते इति'**। जिस विचारधारा का पिप्पलाद प्रतिपादन कर रहे हैं उसके अनुसार 'वीर्य' प्राण है, 'प्रजा'—सन्तान—रयि है क्योंकि वीर्य भोक्ता है, धन-शक्ति है, प्राण-शक्ति है, प्रजा उससे उत्पन्न होने के कारण भोग्य है, ऋण-शक्ति है या रयि-शक्ति है। इस प्रकार प्रजा का उत्पन्न होना या करना **'प्रजापति-व्रत'** कहाता है।

प्रजापति-व्रत 'मिथुन'—'द्वित्व'—को स्वीकार करना है

पिप्पलाद ने संसार में व्याप रहे प्राण तथा रयि के द्वित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके उसे संवत्सर, मास, अहोरात्र तथा अन्न में घटा कर दिखाया। उनसे कबन्धी ने प्रश्न किया था—**'कुतः ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते'**—किस से प्रजाओं की उत्पत्ति होती है? पिप्पलाद ने उत्तर दिया—द्वित्व से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। द्वित्व से सृष्टि की उत्पत्ति होती है—इस सिद्धान्त को प्राण तथा रयि—इस परिभाषा को लेकर आध्यात्मिक-जगत् में घटाकर दिखलाया, अन्त में भौतिक-जगत् में वीर्य से प्रजा की उत्पत्ति होती है—मैथुन से प्रजा की उत्पत्ति होती है—यहाँ तक लाकर अपने उत्तर को विराम दे दिया। पिप्पलाद का कहना है कि द्वित्व ही उत्पत्ति का कारण है, इसे उन्होंने अगली ऋचा में कहा—

> **तत् ये प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनम् उत्पादयन्ते।**
> **तेषां एव एषः ब्रह्मलोकः, येषां तपः, ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं**
> **प्रतिष्ठितम् ॥१५॥**

जो लोग प्राण तथा रयि दोनों का समन्वय करके जीवन बिताते हैं, ऐसा जीवन जिसे पिप्पलाद ने 'प्रजापति-व्रत' कहा है—**'तत् ये प्रजापतिव्रतं चरन्ति'**—वे मिथुन को उत्पन्न करते हैं—अर्थात्, इस बात को समझ जाते हैं कि न प्राण-शक्ति ही अन्तिम तत्त्व है, न रयि-शक्ति ही अन्तिम तत्त्व है, इन दोनों का मेल ही जीवन का रहस्य है—**'ते मिथुनं उत्पादयन्ते'**। इस प्रकार प्राण तथा रयि के समन्वय से मानो जिनका जीवन बनता है उनका ब्रह्मलोक में निवास हो जाता

है—**'तेषां एव एषः ब्रह्मलोकः'**। ऐसे लोग वे हैं जो तप तथा ब्रह्मचर्य से जीवन बिताते हैं—**'येषां तपः, ब्रह्मचर्यं'**। उनके जीवन में मानो सत्य आकर प्रतिष्ठित हो जाता है—**'येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्'**।१५।

ऐसे व्यक्तियों के संदर्भ में श्रुति का कहना है :

तेषां असौ विरजः ब्रह्मलोकः, न येषु जिम्हम् अनृतम्, न माया च इति ।१६।

उनका निवास निर्मल ब्रह्मलोक में होता है—**'तेषां असौ विरजः ब्रह्मलोकः'**। उनके लोक में कुटिलता नहीं होती—**'न येषु जिम्हम्'**, असत्य नहीं होता—**'न अनृतम्'**, छल-कपट-प्रपंच नहीं होता—**'न माया च इति'**।१६।

२. भृगु-गोत्री वैदर्भि का प्रश्न—सृष्टि को कौन धारण करता है ?

पहला प्रश्न कबन्धी का था। उसने पूछा था कि सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है। पिप्पलाद ने उसे उत्तर में प्राण तथा रयि का महत्त्व समझाया। पिप्पलाद ने कहा कि सृष्टि के घटक-तत्त्व ने, जिसका नाम उसने प्रजापति रखा, सृष्टि की रचना में प्राण तथा रयि के द्वित्व से सहायता ली। इन दोनों में प्राण-शक्ति को उसने मुख्य कहा। इसके अनन्तर भृगु-गोत्री वैदर्भि ने प्रश्न किया। प्रश्न यह था कि सृष्टि की रचना हो जाने पर कौन इसे धारण करता है, किसके सहारे यह टिकी रहती है, यह बिखर क्यों नहीं जाती ?

अथ ह एनं भार्गवः वैदर्भिः पप्रच्छ, भगवन् ! कति एव देवाः प्रजां विधारयन्ते। कतरे एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनः एषाम् वरिष्ठः इति ॥१॥

अब दूसरे प्रश्न में पिप्पलाद से भृगु-गोत्री वैदर्भि ने पूछा—**'अथ ह एनं भार्गवः पप्रच्छ'**—हे भगवन् ! कृपा कर यह बतलाइये कि कितने देव इस उत्पन्न हुई सृष्टि को—**'भगवन्, कति एव देवाः प्रजां'**, धारण करते हैं—**'विधारयन्ते'**, और कौन-से देव इस सृष्टि को प्रकाशित करते हैं, इसका ज्ञान कराते हैं—**'कतरे एतत् प्रकाशयन्ते'**। फिर भी यह बतलाइये कि इन देवताओं में से कौन-सा देव सब से मुख्य और श्रेष्ठ है—**'कः पुनः एषाम् वरिष्ठः इति'**।१।

तस्मै सः ह उवाच, आकाशः ह वै एषः देवः; वायुः अग्निः आपः पृथिवी; वाक् मनः चक्षुः क्षोत्रं च । ते प्रकाश्य अभिवदन्ति, वयम् एतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयामः ।।२।।

पिप्पलाद ने वैदर्भि को उत्तर दिया—**'तस्मै सः ह उवाच'**, कि वह देवता जो सृष्टि को थामे हुए है यह सामने फैला हुआ आकाश है—**'आकाशः ह वै एषः देवः'**। आकाश को इसलिये कह दिया क्योंकि आकाश ही सर्वत्र फैला हुआ है। यह भी सोचा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड को वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ने—**'वायुः अग्निः आपः पृथिवी'**, और पिंड को वाणी, मन, आँखों तथा कानों ने—**'वाक् मनः चक्षुः क्षोत्रं च'**—प्रकाशित किया हुआ है। अगर ऐसा मान लें तो उनमें विवाद छेड़ कर देख लो। मान लो कि उनमें विवाद छिड़ गया। तब क्या होगा? वे सामने प्रकट होकर—**'प्रकाश्य'**, कह रहे हैं—**'अभिवदन्ति'**, कि हम ब्रह्मांड तथा पिंड के इस छप्पर को **'वयं एतद् वाणं'**—थाम कर धारण कर रहे हैं—**'अवष्टभ्य विधारयामः'**।

संसार को कौन धारण कर रहा है, यह बिखर कर छितर क्यों नहीं जाता, इसका सीमेन्ट क्या है—यह प्रश्न वैदर्भि ने उठाया। इस प्रश्न की चर्चा केन उपनिषद् (प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय खंड) में भी पायी जाती है। वहाँ पिंड के वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, प्राण आदि के आधारभूत आत्मा का तथा ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, इन्द्र आदि के आधारभूत ब्रह्म का वर्णन है। छान्दोग्य (पंचम प्रपाठक, प्रथम खंड) में प्राण तथा इन्द्रियों में विवाद का उल्लेख करते हुए कहा है कि इनमें ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ कौन-सा है। वहाँ प्राण को ही सबसे ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ घोषित किया गया है। इसी प्रकार की चर्चा बृहदारण्यक (प्रथम अध्याय, तीसरा अध्याय) में पायी जाती है।

प्राण ही ब्रह्मांड तथा पिंड को धारण किये हुए है

तो फिर, सृष्टि को किसने धारण किया हुआ है? पिप्पलाद तो कबन्धी के प्रश्न पर ही उत्तर दे चुके हैं। उनका कहना है कि सृष्टि में प्राण ही मुख्य तत्त्व है। इसी पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए वैदर्भि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कथानक के रूप में पिप्पलाद ऋषि कहते हैं :

तान् वरिष्ठः प्राणः उवाच, मा मोहम् आपद्यथ, अहम् एव एतद् पंचधा आत्मानं प्रविभज्य, एतद् बाणं अवष्टभ्य विधारयामि इति। ते अश्रद्धानाः बभूवुः ॥३॥

जब प्राण को मालूम हुआ कि जड़-जगत् के पाँचों महाभूत तथा चेतन-जगत् की पाँचों इन्द्रियाँ अपनी-अपनी डींग हाँकने लगी हैं, तब उन सब में वरिष्ठ प्राण ने उनसे कहा—'**तान् वरिष्ठः प्राणः उवाच**'—कि मूर्खतापूर्ण अभिमान में मत पड़ो—'**मा मोहम् आपद्यथ**'। तुम नहीं, मैं ही अपने को पाँच प्राणों में बाँट कर—'**अहम् एव एतद् पंचधा आत्मानं प्रविभज्य**'—जड़-चेतन सृष्टि के इस छप्पर को थाम कर—'**एतद् बाणं अवष्टभ्य**'—इसका धारण कर रहा हूँ—'**विधारयामि इति**'। जब प्राण ने कहा कि जड़-चेतन को वही थामे हुए है, तब पाँचों महाभूत तथा पाँचों इन्द्रियों ने इस बात को मानने में अश्रद्धा प्रकट की—'**ते अश्रद्धानाः बभूवुः**'। उन्होंने प्राण की बात को मानने से इन्कार कर दिया।३।

यहां प्राण ने कहा है कि मैं पाँच प्रकार से पाँचों महाभूतों, पाँचों इन्द्रियों को थामे हुए हूँ। प्राण के पाँच प्रकार हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान। इन पाँच प्राणों की चर्चा अश्वल के पुत्र कौशल्य के प्रश्न के उत्तर में की जायगी जो तीसरा प्रश्न है। पहले प्रश्न के उत्तर में 'प्राण' तथा 'रयि' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया, दूसरे प्रश्न के उत्तर में 'प्राण' के महत्त्व पर प्रकाश डाला, तीसरे प्रश्न के उत्तर में प्राणों के पाँच प्रकारों—प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान—की चर्चा होगी। जब प्राण ने देखा कि जड़-जगत् के पंचों महाभूत तथा चेतन-जगत् की पाँचों इन्द्रियाँ उसका तिरस्कार कर रही हैं, तब क्या हुआ?

सः अभिमानात् उर्ध्वं उत्क्रमते इव, तस्मिन् उत्क्रामति अथ इतरे सर्वे एव उत्क्रामन्ते, तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते। तत् यथा मक्षिकाः मधुकरराजानं सर्वाः एव उत्क्रामन्ते, तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने सर्वाः एव प्रातिष्ठन्ते, एवं वाक् मनः चक्षुः श्रोत्रं च। प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥४॥

जब प्राण ने देखा कि जड़-जगत् के पाँचों महाभूत तथा चेतन-जगत् की पाँचों इन्द्रियाँ—ये सब कह रहे हैं कि सृष्टि उन्हीं के कारण थमी हुई है—इस प्रचंड भौतिकवाद को देखकर प्राण से रहा न गया, वह मानो अभिमान से जड़-चेतन में से निकल कर मानो ऊपर को उत्क्रमण

करने लगा—'**सः अभिमानात् उत्क्रमते इव**'। उसने उत्क्रमण का प्रारम्भ किया ही था कि जड़-जगत् के पाँचों महाभूत तथा चेतन-जगत् की पाँचों इन्द्रियाँ भी अपनी जड़ से हिल गईं और वे भी उसके साथ ही निकलने को हुईं—'**तस्मिन् उत्क्रामति अथ इतरे सर्वे उत्क्रामन्ते**'। इतना ही नहीं, जब प्राण फिर-से जम गया—'**तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने**'—तब उसके साथ ही वे भी जम गईं—'**सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते**'। यह ऐसा ही हुआ जैसे मधुमक्खियाँ—'**तत् यथा मक्षिकाः**'—रानी-मक्खी के उड़ जाने पर सब मक्खियां उसके पीछे उड़ जाती हैं—'**मधुकरराजानं सर्वाः एव उत्क्रामन्ते**'—और उसके बैठ जाने पर—'**तस्मिन् च प्रतिष्ठमाने**'—सब बैठ जाती हैं—'**सर्वाः एव प्रातिष्ठन्ते**'—इसी तरह चेतन-जगत् की वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र—'**एवं वाक्, मनः, चक्षुः, श्रोत्रं च**', प्राण के प्रतिष्ठित होने पर शरीर में प्रतिष्ठित हो गये। इस प्रकार उनका भ्रम टूट गया और वे समझ गये कि उनका अस्तित्व प्राण पर निर्भर है, स्वतन्त्र रूप में उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। शरीर में तो यह स्पष्ट दिखलाई देता है, प्राण गया तो सब गया। इसी आधार पर जड़-जगत् के विषय में भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है। यह सब देखकर जड़-जगत् के पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश एवं चेतन-जगत् की आँख, नाक, कान, वाणी तथा त्वचा बड़ी प्रीतिपूर्वक प्राण की स्तुति करने लगे—'**प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति**।४।

प्राण की स्तुति

पिप्पलाद ने काल को सृष्टि का निर्माता कल्पित करके संवत्सर से सृष्टि का प्रारम्भ किया। इस सिलसिले में प्राण तथा रयि के द्वित्त्व में प्राण को ही श्रेष्ठ कहा। अब प्राण की स्तुति करते हुए कहते हैं—

एषः अग्निः तपति, एषः सूर्यः, एषः पर्जन्यः, मघवान् एषः।
वायुः एषः, पृथिवी, रयिः, देवः, सत्, असत् च, अमृतं च यत्॥५॥

पिंड के विषय में तो यह सब-कोई जानते हैं कि प्राण के कारण ही आँख-नाक-कान आदि इन्द्रियाँ काम करती हैं, ब्रह्मांड के विषय में यह नहीं दीखता, ऐसा लगता है कि अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि स्वयं काम कर रहे हैं। इस मिथ्या-धारणा का निरसन करने के लिये उक्त श्रुति कहती है कि यह अग्नि जो तपती है वह सृष्टि की प्राण-शक्ति के कारण

ही है—'**एषः अग्निः तपति**'; यह सूर्य जो प्रकाश दे रहा है—'**एषः सूर्यः**', पर्जन्य जो बरस रहा है—'**एषः पर्जन्यः**', यह मघवा—इन्द्र जो दान दे रहा है—'**मघवान् एषः**', वायु जो जीवन दे रहा है—'**वायुः एषः**', पृथिवी, रयि, देव, सत्, असत्, अमृत—इन सब का मूल आधार प्राण ही है—'**पृथिवी, रयिः, देवः, सत्, असत् च, अमृतं च यत्**' ।५।

पिप्पलाद ने प्राण की इतनी स्तुति की कि रयि का, देव का, सत्-असत्-अमृत—सब का आधार प्राण को कह दिया। इससे स्पष्ट होता है कि ऋषि प्राण को कितना महत्त्व दे रहे हैं। रयि जो भोग्य है उसकी भोग्यता, असत् जो नकार है उसकी नकारता भी प्राण के कारण है—यह प्राण की ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता को जताने का एक काव्यमय उद्गार है। प्राण की और अधिक स्तुति करते हुए ऋषि अगली सात ऋचाओं में कहते हैं—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचः यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥

रथ के पहिये की नाभि में जैसे अरे जुड़े रहते हैं—'**अरा इव रथनाभौ**', वैसे प्राण रूपी पहिये में संसार का सब-कुछ जुड़ा है, प्रतिष्ठित है—'**प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्**'। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद—यह सम्पूर्ण ज्ञान-कांड—'**ऋचः यजूंषि सामानि**'—तथा यज्ञ-यागादि—यह सम्पूर्ण कर्म-कांड, क्षत्र अर्थात् भौतिक-शक्ति तथा ब्रह्म अर्थात् आत्मिक-शक्ति—यह सब भी प्राण में प्रतिष्ठित है—'**यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च**' ।६।

प्रजापतिः चरसि गर्भे त्वम् एव प्रतिजायसे ।
तुभ्यं प्राण ! प्रजाः तु इमाः बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥

हे प्राण ! तू ही प्रजापति के रूप में गर्भ में विचरण करता है—'**प्रजापतिः चरसि गर्भे**', गर्भ में विचरण करने के बाद तू ही फिर उत्पन्न होता है—'**त्वं एव प्रतिजायसे**'। हे प्राण ! सम्पूर्ण प्रजाएँ तेरे लिये ही—'**तुभ्यं प्राण ! प्रजाः तु इमाः**'—उपहार ला-लाकर भेंट धरती हैं—'**बलिं हरन्ति**'। हे प्राण ! तू प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान—इन प्राण-शक्तियों से प्रतिष्ठित हो रहा है—'**यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि**' ।७।

देवानाम् असि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणाम् चरितं सत्यम् अथर्वांगिरसाम् असि ॥८॥

हे प्राण ! देवों—गुण से बड़ों—में तू वह्नितम है—'**देवानाम् असि वह्नितमः**';—पितरों—आयु में बड़ों—में तू प्रथम स्वधा है—'**पितॄणां**

प्रथमा स्वधा'; ऋषियों में तू चरित है—'**ऋषीणाम् चरितं**'; अथ-र्वांगिरसों में तू सत्य है—'**सत्यं अथर्वांगिरसाम् असि**' ।८।

देवों में वन्हितम का क्या अर्थ है? देवताओं में सब से मुख्य स्थान अग्नि का है–'**अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः**'। यहाँ अग्नि अर्थात् वन्हि के साथ तमप् प्रत्यय लगा कर—'**वन्हितम**'—उच्चतम बना दिया है। इस ऋचा में प्राण को देवताओं के उच्चशिखर पर बैठा दिया है। पितरों में प्रथम स्वधा का क्या अर्थ है? स्वधा का अर्थ है—'स्व' में आधारित हो जाना—अपने में आ जाना। अपने में डूब जाने की-सी मस्ती जैसी मस्ती क्या हो सकती है। उस मस्ती के पीछे भी प्राण ही है। ऋषियों में चरित्र का क्या अर्थ है? चरित्र सब-किसी का होता है, किसी का अच्छा, किसी का बुरा। ऋषियों का चरित्र सर्वोपरि होता है—उसका आधार भी प्राण ही है। अथर्वांगिरस् में सत्य का क्या है? 'अथर्वांगिरस्'-शब्द अथर्ववेद के लिये प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद (१०-७-२०) में लिखा है–'**यस्मात् ऋचः अपातक्षन् यजुः यस्मात् अपाकषन् सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम्**'—इस मंत्र से स्पष्ट है कि अथर्ववेद ही कहता है कि अथर्वांगिरस् का अर्थ अथर्ववेद है। अथर्ववेद यहाँ सत्य का प्रतीक स्वीकार किया गया है। पिप्पलाद कहते हैं कि अथर्व का आधार भी प्राण है।८।

इन्द्रः त्वं प्राण! तेजसा रुद्रः असि परिरक्षिता।
त्वं अन्तरिक्षे चरसि सूर्यः त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

हे प्राण! तू अपने तेज से इन्द्र है—'**इन्द्रः त्वं प्राण! तेजसा**', तू अपने भयानक रूप से प्राणियों की रक्षा करने के कारण रुद्र है—'**रुद्रः असि परिरक्षिता**', तू अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला सूर्य है—'**त्वं अन्तरिक्षे चरसि सूर्यः**', तू सूर्य की तरह ज्योतियों का पति है—'**त्वं ज्योतिषां पतिः**' ।९।

यदा त्वं अभिवर्षसि अथ इमाः प्राण! ते प्रजाः।
आनन्दरूपाः तिष्ठन्ति कामाय अन्नम् भविष्यति इति ॥१०॥

हे प्राण! जब तू बादल के रूप में बरसता है—'**यदा त्वं अभि-वर्षसि**', तब तेरी उत्पन्न की हुई यह सृष्टि की प्रजा–'**अथ इमाः प्राण ते प्रजाः**'–आनन्द से विभोर होकर खड़े-खड़े देखने लगती है—'**आनन्द-रूपाः तिष्ठन्ति**'—और कहने लगती है कि यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा—'**कामाय अन्नं भविष्यति इति**' ।१०।

व्रात्यः त्वं एकः ऋषिः अत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयं आद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

हे प्राण ! तू व्रात्य भी है और ऋषियों में मूर्धन्य भी है—**'व्रात्यः त्वं एकः ऋषिः'**; तू विश्व को खा जाने वाला भी है और विश्व का पालन करने वाला भी है—**'अत्ता विश्वस्य सत्पतिः'**; तू भोक्ता है और हम भोग्य देने वाले हैं—**'वयं आद्यस्य दातारः'**; तू प्राण-रूप दीखने वाली मातरिश्वा—वायु—का भी पिता है—**'पिता त्वं मातरिश्वनः'** ।११।

या ते तनूः वाचि प्रतिष्ठिता, या श्रोत्रे, या च चक्षुषि ।
या च मनसि संतता, शिवां तां कुरु, मा उत्क्रमीः ॥१२॥

हे प्राण ! तेरा जो रूप वाणी में प्रतिष्ठित है—**'या ते तनूः वाचि प्रतिष्ठिता'**, और जो तेरा रूप श्रोत्र तथा चक्षु में प्रतिष्ठित है—**'या श्रोत्रे या च चक्षुषि'**, जो तेरा रूप मन में फैल रहा है—**'या च मनसि संतता'**, उसे हमारे लिये कल्याणकारी कर—**'शिवां तां कुरु'**, उत्क्रमण मत कर—**'मा उत्क्रमीः'** हम में भरपूर प्राण-शक्ति का संचार कर, मेरे अंग-प्रत्यंग में प्राण-शक्ति का संचार हो ।१२।

प्राणस्य इदं वशे सर्वं, त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम् ।
माता इव पुत्रान् रक्षस्व, श्रीः च, प्रज्ञां च विधेहि नः इति ॥१३॥

प्राण के ही यह-सब वश में है—**'प्राणस्य इदं वशे सर्वं'** । यह-सब क्या ? जो-कुछ भी त्रिदिव में—पृथिवी, द्यु तथा आकाश में है—**'त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्'** । इसलिये हे प्राण ! आप हमारी ऐसे रक्षा करो जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है—**'माता इव पुत्रान् रक्षस्व'** । आप हमारे लिये भौतिक-ऐश्वर्य—**'श्रीः च'**—और मानसिक तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य—**'प्रज्ञां च'**, का विधान करें—**'विधेहि नः इति'** । विधान तथा प्रदान में भेद है । विधान का अर्थ है कि हमारे जीवन में ऐसी विधि बने कि हमें श्री तथा प्रज्ञा—दोनों प्राप्त हों । विधान के साथ प्रदान स्वयं आ जाता है इसलिये 'विदेहि' की जगह 'विधेहि' कहा । 'विदेहि' का अर्थ है—दो, 'विधेहि' का अर्थ है विधान करो ।

प्राण की स्तुति करते हुए अन्त में श्री तथा प्रज्ञा—सम्पत्ति तथा बुद्धि—सांसारिक तथा आध्यात्मिक—दोनों की याचना कर के द्वितीय प्रश्न को समाप्त कर दिया है ।१३।

३. कौशल के वासी अश्वल के पुत्र का प्रश्न—प्राण कहाँ से आता है और कहाँ रहता है ?

पहला प्रश्न था—सृष्टि किससे उत्पन्न हुई। उत्तर दिया—प्राण तथा रयि से, परन्तु इसमें मुख्य प्राण है, रयि गौण है। दूसरा प्रश्न यह था कि सृष्टि की रचना हो जान पर कौन इसे धारण करता है, किसके सहारे यह टिकी रहती है, यह बिखर क्यों नहीं जाती ? इसका उत्तर देते हुए कहा—सृष्टि प्राण के सहारे टिकी हुई है, पिंड में प्राण तथा ब्रह्मांड में इसका जीवन देनेवाला न हो, तो यह टिक नहीं सकती।

जब वैदिर्भ के प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका, तब तीसरे जिज्ञासु कौशल्य आश्वलायन पिप्पलाद के सामने आये और पूछने लगे :

अथ ह एनम् कौशल्यः आश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन् !
कुतः एषः प्राणः जायते, कथं आयाति अस्मिन् शरीरे,
आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते, केन उत्क्रमते,
कथं वाह्यं अभिधत्ते, कथं अध्यात्मम् इति ।।१।।

अब पिप्पलाद को कौशल देश के वासी, अश्वल के पुत्र ने पूछा—**'अथ ह एनं कौशल्यः आश्वलायनः पप्रच्छ'**, कि हे भगवन् ! यह प्राण कहाँ से या किससे उत्पन्न होता है—**'भगवन्, कुतः एषः प्राणः जायते'**; यह इस शरीर में कैसे आता है—**'कथं आयाति अस्मिन् शरीरे'**; शरीर में आकर यह अपने-आप को बाँट कर इस देह में कैसे रहता है—**'आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते'**; रहने के बाद किस प्रकार यह देह को छोड़ता है—**'केन उत् क्रमते'**; किस प्रकार वाह्य-जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है—**'कथं वाह्यं अभिधत्ते'**—तथा किस प्रकार आभ्यन्तर आत्मिक-जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है—**'कथं अध्यात्मम् इति'**।१।

तस्मै सः ह उवाच, अतिप्रश्नान् पृच्छसि।
ब्रह्मिष्ठः असि इति तस्मात् ते अहम् ब्रवीमि ।।२।।

उसे पिप्पलाद ने कहा—**'तस्मै सः ह उवाच'**, बहुत ज़्यादा प्रश्न पूछ रहे हो—**'अतिप्रश्नान् पृच्छसि'**। खैर, क्योंकि तुम ब्रम्हिष्ठ हो, ब्रह्म में आस्था रखते हो—**'ब्रह्मिष्ठः असि इति'**—इसलिये तुम्हें उत्तर देता हूँ—**'तस्मात् ते अहम् ब्रवीमि**।२।

आत्मनः एषः प्राणः जायते।
यथा एषा पुरुषे छाया एतस्मिन् एतद् आततम्।
मनोकृतेन आयाति अस्मिन् शरीरे ।।३।।

आश्वलायन का प्रश्न यह था—'**कुतः एषः प्राणः जायते**'—यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है? पिप्पलाद ने उत्तर दिया—आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है—'**आत्मनः एषः प्राणः जायते**'। जैसे पुरुष के साथ उसकी छाया लगी रहती है वैसे आत्मा के साथ प्राण लगा रहता है—'**यथा एषा पुरुषे छाया एतस्मिन् एतत् आततम्**'। फिर आश्वलायन का प्रश्न था—'**कथं आयाति अस्मिन् शरीरे**'—प्राण शरीर में कैसे आता है? पिप्पलाद ने उत्तर दिया, मन के किये के कारण प्राण आत्मा के साथ लगा-लगा इस शरीर में प्रवेश करता है—'**मनोकृतेन आयाति अस्मिन् शरीरे**'। फिर प्रश्न किया था—**आत्मानं प्रविभज्य कथं प्रतिष्ठते**'—प्राण अपने को विभक्त कर इस देह में कैसे रहता है? इसका उत्तर देते हुए पिप्पलाद कहते हैं।३।

यथा सम्राट् अधिकृतान् विनियुङ्क्ते, एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति,
एवं एव एषः प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक् पृथक् एव संनिधत्ते ।।४।।

जैसे सम्राट् अपने अधीन कर्मचारियों को—'**यथा सम्राट् अधिकृतान्**', अपने-अपने काम में नियुक्त कर देता है—'**विनियुङ्क्ते**', और आज्ञा दे देता है कि इन-इन ग्रामों का अधिष्ठाता बन कर इन्हें सम्भालो —'**एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति**', इसी तरह ही प्राण अन्य प्राणों को—'**एवं एव एषः प्राणः इतरान् प्राणान्**'—पृथक्-पृथक् कामों में नियुक्त कर देता है—'**पृथक् पृथक् एव संनिधत्ते**'।४।

उनकी पृथक्-पृथक् ड्यूटी क्या लगती है—इसका विवरण :

पिंड में प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान का स्थान

पायु उपस्थे अपानम्, चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणःस्वयं प्रतिष्ठते,
मध्ये तु समानः, एषः हि हुतम् अन्नम् नयति,
तस्मात् एताः सप्त अर्चिषः भवन्ति ।।५।।

प्राण इतर प्राणों को कैसे नियुक्त कर देता है? गुदा तथा उपस्थ में 'अपान' को—'**पायु उपस्थे अपानम्**'; आँख-कान-मुख-नाक में स्वयं 'प्राण' प्रतिष्ठित होता है—'**चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः**'; शरीर

के मध्य-भाग में 'समान'—**'मध्ये तु समानः'**। यह समान-वायु शरीर में आहुति के रूप में पड़े हुए अन्न को सम—एक-रस—बना कर सब जगह पहुँचा देता है—**'एषः हि हुतम् अन्नं नयति'**। जब शरीर में सब जगह अन्न का रस पहुँच जाता है, तब उससे शरीर में सात ज्योतियाँ जाग उठती हैं—**'तस्मात् एताः सप्त अर्चिषः भवन्ति'**। वे सात ज्योतियां कौन-सी हैं? वे हैं—दो आँखें, दो कान, दो नाक तथा एक मुख। इनमें जो ज्योति है वह समान द्वारा अन्न को रस में रूपान्तरित कर देने से इन्हें मिलती है।५।

अपान, प्राण, समान का उल्लेख करने के बाद व्यान तथा उदान का उल्लेख करना शेष रह गया। व्यान के विषय में ऋचा कहती है:

हृदि हि एषः आत्मा। अत्र एतत् एकशतं नाड़ीनाम्।
तासां शतं शतं एकैकस्याम्।

द्वा-सप्ततिः द्वा-सप्ततिः प्रति शाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्ति।
आसु व्यानः चरति ॥६॥

आत्मा हृदय में रहता है—**'हृदि हि एषः आत्मा'**। हृदय के यहाँ १०१ नाड़ियाँ हैं—**'अत्र एतत् एकशतं नाड़ीनाम्'**। उनमें से एक-एक से सौ-सौ शाखाएं फूटी हैं—**'तासां शतं शतं एकैकस्याम्'**। उन शाखा-सहस्रों में से एक-एक शाखा से बहत्तर-बहत्तर शाखाएं फूटती हैं—**'द्वा-सप्ततिः द्वा-सप्ततिः प्रतिशाखा सहस्राणि भवन्ति'**। इन्हें वर्तमान विज्ञान में केशिकाएं (Capillaries) कहते हैं। इन में 'व्यान' वायु विचरता है—**'आसु व्यानः चरति'**।६।

अथ एकया ऊर्ध्वः उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।
पापेन पापम्, उभाभ्याम् एव मनुष्यलोकम् ॥७॥

'व्यान' का वर्णन करने के बाद 'उदान' का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हृदय से एक नाड़ी ऊपर को जाती है—**'अथ एकया उर्ध्वः'**—यही है—**'उदानः'**। वर्तमान विज्ञान में हृदय से ऊपर की तरफ़ जो प्रणालिका जाती है उसे आयोर्टा (Aorta) कहते हैं। यह उदान पुण्य-कर्म से आत्मा को पुण्य-लोक में ले जाता है—**'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति'**, पाप-कर्म करने से पाप-लोक को ले जाता है—**'पापेन पापम्'**, दोनों प्रकार के कर्म करने वाले को मनुष्य-लोक में ले जाता है—**'उभाभ्याम् मनुष्य लोकम्'**।७।

पिण्ड में प्राण, अपानादि आदि का विवेचन

(क) **जड़, चेतन तथा प्राण में भेद**—सृष्टि में जड़-चेतन का भेद तो सब जानते हैं इसलिये जड़ तथा चेतन के भेद पर तो कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं, परन्तु प्राण तथा चेतन में भी भेद है—यह पिप्पलाद ऋषि की अपनी ही खोज है। उन्होंने आत्मा तथा प्राण में भेद किया है। द्वितीय प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ने दृष्टांत दिया है कि जब शरीर में से आँख, नाक, कान आदि निकले तब कुछ नहीं हुआ, परन्तु जब प्राण जाने लगा तब सभी जीवन का खूँटा उखड़ता जान उसके साथ ही जाने लगे। तृतीय प्रश्न के उत्तर में भी कहा कि—**'आत्मनः एषः प्राणो जायते'**—आत्मा से प्राण होता है, यह भी कहा कि जैसे पुरुष के साथ छाया रहती है वैसे ही आत्मा के साथ प्राण रहता है—**'यथा एषा पुरुषे छाया एतत् एस्मिन् एतत् आततम्'**।

तो प्राण तथा आत्मा में क्या भेद है? प्राण, जड़ तथा आत्मा के बीच की कड़ी है। आँख, कान, नाक आदि दीखते हैं, प्राण नहीं दीखता, परन्तु हर-किसी को उसकी शरीर से पृथक् आँख-नाक-कान आदि की तरह की एक प्रकार की अनुभूति होती है, ऐसा अनुभव होता है कि यह रहा प्राण; आत्मा भी नहीं दीखता, परन्तु आँख-नाक-कान आदि इन्द्रियों की तरह उसकी अनुभूति नहीं होती, इसलिये कई लोग आत्मा को मानने से इन्कार कर देते हैं, परन्तु प्राण को मानने से कोई इन्कार नहीं करता। प्राण इन्द्रियों की तरह का तत्त्व है, साथ ही आत्मा की तरह का भी तत्त्व है। आत्मा को कोई माने-न-माने, प्राण को तो इन्द्रियातीत होने पर भी मानना ही पड़ता है। जो लोग शंका करते हैं कि जो नहीं दीखता वह नहीं है, उनके सामने पिप्पलाद ऋषि ने 'आत्मा' का नाम न लेकर 'प्राण' का नाम ले लिया है। जैसे ब्रह्मांड में ईश्वर का नाम न लेकर पिप्पलाद ने 'काल-प्रजापति' का नाम लेकर अपना विवेचन प्रारम्भ किया है, वैसे ही पिंड में आत्मा का नाम न लेकर उसने 'प्राण' का नाम लेकर अपने विचार को स्पष्ट किया है। पिप्पलाद का कहना है—ईश्वर को मानो, न मानो—'काल' को तो मानते हो, आत्मा को मानो-न-मानो—'प्राण' को तो मानते हो। इस दृष्टि से देखा जाय, तो ईश्वर का नाम न लेकर 'काल-प्रजापति' के के नाम से वह सब-कुछ कह दिया जो ईश्वर के नाम से कहा जाना है,

आत्मा का नाम न लेकर 'प्राण' के नाम से वह सब-कुछ कह दिया जो आत्मा के नाम से कहा जाता है। मरने पर भी तो यही कहते हैं— प्राण निकल गया, यह तो कोई नहीं कहता कि आत्मा निकल गया। 'आत्मा' के स्थान में 'प्राण' की शब्दावली में अध्यात्म की चर्चा करने का श्रेय पिप्पलाद को ही है। यह सर्व-साधारण के बोलने की भाषा है। प्राण, शरीर तथा आत्मा को जोड़ने की कड़ी है क्योंकि इसमें दोनों के गुण कुछ-कुछ पाये जाते हैं यद्यपि न यह शरीर है, न आत्मा है।

विकासवाद की दृष्टि से भी कई विचारकों ने प्राण तथा आत्मा में भेद माना है। विकासवादियों का कहना है कि सृष्टि के आदि में जड़-प्रकृति (Primordial matter) थी जिसे सांख्य ने अव्यक्त-प्रकृति कहा है। उसका धीरे-धीरे विकास होना शुरू हुआ। जड़ के भीतर उसमें विकास करने वाला कौन-सा तत्त्व था—इसे विकासवादी नहीं समझा सकते। पिप्पलाद का कहना है कि वह तत्त्व 'प्राण' था। प्राण का काम गति करना है, जीवन की दिशा में चल देना है। 'प्राण'-शब्द 'अन् प्राणने' धातु से बना है—'प्राण' अर्थात् जीवन। जब जड़-तत्त्व प्राण की वजह से जीवन की दिशा में चल पड़ा, तब पहले उसका अव्यक्त रूप था, वह भीतर-भीतर जड़ प्रकृति में हिल-जुल कर रहा था। प्राण की वजह से जब प्रकृति में चेष्टा उत्पन्न हुई, तब प्राण एक स्तर पर आकर अव्यक्त से व्यक्त हो गया। प्राण का अव्यक्त से व्यक्त होना ही जीवन का प्रकट हो जाना है। यह जीवन निम्न-श्रेणी का था—इसी को 'अमीबा' कहा जाता है। निम्न-स्तर पर प्राण-तत्त्व तो होता है, आत्म-तत्त्व नहीं होता। जैसे जड़ प्रकृति में प्राण-तत्त्व व्यक्त हो गया—अर्थात् जीवन व्यक्त हो गया, वैसे ही विकास के क्रम में से गुज़रते-गुज़रते जीवन-तत्त्व में चेतन-तत्त्व प्रकट हो गया। इस दृष्टि से जड़ के बाद प्राण, प्राण के बाद चेतन—यह विकास का क्रम है। जड़-प्रकृति के बाद प्राण विकास का दूसरा स्तर है, चेतना विकास का तीसरा स्तर है। जो लोग इस सिद्धान्त को मानते हैं उनका कहना है कि अमीबा आदि में प्राण-तत्त्व है, जीवन है, परन्तु चेतन-तत्त्व नहीं, आत्मा नहीं। उदाहरणार्थ, पुरुष के एक बार के वीर्य-स्राव में करोड़ों स्पर्म होते हैं, वे सब क्रियाशील होते हैं—उनकी क्रियाशीलता उनमें विद्यमान प्राण-शक्ति के कारण है। अगर उन सबमें आत्मा माना जाय, तो मानना पड़ेगा कि प्रकृति उन सब आत्माओं को एक ही क्षण

में नष्ट कर देती है क्योंकि उनमें से सिर्फ़ एक स्पर्म से ही गर्भ ठहरता है, शेष नष्ट हो जाते हैं। अगर माना जाय कि उन सब में गति प्राण की वजह से है, और गर्भ ठहर जाने के बाद ही आत्मा प्रवेश करता है, तब कोई दुरूह कल्पना नहीं करनी पड़ती। हम नहीं कह सकते कि कौन-सा सिद्धान्त ठीक है, परन्तु विकासवाद की दृष्टि से जिन विचारकों ने प्राण तथा आत्मा के भेद पर विचार किया है, उनका मत हमने दे दिया है जिससे विद्वान् लोग इस पर और अधिक विचार कर सकें।

प्राण अपने को शरीर में कैसे बांट लेता है—इस विषय में पिप्पलाद ने कहा कि वह अपने को पांच भागों में बांट लेता है जिनके नाम हैं, प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान। इन पांचों का क्या रूप तथा क्या कार्य है?

(ख) पिंड में प्राण—आंख, कान, मुख तथा नासिका में जो जीवन-शक्ति है वह स्वयं प्राण के कारण है। इस प्रश्न के चौथे अनुवाक्य में कहा गया है कि मुख्य प्राण अन्य प्राणों को अपना काम ऐसे बांट देता है जैसे राजा अपने कर्मचारियों को उन-उनका काम बांटता है। प्राण अपने पास आँख, कान, मुख तथा नासिका में जीवन का संचार करने का काम रखता है, बाकी काम अन्य प्राणों के सुपुर्द कर देता है। तभी प्राणायाम करने से आँख, कान, मुख, नाक की कार्य-क्षमता तथा मुख की कान्ति बढ़ती है।

प्राण ने आँख, कान, नाक तथा मुंह का काम अपने पास रखा—इसका अभिप्राय यह है कि जबतक बच्चा मां के गर्भ में रहता है तब-तक इनमें से कोई इन्द्रिय काम नहीं करती, जन्म लेते ही जब प्राण का संचार होता है, तभी बच्चा देखने लगता है, सुनने लगता है, सूंघने लगता है, मुंह से दूध चुसकने लगता है। इन मुख्य इन्द्रियों का कार्य प्राण के चलना शुरू करने से ही होता है, इसलिये इन सबका जीवन प्राण के अधीन है। हम शरीर के ग्राहक-मंडल—आंख, कान, नाक आदि जिन इन्द्रियों से ज्ञान ग्रहण करते हैं—उनका संचालन प्राण (Respiratory system) पर निर्भर है।

(ग) पिंड में अपान—गुदा तथा उपस्थ का काम शरीर से पुरीष तथा मूत्र को बाहर निकाल फेंकना है। पेट में भोजन पच कर छोटी आंतों तथा बड़ी आंतों से होता हुआ जब उसका सारा रस

चूस लिया जाता है, तब जो फोक शेष रह जाता है वह गुदा द्वार से निकल जाता है; तरल पदार्थ तथा जल से शरीर में जो ग्रहण करना होता है वह ग्रहण करने के बाद जो शेष रह जाता है वह गुर्दों से होता हुआ मूत्राशय में जाकर मूत्र के रूप में बाहर चला जाता है। आंतों में पुरीष को तथा मूत्राशय में मूत्र को बाहर फेंकने की जो शक्ति है उसी को अपान कहा जाता है। प्राण ने फोक आदि को बाहर फेंकने का काम अपान वायु को दिया हुआ है। यह शरीर का त्याग-मंडल है जो अपान (Alimentary and excretory system) के अधीन है।

(ग) **पिंड में समान**—हम जो ठोस भोजन खाते हैं वह पेट में जाकर वहाँ के रसों से मिलकर सम हो जाता है, एक समान हो जाता है, सब तरल हो जाता है। पेट जो-कुछ लेता है उसे एक घोल बना कर सम्पूर्ण शरीर के लिये तैयार कर देता है। इसलिये इस प्राण को समान कहा है। प्राण के इस मंडल को पाचक-मंडल कहा जा सकता है। प्राण का यह काम पाचक-संस्थान (Digestive system) के द्वारा भोजन को एक-रस—एक समान बना कर तैयार कर देना समान-प्राण के अधीन है।

(ङ) **पिंड में व्यान**—प्राण के व्यान-रूप का वर्णन करते हुए प्रश्नोपनिषद् ने हृदय से चर्चा करनी शुरू की है। इस उपनिषद् का कहना है कि हृदय से १०१ नाड़ियां निकलती हैं जिनमें से एक-एक की ७२००० उपनाड़ियां हैं। ये उपनाड़ियां शायद वे केशिकाएं (Capillaries) हैं जो शरीर-विज्ञान मानता है—संख्या में भेद हो सकता है। ये केशिकाएं हृदय से रुधिर लेकर सम्पूर्ण शरीर में बांटती हैं। रुधिर के इस वितरण-मंडल (Circulatory system) का केन्द्र हृदय है। वह जो हृदय से रुधिर लेकर सम्पूर्ण शरीर में आवश्यकतानुसार बांटता है पिप्पलाद की परिभाषा में व्यान-प्राण है।

(च) **पिंड में उदान**—इस सम्बन्ध में डॉ० दीवानचन्द ने अपने प्रश्नोपनिषद् की टीका में जो-कुछ लिखा है वह ठीक प्रतीत होता है। वे लिखते हैं: "पांचवां प्राण उदान है। इसका काम ऊपर की ओर उठना-उठाना है। अक्सर भाष्यकार कहते हैं कि मरते समय यह उदान एक नाड़ी से ऊपर उठकर शरीर से बाहर निकलता है। इस सम्बन्ध में वे यह नहीं बताते कि जीवन-भर यह उदान क्या करता रहता है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ४ प्राणों की प्रक्रिया की बाबत

कहते हुए जीवन के सीमित-भाग को ध्यान में रखा गया है। उदान की बाबत कहते हुए समग्र-जीवन को ध्यान में रखा है। मैं जो-कुछ आज खाता हूँ वह आज पचता है, उसका उपयोगी अंश आज ही शरीर के अंगों में बंट जाता है, और बेकार अंश आज नहीं तो कल बाहर निकल जाएगा। कुछ वर्षों के विस्तार की ओर देखें तो जीवन का एक विशेष रूप सामने आता है। व्यक्ति में प्रतिदिन जो परिवर्तन होता है, वह अत्यल्प होता है। यह अल्प अंश मिल कर बृहत् परिणाम ग्रहण कर लेता है। नन्हा बच्चा बालक बनता है, बालक युवा बनता है, युवक प्रौढ़ता को प्राप्त करता है। यह वृद्धि या बढ़ती का नियम है, यह उदान की क्रिया का फल है। इसी को उत्थान कहते हैं। दार्शनिक नीत्शे ने कहा है—आगे बढ़ना ही पर्याप्त नहीं, ऊपर उठना भी आवश्यक है। ऊपर उठने में मात्रा की अपेक्षा गुण पर अधिक बल दिया जाता है। पशु-पक्षियों में ऊपर उठने की योग्यता नहीं, यह योग्यता मनुष्य का प्रमुख चिह्न है। वाह्य दुनियां की घटनाएं कारण-कार्य के नियम के अधीन होती हैं। मनुष्य के कर्मों पर नैतिक-नियम भी लागू होता है। उपनिषद् में कहा है कि 'उदान' मनुष्य को प्राणी-स्तर से उठाकर नैतिक-स्तर पर स्थित करता है—शुभ कर्मों के करने वाले शुभ लोकों (अवस्थाओं) के भागी बनते हैं, पापी अधम-गति को प्राप्त करते हैं, और जिनके कामों में पुण्य और पाप दोनों अंश मिले होते हैं, वे फिर मनुष्य-जीवन में अपना काम जारी रखते हैं—तभी प्रश्न के सातवें अनुवाक्य में कहा है—**'अथ एकया ऊर्ध्वं उदानः, पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम् उभाभ्यां मनुष्यलोकम्'**। उदान ऊर्ध्वगामी-मंडल है।"

ब्रह्माण्ड में प्राण, अपान आदि का विवेचन

उपनिषदों के ऋषियों की यह धारणा थी कि मनुष्य का शरीर, यह 'पिंड'—ब्रह्मांड का छोटा नमूना है, और यह विशाल सृष्टि, यह 'ब्रह्मांड'—पिंड का बड़ा नमूना है। जो पिंड में है वह ब्रह्मांड में है, जो ब्रह्मांड में है वह पिंड में है—**'यत्पिंडे तत् ब्रह्मांडे, यत् ब्रह्मांडे तत् पिंडे'**। इसी धारणा को सम्मुख रखकर पिप्पलाद कहते हैं :

आदित्यः ह वै वाह्यः प्राणः, उदयति एषः हि एनम् चाक्षुषं प्राणं अनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सा एषा पुरुषस्य अपानम् अवष्टम्य अन्तरा यत् आकाशः सः समानः, वायुः व्यानः ॥८॥

(क) **ब्रह्मांड में सूर्य प्राण है**—जैसे पिंड में प्राण का काम आंख आदि इन्द्रियों में जीवन डाल देना है, वैसे ब्रह्माण्ड के वाह्य-जगत् में सूर्य का काम प्राण-शक्ति को सर्वत्र पहुँचा देना है—**'आदित्यः ह वै वाह्यः प्राणः'**। जब सूर्य उदय होता है—**'उदयन् एषः हि'**—उस शक्ति को जो आंख में विद्यमान है—**'एनम् चाक्षुषम्'**—उसे वह प्राण-शक्ति से अनुगृहीत करता है—**'प्राणं अनुगृह्णानः'**। यद्यपि आँख देखती है, तो भी वह सूर्य के प्रकाश से अनुगृहीत होकर ही देख सकती है। सूर्य का प्रकाश न हो, तो आंख देख नहीं सकती। यह बाहर की सूर्य द्वारा उंडेली हुई प्राण-शक्ति ही आंख को प्राण दान करती है। सूर्य तथा आंख दोनों को जोड़ने वाली कड़ी वही प्राण-शक्ति है जिसे सूर्य संसार के जीवन के लिये बिखेर रहा है।

(ख) **ब्रह्मांड में पृथिवी अपान है**—जैसे पिंड में प्राण की अपान-शक्ति का काम मूत्र-पुरीष को नीचे की तरफ़ धकेलना है, वैसे ही पृथिवी में हर वस्तु को नीचे की तरफ़ खींचने की जो दैवी-शक्ति है—**'पृथिव्यां या देवता'**—वही ब्रह्मांड-पुरुष में अपान है—**'सा एषा पुरुषस्य अपानम्'**। 'अपान' का अर्थ है—नीचे की तरफ़ खींचने की प्राण-शक्ति। पृथिवी में अपने को नीचे की तरफ़ खींचे रखने की—गुरुत्व-शक्ति—न हो, तो यह सूर्य से जा टकराये। यह शक्ति ही ब्रह्माण्ड का अपान है। यह पृथिवी को थाम कर—**'अवष्टभ्य'**—रखे हुए है।

(ग) **ब्रह्मांड में आकाश समान है**—सूर्य तथा पृथिवी के बीच जो अन्तराल है—आकाश का अन्तराल—वह ब्रह्मांड-पुरुष का समान है। पुरुष का प्राण ऊपर के अंगों में है, अपान नीचे के अंगों में है, बीच में पेट है जो भरता है और खाली हो जाता है। ऊपर के प्राण को सूर्य से तुलना दी, नीचे के अपान को पृथिवी से तुलना दी, जो बीच का ख़ाली पेट रह गया जिसे पिंड में समान कहा गया है, उसी को ब्रह्मांड में ख़ाली होने के कारण उसकी समान से तुलना की गई है—**'अन्तरा यत् आकाशः सः समानः'**—सूर्य तथा पृथिवी के बीच जो अन्तराल है वह—आकाश—समान है।

(घ) **ब्रह्मांड में वायु व्यान है**—पिंड में व्यान का काम केशिकाओं द्वारा रुधिर तथा अन्य रसों को हर अंग में पहुँचाना है, ब्रह्मांड में वायु का काम एक वस्तु को दूसरी जगह पहुँचा देना है। वायु बादलों को पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण धकेल कर धरती के कण-कण में वर्षा

का जल पहुँचा देती है, वायु के द्वारा फूलों का पराग उड़कर लता-पौधे-वृक्षों को गर्भित कर देता है। ब्रह्मांड के वायु को इस गुण के कारण ही उसकी पिंड के व्यान से तुलना की गई है, और कहा है—**'वायुः व्यानः'** ।८।

अब रही पिंड तथा ब्रह्मांड में उदान की समानता। उसे दर्शाते हुए पिप्पलाद कहते हैं :

तेजः ह वै उदानः। तस्मात् उपशान्ततेजाः पुनर्भवम् इन्द्रियैः मनसि संपद्यमानैः ॥९॥

(ङ) **ब्रह्मांड में तेज उदान है**—पिंड पर लिखते हुए हम लिख आये हैं कि उदान का अर्थ है—ऊपर उठना-उठाना। ब्रह्मांड में तेज अग्नि का प्रतिनिधि है। अग्नि की ज्वालाएं ऊपर उठती हैं। लपटों वाली अग्नि को कितना ही नीचे रखने का प्रयत्न किया जाय उसकी ज़्वाला ऊपर ही जायेगी। ऊपर जाने की शक्ति ही उदान है जो जीवन में तेज के रूप में प्रकट होती है। मनुष्य का जीवन तेजस्विता के कारण है। जीवन में तेज—क्रियाशीलता—न रही तो वह मृत्यु के मार्ग पर चल देता है। इसीलिये कहा—तेज निश्चय से उदान है—**'तेजः ह वै उदानः'**। यही कारण है कि जिन मनुष्यों का तेज शान्त हो जाता है—**'तस्मात् उपशान्ततेजाः'**—वे मर जाते हैं, उनका पुनर्जन्म होता है—**'पुनर्भवम्'**। उनकी इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, इन्द्रियों के संस्कार मन में जा पड़ते हैं—**'इन्द्रियैः मनसि संपद्यमानैः'**। उदान का काम मनुष्य को ऊपर उठाना है, पिंड में जो काम उदान करता है, ब्रह्मांड में वह काम तेज करता है।९।

मृत्यु के समय इन्द्रियां बाहर भ्रमण करना छोड़ कर मन में लीन हो जाती हैं, अर्थात् वे नहीं रहतीं, उनके संस्कार मात्र रह जाते हैं। इन्द्रियों के संस्कार जब बाहर से शान्त हो जाते हैं, परन्तु भीतर मन में आ बैठते हैं, उस अवस्था को चित्त कहा है। जिस प्रकार का चित्त प्राण के पास आ पहुँचता है, जिस प्रकार के मनुष्य के संस्कार होते हैं, आत्मा उसी प्रकार के आगामी-जीवन में पहुँचता है। इस बात को १०वें अनुवाक्य में पिप्पलाद ने निम्न प्रकार कहा है :

यत् चित्तः तेन एषः प्राणम् आयाति।

प्राणः तेजसा युक्तः सह आत्मना यथा संकल्पितं लोकम् नयति॥१०॥

मन में जैसे संस्कार संचित हो जाते हैं, उन संस्कारों को लेकर

चित्त प्राण के पास, अर्थात् उदान नामी प्राण के पास आ पहुँचता है—**'यत् चित्तः तेन एषः प्राणम् आयाति'**। यह उदान-प्राण तेज तथा आत्मा को साथ लेकर—**'प्राणः तेजसा युक्तः सह आत्मना'**—जैसा-जैसा इसका संकल्प होता है—**'यथा संकल्पितं'**—वैसे-वैसे लोक को यह प्राण आत्मा को ले जाता है—**'लोकम् नयति'** ।१०।

९ वें, १० वें—इन दो अनुवाक्यों से स्पष्ट है कि उदान का काम प्राणी को उर्ध्वगामी बनाना है, ऊपर उठाना है। जीवन भर ऊपर उठने की जो भावना बनी रहती है उसी का नाम उदान है। मृत्यु के समय यही उदान मनुष्य अपने जीवन में जो-कुछ बना होता है, उसे संस्कारों के रूप में लेकर बाहर चला जाता है। इस दृष्टि से उदान कोई स्थूल तत्त्व नहीं है, यह प्राण की एक क्रिया का नाम है। प्राण, अपान, समान तथा व्यान भी शरीर में हो रहे व्यापार हैं, उदान भी शरीर में हो रहे व्यापार का ही नाम है। इन व्यापारों का पिंड तथा ब्रह्मांड में क्या काम है—यह ऊपर दर्शाया जा चुका है।

यः एवं विद्वान् प्राणं वेद, न ह अस्य प्रजा हीयते।
अमृतः भवति। तत् एषः श्लोकः ॥११॥

जो विद्वान् प्राण के रहस्य को, जैसे ऊपर कहा गया है, उस प्रकार जान लेता है—**'यः एवं विद्वान् प्राणं वेद'**—उसकी सन्तान नष्ट नहीं होती, उसकी वंश परम्परा बनी रहती है—**'न ह अस्य प्रजा हीयते'**, वह अमर हो जाता है—**'अमृतः भवति'**। इस सम्बन्ध में निम्न उक्ति है—**'तत् एष श्लोकः'** ।११।

उत्पत्ति, आयति, स्थानं, विभुत्वं च एव पंचधा,
अध्यात्मं, च एव प्राणस्य, विज्ञाय अमृतं अश्नुते,
विज्ञाय अमृतं अश्नुते इति ॥१२॥

तीसरे प्रश्न में आश्वलायन ने कई प्रश्न एक-साथ कर दिये थे। उसने पूछा था—**'कुतः एषः प्राणः जायते'**। प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है। इसका उत्तर पिप्पलाद ने दिया कि आत्मा से प्राण की उत्पत्ति होती है। इस प्रश्नावली में उत्पत्ति के साथ यह भी पूछा था कि प्राण शरीर में कैसे आता है—**'कथं आयाति अस्मिन् शरीरे'**। फिर पूछा था, शरीर के किस-किस स्थान में प्राण प्रतिष्ठित है, वाह्य-शरीर के साथ तथा भीतर की आत्मा के साथ—अध्यात्म—में प्राण कैसे विराजता है। इन सब प्रश्नों का उत्तर पिप्पलाद ने दे दिया। अब पहले किये

हुए प्रश्नों की तरफ़ संकेत करते हुए ऋषि कहते हैं :

जो प्राण की उत्पत्ति, आयति, स्थान, विभुत्व—जिनका उत्तर इस उपनिषद् में दिया जा चुका है——**'उत्पत्ति, आयति, स्थानं, विभुत्वं'**, और इस प्राण के पाँचवें अध्यात्म—**'अध्यात्मं चैव प्राणस्य'**—के रहस्य को जान कर जीवन बिताता है—**'विज्ञाय'**, वह अमृत का आस्वादन करता है—**'अमृतम् अश्नुते'**—जान कर अमृत का आस्वादन करता है—**'विज्ञाय अमृतं अश्नुते इति'** ।१२।

४. सूर्य के पोते—सौर्यायणी का प्रश्न— कौन सोता है, कौन जागता है, किसे सुख होता है ?

अब तक जो चर्चा हुई वह शारीरिक स्तर पर हुई। मुख्य तौर पर वर्णन प्राणों का हुआ। प्राण तथा रयि क्या हैं, सृष्टि को कौन धारता है, प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है, शरीर में कहाँ-कहाँ स्थित है, इसके क्या भेद हैं—यह सब चर्चा हुई। यह सब शारीरिक स्तर की चर्चा थी। अब सौर्यायणी मानसिक-स्तर की चर्चा शुरू करते हैं :

अथ ह एनम् सौर्यायिणी गार्ग्यः पप्रच्छ । भगवन् !
एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति, कानि अस्मिन् जाग्रति ।
कतरः एषः देवः स्वप्नान् पश्यति, कस्य एतत् सुखं भवति,
कस्मिन् नु सर्वे संप्रतिष्ठिताः भवन्ति इति ।।१।।

अब पिप्पलाद को सूर्य के पोते सौर्यायिणी गार्ग्य ने पूछा—**'अथ ह एनं सौर्यायिणी पप्रच्छ'** । हे भगवन् ! इस पुरुष के भीतर कौन शक्तियाँ हैं जो सो जाती हैं—**'एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति'**—और कौन शक्तियाँ हैं जो सोने के बाद जाग जाती हैं—**'कानि अस्मिन् जाग्रति'** ? इस पुरुष में कौन-सा वह देव है जो इस पुरुष के भीतर बैठा हुआ स्वप्नों को देखता है—**'कतरः एषः देवः स्वप्नान् पश्यति'**, किसको यह सुख होता है—**'कस्य एतत् सुखं भवति'**, और किसमें ये सब जाकर स्थित हो जाते हैं ? ये सब (अर्थात्, पुरुष में जो स्वप्न होते हैं, जागरण होता है, सुख होता है) वे सब किसमें जाकर एक हो जाते हैं—अर्थात्, हम कह सकते हैं कि प्रतीत तो ऐसा होता है कि हमारे भीतर भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं जो सोते, जागते, स्वप्न लेते, सुख-दुःख अनुभव करते हैं, परन्तु वास्तव में वे सब एक ही तत्त्व के नाना रूप हैं—**'कस्मिन् सर्वे सम्प्रतिष्ठिताः भवन्ति'** ।१।

इन्द्रियां सोती हैं

तस्मै सः ह उवाच। यथा गार्ग्य, मरीचयः अर्कस्य अस्तं गच्छतः सर्वाः एतस्मिन् तेजो मंडले एकीभवन्ति, ताः पुनः पुनः उदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनसि एकी भवति। तेन तर्हि एषः पुरुषः न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, न अभिवदते, न आदत्ते, न आनन्दयते, न विसृजते, न इयायते। स्वपिति इति आचक्षते ।।२।।

सौर्यायिणी को पिप्पलाद ने उत्तर दिया—**'तस्मै सः ह उवाच'**—कि हे गार्ग्य, जैसे सूर्य के अस्ताचल को जाते समय उसकी किरणें **'यथा गार्ग्य, मरीचयः अर्कस्य अस्तं गच्छतः'**—सब-की-सब उसके तेजोमय मंडल में एक होकर समा जाती है—**'सर्वाः एतस्मिन् तेजो-मण्डले एकीभवन्ति'**—और जब वह फिर उदय होता है तब वे फिर-फिर फैल जाती हैं—**'ताः पुनः पुनः उदयतः प्रचरन्ति'**—इसी तरह शयन-रूपी अस्ताचल को जाते समय प्राणी की इन्द्रिय-रूपी किरणें परम-देव मन-रूपी सूर्य में—**'एवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनसि'**—सब एक होकर समा जाता है—**'एकी भवति'**। जब इन्द्रियाँ मन में एकाकार हो गईं, इस कारण, तब यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है—**'न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, न अभिवदते'**, न कुछ पकड़ता है, न आनन्द मनाता है, न मल-मूत्र त्यागता है, न गति करता है—**'न आदत्ते, न आनन्दयते, न विसर्जते, न इयायते'**। ऐसी अवस्था में कहा जाता है कि वह सो रहा है—**'स्वपिति इति आचक्षते'**—अर्थात् वह नहीं सोता, इन्द्रियाँ ही सोती हैं।२।

प्राण जागते हैं

गार्ग्य ने पूछा था कि इस पुरुष में सोते कौन हैं—**'कानि स्वपन्ति'**? पिप्पलाद ने उत्तर दिया कि सूर्य की किरणों के सूर्य में लीन हो जाने पर जैसे वह अस्त हो जाता है, वैसे ज्ञान-रूपी प्रकाश देनेवाली इन्द्रियाँ जब अपना अलगाव छोड़ कर मन में एक होकर समा जाती हैं, तब वे अलग-अलग अपने व्यापारों को नहीं करतीं। इसी स्थिति को सो जाना कहते हैं। अब दूसरा प्रश्न आया कि इन्द्रियाँ तो सो जाती हैं, सोते हुए इनमें जागते कौन हैं—**'कानि जाग्रति'**? इसका उत्तर देते हुए कहा है :

प्राणाग्नयः एव एतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यः ह वै एषः अपानः। व्यानः अन्वाहार्यपचनः यत् गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनात् आहवनीयः प्राणः ।।३।।

इन्द्रियाँ तो सो जाती हैं—न आँखें देखती हैं, न कान सुनते हैं, परन्तु प्राण जागते रहते हैं। प्राणों को यहाँ प्राणों की अग्नियाँ कहा है क्योंकि अग्नि का काम प्रकाश देना है—जागना है। इसीलिये कहा—**'प्राणाग्नयः एव एतस्मिन् पुरे जाग्रति'**। पिप्पलाद ऋषि की मुख्य खोज प्राण है। जैसे कई ऋषि मन पर, कई आत्मा पर, कई ब्रह्म पर ज़ोर देते हैं, वैसे इस ऋषि का विशेष ध्यान प्राण पर है। प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान—ये अग्नि के सदृश हैं, सदा प्रज्वलित रहते हैं, कभी बुझते नहीं, सदा जागरूक रहते हैं, इस मनुष्य-शरीर की नगरी में पहरा देते हैं।

प्राचीन-काल में प्रत्येक व्यक्ति के घर में पंचाग्नि रखने की प्रथा थी, उसी को यहाँ पाँच प्राणों पर घटाया है। घर में जो अग्नि सदा जलती थी उसे गृहपति की अग्नि होने के कारण 'गार्हपत्य-अग्नि' कहा जाता था, जो पिप्पलाद के मन में 'अपान' की प्रतिनिधि है—**'गार्हपत्यः ह वै अपानः'**। इसी से आहरण करके रसोई-घर में खाना पकाने के लिये अग्नि ली जाती थी जो पिप्पलाद के मत में 'व्यान' की प्रतिनिधि है—**'व्यानः अन्वाहार्यपचनः'**। इसी गार्हपत्य अग्नि से हवन के लिये अग्नि का जो—**'प्रणयन'**—ले जाना होता था वह पिप्पलाद के मत में 'प्राण' का प्रतिनिधि है—**'यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनात् आहवनीयः प्राणः'**। इस प्रकार अपान, व्यान तथा प्राण गृहपति की पंचाग्नियों की तरह शरीर में सदा जागते रहते हैं। बाकी रहे समान तथा उदान। इनका अगले अनुवाक्य में उल्लेख है।३।

यत् उच्छ्वास निःश्वासौ एतौ आहुती समम् नयति इति सः समानः। मनः ह वाव यजमानः। इष्टफलं एव उदानः। सः एनं यजमानं अहः अहः ब्रह्म गमयति ।।४।।

यह सारी तुलना यज्ञाग्नियों तथा प्राणों में आपस में की जा रही है। यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं। प्राण तथा अपान का उच्छ्वास—भीतर आना—तथा निःश्वास—बाहर जाना—ये दोनों—**'यत् उच्छ्वासः यत् निःश्वासः एतौ'**—यज्ञ में दी जाने वाली आहुतियों के समान हैं—**'आहुति समम्'**। यज्ञ में दी जाने वाली आहुतियों से जो सूक्ष्म

धूम्र उठता है वह ग्राहुतियों के तत्त्रों (सामग्री) को एक-सम करके सब जगह समान कर देता है, इसलिये यज्ञ की ग्राहुतियों का कार्य 'समान' का प्रतिनिधि है—**'नयति इति सः समानः'** । यज्ञ का कर्ता यजमान होता है । इस पंचाग्नि-यज्ञ में मन यजमान का काम करता है—**'मनः ह वाव यजमानः'** । यज्ञ का कोई-न-कोई इष्टफल होता है । पंचाग्नि-यज्ञ में इष्टफल को 'उदान' कह सकते हैं । उदान का काम ऊपर ले जाना है—उत् का ग्रर्थ है, ऊपर । पंचाग्नि-यज्ञ में यजमान ऊँचे स्तर पर उठ जाता है—ऊँचे-स्तर पर, ग्रर्थात् ब्रह्म के पास गमन करना, जो ऊँचा स्तर है—**'सः एव यजमानं ग्रहरहः ब्रह्म गमयति'**—प्राणाग्नि, जो उदान रूप है, वह मनुष्य को ऊपर उठाती है, ब्रह्म-ज्ञान के मार्ग पर डाल देती है ।।४।।

पाँच प्राणों की तुलना यज्ञ की पाँचों ग्रग्नियों से करके पिप्पलाद ने सौर्यायणी को बतला दिया कि पाँचों प्राण पाँचों ग्रग्नियों के समान हैं, ग्रौर जैसे ग्रग्नि बुझती नहीं, वैसे पाँचों प्राण थकते नहीं, बुझते नहीं, जागते रहते हैं, दिन-रात—**'ग्रहः ग्रहः'**—मनुष्य को ब्रह्म-ज्ञान की प्रेरणा देते रहते हैं—**'ब्रह्म गयमति'** । ग्रब सौर्यायणी का तीसरा प्रश्न ग्राता है कि स्वप्न कौन देखता है—**'कतरः स्वप्नान् पश्यति'** ।

मनसाराम स्वप्न देखता है

ग्रत्र एषः देवः स्वप्ने महिमानं ग्रनुभवति । यत् दृष्टं दृष्टं ग्रनुभवति, श्रुतं श्रुतं एव ग्रर्थं ग्रनुशृणोति, देश-दिगन्तरैः च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं च ग्रदृष्टं च, श्रुतं च ग्रश्रुतं च, ग्रनुभूतं च ग्रननुभूतं च, सत् च ग्रसत् च, सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति ।।५।।

इन्द्रियाँ सो जाती हैं, प्राण जागते रहते हैं, परन्तु प्राण स्वप्न नहीं देखते, इन्द्रियों तथा प्राण के ग्रतिरिक्त मन एक तीसरा तत्त्व है जो ग्राँखें बन्द करके देखता, कान बन्द करके सुनता है । उसकी यह महिमा है कि बिना साधनों के वह सब-कुछ करता है—**'ग्रत्र एषः देवः महिमानं ग्रनुभवति'** । क्या महिमा है उसकी ? जो जागते हुए कानों से सुना है, उस सुने हुए को बिना कानों के सुने समान सुनता है—**'श्रुतं श्रुतं एव ग्रर्थं ग्रनुशृणोति'**, देश-देशान्तर में जागते हुए जो ग्रनुभव किया है, उसे

बिना देश-देशान्तर में गये फिर-से वैसा ही अनुभव करता है। मन की महिमा का क्या वर्णन करें—वह देखे को, अनदेखे को—**'दृष्टं च अदृष्टं च'**, सुने को, अनसुने को—**'श्रुतं च, अश्रुतं च'**, अनुभव किये को, अनुभव न किये को—**'अनुभूतं च अननुभूतं च'**, सत् को, असत् को—**'सत् च असत् च'**—सब-कुछ को देखता है——**'सर्वं पश्यति'**—मनुष्य ही नहीं सब प्राणी भी ऐसे ही देखते हैं—**'सर्वः पश्यति'** ।५।

स्वप्न तथा मन के विषय में यहाँ जो-कुछ कहा है उससे मन की प्रक्रिया पर विशेष प्रकाश पड़ता है। पिप्पलाद का कहना है कि मन को जानने के लिये स्वप्न को जानना आवश्यक है। जागृत् में मन का स्वरूप कुछ नहीं जाना जा सकता, परन्तु स्वप्न तो सब को आते हैं। मन को पकड़ना हो तो उसे स्वप्नों से पकड़ा जा सकता है। वह कैसे ?

(क) मन अनुभूत तथा अननुभूत को देखता है—स्वप्न में क्या होता है ? जागरण में जो हमने नहीं देखा, नहीं सुना, जहाँ हम नहीं गये, जिसका हमने अनुभव नहीं किया, वह भी देखा जाता, सुना जाता, पहुँचा जाता तथा अनुभव किया जाता है। यह एक पहेली जान पड़ती है, परन्तु स्वप्न में यही सब-कुछ होता है। स्वप्न में यह सब-कुछ होना मन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। स्वप्न बतलाता है कि मन क्या है ? उदाहरणार्थ, स्वप्न में यह होता है :

(ख) स्वप्न में वस्तुओं का स्वाभाविक सम्बन्ध टूट जाता है—जागरण में हमने देखा कि एक व्यक्ति कुर्सी पर बैठा अख़बार पढ़ रहा है। हमने यह भी देखा कि किसी गली में एक कुत्ता भौंक रहा है। एक तीसरी जगह हाथी झूमता चला आ रहा है। पहले वाक्य में व्यक्ति का कुर्सी पर बैठना तथा अख़बार पढ़ना—ये तीन तत्त्व हैं; दूसरे वाक्य में कुत्ता तथा भौंकना—ये दो तत्त्व हैं; तीसरे वाक्य में हाथी तथा उसका झूम कर चलना—ये दो तत्त्व हैं। इन वाक्यों में सब तत्त्वों का आपस में किसी-न-किसी तरह का सम्बन्ध है। स्वप्न में यह सम्बन्ध टूट कर गड़बड़ा जाता है। हमें स्वप्न आया कि हाथी कुर्सी पर बैठा हाथ में अख़बार लिये भौंकता चला आ रहा है। वस्तुओं का जो स्वाभाविक सम्बन्ध था वह टूट गया। यह जो करता है वही मन है। इसी को पिप्पलाद ने कहा कि मन देखे को और न देखे को, अनुभव किये को और अनुभव न किये को—सब को अनुभव कर लेता है। स्वप्न इस बात को सिद्ध करता है कि शरीर में कोई ऐसा तत्त्व है जो वस्तुओं के

स्वाभाविक सम्बन्ध को बनाये रखता है। वह तत्त्व मन हो सकता है, चेतना हो सकती है, आत्मा हो सकता है—कुछ भी उसे कहा जा सकता है। ज्ञान के भिन्न-भिन्न खंडों को जो एक सूत्र में पिरो कर उसे माला का रूप देता रहता है ऐसा कोई एक तत्त्व मनुष्य के भीतर है—स्वप्न में इसके काम न करने के कारण वस्तुओं का स्वाभाविक सम्बन्ध टूट जाता है, इसलिये ऊतपटांग स्वप्न आते हैं।

(ग) **स्वप्न में मनसाराम की महानता प्रकट होती है**—मन एक महान् शक्ति है, यह इससे भी सिद्ध होता है क्योंकि स्वप्न में बिना आंखों के हम देखते, बिना कानों के सुनते तथा बिना साधनों के सब-कुछ करते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मन को हम दो भागों में बांट सकते हैं—'ज्ञात' (Known) तथा 'अज्ञात' (Unknown)। ज्ञात-मन जागरण के समय काम करता है—इस बात को हम सब जानते हैं, परन्तु मन का बहुत बड़ा हिस्सा अज्ञात-मन का है। जागरण के समय हमारी बहुत-सी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं, बहुत-सी अपूर्ण भी रह जाती हैं। जो इच्छाएं जागरण में अपूर्ण रह जाती हैं, मनसाराम उन्हें स्वप्न में पूर्ण कर लेते हैं—यह स्वप्न की महानता है। उदाहरणार्थ, अगर दिन को किसी को भूख लगी हो, खाने को न मिले, तो वह स्वप्न में भरपेट खा लेता है, कोई व्यक्ति बाज़ार में दर-दर भीख मांगता है, तो स्वप्न में वह राजा बन जाता है। अतृप्त इच्छाएँ स्वप्न में चुटकी में तृप्त हो जाती हैं।

जागरण की तृप्ति तथा स्वप्न की तृप्ति में भेद यह है कि जागरण में वस्तु का सान्निध्य होना चाहिये, तभी इच्छा की पूर्ति होती है; स्वप्न में वस्तु का सान्निध्य होने के बिना इच्छा पूर्ण हो जाती हैं। जागरण के समय जो काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मनोविकार हैं, वे स्वप्न में भी वैसे-के-वैसे बने रहते हैं। जागते समय साँप से जो डर लगता है, स्वप्न में भी वैसा ही डर लगता है—भेद इतना है कि जागते समय सर्प सामने होता है, सोते समय सर्प का आभास सामने होता है। इसी को उपनिषत्कार ने **'अननुभूतं च पश्यति'**—जो अननुभूत है, उसे **अनुभूत** की तरह स्वप्न में मन अनुभव करता है—यही **'अत्र एषः देवः महिमानं अनुभवति'**—मन की महानता है।

शरीरस्थित आत्मदेव को सुख होता है

सौर्यायणी ने जो पाँच मनोवैज्ञानिक प्रश्न किये थे उनमें चौथा प्रश्न था कि सुख किसको होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पिप्पलाद कहते हैं—

सः यदा तेजसा अभिभूतः भवति। अत्र एषः देवः स्वप्नान् न पश्यति। अथ तदा एतस्मिन् शरीरे एतत् सुखं भवति ॥६॥

उपनिषदों में मन अथवा चेतना की तीन अवस्थाओं का वर्णन पाया जाता है—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। स्वप्न का वर्णन पिछले अनुवाक्य में हो चुका। अब सुषुप्ति का उल्लेख हो रहा है। जब आत्मा तेजोगुण से अभिभूत होता है—**'सः यदा तेजसा अभिभूतः भवति'**, तब इस अवस्था में आत्मदेव—**'अत्र एषः देवः'**, स्वप्नों को नहीं देखता—**'स्वप्नान् न पश्यति'**। स्वप्नावस्था में स्वप्न आते हैं, सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न नहीं आते, आत्मा की यह शान्त, सुखद अवस्था है। तब आत्मा को इस शरीर में—**'अथ तदा एतस्मिन् शरीरे'**, यह सुख होता है—**'एतत् सुखं भवति'**, सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों की अनुभूति नहीं होती।६।

स्वप्न तथा सुषुप्ति में भेद यह है कि स्वप्नावस्था रजोगुण-प्रधान है, सुषुप्ति सतोगुण-प्रधान है। सतोगुणता को ही तेजोमय अवस्था कहा गया है—आत्मा का तेजोमय स्वरूप है तभी प्रार्थना करते हुए—**'तेजो ऽसि तेजो मयि धेहि'** कहा जाता है। सुख शरीर में होता है, शरीर को नहीं होता। आत्मा के संकल्प-विकल्प से छूट जाने का सुख शरीर में परिलक्षित होता है। सुषुप्ति तथा समाधि–दोनों में संकल्प-विकल्प नहीं होता, दोनों में भेद यह है कि 'सुषुप्ति' अवस्था इस प्रकार की है जैसे कोई महात्मा के पास बैठा हो, परन्तु सो रहा हो, उसे महात्मा के सान्निध्य का कोई ज्ञान न हो, 'समाधि' अवस्था ऐसी है जैसे कोई महात्मा के पास बैठा हुआ जाग रहा हो, उसे यह अनुभव हो कि वह महात्मा से प्राण-प्रद तरंगें ले रहा है। कितना भेद है इन दोनों अवस्थाओं में, परन्तु भेद मानसिक-अनुभूति का है, वाह्य-दृष्टि से दोनों अवस्थाएँ एक-सी हैं।

प्रश्न उठ सकता है कि स्वप्नावस्था को तो हम जानते हैं, हर-किसी को स्वप्न आता है, परन्तु क्या सुषुप्ति की भी कोई अवस्था है ? जब

हम सो जाते हैं, तब स्वप्न लेना शुरू करते हैं, और स्वप्न लेते-लेते जाग जाते हैं। सुषुप्ति का क्या स्थान है ? सुषुप्ति अवस्था का वर्णन केवल उपनिषदों में पाया जाता है, अन्य सब-कहीं जागरण तथा स्वप्न का ही वर्णन है। यह महत्त्व की बात है कि जैसे सिगमंड फ्रायड ने स्वप्नों के आधार पर मनोविश्लेषण-वाद को खड़ा किया, वैसे उपनिषदों ने सुषुप्ति के आधार पर अध्यात्मवाद को खड़ा किया।

सुषुप्ति के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या यह निद्रा की स्वतन्त्र अवस्था है या प्रगाढ़ निद्रा को ही सुषुप्ति कह देते हैं; दूसरा प्रश्न यह है कि अगर सुषुप्ति अवस्था को मान लिया जाय, तो इससे क्या परिणाम निकलता है ?

(क) सुषुप्ति स्वप्न के बाद की अवस्था का नाम है—अमरीका के अनेक विश्वविद्यालयों में निद्रा के स्वरूप को जानने के लिये अनेक प्रयोगशालाएँ बनी हुई हैं। इन प्रयोगशालाओं में अनेक व्यक्तियों पर परीक्षण करने से यह पता चला है कि निद्रा के चार स्तर हैं। पहले स्तर में व्यक्ति की मांस-पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं, और नाड़ी की गति धीमी पड़ जाती है, और अगर इस समय सोने वाले को जगा दिया जाय, तो वह कहेगा कि वह जाग ही रहा था। दूसरे स्तर में अगर उसे उठा दिया जाय, तो वह कहेगा कि कुछ सपनों की झलक-सी आने लगी थी। इन दोनों स्तरों की निद्रा को रेम-निद्रा (Rem-Sleep) कहते हैं। तीसरे और चौथे स्तर की निद्रा गहरी होती है, इसमें स्वप्न नहीं आते, इसे डेल्टा-निद्रा (Delta Sleep) कहते हैं। यह स्वप्नहीन निद्रा है, इसी को उपनिषदों में सुषुप्ति कहा है। यह समझना कि हम सारी रात सपनों में ही बिता देते हैं, ग़लत धारणा है, स्वप्निल निद्रा तथा स्वप्नहीन निद्रा—निद्रा के ये दो स्तर हैं जिनमें से स्वप्नहीन निद्रा ही सुषुप्ति है। सुषुप्ति में इन्द्रियाँ, प्राण, मन—सब अलग हो जाते हैं, आत्मा ही अपनेपन में आ जाता है।

(ख) सुषुप्ति का परिणाम—जब मनुष्य सुषुप्ति में से जागकर उठता है, तब कहता है कि मैं तरोताज़ा हो गया—**'सुखं अहं अस्वाप्सम्'**—मैं सुख से सोया। यह सुख शरीर को नहीं होता, आत्मा के स्वरूप में आ जाने के कारण यह ऐसा अनुभव करता है। जैसे आदमी जब दुनियां के काम-धन्धों में उलझा रहता है तब उसे सब फ़िक्र घेरे रहते हैं, परन्तु जब वह उन सब से निबट जाता है तब कहता है मैं आज़ाद

हो गया—यह आज़ादी का अनुभव ही सुषुप्ति का अनुभव है जब मनुष्य उन सब उलझनों से अलग हो जाता है, जो उसे दिन-रात घेरे रहती हैं।

इन्द्रियाँ, प्राण, मन—ये सब आत्मा में प्रतिष्ठित हैं

इन्द्रियों, प्राण तथा मन आदि की चर्चा हो चुकने के बाद सौर्यायणी के पाँचवें प्रश्न के उत्तर का समय आया। सौर्यायणी ने पूछा था कि इन्द्रियाँ, प्राण, मन आदि क्या स्वतन्त्र रूप में अपनी-अपनी मर्ज़ी से काम करते हैं, या ये किसी नियामक केन्द्र के साथ बँधे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ने कहा—

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते।
एवं ह वै तत् सर्वं आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

हे सोम्य—हे प्यारे! जैसे पक्षी—**'स यथा सोम्य वयांसि'**, वृक्ष पर वास कर के वहाँ प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वहाँ बस जाते हैं—**'वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते'**, इसी तरह ये सब—इन्द्रियाँ, प्राण, मन—आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वही इनका आश्रय-स्थल है।७।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा च आपश्च आपोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्च आकाशमात्रा च, चक्षुश्च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ च आदतव्यं च, उपस्थश्च आनन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, मनश्च मन्तव्यं च, बुद्धिश्च बोद्धव्यं च, अहंकारश्च अहं कर्तव्यं च, चित्तं च चेतयितव्यं च, तेजश्च विद्योतयितव्यं च, प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥८॥

कौन-कौन आत्मा के आश्रय-स्थल—उसकी शरण—में आते हैं? उत्तर देते हैं—स्थूल-पृथिवी तथा सूक्ष्म-पृथिवी, स्थूल-जल तथा सूक्ष्म-जल, स्थूल-तेज और सूक्ष्म-तेज, स्थूल-वायु और सूक्ष्म-वायु, स्थूल-आकाश और सूक्ष्म-आकाश—अर्थात्, सम्पूर्ण **'भौतिक-जगत्'**—या **'ब्रह्मांड'**; आंख और आँख के विषय, श्रोत्र और श्रोत्र के विषय, घ्राण

और घ्राण के विषय, रस और रस के विषय, त्वचा और त्वचा के विषय, वाणी और वाणी के विषय, हाथ और हाथ के विषय, उपस्थ और उपस्थ के विषय, पायु और पायु के विषय, पाँव और पाँव के विषय, मन और मन के विषय, बुद्धि और बुद्धि के विषय, अहंकार और अहंकार के विषय, चित्त और चित्त के विषय, शरीर का तेज और जो-कुछ चमकता है, प्राण और प्राण द्वारा जो-कुछ धारण होता है—अर्थात् सम्पूर्ण **'आध्यात्मिक-जगत्'**—या पिंड । ये सब आत्मा की शरण में रहते हैं, उसमें प्रतिष्ठित हैं—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत्, ब्रह्मांड तथा पिंड का आश्रय-स्थान आत्मा ही है ।८।

यह एक विस्तृत सूची है जिसमें ब्रह्मांड तथा पिंड का स्थूल तथा सूक्ष्म रूप सभी-कुछ आ जाता है । पृथिवीमात्रा, आपोमात्रा का अर्थ इन तत्त्वों का सूक्ष्म रूप है । सभी-कुछ अपने आधार पर नहीं, आत्मा के आधार पर टिका हुआ है, उसी में प्रतिष्ठित है । इस सूची में सांख्य का अव्यक्त से व्यक्त के प्रकट होने का जो सिलसिला पाया जाता है, वह सब इस अनुवाक्य में उल्लिखित कर दिया गया है ।

आत्मा ही द्रष्टा, स्प्रष्टा, भोक्ता है, भोग्य नहीं; इन्द्रियां, प्राण, मन, द्रष्टा तथा भोक्ता नहीं, भोग्य हैं

जिसके आश्रय में सब टिका हुआ है, वही देखने वाला है, वही सुनने वाला है । प्रतीत यह होता है कि आँख देखती है, कान सुनते हैं, पिप्पलाद कहते हैं कि आँख नहीं देखती, कान नहीं सुनते—ये तो साधन हैं, उपकरण हैं, देखने वाला, सुनने वाला तो वह है जो आँखों का उपयोग करता है, कानों का उपयोग करता है—

> **एषः हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता,**
> **बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः । सः परे अक्षरे आत्मनि**
> **सम्प्रतिष्ठते ।।९।।**

देखनेवाला तो यह आत्मा है—**'एषः हि द्रष्टा'**, स्पर्श करने वाला तो यह आत्मा है—**'एषः हि स्प्रष्टा'**, सुननेवाला, सूँघनेवाला, रस लेने-वाला तो यह आत्मा है—**'एषः हि श्रोता, घ्राता'**, रसयिता मनन करने-वाला, बुद्धि का प्रयोग करनेवाला, सब-कुछ करनेवाला तो यह आत्मा है—**'मन्ता, बोद्धा, कर्ता'** । वह आत्मा विज्ञानमय पुरुष है—**'विज्ञानात्मा**

पुरुषः'। जैसे इन्द्रियाँ, प्राण, मन आत्मा में प्रतिष्ठित हैं, आत्मा के सहारे टिके हुए हैं, वैसे यह आत्मा जो विज्ञानमय पुरुष है वह परम अक्षर—अविनाशी आत्मा—परमात्मा के सहारे टिका हुआ है—**'सः परे अक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते'**।९।

इस अनुवाक्य का एक अर्थ तो यह है—अर्थात्, जैसे इन्द्रियाँ, प्राण, मन—ये सब आत्मा के सहारे हैं, वैसे आत्मा परमात्मा के सहारे है। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि आत्मा का इन्द्रियों, प्राण तथा मन के साथ सम्बन्ध होने से ऐसा प्रतीत होता है कि आँख, कान, इन्द्रियाँ देखती-सुनती हैं, परन्तु जब आत्मा इन्द्रियों से सम्बन्ध तोड़ लेता है तब यह अपने अक्षर स्वरूप में आ जाता है, अपने-आप में आ जाता है, **'आत्मनि सम्प्रतिष्ठते'**। यह ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति काम-धंधे में फँसा हुआ अपने को भूला रहता है, उनसे निबट कर अपने-आप में आ जाता है, अपने उस रूप में जो उसका असली स्वरूप है। सब बन्धनों को परे फेंक देता है। आत्मा को जानना परम आवश्यक है। जो आत्मा के शुद्ध रूप को जान लेता है वह जो-कुछ जानने योग्य है उस सब को जान लेता है; दूसरे शब्दों में, सब को ही नहीं, सब-कुछ भी जान लेता है। इसी भाव को प्रकट करते हुए पिप्पलाद कहते हैं—

परं एव अक्षरं प्रतिपद्यते सः यः ह वै तत् अच्छायम्
अशरीरम् अलोहितम् शुभ्रम् अक्षरम् वेदयते, यः तु
सोम्य ! सः सर्वज्ञः सर्वो भवति। तत् एषः श्लोकः ।।१०।।

वह व्यक्ति परम अक्षर—परम अविनाशी—आत्मा (या ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है—**'परं एव अक्षरं प्रतिपद्यते'**—जो छायारहित, शरीर रहित, रुधिर रहित शुभ्र अक्षर है—**'सः यः ह वै तत् अच्छायम् अशरीरम् अलोहितम् शुभ्रम् अक्षरम्'**, उसे जान लेता है—**'वेदयते'**। हे सोम्य, वह सर्वज्ञ हो जाता है, जो-कुछ जानने योग्य है उसे वह जान लेता है—**'यः तु सोम्य सः सर्वज्ञः'**—और वह जीवन में जो-कुछ बन सकता था बन जाता है—**'सर्वो भवति'**। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये निम्न श्लोक कहा गया है—**'तत् एषः श्लोकः'**।१०।

विज्ञानात्मा सह देवैः च सर्वैः प्राणाः भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तत् अक्षरं वेदयते यः तु सौम्य ! सः सर्वज्ञः सर्वं आविवेश इति ।।११।।

वह आत्मा जिसका वर्णन किया जा रहा है विज्ञानस्वरूप है—**'विज्ञानात्मा'**। सब इन्द्रियों को साथ लेकर—**'सह देवैः'**, और जो बच

रहा हो उसे भी साथ लेकर—**'च सर्वैः'**—प्राण तथा पाँचों महाभूत—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—उसी में प्रतिष्ठित होते हैं—**'प्राणाः भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र'**। पहले भी ब्रह्मांड तथा पिंड का आश्रय-स्थल वही है—यह कहा। इस श्लोक में भी उसी बात को दोहरा दिया है। हे सोम्य! जो उस अक्षर आत्म या परमात्म तत्त्व को जानता है—**'तत् अक्षरं वेदयते यः तु सोम्य'**, वह सर्वज्ञ हो जाता है, जो-कुछ जानने योग्य है उसे वह जान लेता है—**'सः सर्वज्ञः'**, और हर वस्तु में प्रविष्ट हो जाता है—**'सर्वं आविवेश इति'**। सब वस्तुओं में प्रविष्ट हो जाने का अभिप्राय यह है कि वह हर वस्तु की हर बारीकी को जान लेता है।११।

उपनिषद् ने कहा है—**'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः'**—परमात्मा ने इन्द्रियों को बाहर देखने वाला बनाया है। बाहर के पट बन्द कर भीतर के पट खोल—इसका यही अर्थ है। वह **'प्रत्यग् आत्मानं ऐक्षत'**-आत्मा को आमने-सामने देख लेता है।

५. शिवि के पुत्र सत्यकाम का प्रश्न—ओंकार के ध्यान से क्या लाभ है?

चौथे प्रश्न में हम आत्मा तक आ पहुँचे। आत्म-ज्ञान के लिये उपनिषदों में सबसे बड़ा साधन ध्यान कहा है। पाँचवाँ प्रश्न करने वाले शिवि के पुत्र सत्यकाम ने इसी ध्यान के विषय में प्रश्न किया—

> **अथ ह एनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। सः यो ह वै तद्**
> **भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तं ओंकारं अभिध्यायीत।**
> **कतमं वाव सः तेन लोकं जयति इति ॥१॥**

अब शिवि के पुत्र सत्यकाम ने पिप्पलाद से पूछा—**'अथ ह एनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ'**—हे भगवन्! मनुष्यों में वह व्यक्ति जो—**'सः यः ह वै तद् भगवन् मनुष्येषु'**, प्राण के अन्त तक ओंकार का ध्यान करे—**'प्रायणान्तं ओंकारं अभिध्यायीत'**, वह उस ध्यान से किस लोक को जीत लेता है—**'कतमं वाव सः लोकं जयति इति'**।१।

उसे पिप्पलाद ने उत्तर दिया—

> **तस्मै सः ह उवाच। एतत् वै सत्यकाम! परं च अपरं**
> **च ब्रह्म यत् ओंकारः। तस्मात् विद्वान् एतेन एव आय-**
> **तनेन एकतरं अनु एति ॥२॥**

पिप्पलाद ने सत्यकाम को कहा–**'तस्मै सः ह उवाच'**। हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है यही निश्चय से 'पर' तथा 'अपर' ब्रह्म है—**'एतत् वै सत्यकाम ! परं च अपरं च ब्रह्म यत् ओंकारः'**। इसलिये विद्वान् व्यक्ति —**'तस्मात् विद्वान्'**, इसी ओंकार के सहारे—**'एतेन एव आयतनेन'**, पर तथा अपर में से किसी भी एक को प्राप्त कर लेता है—**'एकतरं अनु एति'** ।२।

कहने का अभिप्राय यह है कि ओंकार की उपासना से ब्रह्म का पर-रूप भी पाया जा सकता है, अपर-रूप भी। ब्रह्म का पर-रूप क्या है, और अपर-रूप क्या है ? पर-रूप का अर्थ है—इस सृष्टि से परे, ब्रह्म का वह रूप जो निर्लेप-रूप है, सृष्टि से अलग रूप। अपर-रूप वह है जो सृष्टि में दिखलाई देता है, सृष्टि के कर्ता का रूप। योगी लोग ब्रह्म के पर-रूप की उपासना करते हैं—**'अकामं, अस्नाविरं, शुद्धं, अपापविद्धं, कविः, मनीषीः रूप'**; सांसारिक लोग ब्रह्म के अपर-रूप की उपासना करते हैं, सृष्टि के रचनेहारे, सुख-दुःख देने वाले परमात्मा का रूप। उपनिषदों में पर-ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, यह ज्ञान-कांड है; ब्राह्मण-ग्रन्थों में अपर-ब्रह्म की उपासना का वर्णन है, यज्ञ यागादि का वर्णन है, यह कर्म-कांड है। ये दोनों ओंकार के सहारे टिके हुए हैं, जो ओंकार की उपासना करता है वह अगर योगी है, तो उसे अध्यात्म का सुख प्राप्त हो जाता है, अगर संसारी है तो उसे संसार का सुख प्राप्त हो जाता है। ओंकार में तीन मात्राएँ हैं। उनमें से एक-एक मात्रा के विषय में पिप्पलाद कहते हैं—

एक-मात्र ओंकार की उपासना

> **सः यदि एकमात्रम् अभिध्यायीत सः तेन एव संवेदितः तूर्णं एव जगत्यां अभिसंपद्यते। तं ऋचः मनुष्यलोकं उपनयन्ते। सः तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नः महिमानं अनुभवति ॥३॥**

साधक अगर ओंकार का ध्यान करे—**'सः यदि एकमात्रम् अभिध्यायीत'**, तो वह उससे ही ज्ञान-युक्त होकर—**'सः तेन एव संवेदितः'**, शीघ्र ही उस ज्ञान से पृथिवी में संपन्न अर्थात्, समृद्ध हो जाता है—**'तूर्णं एव जगत्यां अभिसंपद्यते'**। ऋचाएँ उसे मृत्युलोक में ले जाती हैं—**'ते ऋचः मनुष्यलोकं उपनयन्ते'**। मनुष्य-लोक में जन्म लेकर वह

तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से संपन्न होकर—**'सः तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नः'**, महिमा को अनुभव करता है—**'महिमानं अनुभवति'** ।३।

ओंकार में तीन मात्राएँ हैं—अ, उ, म् । एकमात्र ओंकारोपासना का अर्थ है—तीन मात्राओं में से एक मात्रा का ध्यान करना—अर्थात् ध्यान का एक तिहाई हिस्सा । कहने का अभिप्राय यह है कि अगर ओंकार में ध्यान थोड़ा-थोड़ा (एकमात्र) भी लगाया जाय, तो मनुष्य में इतना ज्ञान जाग उठता है कि वह संसार में शीघ्र ही तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है, और स्वयं महिमाशाली हो जाता है । एकमात्रा तथा ऋचा—इन दोनों का यहां एक ही अभिप्राय है क्योंकि एकमात्रा भी त्रिमात्र ओंकार का हिस्सा है, ऋचा भी त्रिविद्या का एक ही हिस्सा है । एक हिस्सा—इस भाव को प्रकट करने के लिये ओंकार का एकमात्र तथा त्रिविद्या की एक विद्या—ऋचा—यह कह दिया है ।

द्वि-मात्र ओंकार की उपासना

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सः अन्तरिक्षं यजुर्भिः उन्नीयते सोमलोकम् । सः सोमलोके विभूतिम् अनुभूय पुनः आवर्तते ।।४।।

साधक अगर द्विमात्र ओंकार का मन में ध्यान करे—**'अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते'**, तो वह यजुः श्रुतियों से अन्तरिक्ष में सोम-लोक को उठ जाता है—**'सः अन्तरिक्षं यजुर्भिः उन्नीयते सोमलोकम्'** । वह सोमलोक की विभूतियों का अनुभव लेने के बाद—**'सः सोमलोके विभूतिम् अनुभूय'**—फिर इस लोक में लौट आता है—**'पुनः आवर्तते'** ।४।

यहाँ दो मात्राओं का यही अर्थ प्रतीत होता है कि जो साधक ओंकार पर अधिक चित्त लगाता है, उसे पार्थिव-जगत् के सुख-भोग के साथ मानसिक-शान्ति भी मिलती है—अर्थात्, पार्थिव-सम्पदा के साथ मानसिक-शान्ति भी सम्पदा के रूप में प्राप्त हो जाती है । द्वि-मात्रा के ध्यान से सोम-लोक की विभूतियों के अनुभव का अभिप्राय मानसिक-शान्ति से ही है । सोम-लोक कहीं दूर नहीं, यहीं, भूमि पर, इसी शरीर में सोमलोक है । जब हमें मानसिक-शान्ति प्राप्त होती है, हमारे

भीतर सौम्यता आती है, तब हम सोमलोक में पहुँचे होते हैं। एक-मात्र का अर्थ है—ओंकार का कुछ-कुछ ध्यान, द्वि-मात्र का अर्थ है—बहुत-कुछ ध्यान। एक-मात्र के ध्यान को ऋचा कह दिया, द्वि-मात्र के ध्यान को ऋचा के साथ यजुः—दोनों विद्याओं का लाभ—यह कह दिया। ये सब वर्णन अर्थवाद रूप में कहे गये हैं।

त्रि-मात्र ओंकार की उपासना

> **यः पुनः एतं त्रिमात्रेण ओम् इति एतेन एव अक्षरेण परं पुरुषं अभिध्यायीत, सः तेजसि सूर्ये संपन्नः, यथा पादोदरः त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै सः, पाप्मना विनिर्मुक्तः, सः सामभिः उन्नीयते, ब्रह्मलोकं सः एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षते। तत् एतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥**

जो साधक फिर त्रिमात्र ओम्—इस अक्षर से—**'यः पुनः एतं त्रिमात्रेण ओम् इति एतेन एव अक्षरेण'**, परम-पुरुष का ध्यान करे—**'परं पुरुषं अभिध्यायीत'**, वह तेज से सूर्य लोक से सम्पन्न—**'सःतेजसि सूर्ये सम्पन्नः'**—हो जाता है। एकमात्रा की उपासना करने वाला पृथ्वी-लोक में, द्विमात्रा की उपासना करने वाला सोम-लोक अर्थात् चन्द्र-लोक में, और त्रिमात्रा की उपासना करने वाला सूर्य-लोक में पहुँचता है। सूर्य-लोक भी सोम-लोक की तरह कहीं बाहर नहीं, अपने भीतर ही है। ऐसे व्यक्ति का जीवन सूर्य की ज्योति के समान जगमगाता है, ज्योतिर्मय हो जाता है। यह ऐसा ही है जैसे सांप केंचुली से मुक्त हो जाता है—**'यथा पादोदरः त्वचा विनिर्मुच्यते'**, वैसे वह पाप से मुक्त हो जाता है, छूट जाता है—**'एवं सः पाप्मना विनिर्मुक्तः'**—और सामवेद के सहारे ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को चला जाता है—**'सः सामभिः उन्नीयते ब्रह्मलोकं'**, और इस जीवघन शरीर से ही परात्पर पुरुष—पर-ब्रह्म—को देख लेता है—**'सः एतस्मात् जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षते'** ।५।

जैसा पहले कहा जा चुका है—एक-मात्र ओंकार का अर्थ है—ओंकार की कुछ-कुछ उपासना; द्विमात्र का अर्थ है—बहुत काफ़ी उपासना; त्रिमात्र का अर्थ है—ओंकार की ही उपासना में रत हो

जाना, मग्न हो जाना। पृथिवी-लोक, सोम-लोक (चन्द्र-लोक) तथा सूर्य-लोक भी मानसिक-स्थितियों को सूचित करते हैं। पृथिवी लोक का अर्थ है—भौतिक सुख लाभ; सोम-लोक का अर्थ है—मानसिक-शान्ति; सूर्य-लोक का अर्थ है—आध्यात्मिक-प्रकाश। इसी प्रकार ऋक्, यजु, साम भी ओंकार की त्रिमात्राओं की तरह त्रयी-विद्या के प्रतिनिधि हैं। ऋक्, यजुः, साम को ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का प्रतीक भी समझा जा सकता है। इन शब्दों का शाब्दिक अर्थ न लेकर अर्थवादपरक अर्थ लेना चाहिये। अर्थात्, जब किसी बात की महिमा का बखान करना हो, तब कोई अच्छी बात कह दी जाती है जिसका अभिप्रायः सिर्फ़ पढ़ने-सुनने वाले को प्रेरणा देना होता है।

ओंकारोपासना के सम्बन्ध में पिप्पलाद ने दो श्लोकों का भी ज़िक्र किया है जिनमें ओंकार की त्रिमात्राओं तथा ऋक्, यजुः एवं साम का उल्लेख है। उन दोनों श्लोकों में से पहला श्लोक निम्न है—

तिस्रः मात्राः मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः अन्योन्यसक्ताः अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु वाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ।।६।।

ओंकार की 'अ'—'उ'—'म्'—ये तीन मात्राएं—**'तिस्रः मात्राः'**—उपयोग में लाई हुई मरण-धर्मा या विनाशी हैं—**'मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः'**। ये मात्राएं मरणधर्मा क्यों हैं? ये मरण-धर्मा इसलिये हैं क्योंकि जब इन मात्राओं से ठीक-ठीक, हृदय से उपासना की जाती है, तब ये मरण-धर्मा बन जाती है—इनके प्रयोग से उपासक के लिये संसार का माया-मोह मर जाता है। आत्मा के एक तरफ़ संसार है, दूसरी तरफ़ पर-ब्रह्म है। मनुष्य इस स्थिति में ब्रह्म को भूल जाता है, संसार के मायाजाल में फँस जाता है, यद्यपि यदि इस स्थिति को उलट दिया जाय, तो उपासक संसार को भूल जाता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये **'मृत्युमत्यः प्रयुक्ताः'** कहा है। प्रयोग से संसार के विषय मरते हैं, सिर्फ़ कह देने से नहीं। इनका प्रयोग भी कैसा होना चाहिये? तीनों मात्राएँ एक-साथ हों, एक-दूसरे से आसक्त हों, एक-दूसरे से सटी हुई हों—**'अन्योन्यसक्ताः'**; एक-दूसरे से वियुक्त—अलग-अलग न हों—**'अनविप्रयुक्ताः'**। इस प्रकार तीनों मात्राओं की उपासना से परात्पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। तीनों मात्राओं के प्रयोगों—**'प्रयुक्ताः'**—को स्पष्ट करने के लिये आगे कहा है—ओंकार के प्रयोग से जो वाह्य, आभ्यन्तर या मध्यम क्रिया (प्रयोग) किया जाय—**'क्रियासु बाह्य**

आभ्यन्तर मध्यमासु'—वह सम्यक् प्रयोग होना चाहिये—**'सम्यक् प्रयुक्तासु'**—तब जाकर ज्ञानस्वरूप आत्मा इधर-उधर नहीं भटकता—**'न कम्पते ज्ञः'** ।६।

ऊपर के श्लोक में—**'अन्योन्यसक्ताः'** तथा **'बाह्य आभ्यन्तर मध्यमा क्रियाओं'** का उल्लेख है जिसे कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता है। **'अन्योन्यसक्त'** का अर्थ है कि अ+उ+म् की उपासना करते हुए इसकी अलग-अलग मात्रा की उपासना करना लाभप्रद नहीं है। ये तीनों मात्राएं अन्योन्यसक्त हैं—एक-दूसरे से बँधी हुई हैं। जब अकार की उपासना होगी तब उपासक का उकार की तरफ़ अपने-आप ध्यान जायगा, जब उकार की उपासना होगी तब मकार की तरफ़ अपने-आप ध्यान जायगा। **'बाह्य आभ्यन्तर मध्यमा क्रिया'** का अर्थ क्या है? शरीर की वे क्रियाएं जो होती ही रहती हैं—वे वाह्य क्रियाएं हैं; मन के भीतर की क्रियाएं आभ्यन्तर क्रियाएं हैं; शरीर तथा मन के बीच की क्रियाएं जिनमें कुछ शरीर काम करता है, कुछ मन काम करता है, वे क्रियाएं मध्यमा क्रियाएं हैं। क्रियाओं की इन तीनों अवस्थाओं में उपासक का ध्यान त्रि-मात्र ओंकार में लीन रहना चाहिये। प्रथम श्लोक की चर्चा के बाद दूसरे श्लोक की चर्चा की जा रही है जो निम्न है—

> **ऋग्भिः एतं, यजुर्भिः अन्तरिक्षं, सः सामभिः यत् तत्**
> **कवयः वेदयन्ते। तम् ओंकारेण एव आयतनेन अनु एति**
> **विद्वान्, यत् तत् शान्तं अजरं अभयं परं च इति ।।७।।**

ऋग्वेद की ऋचाओं से उपासक को पृथिवी में स्थित भोग-ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं—**'ऋग्भिः एतम्'**; यजुर्वेद के मन्त्रों से अन्तरिक्षस्थ सोम-लोक (चन्द्र-लोक) की सौम्यता उसे प्राप्त होती है—**'यजुर्भिः अन्तरिक्षं'**, सामवेद के गान से कवियों का कहना है कि जो वह सूर्य-लोक का तेज है वह उसे प्राप्त होता है—**'सः सामभिः यत् तत् कवयः वेदयन्ते'**। अगर ऋक्-यजु-साम के बिना कोई विद्वान् ओंकार के सहारे से ही पृथिवी-लोक के भोग-ऐश्वर्य, सोम-लोक (चन्द्र-लोक) की सौम्यता तथा शान्ति एवं सूर्य-लोक का तेज प्राप्त करना चाहे तो उन्हें प्राप्त कर सकता है—**'तं ओंकारेण एव आयतनेन अनु एति विद्वान्'**। इस प्रकार ओंकार की उपासना के सहारे जो शान्त, अजर, अभय परात्पर है वह प्राप्त हो जाता है—**'यत् तत् शान्तं अजरं अभयं पर च इति** ।७।

पंचम प्रश्न यह था कि जो व्यक्ति जीवन भर ओंकार का ध्यान करे, वह इस ध्यान से किस लोक को प्राप्त होता है। इस प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ने कहा कि एक-मात्र, द्वि-मात्र की उपासना से उतना लाभ नहीं होता जितना त्रि-मात्र के ध्यान से होता है। त्रि-मात्र का अर्थ है—जीवन भर ओंकार की लगन। त्रि-मात्र—अर्थात् जीवन भर ओंकार में रमे रहने वाले को संसार के सुख-ऐश्वर्य तो प्राप्त होते ही हैं, परन्तु साथ ही मानसिक शान्ति तथा तेजस्विता भी प्राप्त होती है जो सिर्फ़ संसार में रमे रहने वाले को नसीब नहीं होती।

६. भरद्वाजगोत्री सुकेश का प्रश्न—सोलह कलाओं वाला पुरुष कौन है ?

पहले प्रश्न में प्राण तथा रयि के द्वित्व का ज़िक्र हुआ, दूसरे में प्राण के भिन्न-भिन्न पांच भागों का उल्लेख हुआ, तीसरे में प्राण की उत्पत्ति का प्रश्न उठा, चौथे में इन्द्रियों के सो जाने पर भी प्राण के जागते रहने की चर्चा हुई, पाँचवें में ओंकार के महत्त्व के विषय में कहा, अब छटे प्रश्न में यह पूछा जा रहा है कि सोलह कलाओं वाला पुरुष कौन है ?

> **अथ ह एनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन् ! हिरण्यनाभः कौशल्यः राजपुत्रः मां उपेत्य एतं प्रश्नं अपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ ? तं अहम् कुमारं अब्रुवम्, न अहं इमं वेद। यदि अहम् अवेदिषम् कथं ते न अवक्ष्यम् इति। समूलः वा एषः परिशुष्यति यः अनृतं अभिवदति। तस्मात् न अर्हामि अनृतं वक्तुं। सः तूष्णीं रथं आरुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्व असौ पुरुषः इति ॥१॥**

अब पिप्पलाद को सुकेश भारद्वाज ने पूछा—'**अथ ह एनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ**'। हे भगवन् ! हिरण्यनाभ नाम के कौशल देश के राजकुमार ने—'**हिरण्यनाभः कौशल्यः राजपुत्रः**', मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा—'**मां उपेत्य एतं प्रश्नं अपृच्छत**'। क्या प्रश्न पूछा ? हे भारद्वाज, क्या तू सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानता है—'**शोडश-कलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ**' ? उस कुमार को मैंने कहा—'**तं अहम् कुमारं अब्रुवम्**'—कि मैं इसे नहीं जानता—'**न अहम् इमं वेद**', यदि

मैं जानता होता—**'यदि ग्रहम् ग्रवेदिषम्'**, तो कैसे तुझे न बतलाता —**'कथं ते न ग्रवक्ष्यम् इति'** । जो झूठ बोलता है वह जड़ सहित सूक जाता है—**'समूलो वा एषः परिशुष्यति यः ग्रनृतं वदति'** । इसलिये मैं झूठ बोलने में समर्थ नहीं हूँ—**'तस्मात् न ग्रर्हामि ग्रनृतं वक्तुं'** । यह सुनकर वह राजकुमार चुपचाप रथ पर चढ़कर—**'सः तूष्णीं रथं ग्रारुह्य'** —चला गया—**'प्रवव्राज'** । इसलिये मैं ग्राप से पूछता हूँ—**'तं त्वा पृच्छामि'**—कि वह सोलह कलाओं वाला पुरुष कहाँ है—**'क्व ग्रसौ पुरुषः इति'** ।१।

तस्मै सः ह उवाच । इह एव ग्रन्तः शरीरे सौम्य सः
पुरुषः यस्मिन् एताः षोडशकलाः प्रभवन्ति इति ।।२।।

पिप्पलाद ऋषि ने उसे उत्तर दिया—**'तस्मै सः ह उवाच'**— कि हे सौम्य ! यहाँ पर ही शरीर के भीतर—**'इह एव ग्रन्तः शरीरे सोम्य'**, वह पुरुष है—**'सः पुरुषः'**—जिसमें ये सोलह कलाएं उत्पन्न होती हैं— **'यस्मिन् एताः षोडशकलाः प्रभवन्ति इति'** ।२।

अगर इस शरीर के भीतर ही सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं, तो वे दीखती क्यों नहीं ? कहाँ हैं वे सोलहों कलाएँ ? इसका उत्तर देते हुए पिप्पलाद कहते हैं—

सः ईक्षां चक्रे । कस्मिन् ग्रहम् उत्क्रांते उत्क्रान्तः
भविष्यामि । कस्मिन् वा प्रतिष्ठते प्रतिष्ठास्यामि इति ।।३।।

जब सोलहों कलाएं शरीर के भीतर ही हैं तो शरीरस्थ पुरुष ने ग्रपने भीतर देखना शुरू किया—**'सः इक्षां चक्रे'** । उसने देखना चाहा कि किस के निकल जाने पर मैं—**'कस्मिन् ग्रहं उत्क्रान्ते'**—निकल जाऊँगा—**'उत्क्रान्तः भविष्यामि'**, ग्रौर किसके शरीर में प्रतिष्ठित होने पर—**'कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते'**, मैं प्रतिष्ठित हो जाऊँगा—**'प्रति-ष्ठास्यामि इति'** ।३।

पिप्पलाद ने सुकेश भारद्वाज के हाथ में एक कसौटी दे दी । उसे यह बतला दिया कि शरीर में जो-जो कलाएं हैं—शरीर के ग्रंश हैं— उन्हें निकाल कर देखते जाग्रो । जिस कला का सब से ज्यादा महत्त्व होगा उसके निकलते ही ग्रन्य कलाएँ—ग्रन्य ग्रंश—निकलने लगेंगे, उसके प्रतिष्ठित होने पर ग्रन्य ग्रंश प्रतिष्ठित हो जायेंगे । पहले प्राण पर परीक्षण किया । प्राण निकलने लगा तब ग्रन्य सभी निकलने को बाधित होने लगे, प्राण थम गया तो ग्रौर सब भी थम गये । इससे पता

चला कि प्राण सब से मुख्य कला है इसलिये इन कलाओं को जब उत्पन्न किया गया तब प्राण-कला को सबसे पहले उत्पन्न किया गया। इससे भी प्राण का सबसे अधिक महत्त्व है—

सः प्राणं असृजत, प्राणात् श्रद्धां, खं, वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी। इन्द्रियं, मनः, अन्नम्, अन्नात् वीर्यं, तपः, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, लोकेषु च नाम च ।।४।।

उसने '**प्राण**' का सर्जन किया—'**सः प्राणं असृजत**'। प्राण का सर्जन करने के बाद उसी से '**श्रद्धा**' का सर्जन किया—'**प्राणात् श्रद्धां**'। प्राण तो जीवन की पहली कला है—प्राण न हो तो पिंड का जीवन नहीं शुरू होता, सृष्टि में प्राण-वायु न हो, तो ब्रह्मांड का जीवन नहीं चलता। यह तो स्पष्ट है कि प्राण सबसे पहली और मुख्य कला है जिसे पिंड तथा ब्रह्मांड के जीवन के लिये सृजा गया। परन्तु प्राण के बाद '**श्रद्धा**' के सर्जन का क्या अर्थ है? 'श्रद्धा'-शब्द श्रत् से बना है जिसका अर्थ है—सत्य। सृष्टि का जो प्राण-मय जीवन है उसकी गति सत्य की तरफ़ है। संसार में जो-कुछ हो रहा है, जो-कुछ अनुप्राणित है, उसका मुख सत्य की खोज है। असत्य की तरफ़ सृष्टि की गति नहीं, सत्य की तरफ़ ही गति है। हर जगह यही खोजा जा रहा है कि सत्य क्या है, उसे पकड़ें, सत्य को खोजें। इसलिये प्राण के बाद दूसरी कला सत्य है—सत्य में अचल निष्ठा को ही श्रद्धा कहा जा सकता है, जो प्राण की बाद की कला है। इन दो के बाद ब्रह्मांड के जगत् को बचाये रखने के लिये पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश तथा पिंड के जगत् को बनाये रखने के लिये इन्द्रिय रूपी कलाओं की रचना हुई। यहाँ प्रश्नोपनिषद् के उक्त अनुवाक्य में '**पृथिवी**', '**अप्**', '**तेज**', '**वायु**' '**आकाश**' को उलट कर कहा गया है—पृथिवी को सबसे पहले रखने के स्थान में अन्त में कहा है, और यह सारा सिलसिला उल्टा दिया गया है। इसलिये श्रद्धा के बाद 'आकाश', 'वायु', 'ज्योति', 'जल', पृथिवी'—ये कलाएं ब्रह्मांड में उत्पन्न कीं—'**खं वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी**'—तथा 'इन्द्रियों' एवं 'मन' की कलाएं पिंड में उत्पन्न कीं—'**इन्द्रियं मनः**'। यहाँ तक जिन कलाओं की गणना की गई वे हैं—प्राण, श्रद्धा, पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन्द्रिय तथा मन—ये नौ कलाएं। बाकी रहीं सात कलाएं जो ब्रह्मांड तथा पिंड में निम्न प्रकार गिनाई जाती हैं।

इन्द्रियों का जीवन मानसिक-दृष्टि से मन पर आधारित है, और शारीरिक-दृष्टि से अन्न पर आधारित है। मन का ज़िक्र इन्द्रियों के साथ कर दिया, शेष रहा **'अन्न'**। अन्न का वास्तविक तत्त्व **'वीर्य'** है—**'अन्नम्, अन्नात् वीर्यम्'**। अतः अन्न और वीर्य—ये दोनों दसवीं तथा ग्यारहवीं कलाएँ हुईं। वीर्य द्वारा शरीर की रचना होने के बाद मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक **'तप'** करता है जो बारहवीं कला है। शारीरिक-तप से उत्पन्न होने वाली कला को यहाँ **'कर्म'** कहा है, जो तेरहवीं कला है, मानसिक-कार्य से उत्पन्न होने वाली कला को यहाँ **'मन्त्र'** कहा है, जो चौदहवीं कला है। कर्म तथा मन्त्र के अतिरिक्त सृष्टि के नाम-रूप (Name and Form) भी हैं। रूप को ऋषि ने **'लोक'**-शब्द से सूचित किया है—**'लोकृ दीप्तौ'**—जो प्रकट हो, दीप्त हो, वह लोक है, 'नाम' को 'नाम'-शब्द से ही सूचित किया है। **'लोक'** पन्द्रहवीं तथा **'नाम'** सोलहवीं कला है—**'तपः, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, लोकेषु च नाम, च'** ।४।

इस प्रकार १६ कलाओं को पिंड तथा ब्रह्मांड में दर्शाकर पिप्पलाद कहते हैं कि यद्यपि ये १६ कलाएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं, तो भी जैसे भिन्न्न-भिन नदियाँ समुद्र में जाकर एक हो जाती हैं वैसे ही जिस आत्मा तथा जिस परमात्मा में ये १६ कलाएं हैं, वे आत्मा तथा परमात्मा में जाकर भिन्न-भिन्न न रह कर एक हो जाती हैं। इसी बात को ५वें अनुवाक्य में स्पष्ट किया गया है—

> **स यथा इमाः नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्रः इति एवं प्रोच्यते, एवं एव अस्य परिद्रष्टुः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति, भिद्यते च आसाम् नाम रूपे, पुरुषः इति एवं प्रोच्यते, सः एषः अकलः अमृतः भवति। तत् एषः श्लोकः ॥५॥**

जिस प्रकार ये नदियां—**'सः यथा इमाः नद्यः'**, समुद्र की ओर बहती हुई—**'स्यन्दमानाः समुद्रायणाः'**, समुद्र को पाकर अस्त हो जाती हैं, उनका भिन्न-भिन्न रूप नहीं रहता—**'समुद्रं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति'**, उनका नाम-रूप टूट जाता है—**'भिद्यते तासां नामरूपे'**, जो-कुछ हो जाता है उसे समुद्र ही कहा जाता है—**'समुद्रः इति एवं प्रोच्यते'**, इसी प्रकार इस परिद्रष्टा—चारों तरफ़ देखने वाले पुरुष की सोलह कलाएं

—**'एवं एव अस्य परिद्रष्टुः षोडशकलाः'**, पुरुष के निर्माण में लगी हुईं—**'पुरुषायणाः'**, पुरुष को प्राप्त होकर, उसका निर्माण करके अस्त हो जाती हैं, उनका भिन्न-भिन्न रूप नहीं रहता—**'पुरुषं प्राप्य अस्तं गच्छन्ति'**, और इनका जो पृथक्-पृथक् नाम-रूप था वह छिन्न-भिन्न हो जाता है—**'भिद्यते च आसाम् नाम रूपे'**, और जो रह जाता है उसे सिर्फ़ पुरुष ही कहा जाता है—**'पुरुषः इति एवं प्रोच्यते'**। वह पुरुष जिसमें १६ कलाएं आकर एक हो जाती हैं, अब कला रहित हो जाता है—**'अकलः'**, अमृत हो जाता है—**'अमृतः भवति'**। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए निम्न श्लोक—सूक्ति—भी है—**'तत् एषः श्लोकः'** ।५।

अरा इव रथनाभौ कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वः मृत्युः परिव्यथाः इति ॥६॥

जैसे भिन्न-भिन्न नदियों के समुद्र में एक हो जाने का दृष्टांत देकर सोलहों कलाओं के पुरुष में एक हो जाने की बात कही, वैसे ही उक्त श्लोक में रथ के भिन्न-भिन्न अरों के रथ की नाभि में जुड़कर एक हो जाने की बात कही है।

जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे—**'अरा इव रथनाभौ'**, इसी प्रकार जिसमें कलाएँ प्रतिष्ठित होती हैं—**'कलाः यस्मिन् प्रतिष्ठिताः'**, उस जानने योग्य पुरुष को जानो—**'तं वेद्यं पुरुषं वेद'**। कलाओं को जानने के स्थान में उसे जानो जिसमें सोलहों कलाएँ प्रतिष्ठित होकर एक हो जाती हैं। क्यों जानो ? इसलिये जानो जिससे मत—**'यथा मा'**, तुम को—**'वः'**, मृत्यु व्यथित करे—**'परिव्यथाः इति'**—जिससे तुम्हें मृत्यु का कष्ट न हो।६।

पुरुष की सोलह कलाएं उसके भिन्न-भिन्न अंश हैं—अंग हैं। उन्हीं को हम पुरुष समझे रहते हैं। वे पुरुष नहीं हैं, पुरुष के अंग हैं। पुरुष उनसे भिन्न हैं। पुरुष वह है जिसे ये सब कलाएं मिलकर बनाती हैं। कलाओं को पुरुष मत समझो, ये कलाएँ जिसमें जाकर प्रतिष्ठित होती हैं, उसे पुरुष समझो। वह पुरुष इन कलाओं से भिन्न है। मृत्यु के समय ये कलाएँ मरती हैं, पुरुष नहीं मरता। कलाएँ पुरुष में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती हैं, पुरुष **'अकल'**—कला-रहित है। तभी पाँचवें अनुवाक्य में कहा—**'एषः अकलः अमृतः भवति'**।

तान् ह उवाच, एतावद् एव अहम्, एतत् परं ब्रह्म वेद, न अतः परं अस्ति इति ।।७।।

पिप्पलाद ने उन जिज्ञासुओं को कहा—**'तान् ह उवाच'**। क्या कहा ? यह कहा कि मैं इतना ही जानता हूँ—**'एतावद् एव अहम्'**। इसी परम ब्रह्म को जानता हूँ—**'एतत् परं-ब्रह्म वेद'**—इससे आगे कुछ नहीं है—**'न अतः परं अस्ति इति'** ।७।

ते तं अर्चयन्तः, त्वं हि नः पिता, यः अस्माकं अविद्यायाः परं पारं तारयसि इति। नमः परम ऋषिभ्यः नमः परम ऋषिभ्यः ।।८।।

वे छहों जिज्ञासु पिप्पलाद की स्तुति करते हुए बोले—**'ते तं अर्चयन्तः'**, आप ही हमारे पिता हैं—**'त्वं हि नः पिता'**—जो हमें अविद्या के परले पार—**'यः अस्माकं अविद्यायाः परं पारं'**—तारते हैं—**'तारयसि इति।'** आप परम ऋषि हैं, आपको नमस्कार हो—**'नमः परम ऋषिभ्यः'**—आप परम ऋषि हैं, आपको नमस्कार हो—**'नमः परम ऋषिभ्यः'** ।८।

उपसंहार

प्रश्नोपनिषद् में पुरुष की १६ कलाएं बतलाई गई हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक तथा नाम। ये कलाएं हैं। कला का अर्थ अंश भी होता है, आर्ट भी होता है। ये पुरुष के अंश हैं। यह भी कह सकते हैं कि पुरुष के निर्माण में ये १६ आर्ट (कला) का काम करते हैं। यह आर्ट या कला ही तो हैं कि प्राण, श्रद्धा, आकाश आदि तत्त्वों के द्वारा पुरुष जैसे अद्भुत प्राणी का या सृष्टि जैसी अद्भुत रचना का निर्माण हो गया।

जिस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद के पास छः जिज्ञासु आये और ऋषि ने प्राण से शुरू करके उन्हें भिन्न-भिन्न क्रमों में से गुज़ार कर सोलह कलाओं का वर्णन करते हुए परम-ब्रह्म तक पहुंचा दिया, इसी प्रकार का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् के सातवें प्रपाठक में आता है। वहाँ नारद मुनि सनत्कुमार के पास जाकर कहते हैं कि मैंने सब विद्याओं का अध्ययन कर लिया, परन्तु मैं मन्त्रविद् ही रहा, आत्मविद् न हुआ, इसलिये भगवन् ! मुझे आत्मविद् होने की शिक्षा दीजिए। सनत्कुमार

ने नारद को एक अन्य क्रम में से गुज़ारते हुए आत्मविद् होने की शिक्षा दी। वह क्रम छान्दोग्य के सातवें प्रपाठक के प्रथम खंड से प्रारम्भ होकर छब्बीसवें खंड तक चला गया है। इन खंडों में पुरुष के जो अंश गिनाए गए हैं उनमें उत्तरोत्तर को पूर्वतर से अधिक मूल्यवान् बतलाया गया है। पुरुष के इन अंशों का परिगणन इस प्रकार है—नाम, वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मृति, आशा, प्राण, सत्य, ज्ञान, विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति, सुख, भूमा।

ऐसा प्रतीत होता है कि छान्दोग्य में इनको कला तो नहीं कहा गया, किन्तु आत्मविद् होने के लिए इनका जानना आवश्यक बतलाया गया है। तभी नारद, जो आत्मविद् होना चाहता था, उसे इन सबको जानने के लिए सनत्कुमार ने प्रेरणा की है। इनमें भौतिक-दृष्टि से सब से मुख्य 'प्राण' तथा आध्यात्मिक-दृष्टि से सबसे मुख्य 'भूमा' है, तभी पहली सूची में प्राण को तथा दूसरी सूची में भूमा को अन्त में कहा गया है। बाकी जिन बातों पर ध्यान दिलाया गया है उनके विषय में सिर्फ़ इतना कहा जा सकता है कि ये सूची के अन्तर्गत हैं, इनमें कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं है।

मुण्डकोपनिषद्

प्रथम मुण्डक (प्रथम खण्ड)

प्रश्नोपनिषद् में छः जिज्ञासुओं की शंकाओं का पिप्पलाद ऋषि ने समाधान किया है। मुंडकोपनिषद् में शुनक के पुत्र शौनक ने, जो बड़े-बड़े मकानों का मालिक था, या जिसकी अनेक शालायें—पाठशालाएं—चल रही थीं, अंगिरा ऋषि के पास आकर प्रश्न किया कि हे भगवन्! कुछ ऐसी विद्या बतलाइये जिससे एक के जान लेने पर सब जान लिया जाय। इस पृष्ठ-भूमि में इस उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। इस भूमिका का प्रारम्भ करते हुए पहले के जिन ऋषियों ने इस विद्या का उपदेश दिया था उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं:

ओम् ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। सः ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

अथर्वणे याम् प्रवदेत ब्रह्मा अथर्वा ताम् पुरा उवाच अंगिरे ब्रह्मविद्याम्। सः भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह, भारद्वाजः अंगिरसे परावराम् ॥२॥

देवताओं में जिसका सबसे पहला स्थान है ऐसा ब्रह्मा सृष्टि के प्रारम्भ में मौजूद था—**'ब्रह्मा, देवानाम् प्रथमः संबभूव'**। वह विश्व का कर्ता था—**'विश्वस्य कर्ता'**, और विश्व का रक्षक था—**'भुवनस्य गोप्ता'**। उसने ब्रह्म-विद्या को—**'सः ब्रह्मविद्यां'**—जो सब विद्याओं का आधार है, बुनियाद है—**'सर्व विद्याप्रतिष्ठाम्'**, अपने बड़े पुत्र अथर्वा को—**'अथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय'**—उपदेश के रूप में दिया—**'प्राह'** ।१।

ब्रह्मा ने जिस ज्येष्ठ-पुत्र अथर्वा को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया था—**'अथर्वणे याम् प्रवदेत ब्रह्मा'**, उस अथर्वा ने उस ब्रह्म-विद्या का प्राचीन-काल में अंगिरा को उपदेश दिया—**'अथर्वा ताम् पुरा उवाच अंगिरे ब्रह्म-विद्याम्'**। अंगिरा ने भारद्वाज-गोत्री सत्यवाह को यह उपदेश दिया—**'सः भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह'**, भारद्वाज ने इस परम्परा में उसी ब्रह्म-विद्या का अंगिरस् को उपदेश दिया—**'भारद्वाजः अंगिरसे परावराम्'** ।२।

१. ब्रह्म-विद्या का ज्ञान

उपनिषदों का लक्ष्य ब्रह्म-विद्या का उपदेश देना है। उपनिषत्कार के कथनानुसार ब्रह्म-विद्या का आदि-गुरु ब्रह्मा है—उसे इस उपनिषद् ने सृष्टि का कर्ता और रक्षक कहा है। सृष्टि का कर्ता तथा रक्षक स्वयं ईश्वर के सिवाय कौन हो सकता है ? उसी का नाम यहाँ ब्रह्मा कहा है क्योंकि वह सब से महान् है। **'बृहि बृद्धौ'**—इस धातु से 'ब्रह्म'-शब्द बना है। जब उसका नाम ब्रह्मा है, तब उसने जो विद्या दी उसका नाम 'ब्रह्म-विद्या' होना स्वाभाविक है। ब्रह्म-विद्या को ब्रह्म-विद्या इसीलिये कहा गया है क्योंकि यह 'ब्रह्मा' द्वारा दी हुई विद्या है। यही 'ब्रह्म'-पद 'ब्रह्मचर्य'—'ब्रह्मचारी' आदि शब्दों में पाया जाता है। प्राचीन-काल से जो ब्रह्म-विद्या चली आ रही थी, उसी को जानने के लिये महाशाल शौनक अंगिरस् ऋषि के पास पहुंचे—

> **शौनकः ह वै महाशालः अंगिरसं विधिवत् उपसन्नः**
> **पप्रच्छ। कस्मिन् नु भगवः विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातं**
> **भवति इति ॥३॥**

बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं वाले, शुनक के पुत्र शौनक ने—**'शौनकः ह वै महाशालः'**, विधिवत् अंगिरा ऋषि के पास जाकर—**'अंगिरसं विधिवत् उपसन्नः'**, पूछा—**'पप्रच्छ'**। हे भगवन् ! किसके जानने पर—**'कस्मिन् नु भगवः विज्ञाते'**, यह सब-कुछ—**'सर्वं इदम्'**, जाना हुआ हो जाता है—**विज्ञातं भवति इति'** ।३।

> **तस्मै सः ह उवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यत्**
> **ब्रह्मविदः वदन्ति। परा च एव अपरा च ॥४॥**

उसे अंगिरा ऋषि ने उत्तर दिया—**'तस्मै सः ह उवाच'**। क्या उत्तर दिया? दो विद्याओं को जानना चाहिये—**'द्वे विद्ये वेदितव्ये'**—यह बात ब्रह्मज्ञानी कहते थे—**'इति ह स्म ब्रह्मविदः वदन्ति'**। कौन-सी दो विद्यायें? परा-विद्या तथा अपरा-विद्या—**'परा च अपरा च'** ।४।

तत्र अपरा—ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदः, शिक्षा, कल्पः, व्याकरणम्, निरुक्तं, छन्दः, ज्योतिषम् इति। अथ परा—यया तत् अक्षरं अधिगम्यते ॥५॥

वहां 'अपरा' कौन-सी है—**'तत्र अपरा'**? ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष्—ये सब अपरा हैं। और 'परा' कौन-सी है?—**'अथ परा'**? जिसके जानने से वह अक्षर-ब्रह्म जाना जाता है, वह परा है—**'यया तत् अक्षरं अधिगम्यते'** ।५।

२. परा तथा अपरा विद्या का समन्वय

मुंडकोपनिषद् में 'परा' तथा 'अपरा' विद्या का वर्णन करते हुए ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का शिक्षा, कल्प, व्याकरण आदि के साथ परिगणन करते हुए इन सबको अपरा-विद्या कहा गया है।

छान्दोग्योपनिषद् (सप्तम प्रपाठक, प्रथम खंड, १, २) में नारद और सनत्कुमार की चर्चा मिलती है जिसमें नारद ने सनत्कुमार के पास आकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रार्थना करते हुए कहा है कि भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पित्र्य-विद्या, राशि-विद्या (गणित-शास्त्र), दैव-विद्या, निधि-विद्या···देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या—सभी-कुछ पढ़ा है, परन्तु **'सः अहम् भगवः मन्त्रवित् एव अस्मि, न आत्मवित्'**—मैंने मन्त्र-ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है, आत्म-ज्ञान नहीं पाया।

ईशोपनिषद् (९, १०, ११) में 'विद्या' तथा 'अविद्या'—इन दो शब्दों का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि 'विद्या' का कुछ अन्य अभिप्राय है, 'अविद्या' का कुछ अन्य अभिप्राय है, परन्तु जो दोनों को एक-साथ लेकर चलते हैं वे 'अविद्या' से मृत्यु को तर कर 'विद्या' से अमृत को प्राप्त होते हैं।

इन तीनों स्थलों को एक-साथ ध्यान में रखकर विचार करना उचित है। ईशोपनिषद् ने 'विद्या तथा अविद्या' शब्दों का, मुंडकोपनिषद् ने 'परा तथा अपरा' शब्दों का, छान्दोग्योपनिषद् ने 'आत्म-विद्या तथा मन्त्र-विद्या' शब्दों का प्रयोग किया है, भाव सब का एक ही प्रतीत होता है। अगर इन सब का भाव एक ही है, तो विद्या, परा, आत्म-विद्या का एक ही-सा अर्थ होना चाहिये, और इनके विरोध में अविद्या, अपरा तथा मन्त्र-विद्या का एक ही-सा अर्थ होना चाहिये।

इस दृष्टि से विचार करने पर मुंडक तथा छान्दोग्य के अनुसार चारों वेद अपरा, मन्त्र-विद्या तथा अविद्या में गिने गये हैं। मुंडक ने वेदों को अपरा में गिना है, परन्तु ब्रह्म-विद्या को परा में गिना है क्योंकि मुंडक का तो लक्ष्य ही वेदादि विद्याओं के मुकाबिले में ब्रह्म-विद्या का जानना है। छान्दोग्य में उल्लिखित नारद के कथनानुसार तो ब्रह्म-विद्या भी अपरा में गिनी गई है क्योंकि नारद कह रहे हैं कि ब्रह्म-विद्या को जानने पर भी वे **मन्त्रविद्** ही रहे, **आत्मविद्** नहीं हुए। वे ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी आत्मविद् होना चाहते हैं। मुंडक तथा छान्दोग्य के विवाद को—परा-अपरा, आत्मविद्-मन्त्रविद् के द्वन्द्व को—ईशोपनिषद् ने इन दोनों का समन्वय करके हल कर दिया है। ईशोपनिषद् का कहना है—**'विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह'**—जो विद्या तथा अविद्या दोनों को एक-साथ जान लेता है, वह अमृत को प्राप्त होता है—**'अमृतं-अश्नुते'**।

लक्ष्य तीनों उपनिषदों का आत्म-ज्ञान प्राप्त करना है। क्योंकि उपनिषदों के काल में वेदों का प्रयोग मुख्यतः यज्ञ-यागादि के लिये होता था, इसलिये मुंडक तथा छान्दोग्य ने वेदों को भी आत्म-विद्या या परा के दायरे में रखने के स्थान में मन्त्र-विद्या या अपरा के दायरे में रख दिया है, परन्तु जैसा ईशोपनिषद् ने कहा जीवन के लिए उपयोगी दोनों हैं, अपरा तथा परा का, अविद्या तथा विद्या का, मन्त्र-विद्या तथा आत्म-विद्या का समन्वय होना ही उचित है। प्रश्न हो सकता है कि नारद ने ब्रह्म-विद्या को आत्म-विद्या में शामिल करने के स्थान में मन्त्र-विद्या में क्यों शामिल किया और क्यों कहा कि ब्रह्म-विद्या को जान लेने के बाद भी उसका आत्मा शोक-सागर में डूबा रहा—**'सो ऽहं भगवो शोचामि'**।

इसका समाधान यही हो सकता है कि नारद ने 'ब्रह्म-विद्या'-शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया जिस अर्थ में मुंडक ने इस शब्द का प्रयोग किया है। मुंडक में यज्ञ-यागादि को एक तरफ़ तथा ब्रह्म-विद्या को दूसरी तरफ़ रखा है, छान्दोग्य में नारद के अनुसार ब्रह्म-विद्या को थोथी विद्या कहकर, अव्यावहारिक-विद्या, निरा-अध्यात्मवाद कह कर इसे यज्ञ-यागादि में ही सम्मिलित कर दिया है, ईशोपनिषद् ने एक विशाल दृष्टि सामने रखी है जिसमें भौतिकवाद तथा अध्यात्म-वाद का समन्वय कर दिया है।

जब वेदों को ये उपनिषद् नारद की भाषा में अपरा-विद्या की कोटि में रखते हैं, तब उनका यह कहना अपने समय की अवस्था को सामने रख कर कहा गया है। वह समय ऐसा था जब वेदों का उप-योग सिर्फ़ यज्ञों के लिये होता था और यह समझा जाता था कि यज्ञ करके मनुष्य सीधा स्वर्ग-लोक को चला जाता है। उस समय की प्रतिक्रिया इन उपनिषद्-वाक्यों में पायी जाती है।

उपनिषदों के भाष्यकार श्री नारायण स्वामी जी का कहना है कि अपरा का अर्थ यही है कि जो केवल परा न हो, अर्थात् जो परा तथा अपरा दोनों का मिश्रण हो। अपरा कोई निन्दासूचक शब्द नहीं है किन्तु विषयों के प्रकार की दृष्टि से परा और अपरा ये दो भेद किये गये हैं। मुंडक में वेद को अपरा क्यों कहा गया—इसका कारण यह है कि वेद केवल परा विद्या (अध्यात्म) के ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु अपरा के भी हैं—अर्थात् वेद में जहाँ ब्रह्म-विद्या की मूल-शिक्षा है वहाँ युद्ध करने का भी विधान है, चक्रवर्ती राज्य का भी उल्लेख है, धन पैदा करने की भी आज्ञा है। हमने श्री नारायण स्वामी जी का मत दे दिया है, परन्तु अधिक संगत बात यही प्रतीत होती है कि क्योंकि उपनिषद्-काल में वेदों का उपयोग यज्ञ-यागादि परक हो गया था, उपनिषत्काल में इसके विरोध में प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई थी, यज्ञ-यागादि की जगह ब्रह्म-विद्या की तरफ़ ध्यान चला गया था, इसलिये वेदों को नारद ने अपरा कह दिया। ईशोपनिषद् में इन दोनों के समन्वय की बात कही गई है।

३. ब्रह्म का स्वरूप क्या है और उस एक से नानात्व कैसे उत्पन्न होता है ?

शौनक यह जानना चाहता था कि वह ब्रह्म-विद्या क्या है जिसके जानने से सब-कुछ जाना जा सकता है—अर्थात्, उसके जान लेने के बाद और कुछ जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इस सिलसिले में प्रश्न उठ खड़ा होता है कि उस ब्रह्म का परिचय क्या है जिसका ज्ञान ब्रह्म-विद्या से प्राप्त होता है। इसी बात का उत्तर देते हुए ब्रह्म के स्वरूप का बखान करते हुए अंगिरा ऋषि कहते हैं :

यत् तद् अद्रेश्यम्, अग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुः-श्रोत्रम्, तद् अपाणिपादम्। नित्यम्, विभुम्, सर्वगतम्, सुसूक्ष्मम्, तद् अव्ययम्, यद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

ब्रह्म-विद्या से जो ब्रह्म जाना जाता है वह कैसा है ? जो ब्रह्म जाना जाता है वह ज्ञानेन्द्रियों से अज्ञेय है—**'यद् तद् अद्रेश्यम्'**, इसलिये अज्ञेय है क्योंकि उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता—**'अग्राह्यम्'**, उसका कोई वंश नहीं, वर्ण नहीं, रंग-रूप नहीं—**'अगोत्रम्, अवर्णम्'**, उसके न आँखें हैं, न कान हैं—**'अचक्षुः-श्रोत्रम्'**, न हाथ-पैर हैं—**'अपाणिपादम्'**। वह नित्य है, विभु अर्थात् सर्वव्यापक है—**'नित्यम्, विभुम्'**। वह सब जगह मौजुद है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है—**'सर्वगतम्, सुसूक्ष्मम्'**। वह अविनाशी है—**'तद् अव्ययम्'**। जो-कुछ हुआ है उसका वही कारण है—उस ब्रह्म को जो धीर पुरुष जान लेते हैं—**'यद् भूतयोनिम् परिपश्यन्ति धीराः'**—वे उसे जान लेते हैं जिसके जानने पर और-कुछ जानने के लिये नहीं रहता। उसी ब्रह्म का ज्ञान परा-विद्या कहलाता है। उसी ब्रह्म से यह नानविध जगत् प्रकट होता है, इसलिये उसका जान लेना सब-कुछ जान लेना है।६।

शौनक ने जो प्रश्न किया था कि किसके जानने से सब-कुछ जाना जाता है—**'कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वं इदम् विज्ञातं भवति'**—उसका उत्तर दे दिया कि क्योंकि अगोत्र, अवर्ण, अचक्षुः-श्रोत्र, अपाणि-पाद, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, अव्यय ब्रह्म ही भूत-योनि है—सबका कारण है—इसलिये उस सर्व-कारण को जानने से सब कार्य जाने जाने जाते हैं। वह नानाविध जगत् का कारण कैसे है—इसका उत्तर देते

हुए अंगिरा ऋषि कहते हैं :

यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यां ओषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा अक्षरात् संभवति इह विश्वम् ॥७॥

ब्रह्म एक है, परन्तु वह इस नानाविध सृष्टि का कारण है। कैसे? जैसे मकड़ी—**'यथा ऊर्णनाभिः'**—जाले का सृजन करती है और फिर उसे ग्रहण कर लेती है, समेट लेती है—**'सृजते गृह्णते च'**, जैसे पृथिवी में से—**'यथा पृथिव्यां'**, औषधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—**'ओषधयः संभवन्ति'**, जैसे जीवित पुरुष में से—**'यथा सतः पुरुषात्'**, केश और रोम निकल आते हैं, इसी तरह उस अक्षर ब्रह्म से—**'तथा अक्षरात्'**—यह विश्व उत्पन्न हो जाता है—**'संभवति इह विश्वम्'**। 'विश्व' का अर्थ है—सब, और 'विश्व' का अर्थ संसार भी है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह सब संसार उस एक से उत्पन्न होता है, इसलिये सब को जानने की अपेक्षा उस एक को जानो, एक को जानने से सब जाना जाता है।७।

उस एक ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न होते हुए नाना रूप में विकसित हुई, और इस नानात्व के विकास में अन्न तक पहुँच गई। ब्रह्म आदि है अन्न अन्त है, ब्रह्म अध्यात्म है अन्न अधिभूत है। एक से नाना का विकास कैसे हुआ—इस पर अंगिरा ऋषि कहते हैं :

**तपसा चीयते ब्रह्म ततः अन्नम् अभिजायते।
अन्नात् प्राणः मनः सत्यं लोकाः कर्मसु च अमृतम् ॥८॥**

ब्रह्म जब विकासोन्मुख हुआ तब उसने तप किया—तप अर्थात् विकास की क्रिया अपने उग्र रूप में आ गई। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये कहा—**'तपसा चीयते ब्रह्म'**। जब विकास अपने अन्त पर पहुँचा तब अध्यात्म अधिभूत में जा पहुँचा—अध्यात्म की चोटी है 'ब्रह्म', अधिभूत की चोटी है 'अन्न'। अधिभूत—अर्थात्, भौतिक-पदार्थ। इसलिये विकासोन्मुखी ब्रह्म विकसित होता-होता जब टर-मिनस तक पहुँचा तब अन्न में इस विकास का विराम हुआ—**'ततः अन्नं अभिजायते'**। अन्न ऐसी वस्तु है जो प्राण-शक्ति को देती है, जिससे जीवन चलता है—**'अन्नात् प्राणः'**। प्राण ही नहीं अन्न से ही मन भी क्रियाशील होता है, अन्न न खायें तो मानसिक-शक्ति भी मन्द पड़ जाती है—**'अन्नात् मनः'**। अन्न मिले तभी मनुष्य सत्याचरण भी

करता है, खाने को न मिले तो झूठ-बेईमानी करता है—**'अन्नात् सत्यम्'**। अन्न से सारा लोक-व्यवहार चलता है, पेट न भरा हो तो लोक-व्यवहार भी नहीं चलता—**'अन्नात् लोकाः'**। अन्न से मनुष्य काम-काज करता है, बिना अन्न के मेहनत भी नहीं हो सकती, और मेहनत करने से अमृत की प्राप्ति होती है, मनुष्य का जी भर जाता है, यही अमृत है—**'कर्मसु च अमृतम्'**।८।

इस प्रकरण में सृष्टि का आदि 'ब्रह्म', और अन्त 'अन्न' बतलाया। ब्रह्म एक तरफ़ है, अन्न से बँधा संसार का सारा जगड़वाल दूसरी तरफ़ है। इस जगड़वाल से माथापच्ची करें, या इस सब को रचनेहारे एक ब्रह्म को जानकर सब-कुछ जानने का मार्ग पकड़ें। अन्न का एक अर्थ प्रकृति भी किया जाता है। ब्रह्म जब वर्धमान—**'चीयते'**—होने लगा, तब अव्यक्त प्रकृति व्यक्त हो गई। इसी व्यक्त प्रकृति को यहाँ **'अन्न'** कहा है—**'अद्यते इति अन्नम्'**—जो खाया जाय वह अन्न कहलाता है। प्रकृति खायी जाती है, भोगी जाती है, इसलिये इसे 'अन्न' कहना उचित है। प्रकृति के विकास से 'प्राण', 'मन', 'सत्य', 'लोक', 'कर्म' आदि का विकास हुआ। कहने का अभिप्राय यह है कि जो भी नाना-रूप जगत् है उसका उद्भव ब्रह्म से ही हुआ है। वह एक है, उस एक के जानने से वह सब-कुछ जाना जाता है जो उससे विकसित हुआ है। उसी **'ब्रह्म'** तथा **'अन्न'** के विषय में उपसंहार करते हुए कहते हैं :

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मात् एतद् ब्रह्म नाम रूपं अन्नं च जायते ॥९॥

जो सर्वज्ञ है—**'यः सर्वज्ञः'**, तथा जिसे सब जानते हैं, **सर्वैः विदितः—'इति सर्वविद्'**, जिसका तप ज्ञानमय है—**'यस्य ज्ञानमयं तपः'**, उससे यह—'ब्रह्म'—**'तस्मात् एतद् ब्रह्म'**, तथा नाम-रूप वाला अन्न—**'नाम रूपं अन्नं च'** उत्पन्न होता है—**'जायते'**।९।

परमात्मा कैसा है? वह सब को जानता है और उसे सब जानते हैं, भले ही कहते रहें कि नहीं जानते। हमने **'सर्वविद्'** का अर्थ किया है—जिसे सब जानते हैं। यह अर्थ इसलिये किया है क्योंकि इससे पहले **'सर्वज्ञ'**-शब्द आ गया है। अगर **'सर्वविद्'** का अर्थ सब-कुछ जानने वाला किया जाय, तो इसका अर्थ **'सर्वज्ञ'** ही हो जाता है जो बेकार दोहराना है। **'सर्वविद्'** का अर्थ सर्वत्र विद्यमान, अर्थात् सर्वव्यापक भी किया जा सकता है। ऐसी हालत में **'सर्वज्ञ'** तथा **'सर्वविद्'** में कोई

पुनरुक्ति नहीं होगी। उपनिषदों में जगह-जगह कहा गया है कि पर-ब्रह्म परमात्मा ने तप किया जिससे सृष्टि उत्पन्न हुई। मुंडक में ही ८वें श्लोक में **'तपसा चीयते ब्रह्म'**—यह कहा है। संध्या के मन्त्रों में —**ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसः अधि अजायत'** कहा है। केन उपनिषद् (४-८) में ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा **'तप'**—**'दम'**—**'कर्म'** पर बतलाई गई है। बृहदारण्यक (१-५-१) में लिखा है—**'तपसा अजनयत् पिता'**—**'तप'** से पिता ने सृष्टि को उत्पन्न किया। उपनिषदों की दृष्टि में सृष्टि का उत्पन्न होना एक तप है, इसलिये जहां-जहां उत्पन्न होने का वर्णन आता है, वहाँ-वहाँ तप का उल्लेख अवश्य होता है। परमात्मा का तप ज्ञानमय है—**'यस्य ज्ञानमयं तपः'**। तप का अभिप्राय सिर्फ़ कष्ट सहना ही नहीं, ज्ञानपूर्वक तप करना है—सिर्फ़ दिखाने के लिये काँटों पर लेट जाना नहीं। सर्वज्ञ, सर्वविद् परमेश्वर ने जब **'अन्न'** अर्थात् प्रकृति के सहयोग से विकास करना शुरू किया तब एक तरफ़ अध्यात्म-सत्ता **'ब्रह्म'** की थी, और विकास के अन्त में दूसरी सत्ता **'अन्न'** की थी। ब्रह्म एकत्व का प्रतिनिधि है, अन्न नानात्व का प्रतिनिधि है। संसार का ज्ञान नानात्व से भी उपलब्ध हो सकता है, एकत्व से भी। सृष्टि के पत्ते-पत्ते को जानकर तो हम ज्ञान की प्रक्रिया करते ही हैं, पत्ते जिन टहनियों पर हैं, टहनियां जिस वृक्ष में हैं, वृक्ष जिस भूमि में है, भूमि जिस ब्रह्म में है—उस एक को जान लेने पर सृष्टि का सब-कुछ जाना जाता है—यह शौनक को ऋषि अंगिरा ने बतलाया। उस एक को जान लेने से सृष्टि का सब-कुछ जाना जाता है—इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसे जान लेने पर मनुष्य इतना तृप्त हो जाता है कि फिर किसी अन्य के जानने की न इच्छा रहती है, न आवश्यकता रहती है।

प्रथम मुण्डक (द्वितीय खण्ड)

इस उपनिषद् का प्रारम्भ ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये हुआ है। अंगिरा ऋषि ने अपने विचार को प्रकट करते हुए ज्ञान को दो भागों में बांटा—'अपरा-विद्या' तथा 'परा-विद्या'। ऋषि ने वेदों को अपरा की कोटि में तथा ब्रह्म ज्ञान को परा की कोटि में रखा। इस स्थल को समझने के लिये हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस प्रकरण में जो-कुछ कहा जा रहा है वह अंगिरा ऋषि का अपना ही मन्तव्य

है। दूसरों का मन्तव्य इससे भिन्न हो सकता है। इस प्रकरण को पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है कि अंगिरा ऋषि अपने समय में देख रहे थे कि कर्म-कांडी लोग, वे लोग जो यज्ञ-याग को ही सर्वोत्कृष्ट कर्म समझते थे, यज्ञादि कर्मों में इतने डूब गये थे कि ब्रह्म-विद्या की तरफ़ उनका ध्यान बिल्कुल नहीं रहा था। वे शौनक का ध्यान कर्म-कांड से ज्ञान-कांड या यज्ञ-यागादि से ब्रह्म-विद्या की तरफ़ खींच लाना चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने पहले कर्म-कांड को पूर्व-पक्ष के रूप में उठाया है, फिर ज्ञान-कांड की उत्तर-पक्ष के रूप में मुंडकोपनिषद् के इस द्वितीय खंड में स्थापना की है।

१. कर्म-कांड की पूर्व-पक्ष के रूप में चर्चा

तत् एतत् सत्यम्, मंत्रेषु कर्माणि कवयः यानि अपश्यन्,
तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तानि आचरथ नियतं,
सत्यकामाः एषः वः पन्था सुकृतस्य लोके ॥१॥

पूर्व-पक्ष के रूप में कर्म-कांडियों के विचार का उल्लेख करते हुए अंगिरा-ऋषि बोले—कर्म-कांडी लोग कहते हैं कि यह बात सत्य है—**'तत् एतत् सत्यम्'**, कि वेद मंत्रों में जो कर्म तथा विधि-विधान—**'मंत्रेषु कर्माणि'**, मनीषियों ने देखा—**'कवयः यानि अपश्यन्'**, कर्म-कांड का यह विधि-विधान बहुत कर के त्रेता-युग में भी फैलता गया—**'तानि त्रेतायां बहुधा संततानि'**, इसलिये उसी कर्म-कांड पर नियत रूप से आचरण करो—**'तानि आचरथ नियतं'**। हे सत्य की कामना करने वालो! सुकर्म करने का तुम्हारा यही मार्ग है—**'सत्यकामाः! एषः वः पन्था सुकृतस्य लोके'**।१।

इस प्रकार ब्रह्म-ज्ञान प्रतिपादित 'निष्काम-कर्म' के मार्ग पर चलने के स्थान में यज्ञादि के 'सकाम-कर्म' के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए कर्म-कांडी लोग यज्ञ की अग्नि का चित्र खींचते हुए कहते हैं :

यदा लेलायते हि अर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदा आज्यभागौ अन्तरेण आहुतीः प्रतिपादयेत् श्रद्धया हुतम् ॥२॥

जब यज्ञ में अग्नि की लपट लपलपाती है—**'यदा लेलायते हि अर्चिः'**, और जब हवि का वाहन अग्नि प्रदीप्त हो उठता है—**'समिद्धे हव्यवाहने'**, तब बीच में आज्यभाग नाम की घी की दो आहुतियाँ—

'तदा आज्यभागौ अन्तरेण आहुतीः'—श्रद्धा से आहुति के रूप में डाल दे—**'प्रतिपादयेत् श्रद्धया हुतम्'** ।२।

यज्ञ की अग्नि की ज्वालाओं के लपलपाने का वर्णन करने के बाद कर्म-कांडी का ध्यान उस तरफ़ जाता है जहाँ अग्नि प्रज्वल्यमान नहीं है तथा जहाँ अग्निहोत्र विधि-विधान के अनुसार नहीं है। उस प्रकार से यज्ञ करने पर कोई फल नहीं मिलता। इस प्रकार निष्फल यज्ञाग्नि कैसी होती है—इसका निम्न प्रकार वर्णन किया गया है :

यस्य अग्निहोत्रम् अदर्शम्, अपौर्णमासम्, अचातुर्मास्यम्
अनाग्रयणम्, अतिथिवर्जितम् च। अहुतम्, अवैश्वदेवम्,
अविधिनाहुतम्, आसप्तमान् तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

जिस कर्म-कांडी का अग्निहोत्र दर्शेष्टि रहित है (अमावस्या का जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम दर्शेष्टि है)—**'यस्य अग्निहोत्रं अदर्शम्'**; जिस कर्म-कांडी का अग्निहोत्र पौर्णमासेष्टि रहित है (पूर्णिमा का जो पूर्णमासी में यज्ञ किया जाता है उसका नाम पौर्णमासेष्टि है)—**'अपौर्णमासम्'**; जिस कर्म-कांडी का अग्निहोत्र चातुर्मासेष्टि रहित है (वर्षा के चतुर्मास में जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम चातुर्मासेष्टि है)—**'अचातुर्मास्यम्'**; जिस कर्म-कांडी का अग्निहोत्र अनाग्रयण है (शरत्काल में जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम अनाग्रयण है)—**'अनाग्रयणम्'**; जिस कर्म-कांडी के अग्निहोत्र में अतिथि-पूजा नहीं होती (पंच महायज्ञों में अतिथि की सेवा एक यज्ञ है)—**'अतिथिवर्जितम् च'**; जो कर्म-कांडी तो कहलाता है परन्तु अग्निहोत्र नहीं करता वह अहुत कहलाता है—**'अहुतं'**; जो कर्म-कांडी अग्निहोत्र में सब देवताओं की पूजा नहीं करता—**'अवैश्वदेवम्'**; जो कर्म-कांडी विधिरहित अग्निहोत्र करता है—**'अविधिना हुतम्'**, ऐसे कर्मकांडियों के सात लोकों का नाश हो जाता है—**'आ सप्तमान् तस्य लोकान् हिनस्ति'** ।३।

ऊपर कर्मकांडियों के जो भिन्न-भिन्न अग्निहोत्र कहे गये हैं उनकी संख्या सात है। इन सात के दूषण से कर्म-कांडी के सात लोकों का नाश हो जाता है--यह केवल विधि-विधान की शुद्धता तथा पूर्णता पर बल देने के लिये कहा गया है—दूषण सात, तो लोक-नाश भी सात। कई टीकाकारों ने सात लोक भी गिना दिये हैं। उदाहरणार्थ, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—ये सात लोक हैं। श्री नारायण

स्वामी ने पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ब्रह्म-लोक—ये सात लोक गिना दिये हैं। असल में, लोक-नाश की बात सिर्फ़ विधि-विधान की शुद्धता तथा पूर्णता के लिये प्रेरणामात्र है—सात लोक गिनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कर्म-कांडी अग्निहोत्र में जिस अग्नि को प्रज्वलित करता है उसकी लपटों को निम्न श्लोक में यज्ञाग्नि रूपी देवी की सात जिह्वाएं कहा गया है—

काली, कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः ॥४॥

कर्मकांडी तो अग्निहोत्र में प्रज्वलित होने वाली अग्नि के गुणगान में ही मस्त है। लपटें मारती हुई अग्नि की सात जिह्वाएं हैं। कौन-सी सात? पहली जिह्वा काली है—काले वर्ण वाली, दूसरी कराली है—भयावह जिह्वा जिसे देख कर डर लगता है—**'काली कराली'**। तीसरी जिह्वा मन के समान वेग वाली, अग्नि जब लगती है तो क्षण भर में मन के वेग के समान चारों तरफ़, दूर-दूर फैल जाती है—**'मनोजवा'**। वर्ण इसका लाल-लाल होता है—**'सुलोहिता'**; साथ इसके धुंआ भी रहता है इसलिये इसमें धुंएं का रंग होता है—**'सुधूम्रवर्णा'**; चारों तरफ़ आग की चिनगारियाँ छिटकती हैं—**'स्फुलिंगिनी'**; इसकी कान्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की है—**'विश्वरुची'**। इस प्रकार यह अग्नि-देवी सात जिह्वाओं वाली है—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्र-वर्णा, स्फुलिंगिनी तथा विश्वरुची। कर्म-कांडी लोग अग्निहोत्र की अग्नि की लपटों को देख कर उक्त प्रकार अग्नि की स्तुति करते हैं। अग्नि निस्सन्देह मानव के लिये एक अभूतपूर्व वस्तु है। हम लोग अग्नि के पास बैठकर आग को देखते हैं, इसलिये इसके चमत्कारी रूप को भूल जाते हैं, परन्तु तन्मयता से देखा जाय, तो यह एक अद्भुत वस्तु है—नीचे की तरफ़ करें तो भी ऊपर को उठती है, इसलिये कर्म-कांडी इस पर मस्त रहते हैं।

कर्म-कांडी तो अग्नि की स्तुति में इतने विभोर हो जाते हैं कि कहने लगते हैं कि जो अग्नि-देवी की जिह्वा में आहुति डालता है उसे सूर्य की रश्मियाँ देव-लोक में ले जाती हैं। इसी भाव को आगे के श्लोक में व्यक्त किया गया है:

एतेषु यः चरते भ्राजमानेषु, यथाकालं च आहुतयः हि आददायन् ।
तं नयन्ति एताः सूर्यस्य रश्मयः यत्र देवानाम् पतिः एकः अधिवासः ॥५॥

जो याज्ञिक अग्निहोत्र की इन चमचमाती लपटों में हवि डालता है—**'एतेषु यः चरते भ्राजमानेषु'**, और ठीक समय पर आहुतियों को हाथों में लेता हुआ अग्नि में डालता है—**'यथाकालं च आहुतयः हि आददायन्'**, उसे ये सूर्य की रश्मियाँ वहाँ ले जाती हैं—**'तम् नयन्ति एताः सूर्यस्य रश्मयः'**, जहाँ देवताओं के अध्यक्ष का इकला निवास है—**'यत्र देवानाम् पतिः एकः अधिवासः'** ।५।

एहि एहि इति तम् आहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिः
यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचं अभिवदन्त्यः अर्चयन्त्यः
एषः वः सुकृतः ब्रह्मलोकः ॥६॥

जिन आहुतियों को कर्म-कांडी अग्निहोत्र में डालता है, वे उसे 'आइये'—'आइये'—यह कहती हुई—**'एहि एहि इति तम् आहुतयः'**, तेजोमय सूर्य की किरणों के साथ—**'सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिः'**, यजमान को उठा ले जाती हैं—**'यजमानं वहन्ति'** । ये आहुतियाँ मीठी बाणी बोलती हुई—**'प्रियां वाचं अभिवदन्त्यः'**, यजमान की स्तुति करती हुई—**'अर्चयन्त्यः'**, यह कहती हैं कि तुम्हारे सुकृत से तुम्हें यह पुण्य ब्रह्मलोक प्राप्त हुआ है—**'एषः वः पुण्यः सुकृतः ब्रह्मलोकः'** ।६।

२. कर्म-कांड अवर मार्ग है—अंगिरा ऋषि का मत

अब तक जो कहा गया है वह अंगिरा ऋषि ने कर्म-कांडियों का, याज्ञिकों का मत पूर्व-पक्ष के रूप में दर्शाया है । इस ऋषि का अपना क्या मत है ? इस सम्बन्ध में ऋषि ने आगे के श्लोकों में अपना मत व्यक्त किया है । उनके अनुसार यज्ञ-यागादि के रूप में कर्म-कांड की अपेक्षा ज्ञान-कांड अधिक श्रेष्ठ है । इसी भाव को व्यक्त करने के लिये वे कहते हैं—

प्लवाः हि एते अदृढ़ाः यज्ञरूपाः अष्टादश उक्तम् अवरं येषु कर्म ।
एतत् श्रेयः ये अभिनन्दन्ति मूढ़ाः जरा-मृत्युं ते पुनः एव अपि
यन्ति ॥७॥

भव-सागर को पार करने के लिये ये प्लव तो हैं, नाव या बेड़े तो हैं—**'प्लवाः हि एते'**, परन्तु ये यज्ञ के रूप में कमज़ोर बेड़े हैं—**'अदृढ़ाः**

यज्ञ-रूपाः'। यह नहीं कहा जा सकता कि इन से भव-सागर पार हो सकता है। याज्ञिकों द्वारा यज्ञ में १८ प्रकार का कर्म करने को कहा गया है परन्तु वह कर्म 'अवर' है, श्रेष्ठ नहीं है—**'अष्टादश उक्तं अवरं येषु कर्म'**। इन कर्मों को जो व्यक्ति श्रेष्ठ मानकर आनन्द मानते हैं—**'एतत् श्रेयः ये अभिनन्दन्ति'**, वे मूढ़ हैं—**'मूढ़ाः'**। यह कहना ग़लत है कि इन यज्ञों से यजमान स्वर्ग-लोक को जाता है, वे लोग तो बार-बार जरा और मृत्यु में जाते है—**'जरा-मृत्युं ते पुनः अपि यन्ति'**।७।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस काल में उक्त वाक्य कहे गये उस समय कर्म-कांडी लोग कहने लगे थे कि यज्ञ करने से जो पुण्य मिलता है, उस से स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती है। कर्म-कांडियों के अनुसार यज्ञ के १८ कर्म क्या हैं? यज्ञ में ब्रह्मा, उद्गाता, अध्वर्यु तथा होता—ये चार यज्ञ-कर्म करवाते हैं। प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी होते हैं। इस प्रकार चार-चार के जोड़े से १६ व्यक्ति यज्ञ-कर्म करने वाले हो गये। इन १६ के अतिरिक्त यजमान तथा यजमान-पत्नी—ये दो मिलकर कर्म-कांडियों के १८ प्रकार के यज्ञ-कर्ता हुए जिनका कर्म भी १८ प्रकार का हुआ। इनके यज्ञादि कर्म से स्वर्ग प्राप्ति होती है—कर्म-कांडियों की यह बात अंगिरा ऋषि मानने को तैयार नहीं। जो लोग ऐसी बात कहते हैं उन्हें ऋषि ने मूढ़ कहा है, वे अविद्या में पड़े हुए हैं—ऐसा कहा है, जो निम्न संदर्भ से स्पष्ट है—

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ाः अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः॥८॥

ये कर्म-कांडी लोग अविद्या के बीच पड़े हुए हैं—**'अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः'**, वे अपने-आप को धीर तथा पंडित मानते हैं—**'स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः'**। ये ठोकरें खाते हैं, तथा दुःखों के मारे हुए ये मूढ़ लोग इधर-उधर भटकते फिरते हैं—**'जंघन्यमानाः परियन्ति मूढ़ाः'**, ठीक इस तरह जैसे अन्धा अन्धे का हाथ पकड़ें उसे रास्ते पर ले जा रहा हो—**'अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः'**।८।

अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः स्वयं कृतार्थाः इति अभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणः न प्रवेदयन्ति रागात् ते आतुराः क्षीणलोकाः च्यवन्ते॥९॥

ये लोग भिन्न-भिन्न प्रकार की अविद्या में पड़े रहते हैं—**'अविद्यायां बहुधा वर्तमानाः'**, ये बाल-बुद्धि व्यक्ति अपने को कृतार्थ मान कर अभिमान से फूले फिरते हैं—**'स्वयं कृतार्थाः इति अभिमन्यन्ति बालाः'**।

क्योंकि कर्म-कांडी जो कर्म करते हैं उसे फल में राग (आसक्ति) के कारण करते हैं इसलिये वे यथार्थ-स्थिति को नहीं समझते—**'यत्-कर्मिणः न प्रवेदयन्ति रागात्'**। वे इच्छित-फल न मिलने के कारण आतुर हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं—**'ते आतुराः'**, और यह लोक भी उनका क्षीण हो जाता है—**'क्षीण लोकाः'**। परिणामस्वरूप जिस सुख को पाने के लिये वे कर्म-कांड में रमे रहते थे उससे भी गिर जाते हैं—**'च्यवन्ते'**।९।

इस स्थल में कर्म-कांडियों को **'यत्-कर्मिणः'** कहा गया है जिसका अर्थ अगले प्रकरण को देखते हुए हमने यह किया है कि कर्म-कांडी जो कर्म करते हैं वे राग की, फल की आकांक्षा से करते हैं। **'यत्कर्मी'**-शब्द का एक दूसरा भी अर्थ हो सकता है। 'यत्कर्मी'—अर्थात्, जो-कुछ भी किसी ने कहा, वह करने लगे, भले ही वह कर्म बेकार हो।

इष्टापूर्तं मन्यमानाः वरिष्ठं न अन्यत् श्रेयः वेदयन्ते प्रमूढ़ाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते अनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥१०॥

जो कर्म-कांडी इष्ट तथा आपूर्त को ही सर्वोत्तम मान बैठते हैं—**'इष्टापूर्तं मन्यमानाः वरिष्ठं'**, और समझते हैं कि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा श्रेय-मार्ग नहीं है—**'न अन्यत् श्रेयः वेदयन्ते'**, वे अत्यन्त मूढ़-बुद्धि हैं—**'प्रमूढ़ाः'**। वे अपने सुकृतों के द्वारा अपने कल्पित-स्वर्ग के शिखर पर जाकर वहाँ का सुख अनुभव करके—**'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते अनुभूत्वा'**, फिर इस लोक से भी हीनतर लोक में प्रवेश करते हैं—**'इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति'**।१०।

इस वाक्य में कर्म-कांडियों तथा ज्ञान-कांडियों में भेद को स्पष्ट कर दिया है। **'इष्ट'** का अर्थ है—सकाम-भाव से, फल की इच्छा, कामना से किया गया यज्ञादि श्रौत-कर्म। **'आपूर्त'** का अर्थ है—धर्मशाला, तालाब, कूआ आदि सर्व-साधारण की इच्छा की पूर्ति के लिये किया गया स्मार्त-कर्म। जो लोग समझते हैं कि अपनी कामना की पूर्ति के लिये यज्ञादि कर्म कर लिये, और सर्व-साधारण की कामना की पूर्ति के लिये धर्मशाला, तालाब, कूँआ आदि बनवा दिये—इतने मात्र से स्वर्ग प्राप्ति हो गई, वे मूर्ख हैं। इस मूर्खता के कारण अपने मन में वे प्रसन्न हो लेते हैं, और मन-ही-मन स्वर्ग का सुख अनुभव कर लेते हैं, परिणामस्वरूप इस लोक में उच्छृंखल तथा यथा-काम विचरते हैं। वे समझते हैं कि जो-कुछ

करना था कर लिया, अब वे स्वतन्त्र हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिये अंगिरा ऋषि कहते हैं कि उन्होंने स्वर्ग तो क्या जाना था, वे इस लोक के लायक भी नहीं रहते, उनकी गति इस लोक से भी हीनतर हो जाती है।

३. ज्ञान-कांड की उत्तर-पक्ष के रूप में चर्चा

[अंगिरा ऋषि का मत—ज्ञान-कांड की प्रशंसा]

अंगिरा ऋषि के मत में 'इष्ट' तथा 'आपूर्त' के कर्मों तक अपने को सीमित रखना मूर्खता का काम है। यथार्थ-मार्ग जो जीवन को उच्च बनाता है ज्ञान-मार्ग है। पिछले प्रसंग में कर्म-काण्ड की अवरता का पूर्व-पक्ष बतला कर अब ज्ञान-मार्ग की श्रेष्ठता का उत्तर-पक्ष कहते हैं :

तपः श्रद्धे ये हि उपवसन्ति अरण्ये, शान्ताः विद्वांसः
भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्र
अमृतः सः पुरुषः हि अव्ययः आत्मा ॥११॥

जो ज्ञान-मार्गी तप तथा श्रद्धा के साथ वन में निवास करते हैं—**'तपः श्रद्धे ये हि उपवसन्ति अरण्ये'**, वे दिल से शान्त तथा दिमाग़ से विद्वान् होते हुए—**'शान्ताः विद्वांसः'**, भिक्षा-वृत्ति को करते हुए—**'भैक्षचर्यां चरन्तः'**, मृत्यु के अनन्तर सूर्य-द्वार से—विरज—निर्मल-चित्त वाले वहाँ पहुँचते हैं—**'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'**, जहाँ वह अमृत, अव्यय (अविनाशी) पुरुष—ब्रह्म—है—**'यत्र अमृतः सः पुरुषः हि अव्ययः आत्मा'**।११।

पहले छठे श्लोक में हम देख आये हैं कि कर्म-कांडी कहते हैं कि यज्ञादि कर्म सूर्य की रश्मियों द्वारा यजमान को ब्रह्म-लोक को पहुंचाते हैं—**'सूर्यस्य रश्मिभिः यजमानं वहन्ति'**। यहाँ ११वें श्लोक में अंगिरा ऋषि कहते हैं कि ज्ञान-मार्गी लोग सूर्य-द्वार से अव्ययात्मा ब्रह्म के पास पहुंचते हैं—**'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'**।

मरणानन्तर सूर्य-द्वार से जाने का क्या अभिप्राय है जिसकी चर्चा कर्म-कांडी तथा ज्ञान-कांडी दोनों करते हैं? इस सम्बन्ध में कई ऐसे व्यक्तियों के अनुभवों का वर्णन रेमाँड ए० मूडी (Raymond A. Moody) ने अपनी पुस्तक 'Life After Life' में किया है जिस से इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। उक्त पुस्तक के विषय में इलस्ट्रेटेड वीकली के ६ मई, १९७९ के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें कई

ऐसे व्यक्तियों के अनुभव दिये गये हैं जो लगभग मृत घोषित किये जा चुके थे, परन्तु कुछ देर बाद जीवित हो उठे। एक व्यक्ति का जो मर कर जी उठा मरण के समय का अनुभव निम्न प्रकार का है :

"A pink mist began to gather around me, and I floated right through the screen just as if it weren't there, and up into this crystal light......an illuminating white light. It was so radiant, but it did n't hert my eyes. It's not any kind of light you can describe on earth. I didn't actually see a person in the halo yet it has a special identity. It is a light of perfect understanding and perfect love."

संक्षेप में, इसका अभिप्राय यह है कि मरने के बाद अत्यन्त शुभ्र-प्रकाश दीखता है जिसकी तरफ़ मृत-व्यक्ति खिचता चला जाता है। उपनिषद् में इसी प्रकाश के लिए **'सूर्यस्य रश्मिभिः यजमानं वहन्ति'** तथा **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'** कहा है।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणः निर्वेदम् आयात्
न अस्ति अकृतः कृतेन। तत् विज्ञानार्थं सः गुरुं
एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

यज्ञादि कर्मों से अर्जित जो लोक हैं उनकी परीक्षा करके—**'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्'**, ब्रह्म का जिज्ञासु विरक्ति-भाव को प्राप्त हो जाता है—**'ब्राह्मणः निर्वेदं आयात्'**, उसे समझ पड़ जाता है कि जो कर्म-कांड से पाया ही नहीं जा सकता, जो **'अकृत'** है, वह **'कृत'**—अर्थात्, यज्ञादि कर्म-कांड के द्वारा हाथ नहीं आ सकता—**'न अस्ति अकृतः कृतेन'**। उस अकृत ब्रह्म को जानने के लिये—**'तत् विज्ञानार्थं'**, तो उसे गुरु की शरण में जाना होगा—**'सः गुरुं एव अभिगच्छेत्'**। कैसे जाना होगा ? हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय, ब्रह्म-निष्ठ गुरु के पास—**'समित्पाणिः, श्रोत्रियं, ब्रह्मनिष्ठम्'**। हाथ में समिधा लेकर इसलिये क्योंकि उसके हृदय में भावना यह हो कि जैसे ये समिधाएँ आग के सम्पर्क से प्रदीप्त हो उठती हैं, वैसे गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञानाग्नि से जिज्ञासु का समिधा-सम हृदय प्रदीप्त हो उठे।१२।

तस्मै सः विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् शान्तचित्ताय शमान्विताय।
येन अक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतः ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

वह जिज्ञासु जब गुरु के पास समित्पाणि होकर आये तब वह गुरु—**'तस्मै सः विद्वान् उपसन्नाय'**—उपदेश दे। जिज्ञासु कैसा हो? शान्त-चित्त हो तथा उसका इन्द्रियों एवं मन पर अधिकार हो—**'शान्त-चित्ताय शमान्विताय'**। जिस विद्या से वह सत्य, अक्षर-पुरुष को गुरु जानता है—**'येन अक्षरं पुरुषं वेद सत्यं'**—उस ब्रह्म-विद्या को यह गुरु तात्विक रूप में बतला देता है—**'प्रोवाच तां तत्वतः ब्रह्मविद्याम्'**।१३।

द्वितीय मुण्डक (प्रथम खण्ड)

प्रथम मुंडक के पहले तथा दूसरे खंड में कर्म-कांड की अपेक्षा ज्ञान-कांड की श्रेष्ठता दर्शा कर अब अगले दो मुंडकों तथा उनके खंडों में ब्रह्म-ज्ञान की चर्चा की गई है। इन अगले दो मुंडकों तथा उनके खंडों में अंगिरा ऋषि का यह कहना है कि संसार की रचना का आदि-स्रोत ब्रह्म है। उसी से सारी सृष्टि की रचना हुई है। वे कहते हैं :

तद् एतत् सत्यम्। यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते। तथा अक्षरात् विविधाः सोम्य!
भावाः प्रजायन्ते, तत्र च एव अपियन्ति ॥१॥

अंगिरा ऋषि कहते हैं कि यह बात सत्य है—**'तद् एतत् सत्यम्'**। क्या बात सत्य है? यह बात सत्य है कि जैसे भली प्रकार प्रज्वलित अग्नि से—**'यथा सुदीप्तात् पावकत्'**, सहस्त्रों चिनगारियां निकलती हैं—**'विस्फुलिगाः सहस्रशः प्रभवन्ते'**, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से—**'तथा अक्षरात्'**, हे सोम्य! विविध पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं—**'विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते'**, और उसी में लौट जाते हैं—**'तत्र च एव अपियन्ति'**।१।

'अक्षर' का अर्थ यहाँ कारणावस्था-प्रकृति से है। कारणावस्था-प्रकृति से संसार के पदार्थ (भावाः—**'भवति इति भावः'**—जो-कुछ भी हो वह भाव है) उत्पन्न होते हैं और प्रलयावस्था में उसी में लीन हो जाते हैं—यह ठीक ऐसे ही है जैसे प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं और उसी में मिट जाती हैं। यह तो अक्षर प्रकृति की बात हुई। उस अक्षर कारण-प्रकृति से भी परे एक सत्ता है जिसे अगले श्लोक में परात्पर-पुरुष कहा है। उसे 'परात्पर' इसलिये कहा क्योंकि प्रकृति सब पदार्थों का उपादान कारण होने से परे है, पर-ब्रह्म परमात्मा

उससे भी परे है—'परात्पर'—है। ब्रह्म को पर-ब्रह्म भी इसलिये कहते हैं क्योंकि वह प्रकृति से पर (परे) है। उस परात्पर पुरुष की चर्चा करते हुए अगले श्लोक में कहा है :

दिव्यः हि अमूर्तः पुरुषः सः बाह्य-आभ्यन्तरः हि अजः।
अप्राणः हि अमनाः शुभ्रः हि अक्षरात् परतः परः ॥२॥

वह दिव्य पुरुष—पर-ब्रह्म—अमूर्त है, उसकी कोई मूर्ति नहीं—'**दिव्यः हि अमूर्तः पुरुषः**'। वह हर वस्तु के बाहर भी है, भीतर भी है—'**सः बाह्यः आभ्यन्तरः हि**', वह अजन्मा है—'**अजः**', वह प्राण नहीं लेता—'**अप्राणः**', उसका मन भी नहीं है—'**अमनाः**', पवित्र है—'**शुभ्रः हि**'। वह परे विद्यमान कारण-प्रकृति से भी परे है—'**अक्षरात् परतः परः**'।२।

एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

स्वयं तो वह अप्राण है, परन्तु प्राण उसी से उत्पन्न होता है—'**एतस्मात् जायते प्राणः**', उसका न मन है, न उसकी इन्द्रियां हैं, परन्तु मन तथा सभी इन्द्रियाँ भी उसी से जन्म लेती हैं—'**मनः सर्वेन्द्रियाणि च**'। विश्व को धारण करने वाली पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच महाभूतों का भी उसी से जन्म है—'**खं वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**'।३।

अग्निः मूर्धा, चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे, वाक् विवृताः च वेदाः।
वायुः प्राणः, हृदयं विश्वं, अस्य पद्भ्यां पृथिवी, हि एषः सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

अगर इस संसार को उस विराट्-पुरुष का शरीर कल्पित कर लिया जाय, तो अग्नि उसका मूर्धा है, जैसे मस्तिष्क का काम ज्ञान का प्रकाश देना है, वैसे विराट्-पुरुष के शरीर में अग्नि का काम प्रकाश देना है—'**अग्निः मूर्धा**'; चन्द्र और सूर्य उसकी दो आँखें हैं—'**चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ**'; दिशाएं उसके श्रोत्र हैं—'**दिशः श्रोत्रे**'; विवृत अर्थात् सांगोपांग वेद उसकी वाणी है—'**वाक् विवृताः च वेदाः**'; वायु उसका प्राण तथा विश्व उसका हृदय है—'**वायुः प्राणः, हृदयं विश्वं**'; पृथिवी उसके पाँव हैं—'**अस्य पद्भ्यां पृथिवी**'। यह विराट्-पुरुष निश्चय से सब चराचर जगत् का अन्तरात्मा है—'**हि एषः सर्वभूत अन्तरात्मा**'।४।

इस प्रकार सृष्टि को पुरुष-ब्रह्म का शरीर कल्पित करके उसके मूर्धा, चक्षु आदि का वर्णन किया जिसका अन्तरात्मा ब्रह्म है, वही इस विश्व में भिन्न-भिन्न प्राकृतिक-तत्त्वों के भीतर से बाहर झांक रहा है।

अब आगे जो श्लोक आ रहे हैं उनमें **'तस्मात्'** या **'एतस्मात्'**—उससे या इससे—इन शब्दों के प्रयोग से कथन प्रारम्भ होता है। इन सब में यही कहा गया है कि उस विराट्-पुरुष—पर-ब्रह्म से ही सब-कुछ उत्पन्न हुआ है।

तस्मात् अग्निः समिधः यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्यः ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिंचति योषितायाम्, बह्वीः प्रजाः पुरुषात् संप्रसूताः ॥५॥

अग्नि उसी से प्रसूत हुई—**'तस्मात् अग्निः'**; उसी की सूर्य मानो समिधा है—**'समिधः यस्य सूर्यः'**; उसी की सर्जन-शक्ति के प्रभाव द्वारा चन्द्रमा से बादलों का निर्माण होता है—**'सोमात् पर्जन्यः'**; उसी की सर्जन-शक्ति से पृथिवी में ओषधियां उत्पन्न होती हैं—**'ओषधयः पृथिव्याम्'**; उसी की सर्जन-शक्ति से पुरुष स्त्री में वीर्य का आधान करता करता है—**'पुमान् रेतः सिंचति योषितायाम्'**। संसार में जो नानाविध उत्पन्न वस्तुएं हैं—**'बह्वीः प्रजाः'**, वे सब उसी विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति से ही उत्पन्न हुई हैं—**'पुरुषात् संप्रसूताः'**। वही सबके भीतर से झांक रहा है और उसी की सर्जन-शक्ति से सब-कुछ उत्पन्न हुआ है।५।

तस्मात् ऋचः साम यजूंषि दीक्षाः यज्ञाः च सर्वे क्रतवः दक्षिणाः च।
संवत्सरं च यजमानः च लोकाः सोमः यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥

उसी विराट्-पुरुष पर-ब्रह्म से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद प्रकट हुए—**'तस्मात् ऋचः साम यजूंषि'**; उसी से दीक्षा, यज्ञ, क्रतु तथा दक्षिणा प्रकट हुए—**'दीक्षाः यज्ञाः च सर्वे क्रतवः दक्षिणाः च'**; उसी से संवत्सर, यजमान और लोक प्रकट हुए—**'संवत्सरं च यजमानः च लोकाः'**; उसी से वे स्थान उत्पन्न हुए जिन्हें चन्द्रमा और सूर्य पवित्र हैंकरते —**'सोमः यत्र पवते यत्र सूर्यः'**।६।

विराट्-पुरुष की महिमा बखानने के लिये उन सब बातों का उल्लेख कर दिया जिनका उल्लेख कर्म-कांडी करते हैं। कर्म-कांडी लोग चारों वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान, लोक, सोम, सूर्य आदि का बहुत वर्णन करते है। अंगिरा ऋषि कहते हैं कि इन सबका मूल-स्रोत ब्रह्म तथा ब्रह्म-विद्या ही है।

तस्मात् च देवाः बहुधा संप्रसूताः, साध्याः, मनुष्याः, पशवः, वयांसि,
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपः च श्रद्धा सत्यम् ब्रह्मचर्यं विधिः च ।।७।।

उसी विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति से अनेक प्रकार के दिव्य-पुरुष उत्पन्न हुए—**'तस्मात् च देवाः बहुधा संप्रसूताः'**; उसी की सर्जन-शक्ति से साध्य, उसी से मनुष्य उत्पन्न हुए—**'साध्याः मनुष्याः'**; उसी की सर्जन-शक्ति से पशु तथा पक्षी उत्पन्न हुए—**'पशवः वयांसि'**। विराट्-पुरुष की उसी सर्जन-शक्ति से प्राण तथा अपान, व्रीहि तथा यव उत्पन्न हुए—**'प्राणापानौ, व्रीहियवौ'**; उसी की सर्जन-शक्ति से तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य तथा विधि-विधान उत्पन्न हुए—**'तपः च श्रद्धा, सत्यम्, ब्रह्मचर्यं, विधिः च'** ।७।

इस प्रकरण में मानव के तीन भेद किये हैं—'देव', 'साध्य' तथा 'मनुष्य'। **'मनुष्य'** वे हैं जो सर्व-साधारण जनता में पाये जाते हैं; **'साध्य'** वे हैं जो अपने को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं; **'देव'** वे हैं जो मानवता के उच्च-स्तर पर आ चुके हैं। मनुष्यों के अतिरिक्त इस गणना में पशु-पक्षियों, अन्य जीवधारियों को जो सिर्फ़ प्राणापान से जीते हैं, और वनस्पतियों को भी गिना गया है। यह गणना आधि-भौतिक है। आधिभौतिक के अलावा आध्यात्मिक गणना में तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विधि-विधान को भी विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति के अन्तर्गत दिखाया गया है। भाव यह है कि सृष्टि में जो-कुछ है, पर-ब्रह्म का ही प्रकाश है। जब सभी उसी का प्रकाश है तब उस एक को जान लेने से सब जाना जाता है।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्त अर्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोकाः येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिताः सप्त सप्त ।।८।।

उसी विराट्-पुरुष से सातों प्राणों का सर्जन होता है—**'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्'**; उसी से सात ज्योतियों का—**'अर्चिषः'**; उसी से सात समिधाओं का—**'समिधः'**; उसी से सात होमों का—**'सप्त होमाः'**; ये जो सात लोक हैं—ज्ञान ग्रहण करने के इन्द्रियों के सात छिद्र हैं—**'सप्त इमे लोकाः'**—जिनकी गुफ़ा में बैठे सात-सात प्राण विचरते हैं—**'येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशयाः निहिताः सप्त सप्त'**—वे सब भी विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति के ही परिणाम हैं ।८।

इस श्लोक में मनुष्य-शरीर की दो आंखों के, दो कानों के, दो नाक के और एक मुख के—इन सात छिद्रो को सात गुफाएं कहा गया है।

इन सातों में प्राण विचरता है, इसलिये प्राण को सप्त-प्राण कहा है। इन सातों प्राणों द्वारा जीवन चल रहा है—इसे सात यज्ञों से उपमा दी गई है। इन सात छिद्रों में सातों इन्द्रियों के सात विषय वासनाओं की आग को उद्दीप्त करते रहते हैं—इन्हें सात-सात समिधाएं कहा गया है। इस प्रकार मानव-शरीर को एक होम से उपमा देकर अंगिरा ऋषि कर्म-कांडियों को कहते हैं कि यह पिंड में जो होम हो रहा है वह भी विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति का उदाहरण है। होम करने के लिये बाहर जाने की क्या ज़रूरत है, अपने देह में ही होम का उपक्रम चल रहा है।

अतः समुद्राः गिरयः च सर्वे, अस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतः च सर्वाः ओषधयः रसः च येन एषः भूतैः तिष्ठते हि अन्तरात्मा॥९॥

पिंड में विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति की आठवें श्लोक में चर्चा करने के बाद नवें श्लोक में वही चर्चा ब्रह्मांड के सम्बन्ध में करते हुए ऋषि कहते हैं—उसी विराट्-पुरुष की सर्जन-शक्ति से समुद्र तथा सब पर्वत—'**अतः समुद्राः गिरयः च सर्वे**', और इसी की शक्ति से भिन्न-भिन्न मार्गों से बहने वाली नदियाँ बह रही हैं—'**अस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः**'। इसी विराट्-पुरुष के सामर्थ्य से सब बनस्पतियां तथा औषधियां अपना-अपना काम करती हैं—'**अतः च सर्वाः ओषधयः**', इसी विराट्-पुरुष ने प्रत्येक वस्तु में जो रस भर दिया है उसी कारण संसार के पंच महाभूतों से बने शरीर के साथ इनके भीतर रहने वाला आत्मा उस रस को चखता हुआ विराजता है—'**रसः च येन एषः भूतैः तिष्ठते हि अन्तरात्मा**'।९।

पुरुषः एव इदं विश्वं कर्म तपः ब्रह्म पर अमृतम्।
एतत् यः वेद निहितं गुहायां सः अविद्या-ग्रन्थिं विकिरति इह सोम्य॥१०॥

यह विश्व विराट्-पुरुष का शरीर ही है—'**पुरुषः एव इदं विश्वं**'। इस विश्व में जितना कर्म है, कर्म करने में जितना तप है, वह सब परम-अमृत ब्रह्म द्वारा ही हो रहा है—'**कर्म तपः ब्रह्म एव पर अमृतम्**'। यह पूछा जा सकता है कि जो दीखता है वह तो विश्व है, फिर विश्व विराट्-पुरुष का शरीर कैसे हो सकता है? अंगिरा ऋषि कहते हैं कि वही तो विश्व-रूपी गुहा में निहित है—इस बात को जो जानता है—'**एतत् यः वेद निहितं गुहायाम्**', वह अपनी अविद्या की गांठ को, ऐ प्यारे, काट डालता है—'**सः अविद्या-ग्रन्थिं विकिरति इह सोम्य**'।१०।

इस श्लोक में अंगिरा ऋषि ने एक महत्त्वपूर्ण स्थापना की है। उनका कहना है कि यह विश्व ही विराट्-पुरुष का शरीर है। इस मुंडक के प्रारम्भ में भी कहा है—जैसे प्रज्वलित अग्नि में से चिनगारियाँ निकलती हैं और इसी में लीन हो जाती हैं, वैसे ही पर-ब्रह्म से संसार उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। इसका भी यही अर्थ है कि विश्व ही विराट्-पुरुष है। इस प्रसंग को श्री नारायण स्वामी ने बहुत अच्छी तरह समझाया है। उनकी मुंडकोपनिषद् की व्याख्या से हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। वे लिखते हैं—

"एक लोहे के गोले को जब ख़ूब तपाते हैं और तप कर वह अग्नि-मय होकर दहकती हुई अग्नि की तरह लाल हो जाता है, तब उस गोले को यदि अग्नि कहो तब भी ठीक है क्योंकि वह सबको भस्म कर सकता है, यदि उसे लोहा कहो तब भी ठीक है क्योंकि वह लोहे का ही पिंड है। ठीक इसी प्रकार इस ब्रह्मांड रूपी लोहे के गोले में ब्रह्म रूपी अग्नि, अपने सर्व-व्यापक गुण से ओत-प्रोत है, और इस गोले को अग्निमय बना रहा है। ऐसी हालत में इस ब्रह्मांड को यदि प्राकृतिक-जगत् कहें तब भी ठीक है क्योंकि यह बना ही प्रकृति से है, और यदि यह कह देवें कि यह सब ब्रह्म है तब भी ठीक है क्योंकि ब्रह्म उसमें अग्नि की तरह ओत-प्रोत है। उपनिषद् के इस वाक्य में इसीलिये इस विश्व को पुरुष (ब्रह्म) कहा गया है।"

भारतीय चिंतक कुछ इसी दृष्टि से विचार किया करते थे। गीता (९-१६) में भी श्रीकृष्ण ने कहा है—**'अहम् क्रतुः अहं यज्ञः स्वधा अहं अहमौषधम्। मन्त्रः अहं अहमेवाज्यं अहमग्निः अहम् हुतम्'**—मैं ही क्रतु हूं, मैं ही यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा हूं, मैं ही औषध हूं, मैं ही मंत्र हूं, मैं ही घृत हूं, मैं ही अग्नि हूं। श्री नारायण स्वामी ने उपनिषद् के वाक्य की जो व्याख्या की है उससे गीता के उक्त श्लोक पर भी प्रकाश पड़ जाता है।

पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी ने उपनिषद् के इस वाक्य की अन्य ही व्याख्या की है। मूल वाक्य है—**'पुरुषः एव इदं विश्वम्'**। इस वाक्य को दो प्रकार समझा जा सकता है। एक प्रकार तो वह है जिस प्रकार शंकराचार्य, नारायण स्वामी आदि ने इसे समझा है—**'पुरुषः एव इदं सर्वम्'**। दूसरा प्रकार वह है जिस प्रकार पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने इसे समझा है—**'पुरुषे एव इदं सर्वम्'**। 'पुरुष'—अर्थात् पुरुष-ब्रह्म—में

ही यह सारा विश्व विद्यमान है। हमने दोनों का दृष्टिकोण यहाँ दे दिया है। 'पुरुष एव' को 'पुरुषः एव' तथा 'पुरुषे एव' दोनों प्रकार समझ सकते हैं।

द्वितीय मुण्डक (द्वितीय खण्ड)

आविः संनिहितम् गुहाचरम् नाम महत् पदं अत्र एतत्
समर्पितम्। एजत् प्राणत् निमिषत् च यत् एतत् जानथ
सत् असत् वरेण्यं परं विज्ञानात् यद् वरिष्ठम् प्रजानाम् ॥१॥

यद्यपि उसका नाम '**गुहाचर**'—हृदय की गुहा में छिप कर रहने वाला—यह है, तो भी वह सृष्टि की हर वस्तु में प्रकट है—'**आविः सन्निहितम्**'—प्रकट होकर विद्यमान है, परन्तु है हृदय की गुहा में '**गुहाचरं नाम**'। यद्यपि उसका पद महान् है—'**महत् पदं**', तो भी वह इस सृष्टि में—यहां ही—समर्पित है—'**अत्र एतत् समर्पितम्**'। जो भी सृष्टि में चलायमान है, गतिमान् है, सांस लेता है, आंख की पलक मारता है—'**एजत्, प्राणत्, निमिषत् च यत्**'—वह सब, यह समझ लो—'**एतत् जानथ**', कि वह सत् तथा असत् दोनों की अपेक्षा वरेण्य है, उपादेय है—'**सत् असत् वरेण्यम्**'। सत्-असत्—दोनों की अपेक्षा वरेण्य का अर्थ है कि ऐसी वस्तुएं जो हमारे काम की हैं, वे हमारे लिये सत् हैं, ऐसी वस्तुएं जो हमारे काम की नहीं हैं, वे हमारे लिये असत् हैं; ब्रह्म इन दोनों से ऊपर है। जो-कुछ भी जाना जा सकता है वह उससे परे है—'**परं विज्ञानात्**', वह प्रजाओं में वरिष्ठ है—सबसे बड़ा है, '**वरिष्ठं प्रजानाम्**'।१।

यद् अर्चिमद्, यद् अणुभ्यः अणुः, यस्मिन् लोकाः
निहिताः, लोकिनः च। तद् एतद् अक्षरं ब्रह्म, सः प्राणः,
तद् उ वाङ् मनः, तद् एतत् सत्यं, तद् अमृतम्, तद्
वेद्धव्यम् सोम्य विद्धि ॥२॥

संसार में जो भी प्रकाशमान है—'**यद् अर्चिमद्**', जो भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है—'**यद् अणुभ्यः अणुः**'—परन्तु जिस सूक्ष्म-से-सूक्ष्म में सब स्थूल लोक तथा उन लोकों के निवासी भी निहित हैं—'**यस्मिन् लोकाः निहिताः लोकिनः च**', वह यह अक्षर ब्रह्म ही है—'**तद् एतद् अक्षरं ब्रह्म**'। वही प्राण है, वही वाणी तथा मन है—'**सः प्राणः तद् उ वाङ्**

मनः', वही यह सत्य है, वही अमृत है—**'तद् एतद् सत्यं, तद् अमृतम्'**। हे सौम्य ! उसी को तूने बींधना है, इस बात को तू जान ले—**'तद् वेद्धव्यम्, सोम्य विद्धि'** ।२।

धनुः गृहीत्वा औपनिषदम् महास्त्रं शरं हि उपासा निशितम् संधयीत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तद् एव अक्षरं सोम्य विद्धि ।।३।।

पिछले श्लोक में कहा कि संसार में जो-कुछ भी है वह अक्षर ब्रह्म ही है। ऋषि का कहना है कि वही जीवन का लक्ष्य है। उसी लक्ष्य को बींधना है। कैसे बींधना है ? उपनिषद् की परा-विद्या रूपी धनुष को हाथ में लेकर —**'धनुः गृहीत्वा औपनिषदम्'**, उस धनुष पर उपासना के द्वारा तेज़ धार पर चढ़े आत्मा रूपी महास्त्र बाण को—**'महास्त्रं शरं हि उपासा निशितम्'**, चढ़ा दे—**'संधयीत'**। तदनन्तर भगवान् में लीन चित्त से धनुष की डोर को अपनी ओर खींच कर—**'आयम्य तद् भाव गतेन चेतसा'**, अक्षर-ब्रह्म रूपी उस लक्ष्य को—**'लक्ष्यं तद् एव अक्षरं'**, हे प्यारे, बींध दे—**'सोम्य विद्धि'** ।३।

प्रणवः धनुः शरः हि आत्मा ब्रह्म तत् लक्ष्यम् उच्यते ।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यम् शरवत् तन्मयः भवेत् ।।४।।

तीसरे श्लोक में जो बात कही उसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं--जिस धनुष को काम में लाना है, वह प्रणव है—**'प्रणवः धनः'**। प्रणव का क्या अभिप्राय है ? योग-दर्शन में लिखा है—**'तस्य वाचकः प्रणवः'**—'ओंकार'-अक्षर ब्रह्म का वाचक है—प्रणव के रूप में 'ओंकार' का जप, अर्थात्, ब्रह्म का ध्यान। इस धनुष में जो बाण चढ़ाना है वही तो लक्ष्य को बींधता हुआ लक्ष्य में जा मिलेगा। वह बाण आत्मा है—**'शरः हि आत्मा'**। आत्मा रूपी बाण का लक्ष्य ब्रह्म कहा गया है—**'ब्रह्म तत् लक्ष्यम् उच्यते'**। उसे बींधना हो, तो तन्मयता से, सावधानी से बींधना होगा—**'अप्रमत्तेन बेद्धव्यम्'**, ताकि जैसे तन्मयता से छोड़ा हुआ बाण अपने लक्ष्य में जा मिलता है वैसे आत्मा अक्षर ब्रह्म में जा मिले—**'शरवत् तन्मयः भवेत्'**। जितना डोरी को खींचा जाता है उतनी तेज़ी से बाण जाता है, इसी प्रकार जितने तीव्र वैराग्य से ओंकार का ध्यान होगा उतनी तीव्रता से आत्मा परमात्मा रूपी लक्ष्य की तरफ़ जायेगा और भगवान् में जा मिलेगा।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी च अन्तरिक्षं ओतं मनः सह प्राणैः च सर्वैः । तम् एव एकम् जानथ आत्मानं, अन्याः वाचः विमुंचथ, अमृतस्य एषः सेतुः ।।५।।

जिसमें द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्ष—ये तीनों अर्थात् 'ब्रह्मांड'–'**यस्मिन् द्यौः पृथिवी च अन्तरिक्षं**', ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत हैं—'**ओतम्**', और मन सब प्राणों को साथ लेकर अर्थात् 'पिंड' जिसमें ओत-प्रोत है—'**मनः सह प्राणैः च सर्वैः**', उसी एक आत्मा को—अक्षर ब्रह्म को जानो—'**तम् एव एकम् जानथ आत्मानम्**', अन्य बातों को छोड़ो—'**अन्याः वाचः विमुंचथ**'। इस अक्षर-ब्रह्म को—आत्मा को जान लेना ही अमृत का—मोक्ष का—पुल है—'**अमृतस्य एषः सेतुः**', महान् पर-ब्रह्म को पाना अमरता के पुल को पार कर मुक्त हो जाना है।५।

अराः इव रथनाभौ संहताः यत्र नाड्यः,
सः एषः अन्तः चरते बहुधा जायमानः।
ओम् इति एवं ध्यायथ आत्मानम्,
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥६॥

जैसे भिन्न-भिन्न अरे रथ की नाभि अर्थात् धुरे में जुड़े होते हैं—'**अराः इव रथनाभौ संहताः**', जैसे भिन्न-भिन्न नाड़ियां हृदय-स्थल में आकर जुड़ जाती हैं—'**यत्र नाड्यः**', इसी प्रकार वह भिन्न-भिन्न और बहुत प्रकार से अपने अस्तित्व को प्रकट करने वाला अक्षर-ब्रह्म हृदय के अन्तस्तल में विचरता है—'**सः एषः अन्तः चरते बहुधा जायमानः**'। उस आत्मा—अक्षर-ब्रह्म—का ध्यान 'ओं'—इस से करो—'**ओं इति एवं ध्यायथ आत्मानं**'। इस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा—'**स्वस्ति वः**', और यही मार्ग है अन्धकार से परे जाने का, अन्धकार में से पार हो जाने का—'**पाराय तमसः परस्तात्**'।६।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य एषः महिमा भुवि,
दिव्ये ब्रह्मपुरे हि एषः व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितः अन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपम् अमृतम् यद् विभाति॥७॥

इस श्लोक में अंगिरा ऋषि कहते हैं कि अक्षर-ब्रह्म भू-लोक (भुवि), द्यु-लोक (दिव्ये) तथा अन्तरिक्ष-लोक (व्योम्नि)—तीनों लोकों में अपनी महिमा से प्रतिष्ठित है। उसी आनन्दस्वरूप अमृत को विज्ञान—परा-विद्या से—जानना चाहिये। इस भाव को प्रकट करते हुए उक्त श्लोक में कहा है:

वह सब-कुछ जानने वाला है तथा उसे सब लोग जानते हैं, या वह सब जगह विद्यमान् है—**'सः सर्वज्ञः, सर्वविद्'**। उसकी इस भू-लोक में यह महिमा दीख रही है—**'यस्य एषः महिमा भुवि'**, उसकी यह महिमा द्यु-लोक में, ब्रह्मपुरी में भी दीख रही है—**'दिव्ये ब्रह्मपुरे हि एषः'**, वह अक्षर-ब्रह्म (परमात्मा) अन्तरिक्ष-लोक में भी प्रतिष्ठित है—**'व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः'**। यहाँ तक तो अक्षर ब्रह्म की 'ब्रह्मांड' में महिमा का वर्णन है। इससे आगे 'पिंड' में उसकी महिमा का वर्णन शुरु होता है। पिंड में पाँच कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। जैसे 'ब्रह्मांड' में अक्षर-ब्रह्म की महिमा दीख रही है, वैसे ही 'पिंड' के पाँचों कोशों में उस अक्षर-ब्रह्म की महिमा दीख रही है। वह कैसे ? मनोमय कोश—**'मनोमयः'**, प्राणमय कोश को लेकर—**'प्राणशरीरनेता'**, अन्नमय कोश में हृदय को रख कर स्थित है—**'प्रतिष्ठितः अन्ने हृदयं सन्निधाय'**। अर्थात्, मन, प्राण तथा हृदय—ये सब अन्नमयकोश में—शरीर में—स्थित हैं। धीर पुरुष इस सब को विज्ञानमय कोश से देखते हैं—**'तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'**, और इस प्रकार विज्ञानमय कोश से आनन्दमय कोश में स्थित अमृत-रूप-आत्मा प्रकाशित हो जाता है—**'आनन्दरूपं अमृतं यद् विभाति'**।७।

उपनिषदों की अपनी शैली है जिसे सामने रखकर वे अपनी बात को **'ब्रह्मांड'** तथा **'पिंड'** में एकात्मता दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। 'ब्रह्मांड में पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिक्ष की वे चर्चा करते हैं, 'पिंड' में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों की चर्चा करते हैं। ये सब शब्द इस श्लोक में मौजूद हैं, इसलिये इसी पृष्ठभूमि को सामने रखकर हमने अर्थ किया है।

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
> **क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥**

हृदय की गांठें खुल जाती हैं—**'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः'**, संशय सब टूट जाते हैं—**'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'**, कर्मों का बंधन क्षीण हो जाता है—**'क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि'**, जब उस पर तथा अवर का दर्शन हो जाता है—**'तस्मिन् दृष्टे परावरे'**।८।

हृदय की गांठें खुल जाने का वर्तमान मनोविज्ञान की दृष्टि से अर्थ है—कम्प्लेक्सेज़—Complexes. मनुष्य के हृदय में जितनी गांठें

पड़ जाती हैं उनका कारण भगवान् पर अविश्वास है। जब मनुष्य अक्षर-ब्रह्म पर अपने को छोड़ देता है, तब उसके हृदय में कोई गांठ नहीं पड़ती, तब उसकी अवस्था वैसी हो जाती है जैसी बच्चे के अपने को माँ के भरोसे छोड़ देने पर होती है।

'तस्मिन् दृष्टे परावरे' का अर्थ यह है कि जब मनुष्य यह समझ जाता है कि 'अवर'—अर्थात्, यह संसार, तथा 'पर'—अर्थात्, भौतिक के परे जो अध्यात्मिक-जगत् है—दोनों में अक्षर-ब्रह्म ही सब-कुछ है, तब इस संसार का भरोसा उससे अपने-आप छूट जाता है, उस ब्रह्म का भरोसा इसका स्थान ले लेता है।

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः यत् आत्मविदः विदुः ॥९॥

पिछले श्लोक में 'परावरे'-शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अवर' तो यह संसार है, 'पर' वह है जो इस संसार से परे है। वह परे का संसार—आध्यात्मिक-संसार—हिरण्मय कोष है—सुवर्ण के ख़जाने के समान मूल्यवान् है, उस हिरण्मय, पर-जगत् के कोष में—**'हिरण्मये परे कोषे'**, निर्मल, निष्कल ब्रह्म वर्तमान है—**'विरजं ब्रह्म निष्कलं'**। वह ब्रह्म शुभ्र ज्योतियों की ज्योति है—**'तत् शुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः'** —ऐसा आत्मविद् लोग अपने अनुभव से कहते हैं—**'यत् आत्मविदः विदुः**।९।

न तत्र सूर्यः भाति, न चन्द्रतारकं, न इमाः विद्युतः भान्ति, कुतः अयम् अग्निः। तं एव भान्तं अनुभाति सर्वम्, तस्य भासा सर्वं इदम् विभाति ॥१०॥

अभी पिछले श्लोक में अक्षर-ब्रह्म को ज्योतियों की ज्योति कहा है। तो क्या अक्षर-ब्रह्म सूर्य की ज्योति से भी बढ़ कर है? अंगिरा ऋषि कहते हैं: वहाँ न सूर्य की रोशनी काम करती है, न चन्द्र और तारों की—**'न तत्र सूर्यः भाति, न चन्द्र तारकं'**, न वहाँ विद्युत् का प्रकाश काम करता है, फिर अग्नि का प्रकाश तो काम ही क्या कर सकता है—**'न इमाः विद्युतः भान्ति, कुतः अयम् अग्निः'**, उसी के प्रकाश के पीछे सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं—**'तं भान्तं अनुभाति सर्वम्'**, उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हो रहे हैं—**'तस्य भासा सर्वं इदं विभाति'**।१०।

ब्रह्म एव इदम् अमृतम् पुरस्ताद्, ब्रह्म पश्चाद्, ब्रह्म दक्षिणतः च उत्तरेण। अधः च ऊर्ध्वं च, प्रसृतं ब्रह्म एव इदम्, विश्वं इदं वरिष्ठम् ॥११॥

द्वितीय मुंडक के प्रारम्भ में घोषणा की थी कि जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत् के विविध पदार्थ प्रकट होते हैं। उसी घोषणा का उपसंहार करते हुए ऋषि कहते हैं कि जो उपासक इस बात को समझ लेता है, उसे सामने वही अमृत ब्रह्म दीखता है—**'ब्रह्म एव इदम् अमृतम् पुरस्ताद्'**, ब्रह्म ही पीठ पीछे दीखता है—**'ब्रह्म पश्चाद्'**, ब्रह्म ही दक्षिण तथा उत्तर में दीखता है—**'ब्रह्म दक्षिणतः च उत्तरेण'**, ब्रह्म नीचे, ब्रह्म ऊपर—**'अधः च उर्ध्वं च'**, सब दिशाओं तथा सब तरफ़ ब्रह्म ही फैला हुआ दीखता है—**'प्रसृतं ब्रह्म एव इदम्'**, उसे यह सारा विश्व वरिष्ठ दिखाई देता है, सर्वोत्तम दिखाई देता है क्योंकि इसमें जो-कुछ है ब्रह्म-ही-ब्रह्म है—**'विश्वं इदं वरिष्ठम्'** ।११।

उसे सारा जगत् ब्रह्म-ही-ब्रह्म क्यों दिखलाई देता है? क्योंकि जैसे अग्नि से तपा हुआ लोहे का पिंड अग्निमय होने के कारण अग्नि-ही-अग्नि दिखलाई देता है यद्यपि वह स्वतन्त्र रूप में लोहा ही होता है, वैसे ही यह विश्व ब्रह्माविष्ट होने के कारण, कण-कण में ब्रह्म की उपस्थिति के कारण ब्रह्म-ही-ब्रह्म दिखलाई देता है यद्यपि वह स्वतन्त्र रूप में विश्व ही होता है। हर बात में देखने वाले की दृष्टि महत्त्वपूर्ण होती है।

तृतीय मुण्डक (प्रथम खण्ड)

सब जगह ब्रह्म-ही-ब्रह्म प्रकट हो रहा है, हर वस्तु में ब्रह्म का महत्त्व दीख रहा है—यह कह कर ऋषि कहते हैं कि इसका यह अभि-प्राय नहीं है कि सब-कुछ ब्रह्म ही है। संसार में एकत्व ही हो, तो द्वित्व या नानात्व हो ही नहीं सकता। क्योंकि संसार में नानात्व है इसलिये अपने कथन का परिष्कार करते हुए वे तृतीय मुंडक में कहते हैं :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति ॥१॥

दो सुन्दर पंखों वाले—**'द्वा सुपर्णा'**, साथ-साथ रहने वाले—**'सयुजा'**, एक-दूसरे के सखा—**'सखायौ'**—पक्षी हैं, जो एक ही वृक्ष को—**'समानं वृक्षं'**, सब ओर से घेरे पड़े हैं—**'परिषस्वजाते'**। इन दोनों में से एक—**'तयोः अन्यः'**, पिप्पल के स्वादु फल को खा रहा है—**'पिप्पलं स्वादु अत्ति'**, और दूसरा बिना खाये—**'अनश्नन् अन्यः'**, सब-कुछ देख रहा है—**'अभिचाकशीति'** ।१।

यह ऋग्वेद (प्रथम मंडल, १६४ सूक्त, २०वाँ मंत्र) का मन्त्र है जिसमें एक अलंकार के रूप में सृष्टि की यथार्थता का प्रतिपादन किया गया है। वृक्ष **'प्रकृति'** है, फल खानेवाला पक्षी **'जीव'** है, और अनासक्त भाव से सब-कुछ देख कर यथार्थ फल देने वाला पक्षी **'परमात्मा'** है। श्वेताश्वतर (४-६) में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। वेद तथा उपनिषद् की दृष्टि यही है कि प्रकृति, जीव तथा परमात्मा—इन तीन सत्ताओं के सहारे सृष्टि चल रही है, अगर इनमें से एक भी न हो, तो सारा सिलसिला ठप्प हो जाता है।

समाने वृक्षे पुरुषः निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यं ईशं अस्य महिमानं इति वीतशोकः।।२।।

एक ही वृक्ष पर एक पक्षी फल खा रहा है, दूसरा फल खानेवाले को देख रहा है। जो फल खा रहा है वह पक्षी के रूप में जीव है। वह जीव फल खाने में, अर्थात् संसार के विषयों को भोगने में निमग्न हो जाता है, लीन हो जाता है—**'समाने वृक्षे पुरुषः निमग्नः'**, इतना विषयों में डूब जाता है कि भोग भोगते-भोगते शक्तिहीन हो जाता है, इस शक्तिहीनता के कारण—**'अनीशया'**, मोहग्रस्त होकर शोकाकुल हो जाता है—**'शोचति मुह्यमानः'**। दूसरे पक्षी के रूप में परमात्मा का वर्णन है। जब यह पक्षी-रूप जीव दूसरे पक्षी-रूप भगवान् को देखता है कि उसकी तो योगिजन सेवा में लगे हुए हैं—**'जुष्टं यदा पश्यति अन्यं ईशं'**, तब उसकी, अर्थात् भगवान् की महिमा होती हुई देख कर—**'अस्य महिमानं'**, यह भी विषयों का भोग छोड़ कर उसी की तरह वासनामुक्त होने का प्रयत्न करता है, और इस कारण शोक से मुक्त हो जाता है—**'इति वीतशोकः'** ।२।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारं ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यं उपैति।।३।।

जब यह द्रष्टा—**'यदा पश्यः'**, उस प्रकाशमान, सृष्टि-कर्ता, ईश्वर को देखता है—**'पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारं ईशं'**, और देखता है कि मैं भी पुरुष हूँ, वह भी पुरुष है, परन्तु वह संपूर्ण ज्ञान का उद्भव-स्थान है—**'पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'**, तब यह जानकर कि वह स्वयं शोक-सागर में इसलिये डूब गया था कि क्योंकि वह मोहवश विषयों में निमग्न हो गया था—**'विद्वान्'**, इस बात को समझ कर वह पाप और पुण्य को छोड़ कर—**'पाप पुण्ये विधूय'**, निर्लेप हो जाता है—**'निरंजनः'**, और परम समता को प्राप्त कर लेता है—**'परमं साम्यं उपैति'**, जीवन में समता ही शान्ति का उपाय है ।३।

प्राणः हि एषः यः सर्वभूतैः विभाति विजानन् विद्वान्
भवते न अतिवादी । आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान्
एषः ब्रह्मविदाम् वरिष्ठः ॥४॥

यह परमेश्वर प्राण-शक्ति होकर समस्त भूतों—पदार्थों में भास रहा है—**'प्राणः हि एषः सर्वभूतैः विभाति'** । जो विद्वान् यह बात जान लेता है—**'विजानन् विद्वान्'**, वह बढ़-बढ़ कर बातें नहीं करता—**'भवते न अतिवादी'** । वह अपने-आप में खेलता है, अपने-आप में रमा रहता है—**'आत्मक्रीडः आत्मरतिः'**, परन्तु इतने से निष्क्रिय नहीं हो जाता, कर्म करता रहता है—**'क्रियावान्'** । ऐसा व्यक्ति ही ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ मानना उचित है—**'एषः ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ।४।

ब्रह्म-ज्ञानियों के विरुद्ध कर्म-कांडियों की यही आपत्ति रही है कि ब्रह्म-ब्रह्म की रट लगाते-लगाते ये लोग कर्म से विमुख हो जाते हैं । उसी आक्षेप का परिहार करने के लिये अंगिरा ऋषि कहते हैं कि आत्मक्रीड़ा में लगा, आत्मरत व्यक्ति क्रियावान् अवश्य होना चाहिये, तभी उसे ब्रह्म-ज्ञानियों में उत्कृष्ट-कोटि का कहा जा सकता है । इसी बात को और अधिक पुष्टि देने के लिये आगे कहा है :

सत्येन लभ्यः तपसा हि एषः आत्मा सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्म-
चर्येण नित्यम् । अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयः हि शुभ्रः यं
पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

जो कहते हैं कि ब्रह्म-ज्ञानी कर्म से विरत हो जाते हैं—उनका समाधान करते हुए इस श्लोक में कहा है कि ब्रह्म—परमात्मा—की प्राप्ति बैठे-बिठाये या बिना कर्म के नहीं होती, आत्मा की प्राप्ति 'सत्याचरण' से तथा 'तपस्या' से होती है—**'सत्येन लभ्यः तपसा हि**

एषः आत्मा', 'यथार्थ-ज्ञान' तथा 'नित्य-ब्रह्मचर्य-व्रत' लेने से होती है —'**सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्**'। शरीर के भीतर हृदय में वह शुभ्र ज्योतिर्मय प्रभु विद्यमान है—'**अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयः हि शुभ्रः**'। यति लोग क्षीणदोष होकर उस प्रभु के दर्शन करते हैं—'**यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः**' ।५।

> **सत्यं एव जयते न अनृतम् । सत्येन पन्थाः विततः**
> **देवयानः । येन आक्रमन्ति ऋषयः हि आप्तकामाः । यत्र**
> **तत् सत्यस्य परमं निधानम् ।।६।।**

पहले कहा कि परमात्मा सत्याचरण से प्राप्त होता है—'**सत्येन लभ्यः**'। उसी कथन की पुष्टि करते हुए ऋषि कहते हैं कि सत्य ऐसी वस्तु है जिसकी संसार में विजय होती है, अनृत की नहीं—'**सत्यं एव जयते न अनृतम्**'। प्रश्नोपनिषद् (प्रथम प्रश्न, ६) में देवयान तथा पितृयाण मार्गों का उल्लेख है। दिव्य-गुण प्राप्त करने का मार्ग देवयान है। वह मार्ग सत्य से विस्तृत है, वह निष्कंटक मार्ग है—'**सत्येन पन्थाः विततः देवयानः**'। जिस मार्ग से आप्तकाम ऋषि लोग चलते हैं—'**येन आक्रमन्ति ऋषयः हि आप्तकामाः**', और जहाँ पहुंचते हैं—'**यत्र**', वह मार्ग सत्य का परम-धाम है—'**तत् सत्यस्य परमं निधानम्**' ।६।

आप्तकाम व्यक्ति सत्य के मार्ग पर ही चलता है, अनृत के मार्ग पर नहीं। 'आप्तकाम'—अर्थात्, ऐसा व्यक्ति जिसकी कामनाएं पूरी हो चुकीं, कुछ और पाने की उसकी लालसा नहीं। मनुष्य कामनाओं का ही पुतला है। जो प्रभु ने दिया है, उससे सन्तुष्ट नहीं रहता। जितना है उतना तो है, परन्तु उससे अधिक चाहिये—यह वृत्ति अनाप्तकाम की होती है। अनाप्तकाम को कितना ही मिल जाय वह असन्तुष्ट ही रहता है। संसार का सारा दुःख असन्तोष का है। आप्तकाम व्यक्ति दग़ा-फ़रेब नहीं करता, असत्य का उसके पास स्थान नहीं। संसार के सारे क्लेशों का उद्भव सत्य पर न टिके रहने से होता है। सत्य पर टिके रहें, तो थोड़े-से भी, सन्तोष से गुज़र हो जाती है, असत्य का आश्रय लें तो सारा संसार भी कोई झोली में डाल दे, तो तृप्ति नहीं होती। उपनिषद् के आत्मरति, आत्मकाम, आत्मतृप्त, आत्मक्रीड़, आत्मरत—ये शब्द बड़े कीमती हैं, और इन्हीं में उपनिषद् का सारा रहस्य छिपा है। गीता (३-१७)

में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है—**'यः तु आत्मरतिः एव स्यात् आत्मतृप्तः च मानवः'**—आत्मरत, आत्मरति, आत्मतृप्त, आत्माराम, पर्याप्तकाम, आप्तकाम, कृतात्मा, अनात्मतृप्त आदि उपनिषदों तथा गीता के भावपूर्ण शब्द हैं जिनमें ऋषियों की विचार-धारा एक शब्द में भर दी गई है।

बृहत् च तद् दिव्यम् अचिन्त्यरूपम् सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरम् विभाति।
दूरात् सुदूरे तत् इह अन्तिके च पश्यत्सु इह एव निहितं गुहायाम् ॥७॥

वह इतना महान् तथा दिव्य है—**'बृहत् च तद् दिव्यम्'**, उसका रूप इतना महान् होगा कि यह सोचा भी नहीं जा सकता—**'अचिन्त्य-रूपम्'**; महान् होने के साथ-साथ वह इतना सूक्ष्म है कि उससे सूक्ष्म कुछ हो नहीं सकता—**'सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरम्'**; फिर भी वह सम्पूर्ण जगत् में प्रकाशित हो रहा है—**'विभाति'**। वह दूर-से-दूर है—**'दूरात् सुदूरे'**, और वह यहाँ ही नज़दीक-से-नज़दीक है—**'तत् इह अन्तिके च'**। देखने वालों के लिये—**'पश्यत्सु'**, वह यहीं पर हमारे हृदय की गुहा में मौजूद है—**'इह एव निहितं गुहायाम्'**, उसे देखने के लिये आँखें चाहियें।७।

वह महान्-से-महान् तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है—यह विरोधी बात लगती है, परन्तु ऐसा नहीं है। उदाहरणार्थ, अगर बर्फ़ के टुकड़े को हथेली पर रखें तो थोड़ी-सी जगह पर वह आ जाता है, अगर वह पिघल जाय तो वह पानी हथेली पर नहीं समाता। अगर उसी पानी को देग़ची पर चढ़ा दें तो वह देग़ची में नहीं समाता, सूक्ष्म होकर फैल जाता है। ज्यों-ज्यों वह सूक्ष्म होता जाता है, त्यों-त्यों महान् होता जाता है। संसार का नियम ही यह है कि जो जितना सूक्ष्म है वह उतना ही महान् है। परमात्मा क्योंकि सूक्ष्मतम है, इसलिये वह महान्तम भी है।

न चक्षुषा गृह्यते न अपि वाचा, न अन्यैः देवैः, तपसा
कर्मणा वा, ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः ततः तं पश्यते
निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

परन्तु उसे इन आंखों से नहीं ग्रहण किया जाता, न वाणी से—**'न चक्षुषा गृह्यते न अपि वाचा'**, न दूसरी इन्द्रियों से—**'न अन्यैः देवैः'** न शरीर को कष्ट देने से, न कर्म-कांड से—**'तपसा कर्मणा वा'**। पवित्र, शुद्ध बुद्धिवाला व्यक्ति ज्ञान की आँखों के प्रसाद से—**'ज्ञानप्रसादेन**

विशुद्धसत्वः', जब भरपूर हो जाता है, तब वह अन्य किसी प्रकार की चाह न रह जाने से निष्कल ब्रह्म का ध्यान करते हुए उसे देख पाता है—**'ततः तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'** ।८।

एषः अणुः आत्मा चेतसा वेदितव्यः यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश ।
प्राणैः चित्तं सर्वं ओतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवति एषः आत्मा ॥९॥

आत्मा आंख, वाणी, अन्य इन्द्रियों से, तप, कर्म से नहीं जाना जा सकता, चित्त में ज्ञान का प्रसाद भर जाय, तो मनुष्य उसे देख पाता है—यह कहा । विशुद्ध-सत्व व्यक्ति को परमात्मा का ज्ञान-प्रसाद मिले तभी उसे पाया जा सकता है । परन्तु क्या मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, उसके प्रसाद की प्रतीक्षा में ही बैठा रहना उसके भाग्य में है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अंगिरा ऋषि कहते हैं—वह अणुसम सूक्ष्म आत्मा—**'एषः अणुः आत्मा'**, चित्त से जाना जाता है—**'चेतसा वेदितव्यः'** । परन्तु चित्त क्या करे ? उस में तो पाँच प्राण, पाँच इन्द्रियाँ घुस बैठी हैं—**'यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश'**, जिस कारण सब का चित्त इन पाँच प्राणों— पाँच इन्द्रियों से ओत-प्रोत हो गया है, और यह चित्त इन इन्द्रियों के विषयों में ही रत रहता है—**'प्राणैः चित्तं सर्वं ओतम् प्रजानाम्'** । उस चित्त के इन्द्रियों की वासनाओं-रुपी मल से शुद्ध होने पर ही—**'यस्मिन् विशुद्धे'**, यह आत्मा जो हम से तिरोहित रहता है प्रकट हो जाता है—**'विभवति एषः आत्मा'** ।९।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यान्
च कामान् । तं तं लोकं जायते तान् च कामान् तस्मात्
आत्मज्ञम् हि अर्चयेत् भूतिकामः ॥१०॥

इस श्लोक में चित्त-शुद्धि पर बल दिया गया है । पहले ८वें श्लोक में भी कहा—**'विशुद्धसत्वः'**, फिर ९वें में कहा—**'विशुद्धे विभवति'**, अब इसमें फिर दोहराते हैं—**'विशुद्धसत्वः'** । निर्मल-चित्त और मलिन-चित्त में भेद यह है कि निर्मल-चित्त भगवदभिमुख होता है, मलिन-चित्त संसाराभिमुख होता है । विशुद्ध-चित्त जिस-जिस स्थिति का मन से संकल्प करता है—**'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः'**, और जिस-जिस बात की कामना करता है—**'कामयते यान् च कामान्'**, उस-उस स्थिति तथा उस-उस कामना को प्राप्त कर लेता है—**'तं तं लोकं जायते तान् च कामान्'** । किसी-किसी जगह **'जायते'** की जगह **'जयते'**

पाठ है, इसका भी भाव वही है—**'जयते'**—अर्थात्, जीत लेता है। इसलिये जिस जिज्ञासु को विभूतियों की कामना हो उसे चाहिये कि किसी आत्म-ज्ञानी गुरु के चरणों में जाकर उसकी सेवा करे—**'तस्मात् आत्मज्ञं हि अर्चयेत् भूतिकामः'** ।१०।

'विशुद्धसत्व' का क्या अर्थ है? हमारा आत्मा क्या है? इसके सामने जो आता है वह तदाकार हो जाता है। आत्मा दर्पण के समान है। संसार के विषय सामने आ जाते हैं, तो वह विषयाकार हो जाता है, विषयों की धूल से मलिन हो जाता है। अंगिरा ऋषि कहते हैं कि इस धूल को झाड़ देने की ज़रूरत हैं। संसार के विषयों की धूल झड़ जायगी तो यह स्वरूप में आ जायेगा, परमात्मा से लगन लगायेगा तो जैसे अब संसार में लीन रहता है वैसे भगवान् में लीन हो जायगा। 'विशुद्धसत्व' होने का यही अभिप्राय है।

तृतीय मुण्डक (द्वितीय खंड)

सः वेद एतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये हि अकामाः ते शुक्रं एतत् अतिवर्तन्ति धीराः ॥१॥

पिछले श्लोक में आत्मज्ञ-गुरु का उल्लेख हुआ है जिसके चरणों में जाने को कहा गया है। वह आत्मज्ञ—परमात्मा को जानने वाला—परम-ब्रह्म के लोक को जानता है—**'सः वेद एतत् परमं ब्रह्म-धाम'**, वह जानता है कि परम-ब्रह्म का निवास कहाँ है। कहाँ है उस परम-ब्रह्म का निवास? उस परम-ब्रह्म का निवास वहाँ है जहाँ जाकर सम्पूर्ण विश्व निर्मल भासने लगता है—**'यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्'**। विश्व के विषय में दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि तो यह है कि विश्व में जो-कुछ हो रहा है अन्धाधुन्ध हो रहा है। टैनीसन ने संसार के विषय में कहा था—प्रकृति खून से लथपथ है—Nature red in tooth and claw. यह नास्तिकतावादियों की दृष्टि है। इस दृष्टि में परमात्मा को कोई स्थान नहीं है। दूसरी दृष्टि यह है कि जो-कुछ है वह ठीक है, उसमें ही विश्व का भला है। यह दृष्टि आस्तिकतावादियों की दृष्टि है, इस दृष्टि में परमात्मा को माना गया है, इसमें बुराई में भी भलाई तथा कष्ट में भी सुख की छाया देखी जाती है। अंगिरा ऋषि की यही दृष्टि है, इसीलिये वे कहते है—विश्व की रचना का

आश्रय परम ब्रह्म में निहित है, इसलिये विश्व शुभ्र है। जो लोग विश्व में अव्यवस्था देखते हैं वे अपनी निजी दृष्टि को सामने रखकर विश्व को देखना चाहते हैं। विश्व का संचालन किसी एक को केन्द्र में रखकर नहीं हो रहा, सबको ध्यान में रखकर हो रहा है। इसलिये जो स्वार्थहीन—अकाम—होकर परम-पुरुष भगवान् की उपासना करते हैं—**'उपासते पुरुषं ये हि अकामाः'**, वे धीर लोग जन्म-मरण के दुःख को लांघ जाते हैं—**'ते शुक्रं एतत् अतिवर्तन्ति धीराः'**—संसार में जो-कुछ हो रहा है और जो भुगतना पड़ता है उसे वे सब शुक्र है—ठीक है—यह सोच कर झेल लेते हैं, वे धीर पुरुष हैं। 'शुक्र' का अर्थ धवल, शुद्ध, निर्मल, ठीक—यह होता है।१।

कामान् यः कामयते मन्यमानः सः कामभिः जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनः तु इह एव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

जो 'अकाम' धीर पुरुष हैं वे जन्म-मरण के बंधन को लांघ जाते हैं, परन्तु जो 'सकाम' हैं—कामनाओं के शिकार हैं—उनका क्या होता है? जो व्यक्ति कामनाओं को मन में मनाते हुए उनकी पूर्ति की चाह किया करता है—**'कामान् यः कामयते मन्यमानः'**, वह उन कामनाओं को साथ लेकर वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ-जहाँ उन कामनाओं की तृप्ति हो सकती है—**'सः कामभिः जायते तत्र तत्र'**। परन्तु जिसकी कामनाओं की पर्याप्त तृप्ति हो गई है, और कोई कामना शेष नहीं रही है—**'पर्याप्तकामस्य'**, जो सब कामनाओं को पा गया है—**'कृतात्मनः'**, उसकी सब काननाएं यहीं विलीन हो जाती हैं—**'इह एव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः'**।२।

अन्त मता सो गता—इसी को कहते हैं। गीता (८-६) में भी कहा है—**'यं यं वा अपि स्मरन् भावं त्यजन्ति अन्ते कलेवरम्, तं तं एव एति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः'**—मृत्यु के समय जिस भावना को लेकर मनुष्य शरीर त्याग करता है उसी भावना से भावित होकर वह अगला जन्म ग्रहण करता है।

न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यं एव एषः वृणुते तेन लभ्यः तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥३॥

परमातमा बहुत भाषण करने से प्राप्त नहीं होता—**'न अयं आत्मा प्रवचनेन लभ्यः'**, बहुत अक्ल लड़ाने से भी नहीं प्राप्त होता—**'न मेधया'**, न जगह-जगह अनेक उपदेश सुनने से मिलता है—**'न बहुना श्रुतेन'**।

वह तो जिसको वर लेता है—**'यं एव एषः वृणुते'**, उसे प्राप्त हो जाता है—**'तेन लभ्यः'**। उसके सामने तो वह अपना स्वरूप खोल कर रख देता है—**'तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्'** ।३।

ईशोपनिषद् में भी लिखा है—**'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'**—भगवन्, अपने स्वरूप का, जो संसार की चकाचौंध से ढका है, अनावरण कर दो। इसी को यहाँ **'विवृणुते'** कहा है। ईश्वर की कृपा होनी चाहिए। कृपा तभी होती है जब बच्चे की तरह जैसे वह अपने को माता के सहारे छोड़ देता है वैसे मनुष्य अपने को भगवान् के सहारे छोड़ देता है। इसी को कई लोग **'ईश-कृपा हि केवलम्'** कहते हैं, इसी को ईसाई लोग ग्रेस (Grace) कहते हैं।

> **न अयं आत्मा बलहीनेन लभ्यः न च प्रमादात् तपसः**
> **वा अपि अलिंगात्। एतैः उपायैः यतते यः तु विद्वान्**
> **तस्य एषः आत्मा विशते ब्रह्मधाम ।।४।।**

पहले कहा कि जो अपने को परमात्मा के सहारे छोड़ देता है, परमात्मा की उस पर कृपा हो जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि परमात्मा की कृपा को पाने के लिये निर्बल या बलहीन होना कोई गुण है। नहीं, जो बलहीन है वह भी उसे नहीं पा सकता—**'न अयं आत्मा बलहीनेन लभ्यः'**। हाँ, अगर आत्म-समर्पण मनुष्य का बल है, तब वह प्राप्त हो जाता है। आत्म-समर्पण करना कोई आसान काम नहीं है। मनुष्य अन्त तक अपने पर भरोसा रखता है। ऋग्वेद (४-३३-११) में कहा है—**'न ऋते श्रांतस्य सख्याय: देवाः'**—जब तक कोई श्रान्त नहीं हो जाता, थक नहीं जाता, तब तक भगवान् भी कृपा नहीं करते। प्रमादी व्यक्ति भी सब राम भरोसे छोड़ कर कुछ न करे, तो उससे भी भगवान् दूर रहते हैं—**'न च प्रमादात्'**, जो व्यक्ति बे-सिर-पैर का तप करके परमात्मा को पाना चाहता है वह भी भ्रम में है—**'तपसः वा अपि अलिंगात्'**। लिंग का अर्थ है—लक्षण, चिन्ह, प्रयोजन। निष्प्रयोजन अपने को कष्ट देकर परमात्मा की कृपा चाहना—इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। जो समझदार होता हुआ इन उपायों से परमात्मा को पाना चाहता है—निर्बलता से, प्रमाद से, अपने को कष्ट देकर—**'एतैः उपायैः यः तु विद्वान्'**—उसके प्रति परमात्मा पीठ फेर कर अपने ब्रह्मधाम में जा बैठते हैं—**'तस्य एषः आत्मा विशते ब्रह्मधाम'**, ऐसे

व्यक्ति की कोई सुनवाई नहीं होती। सुनवाई होती है श्रम वाले की।

कई भाष्यकारों ने इसका यह अर्थ किया है कि ऊपर जो उपाय बतलाये गये हैं उनसे उल्टे उपायों से—अपने बल से, अप्रमाद से, तपस्या का ढोंग न रचकर—जो परमात्मा को पाना चाहते हैं उनका आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश पा जा जाता है। इस अर्थ में **'एतैः उपायैः'** से पहले बलहीनता की जगह सबलता, प्रमाद की जगह अप्रमाद, निष्प्रयोजन-तप की जगह सप्रयोजन-तप का अध्याहार करना पड़ेगा जो असंगत-सा प्रतीत होता है।

संप्राप्य एनं ऋषयः ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानः वीतरागाः
प्रशान्ताः। ते सर्वगम् सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानः
सर्वं एव आविशन्ति ॥५॥

ऋषि-गण उस पर-ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करके—**'संप्राप्य एनं ऋषयः'**, ज्ञान से तृप्त होकर—**'ज्ञानतृप्ताः'**, आतम-ज्ञान को प्राप्त करके—**'कृतात्मानः'**, विषयों के प्रति राग को छोड़कर—**'वीतरागाः'**, शान्त-चित्त होकर—**'प्रशान्ताः'**, सब तरह से सब दिशाओं में पहुँचे हुए भगवान् को पाकर वे—**'ते सर्वगम् सर्वतः प्राप्य'**, परमात्मा से जुड़ कर—**'युक्तात्मानः'**, उसमें जो भी सब-कुछ है—**'सर्वं एव'**, उसमें आश्रय-स्थान या शरण प्राप्त करते हैं—**'आविशन्ति'** ।५।

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास योगात् यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥६॥

जिन यतियों—प्रयत्नशील साधकों ने वेदान्त (धर्म) तथा विज्ञान (सायॅन्स) के द्वारा जीवन का प्रयोजन ठीक तरह से निश्चित कर लिया है, समझ लिया है—**'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः'**, जिन्होंने संसार को भोग और त्याग कर अपने चित्त को शुद्ध कर लिया है—**'संन्यास योगात् यतयः शुद्धसत्वाः'**, वे जब संसार के परे, अन्तकाल में, ब्रह्मलोक में पहुंचते हैं—**'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले'**, तब अमरत्व प्राप्त करके—**'परामृताः'**, सांसारिक बन्धनों तथा आवागमन से छूट जाते हैं—**'परिमुच्यन्ति सर्वे'** ।६।

गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाः देवाः च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयः च आत्मा परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति ॥७॥

प्रश्नोपनिषद् (६-२) में लिखा है—**'पुरुषः यस्मिन् एताः षोडश-कलाः प्रभवन्ति'**—इस पुरुष में सोलह कलाएँ हैं—कलाएँ, अर्थात्

भाग। उन सोलहों में प्राण को अलग कर दिया जाय, तो पन्द्रह कलाएँ रह जाती हैं। वे पन्द्रह कलाएँ हैं—श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक तथा नाम। प्राण तो स्वयं आत्मा का प्रतिनिधि है क्योंकि प्राण ही जीवन है जिसमें ये पन्द्रह कलाएं रहती हैं। इसलिये प्राण को इनमें नहीं गिना गया। जब मृत्यु होती है तब ये पन्द्रह कलाएं जो मनुष्य में प्रतिष्ठित हैं समाप्त हो जाती हैं—**'गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाः'**, शरीर में वर्तमान ये सब पन्द्रह देव जिनका अभी उल्लेख किया अपने प्रतिदेवों में—कारणों में चले जाते हैं—**'देवाः च सर्वे प्रतिदेवतासु'**। इस समय सिर्फ़ विज्ञान तथा कर्म ही आत्मा के साथ रह जाते हैं, उन्हें लेकर—**'कर्माणि विज्ञानमयः च आत्मा'**, या तो नया जन्म ग्रहण करता है, या पर अव्यय परमात्मा में सब-कुछ एक हो जाता है—**'परे अव्यये सर्वे एकी भवन्ति'** ।७।

> **यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे**
> **विहाय। तथा विद्वान् नामरूपात् विमुक्तः परात् परं**
> **पुरुषं उपैति दिव्यम् ॥८॥**

जैसे नदियाँ बहती हुई—**'यथा नद्यः स्यन्दमानाः'**, समुद्र में अस्त हो जाती हैं—**'समुद्रे अस्तं गच्छन्ति'**, और अपने नाम और रूप को छोड़ देती हैं—**'नामरूपे विहाय'**, इसी प्रकार मुक्त पुरुष या विद्वान् व्यक्ति नाम-रूप से मुक्त होकर—**'तथा विद्वान् नामरूपात् विमुक्तः'**, परों से भी परे दिव्य पुरुष-भगवान्—के समीप पहुंच जाता है—**'परात् परं पुरुषं उपैति'** ।८।

> **सः यः ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद, ब्रह्म एव भवति, न अस्य**
> **अब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं, तरति पाप्मानं,**
> **गुहा ग्रन्थिभ्यः विमुक्तः भवति ॥९॥**

जो उस परम ब्रह्म को जानता है—**'सः यः ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद'**, वह ब्रह्म ही हो जाता है—**'ब्रह्म एव भवति'**। जैसे दो घनिष्ट मित्रों के विषय में कहा जाता है कि वे तो एक ही हैं, इसी प्रकार 'ब्रह्मविद्' और 'ब्रह्म' इतने निकट आ जाते हैं कि उनकी भिन्नता मिट जाती है। इसके कुल में कोई ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता—**'न अस्य अब्रह्मवित् कुले भवति'**। ऐसा व्यक्ति शोक को तर जाता है—**'तरति शोकं'**, पाप को तर जाता है—**'तरति पाप्मानं'**, उसके

हृदय की सब गाँठें खुल जाती हैं, वासनाओं की गाँठों से वह मुक्त हो जाता है—**'गुहा ग्रन्थिभ्यः विमुक्तः भवति'** ।९।

तत् एतद् ऋचा अभ्युक्तम् । क्रियावन्तः श्रोत्रियाः ब्रह्म-निष्ठाः स्वयं जुह्वते एकर्षिं श्रद्धयन्तः । तेषां एव एताम् ब्रह्मविद्यां वदेत, शिरोव्रतं विधिवत् यैः तु चीर्णम् ॥१०॥

यही बात ऋचा में कही है—**'तत् एतत् ऋचा अभ्युक्तम्'** । ऐसे व्यक्ति जो आलसी न होकर क्रियाशील हैं, श्रुति—वेद—के मर्मज्ञ हैं, ब्रह्म के ध्यान में जिनकी आस्था है—**'क्रियावन्तः, श्रोत्रियाः, ब्रह्म-निष्ठाः'**, जो स्वयं, अपनी अन्तः-प्रेरणा से, किसी के कहने से नहीं अपितु जिनके भीतर से ब्रह्म-ज्ञान की चाह उठी है, वे जब किसी पहुँचे हुए प्रसिद्ध ऋषि के पास श्रद्धा से आयें—**'स्वयं जुह्वते एक ऋषि श्रद्धयन्तः'**, उन्हीं को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दे—**'तेषां एव एताम् ब्रह्मविद्यां वदेत'** । ऐसे लोग कैसे होने चाहिएँ ? जिन्होंने ब्रह्म-विद्या को पाने का यह व्रत विधिवत् अपने सिर पर लिया हो—**'शिरोव्रतं विधिवत् यैः तु चीर्णम्'** । कई व्याख्याकार इसका यह अर्थ करते हैं कि जिन्होंने विधिवत् संन्यास आश्रम ग्रहण किया हो । (शिरोव्रत—अर्थात्, संन्यास लेकर सिर मुंडवा लेने का व्रत) ।१०।

तत् एतत् सत्यम् ऋषिः अंगिराः पुरा उवाच, न एतद् अचीर्णव्रतः अधीते । नमः परम ऋषिभ्यः नमः परम ऋषिभ्यः ॥११॥

जो स्वयं श्रद्धापूर्वक ब्रह्म-विद्या को जानने के लिये नहीं आया उसे ब्रह्म-विद्या का ज्ञान देना निरर्थक है, भीतर से इस ज्ञान की चाह उठनी चाहिये—इस सत्य बात को अंगिरा ऋषि ने—**'तत् एतत् सत्यं ऋषिः अंगिराः'**, पुरातन-काल में कहा था—**'ऋषिः अंगिराः पुरा उवाच'** । जो ब्रह्म-विद्या पर आचरण नहीं करता वह ब्रह्म-विद्या का पाठ नहीं पढ़ सकता—**'न एतद् अचीर्णव्रतः अधीते'** । ब्रह्म-विद्या का उपदेश देने वाले परम ऋषियों को हमारा प्रणाम है—**'नमः परम ऋषिभ्यः'**, उन परम ऋषियों को हमारा पुनः प्रणाम है—**'नमः परम ऋषिभ्यः'** ।११।

उपसंहार

मुंडकोपनिषद् में ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म-विद्या को कहा गया है । मनुष्य भौतिक संसार में इतना घुल-मिल जाता है कि वह यह भूल

कर कि वह संसार से अलग है इसी को सब-कुछ समझने लगता है, इसी को 'मैं' समझने लगता है। मुंडकोपनिषद् के ऋषि अंगिरा की दृष्टि यह है कि यह ठीक है कि संसार दीखता है, परन्तु इस दीखने वाले के पीछे न दीखने वाला मौजूद है, उसी की वजह से यह संसार सत्य मालूम पड़ता है, संसार की सत्ता उसी की सत्ता का प्रतिबिम्ब है। अंगिरा ऋषि संसार को छोड़ने के लिये नहीं कहते, इतना ही कहते हैं कि संसार में रहते हुए भगवान् के साथ नाता जोड़े रखो क्योंकि उसी के साथ जुड़ने से अपना अस्तित्व बना रह सकता है। अगर जीवन की बिजली का तार पर-ब्रह्म के साथ जुड़ा रहेगा, तो भगवान् की विद्युत् जीवन में बहती रहेगी, अन्यथा यह शरीर मट्टी ही रह जायगा। ब्रह्म की सत्ता से ही सब-कुछ सत्तावान् है, उसके बिना सब मट्टी का ढेर है। जड़ तो जड़ है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता, चेतन का बिगाड़ हो जाता है। यह ठीक ऐसे ही है जैसे बेरी का तथा केले का पेड़ साथ-साथ उगे हों। आँधी चलेगी तो केले के पत्तों में बेरी के काँटे छेद करेंगे, बेरी का कुछ नहीं बिगड़ेगा। संसार की विषय-वासनाएँ वे बेरी के काँटे हैं जो चेतन में बेचैनी तथा परेशानी के छेद उत्पन्न कर देते हैं। इनसे बचना हो तो जड़ तथा चेतन में भेद को समझ कर उनके बीच ज्ञान का एक पर्दा टाँग देना होगा। जड़ को जड़ समझो, चेतन को चेतन समझो—तब संसार खेल बन जायगा, दुःख नहीं देगा। प्रकृति-रूपी वृक्ष पर जीव तथा परमात्मा—इस रूप में दो पक्षी बैठे हैं—एक अपना नाता वृक्ष से जोड़ रहा है, जब कि इसका असली नाता दूसरे पक्षी—परमात्मा के साथ है—**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'**—यह अंगिरा ऋषि का मत है।

जैसे ईशावास्योपनिषद् की यह खोज थी कि जिसे हम विद्या कहते हैं वह अविद्या है, जैसे केनोपनिषद् की यह खोज थी कि पिंड में इन्द्रियों के पीछे आत्मा और ब्रह्मांड के पीछे परमात्मा छिपा है, जैसे कठोपनिषद् के यमाचार्य की यह खोज थी कि जीवन में दो मार्ग हैं—श्रेय तथा प्रेय, जैसे प्रश्नोपनिषद् के पिप्पलाद की यह खोज थी कि संसार में दो तत्व हैं—रयि तथा प्राण, वैसे मुंडकोपनिषद् के अंगिरा ऋषि की यह खोज है कि विद्या में दो दिशाएँ हैं—परा तथा अपरा। अपरा-विद्या से सांसारिक-जीवन बनता है, परा-विद्या ब्रह्म-विद्या है जिससे आध्यात्मिक-जीवन बनता है—**'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'**।

सांसारिक-जीवन तथा अंगिरा ऋषि निर्दिष्ट ब्रह्ममय-जीवन में एक भेद तो हर-किसी को दीखता है। सांसारिक-जीवन में सुख के साथ दुःख लगा ही हुआ है। विषयों को चाहेंगे, तो दो बातें होंगी। या तो वे मिलेंगे या नहीं मिलेंगे। मिलेंगे तो सुख होगा, परन्तु कब तक मिलेंगे। अन्त में छूट भी जायेंगे—यह मिलने के बाद छूट जाना दुःख का कारण बन जाता है। नहीं मिलेंगे तब तो दुःख होगा-ही-होगा। हर हालत में इस जीवन में देर-अबेर में परेशानी-ही-परेशानी है। ब्रह्ममय-जीवन में भी दो बातें हो सकती हैं। या तो ब्रह्ममय जीवन मिथ्या है, फुसलाने की, बहकाने की बात है, या जीव को ब्रह्म का साथ मिल सकता है। अगर यह मिथ्या है, तो भी इस रास्ते पर चलने वाले को कोई बेचैनी, परेशानी नहीं होती—वह इसी ख्याल में तनाव-रहित जीवन बिता देता है। अगर ब्रह्ममय-जीवन कोई यथार्थ घटना है, तब भी व्यक्ति का जीवन शान्ति और सन्तोष से बीत जाता है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो ब्रह्ममय जीवन—मिथ्या हो या यथार्थ हो—मानव-जीवन में तनाव नहीं उत्पन्न करता, वह तनाव जो आज के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को विषाक्त कर रहा है।

जल जल में जा मिले, तो दोनों सख्य-भाव से साथ-साथ रह सकते हैं, अगर जल आग से जा मिले तो उबल पड़ता है। जीव परमात्मा से मिलने को चल दे तो चेतनत्व-गुण समान होने के कारण दोनों का सख्य-भाव—**'सयुजा सखायौ'**—दोनों को मिलाये रखता है, अगर वह संसार से मिलने को चल दे तो जल और आग के समान दोनों का विरोधी गुण जल में उबाल पैदा कर देता है। यही कारण है कि हमारे जीवन में सदा उफान बना रहता है। मुंडकोपनिषद् के अंगिरा ऋषि की यही दृष्टि है। वह जीव को संसार की तरफ़ भागने के स्थान में ब्रह्म की तरफ़ मोड़ देना चाहता है—यही ब्रह्म-विद्या है जिसे महाशाल शौनक ने अंगिरा ऋषि से जानना चाहा था। 'महाशाल'—अर्थात्, वह व्यक्ति जिसकी बड़ी बड़ी बिल्डिगें खड़ी थीं, जो आज-कल की परिभाषा में कैपिटलिस्ट था, परन्तु भौतिक दृष्टि से सब-कुछ होते हुए भी अनुभव करता था कि उसके पास वह वस्तु नहीं है जो जीवन में शक्ति ला देती है।

माण्डूक्योपनिषद

ओंकार की व्याख्या

मुण्डकोपनिषद् में कहा है—**'प्रणव: धनु: शर: हि आत्मा'**—अर्थात्, उपासना में प्रणव धनुष का काम करता है। योग दर्शन में कहा है—**'तस्य वाचक: प्रणव:'**—अर्थात्, परमात्मा का वाचक शब्द 'प्रणव' है, प्रणव अर्थात् ओंकार। ओंकार को 'अ', 'उ', 'म्'—इन तीन के कारण त्रि-मात्र कहा जाता है। ध्यान के लिये ओंकार के जप का उपदेश किया जाता है। केनोपनिषद् में कहा है कि इन्द्र, अग्नि तथा वायु को 'उमा' के द्वारा पता चला कि उनके सम्मुख जो यक्ष खड़ा था वह ब्रह्म था। विनोबा भावे लिखते हैं कि 'उमा' ओम् का ही रूपान्तर है। वह कैसे? अगर अ+उ+म् में 'अ' को स्त्रीलिंगी 'आ' बनाकर उ+म् के पीछे जोड़ दिया जाय, तो उ+म्+आ='उमा' बन जाता है। 'ओम्' ही यहूदियों, ईसाइयों तथा मुसलमानों में जाकर 'एमन' (Amen) या 'आमीन' बन गया है। इस 'ओम्' की इतनी महिमा क्यों है—इसी पर माण्डूक्योपनिषद् की रचना हुई है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है :

> **ओम् इति एतद् अक्षरम् इदम् सर्वम् तस्य उप-**
> **व्याख्यानम्। भूतं, भवद्, भविष्यत्—इति सर्वम् ओंकार:**
> **एव। यत् च अन्यत् त्रिकालातीतं तद् अपि ओंकार:**
> **एव ॥१॥**

'ओम्'—यह एक छोटा-सा अक्षर है—**'ओम् इति एतद् अक्षरम्'**। यह सब संसार उसी ओम् की छोटी-सी व्याख्या है—**'इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्'**। वर्तमान संसार ही नहीं—जो था, जो है, जो होगा—सब उसी की व्याख्या है—**'भूतं भवद् भविष्यत्'**—यह सब ओंकार ही

है—**'इति सर्वं ओंकार: एव'**। इतना ही नहीं कि भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्—यह सब ओंकार ही है, परन्तु अगर इन तीनों कालों से बाहर भी कुछ रह जाता है—**'यत् च अन्यत् त्रिकालातीतं'**—वह भी ओंकार ही है—**'तद् अपि ओंकार: एव'**।१।

उक्त वाक्य ओंकार की उपासना में कहे गये हैं। उपासना का जीवन में बड़ा महत्व है। उपासना जीवन को कैसे बल देती है? कल्पना कीजिये कि आपने जल-प्रवाह के लिये ट्यूब वेल लगाना है। ट्यूब वेल लगाने के लिये भूमि में नल ठोका जाता है, वहाँ तक उसे गाड़ा जाता है जहां प्रभूत जल-राशि है। परन्तु इतने से वह जल ऊपर नहीं आ जाता। पहले थोड़ा-सा जल ऊपर से डाला जाता है जो वेकुअम को दूर कर भीतर के जल से मिल जाता है। इस प्रकार यह थोड़ा-सा जल भीतर जाकर जल के स्रोत को बाहर खींच लाता है, फिर धारा-प्रवाह जल बहने लगता है। इसी प्रकार ओंकार की उपासना का थोड़ा-सा जल भीतर भरे आतमानन्द के अथाह जल-प्रवाह में डाल देने से अन्दर का झरना ऊपर उठ कर जीवन की नदी में बहने लगता है। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर माण्डूक्योपनिषद् ने ओंकार की उपासना का ध्येय सामने रखा है।

माण्डूक्योपनिषद् की ओंकारोपासना के सम्बन्ध में उक्त उक्ति में तीन बातें कही गई हैं। पहली यह कि 'ओम्'—यह पद तो एक अक्षर ही है, परन्तु इसका इतना महत्त्व है कि इसी में सारा विश्व समा जाता है; दूसरी यह कि यह विश्व ओंकार ही है, तीसरी यह कि वर्तमान-भूत-भविष्यत् से बाहर भी अगर कुछ बच रहता है, तो वह भी ओम् ही है। इन तीनों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। आइये, इसपर चर्चा करें:

पहली बात—ओंकार का महत्त्व

(क) ओम् का महत्त्व—ओम् का भारतीय अध्यात्म-शास्त्र में बड़ा महत्त्व रहा है, और है। जिस समय संसार में अध्यात्म की शिक्षा भारत से जाती थी उस समय जहाँ-जहाँ भारत का अध्यात्म फैला, वहाँ-वहाँ यहीं की अध्यात्म-ज्योति को सब ने लिया। बायबल में पहले अध्याय—'जेनेसिस'—में लिखा है—The word was with God, the word was God. इसका यह अर्थ है कि अक्षर (Word) परमात्मा के साथ था, अक्षर परमात्मा ही था। बायबल का यह वाक्य माण्डूक्यो-

पनिषद् के उक्त वाक्य—**'अक्षरं इदम् सर्वम्'**—इस पद-पाठ का शब्दशः अनुवाद है। यह 'अक्षरं', जिसे बायबल में ईश्वर कहा गया है, इसके लिये बायबल में 'लोगोस' (Logos)—इस ग्रीक शब्द का प्रयोग हुआ है। यहूदियों के परमात्मा को जिहोवा (Jehovah) कहा जाता है। जिहोवा के लिये ग्रीक भाषा में 'टेट्राग्रेमेटोन'-शब्द (Tetragrammaton) का प्रयोग हुआ है। टेट्राग्रेमेटोन का अर्थ है—चार (Tetra—चतुर) अक्षरों (Gram—शब्द) वाला। चार अक्षरों वाला—इस भाव को व्यक्त करने के लिये मांडूक्योपनिषद् (२) ने 'चतुष्पाद्'-शब्द का प्रयोग किया है जिसका चार (चतुष्) पाद (पाँव)—यह अर्थ बनता है। मांडूक्योपनिषद् (१८) ने 'चतुष्पाद्'-शब्द का प्रयोग ओंकार के लिये किया है जिसमें अ+उ+म्+अमात्र—ये चार मात्राएँ हैं। 'टेट्राग्रेमेटोन'-शब्द 'चतुष्पाद'-शब्द का ही अनुवाद है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि किसी समय ओंकार का इतना महत्त्व था कि यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों ने भी इस शब्द को अपने धर्म का अंग माना हुआ था। यह हम ऊपर लिख ही चुके हैं कि मुसलमानों का 'आमीन' तथा यहूदियों एवं ईसाइयों का 'एमन'—ये 'ओम्' के ही विकृत रूप हैं—तीनों में अक्षरों की समानता है।

उपनिषदों में जगह-जगह ओंकार को पर-ब्रह्म के ध्यान का महत्त्व-पूर्ण साधन माना गया है। उदाहरणार्थ, केन उपनिषद् (३-१२) में उमा ने इन्द्रादि को ब्रह्म का पता दिया। 'उमा', जैसा श्री विनोबा ने लिखा है, ओम् का ही स्त्रीलिंगी रूप है—'उ' और 'म्' के पीछे 'आ' लगा दिया गया है। कठोपनिषद् (१,२,१५-१७) में यमाचार्य ने नचिकेता को ब्रह्म-ज्ञान देते हुए कहा—**'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति ओम् इत्येतत्'**—समस्त वेद जिस अक्षर की घोषणा करते हैं, जो समस्त तपों का लक्ष्य है, जिसको पाने के लिये ऋषि-मुनि ब्रह्मचर्य करते हैं, वह अक्षर ओंकार ही है। प्रश्नोपनिषद् (५-१,५) में सत्यकाम अपने गुरु से पूछता है कि मृत्यु काल तक लगातार प्रणव का ध्यान करने से क्या गति होती है—**'सः यः ह वा एतद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तं ओंकारं अभिध्यायीत कतमं वाव सः तेन लोकं जयति'**। गुरु ने उत्तर दिया—जो पर है, जो अपर है वह ओंकार ब्रह्म ही है—**'एतद् वै सत्यकाम परं च अपरं च ब्रह्म यत् ओंकारः'**। मुंडकोपनिषद् (२-२,३,४) में कहा है—'प्रणव' धनु है, शर आत्मा है—**'प्रणवः धनः शरः हि आत्मा'**। श्वेताश्वतर

(१-१४) में लिखा है—**'स्व देहं अरणिं कृत्वा प्रणवं च उत्तर अरणिम्'** —अपने शरीर को नीचे की अरणि समझ कर, प्रणव को ऊपर की अरणि समझ कर दोनों को ध्यान की रगड़ से मथे तो छिपी हुई ब्रह्माग्नि प्रकट हो जाती है।

(ख) ओंकार के महत्त्व का कारण—वैसे तो 'ओं' एक शब्द-मात्र है, 'ओं' की जगह किसी अन्य शब्द का भी ध्यान साधने के लिये उपयोग हो सकता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषियों का इस शब्द को चुनने में कोई विशेष अभिप्राय था। वह अभिप्राय क्या था? वे लोग ध्यान के लिये किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहते थे जो जीवन के साथ जुड़ा हुआ हो, जीवन के साथ जुड़ा होने के कारण ध्यान के लिये स्वाभाविक हो। इस सिलसिले में ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में 'ओं' ही एक ऐसा शब्द था। उसका एक कारण है।

हम जब साँस लेते हैं, तब एक साँस भीतर जाता है, एक बाहर आता है। जो साँस भीतर जाता है उसमें **'सो'** की ध्वनि होती है, जब बाहर आता है उसमें **'हम्'** की ध्वनि होती है। इस बात को हर-कोई व्यक्ति साँस लेते-छोड़ते आजमा सकता है। हमारे श्वास-प्रश्वास में **'सो-हम्'** की ध्वनि प्रकृति-प्रदत्त है। यही **'सोऽहम्'** उपनिषदों में यत्र-तत्र बिखरा मिलता है। इसी शब्द में से **'स'** और 'ह' को निकाल दिया जाय, तो **'ओं'** रह जाता है। ध्यान के लिये ध्वनि जितनी छोटी हो उतना ही ध्यान टिकना आसान हो जाता है। यही कारण है कि उपनिषदों ने ध्यान के लिये 'ओम्'-शब्द को अपनाया है। ध्यान का प्राणायाम के साथ विशेष सम्बन्ध है—प्राणायाम में साँस भीतर लेने पर **'सो'**-ध्वनि होती है, बाहर फेंकने पर **'हम्'**-ध्वनि होती है, इसी ध्वनि के आधार पर 'ओम्'-शब्द बना है। प्राणायाम में श्वास का अन्दर लेना तथा बाहर फेंकना अनजाने 'ओम्' की ध्वनि का होना है, जो 'सोऽहम्' का संक्षिप्त रूप है।

(ग) परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी का ओंकार के साथ सम्बन्ध—ओंकार का सम्बन्ध बाणी के चार स्तरों से भी है। ऋग्वेद (१, १६४, ५४) में निम्न मन्त्र पाया जाता है—

> **चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुः ब्राह्मणाः ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचः मनुष्याः वदन्ति॥**

अर्थात्, वाणी के चार नपे-तुले पद हैं जिन्हें मनीषी ब्राह्मण जानते हैं। उनमें से तीन गुहा में निहित हैं, बोले तो जाते हैं परन्तु अपने भीतर-भीतर की गुहा में बोले जाते हैं, तुरीय अर्थात् चौथी वाणी हम सब लोग बोलते हैं।

महाभाष्यकार पंतजलि मुनि ने वाणी के इन चार पदों के नाम इस प्रकार दिये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी। प्रश्न हो सकता है कि ये चार पद क्या हैं? इनका वर्णन हमने अपने ग्रन्थ **'वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार'** (पृ० ११७) में दिया है जहाँ से उद्धरण लेकर हम नीचे दे रहे हैं—

(१) **चेतना के 'बैखरी'-स्तर में ओंकार का जाप**—ध्यान के विज्ञान के अनुसार वाणी से जप करना ध्यान-साधन की प्रथम प्रक्रिया है। जब हम वाणी द्वारा जप करते हैं—बोल कर—तब सब तरफ़ से ध्यान खिंच कर जप में आ टिकता है, हमारी चेतना जप में केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार उच्चारण द्वारा चेतना का एक शब्द में—ओंकार के जप में—केन्द्रित हो जाना चेतना का बैखरी-स्तर कहलाता है। यह वह स्तर है जहाँ चेतना बिखरी रहा करती है, जहाँ 'ओ३म्' के जप के साधन से उसे मानो बाँध लिया जाता है।

(२) **चेतना के 'मध्यमा'-स्तर में ओंकार का जाप**—बैखरी-वाणी चेतना का सबसे ऊपरी स्तर है। उसके बाद उच्च-स्वर में ओंकार का उच्चारण करने के स्थान में ओंकार का भीतरी-ध्यान चलता है। इस द्वितीय अवस्था में ओंकार को ज़ोर-ज़ोर से नहीं जपा जाता, होंठों द्वारा उच्चारण नहीं किया जाता, कंठ में ध्वनि भीतर-ही-भीतर होती है जो सुनी नहीं जा सकती। इसमें होंठ नहीं हिलते। चेतना में जप की यह मध्यमा-स्थिति है क्योंकि इसमें उच्चारण-पूर्वक जाप जपा नहीं जाता, मन के द्वारा कण्ठ तथा तालु के भीतर ही जाप रहता है। इसे मध्यमा-स्तर इसलिये कहते हैं क्योंकि यह अन्य स्तरों के मध्य में आता है। चेतना के क्षेत्र में ज्यों-ज्यों हम आगे चलते हैं, त्यों-त्यों चेतना की गहराई में उतरते जाते हैं। जो चेतना वाह्य-संसार से घिरी पड़ी है, उसके बाहर के पर्दों को चीर कर साधक चेतना के निकट आने लगता है। कौन चेतना के निकट, बाहर से भीतर जाता है? कोई दूसरा नहीं, हमीं जो बैखरी में बिखरे पड़े थे, ओंकार के मानसिक-जाप द्वारा अपने-आप में सिमटने लगते हैं, आत्म-चेतना के निकट होने लगते हैं।

(३) **चेतना के 'पश्यन्ती'-स्तर में ओंकार का जाप**—मध्यमा के बाद चेतना का 'पश्यन्ती'-स्तर आता है। 'पश्यन्ती'-स्तर वह है जिसमें हम ओंकार का न तो मुख से उच्चारण करते हैं, न मन में उसे दोहराते हैं; इस स्तर में पहुँच कर ओंकार हमारे लिये दृश्य रूप धारण कर लेता है। दृश्य का यह अर्थ नहीं है कि स्थूल रूप में ओंकार आँखों से दीखने लगे, इसका यह अर्थ है कि हम इसी में समा जाते हैं, हमें इसके सिवाय और-कुछ सूझता ही नहीं, इतना समा जाते हैं मानो हमारे लिये इसका होना प्रत्यक्ष के समान हो जाता है, दीखने-सा लगता है। जिस प्रकार चिन्ता मन को पकड़ लेती है, न दीखती हुई भी दीखने से बढ़ कर हो जाती है, इसी प्रकार जब ओंकार भीतर समा जाता है तब वह चेतना के 'पश्यन्ती'-स्तर पर आ जाता है।

(४) **चेतना के 'परा'-स्तर में ओंकार का जाप**—चेतना की गहराई में उतरते-उतरते साधक ओंकार के जप के द्वारा चेतना के अन्तिम-स्तर तक पहुँच जाता है, तीनों स्तरों को लांघ कर अपने चेतन-स्वरूप में आ जाता है, ओंकारमय हो जाता है। अपने स्वरूप में आ जाना या ओंकारमय हो जाना एक ही बात है। इस स्तर में आकर जाप भी छूट जाता है। जाप तो एक सीढ़ी था, जब छत पर पहुँच गये तब सीढ़ी का काम नहीं रहता। यही चेतना की 'परा'-स्तर की अवस्था है, तुरीयावस्था है जिसका वर्णन मांडूक्योपनिषद् में किया गया है।

दूसरी बात—विश्व ही ओंकार है

उक्त ऋचा में पहली बात यह कही थी कि ओंकार का बड़ा महत्त्व है। उस पर हमने प्रकाश डाला। दूसरी बात यह कही कि यह सम्पूर्ण विश्व ओंकार ही का प्रसार है—**'इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानम्'**। यह सम्पूर्ण विश्व ओंकार का ही प्रसार कैसे है? जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, 'ओं' ब्रह्म का ही नाम है। विश्व ओंकार का ही प्रसार है—इसका यही अर्थ है कि विश्व ब्रह्म का ही फैलाव है। भारतीय चिन्तकों की यह खोज थी कि ब्रह्म को ढूँढ़ने कहीं और नहीं जाना, इस प्रत्यक्ष-विश्व में ही ब्रह्म को खोज निकालना है क्योंकि यह विश्व ब्रह्म का ही विस्तार है, विश्व में ब्रह्म न हो तो विश्व रह नहीं सकता। विश्व तथा ब्रह्म की एक-रूपता को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा जाता है। कहने को वे

भिन्न-भिन्न कहे जाते हैं, परन्तु उपनिषत्कार का कहना है कि इस विश्व में वही प्रसारित हो रहा है। उदाहरणार्थ, आग से तपा लोहे का गोला आग है या लोहे का गोला है ? उसे हम आग भी कह सकते हैं, लोहे का गोला भी कह सकते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि में सर्वत्र व्याप रहा है--कण-कण में वही है। इस दृष्टि से सृष्टि ब्रह्म है, ब्रह्म सृष्टि है—इसी भाव को सम्मुख रखते हुए उपनिषत्कार ने कहा—यह सब ओंकार ही है।

तीसरी बात—भूत, वर्तमान, भविष्यत् से जो बाहर है वह भी ओंकार ही है

इस ऋचा में तीसरी बात यह कही कि जो तीनों कालों से अतीत है—'**त्रिकालातीत**'—वह भी ओंकार ही है। क्या तीनों कालों से अतीत भी कुछ हो सकता है ? हाँ, हो सकता है। तीनों कालों का पृथक्-भाव सृष्टि के निर्माण के बाद होता है। सृष्टि बनी, सूर्य का निर्माण हुआ —भूत, वर्तमान, भविष्यत् के रूप में हर बात को जाना जाने लगा। परन्तु सृष्टि के निर्माण से पहले क्या था, उस समय जब सूर्य नहीं था, चन्द्र नहीं था, संवत्सर नहीं था, मास नहीं था, दिन नहीं था, रात नहीं थी, आज और कल नहीं था। वह अवस्था कालातीत-अवस्था है। इस दृष्टि से 'काल' तथा 'समय' में भेद है। जब 'काल' था तब समय नहीं था, जब समय है तब काल भी है। जब 'काल'-शब्द को 'समय' के लिये प्रयुक्त किया जाय, तब समय से जो पहले की अवस्था थी उसे उपनिषत्कार ने त्रिकालातीत अवस्था कहा है, वह अवस्था जब गत-काल भी नहीं था, वर्तमान-काल भी नहीं था, भविष्यत्-काल भी नहीं था। उस त्रिकालातीत अवस्था में भी ओंकार था क्योंकि ओंकार ब्रह्म का ही अपर-पर्याय है, ब्रह्म को ही उपनिषत्कार ने ओंकार कहा है।

अगर काल के चार पक्ष हैं तो ओंकार के, ब्रह्म के भी चार पक्ष होने चाहियें, चार दृष्टियों से उस पर विचार हो सकना चाहिये— इसी विचार को लेकर मुंडकोपनिषद् की दूसरी ऋचा में कहा है :

सर्वं हि एतद् ब्रह्म, अयं आत्मा ब्रह्म, सः अयं आत्मा चतुष्पात् ॥२॥

निश्चय से यह सब ब्रह्म है—'**सर्वं हि एतद् ब्रह्म**', यह आत्मा ब्रह्म है—'**अयं आत्मा ब्रह्म**', यह आत्मा चार पाद वाला है—''**अयं आत्मा चतुष्पाद्**' ।२।

'अयं आत्मा ब्रह्म'—इस उक्ति की व्याख्या करते हुए एक सन्त ने हमें कहा—"इस श्रुति का अर्थ है कि आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म की पृथक् सत्ता नहीं है, आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा में वह सब अगाध शक्ति है जो ब्रह्म की कही जा सकती है। ब्रह्म को किसने देखा, किसने जाना? आत्मा को तो सब जानते हैं। वही आत्मा ब्रह्म है। आत्मा में कौन-सी शक्ति नहीं है? बड़े-बड़े वैज्ञानिक जो आविष्कार करते हैं अपने भीतर से ही करते हैं। जितना अन्दर जाते हैं उतना ही उनका ध्यान भीतर केन्द्रित होता है, और भीतर से ही अव्यक्त ज्ञान को बाहर व्यक्त करते हैं। आइन्स्टीन ने जो जाना भीतर से ही जाना। हम बाहर बिखरे फिरते हैं, बाहर से भीतर जायें तो ब्रह्म-शक्ति का अगाध स्रोत भीतर ही विद्यमान है, इसलिये 'यह आत्मा ही ब्रह्म है'—**'अयं आत्मा ब्रह्म'**—यह उक्ति यथार्थ सत्य है।"

ओंकार का ज़िक्र करते-करते इस वाक्य में आत्मा का ज़िक्र शुरू कर दिया है, आत्मा को ब्रह्म कह दिया गया है, आत्मा और ब्रह्म के चार पाद हैं—यह भी कह दिया है। अभिप्राय यह हुआ कि क्योंकि ओंकार ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्म है, ओंकार तथा आत्मा के चार पाद हैं, इसलिये ओंकार, आत्मा तथा ब्रह्म—इन तीनों के चार पाद हैं जिनका वर्णन आगे की ऋचाओं में किया गया है। इन तीनों के जो चार पाद हैं वे हैं: **'जाग्रत्', 'स्वप्न', 'सुषुप्ति' तथा 'तुरीय'**। ये चारों ओंकार के भी हैं, आत्मा के भी हैं, ब्रह्म के भी हैं। माण्डूकोपनिषद् में पहले (३-७) आत्मा तथा ब्रह्म के विषय में चर्चा की गई है, फिर (८-१२) ओंकार की चार मात्राओं के विषय में चर्चा की गई है।

जागरित स्थानः, बहिः प्रज्ञः, सप्तांगः, एकोनविंशतिमुखः,
स्थूलभुक्, वैश्वानरः, प्रथमः पादः ॥३॥

(क) आत्म-ज्ञान का प्रथम-पाद—आत्मा का जब जाग्रत् स्थान होता है—**'जागरित स्थानः'**, तब वह बहिःप्रज्ञ होता है—**'बहिःप्रज्ञः'**—अर्थात्, तब उसके ज्ञान की उपकरण बुद्धि बाहर के विषयों की तरफ़ दौड़ रही होती है। उस समय वह सात अंगों के द्वारा जीवन-यापन कर रहा होता है—**'सप्तांगः'**। ये सात अंग हैं—सिर, आँख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय तथा पैर। इस जीवन-यापन में उसके १९ मुख हैं जिनसे वह संसार के भोग भोगता है। वे उन्नीस मुख हैं—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ प्राण—उपभोग के ये १५ बाह्य-साधन तथा

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—उपभोग के ये ४ अन्तःसाधन, कुल मिलाकर १९ मुख—**'एकोनविंशति मुखः'**। आत्मा का जब जाग्रत्-स्थान होता है, तब वह अपने उपकरणों से स्थूल-संसार का उपभोग करता है—रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि स्थूल-जगत् का आनन्द लेता है—**'स्थूलभुक्'**। जब आत्मा जाग्रत्-स्थान में होता है तब इसे भिन्न-भिन्न नर-नारियों के रूप में देखा जा सकता है—**'वैश्वानरः'**। यह आत्मा का प्रथम पाद है—**'प्रथमः पादः'**।३।

उक्त श्रुति में आत्मा को शरीर से अलग देखा गया है। शरीर में जो भी चेतना है वह आत्मा के कारण है। आत्मा जाग्रत्-स्थान में जब होता है, अर्थात् जब शरीर के उपकरणों को लेकर वह बाह्य-जगत् का उपभोग कर रहा होता है, तब आत्मा का जाग्रत्-**स्थान** होता है, शरीर की जाग्रत्-**अवस्था** होती है। उस समय शरीर में वर्तमान प्रज्ञा, शरीर के सातों अंग, शरीर के भोग-साधन १९ मुख, संसार के सब स्थूल उपभोग और भिन्न-भिन्न शरीरों में वर्तमान नर-नारी आत्मा को बाह्य-जगत् का नज़ारा दिखाते हैं। समझने की बात यह है कि **आत्मा** का तो सिर्फ़ जाग्रत्-स्थान होता है, आत्मा के **जाग्रत्-स्थान** में आते ही **शरीर** की **जाग्रत्-अवस्था** हो जाती है—जागती हालत में जैसा व्यवहार करना चाहिये, शरीर वैसा व्यवहार करने लगता है।

(ख) **ब्रह्म-ज्ञान का प्रथम-पाद**—जैसे आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध है, वैसे ब्रह्म का विश्व के साथ सम्बन्ध है। जैसे आत्मा शरीर के जाग्रत्-स्थान में जब आ बैठता है, अर्थात् अपनी चेतन-शक्ति से शरीर को क्रियाशील बना देता है, तब शरीर की जो अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था विश्व की हो जाती है जब ब्रह्म विश्व में अपनी चेतन-शक्ति का संचार करते हुए विश्व के जाग्रत्-स्थान में आ बैठता है, अर्थात् विश्व में क्रियाशील हो जाता है। विश्व की उस अवस्था को भी **'जागरित स्थानः'** कहा है—अर्थात्, ब्रह्म ब्रह्मांड के जाग्रत्-स्थान में क्रियाशील है। ब्रह्म सृष्टि के जाग्रत्-स्थान में क्रियाशील होने का यह अर्थ है कि सृष्टि का जो चक्र चलता दीखता है, सूर्य-चन्द्र-तारे अपनी-अपनी परिधि में घूम रहे हैं, ऋतुएँ आती हैं, जाती हैं—**प्रकृति** का यह रूप उसकी **जाग्रत्-अवस्था** है, **ब्रह्म** का यह रूप उसका **जाग्रत्-स्थान** है। इस समय ब्रह्म **'बहिः प्रज्ञः'** होता है, अर्थात् इस समय बाहर का संसार उसकी प्रज्ञा का विषय होता है। प्रथम पाद में जैसे आत्मा के

सात अंग हैं—सिर, आँख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय तथा पाँव, वैसे ब्रह्म के भी जाग्रत्-स्थान में सात अंग हैं—अग्नि सिर है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं, वेद (ज्ञान) वाणी है, वायु फेफड़े हैं, विश्व हृदय है, पृथिवी पाँव हैं—**'सप्तांगः'**। जैसे आत्मा संसार को ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों, ५ प्राणों तथा ४ अन्तःकरणों से भोगता है, वैसे ब्रह्म भी सम्पूर्ण प्राणियों के इन १९ मुखों से जाग्रत्-स्थान में बैठ कर स्थूल-जगत् का भोग करता है, इसलिये आत्मा की तरह ब्रह्म को भी **'एकोनविंशति मुखः'** तथा **'स्थूलभुक्'** कह दिया है। आत्मा व्यष्टि-रूप में भिन्न-भिन्न नर-नारियों की शक्ल में मौजूद है, ब्रह्म समष्टि-रूप में भिन्न-भिन्न नर-नारियों की शक्ल में मौजूद है, इसलिये जैसे आत्मा वैश्वानर है, वैसे ब्रह्म भी **'वैश्वानरः'** है। जैसे शरीर की जाग्रत्-अवस्था आत्मा का जाग्रत्-स्थान है, वैसे ही प्रकृति की विकृति के रूप में जाग्रत्-अवस्था ब्रह्म का जाग्रत्-स्थान है। इसे उपनिषद् के ऋषि ने आत्मा तथा परमात्मा का प्रथम-पाद कहा है—आत्मा तथा परमात्मा की जागने में एक झलकी बतलाया है।३।

स्वप्नस्थानः, अन्तः प्रज्ञः, सप्तांगः, एकोनविंशतिमुखः,
प्रविविक्तभुक्, तैजसः, द्वितीयः पादः ॥४॥

(क) **आत्म-ज्ञान का द्वितीय-पाद**—आत्मा का जब स्वप्न-स्थान होता है—**'स्वप्नस्थानः'**, तब वह अन्तःप्रज्ञ हो जाता है—**'अन्तः प्रज्ञः'**—अर्थात् तब वह बाहर से हटकर अपने भीतर चला जाता है। जाग्रत् अथवा बहिः प्रज्ञावस्था में वह अपने 'सप्तांग'-शरीर से—सिर, आँख, कान, वाणी, फेफड़े, हृदय तथा पाँव से–'एकोनविंशति-मुख' से–अर्थात्, भोग के साधन १९ उपकरणों से—संसार का भोग करता था, स्वप्नावस्था में—अर्थात्, जब वह अन्तःप्रज्ञ हो जाता है तब भी उसके 'सप्तांग-शरीर' तथा 'एकोनविंशति-मुख' वैसे ही बने रहते हैं, भेद इतना आ जाता है कि जहाँ जाग्रत्-स्थान में बैठकर आत्मा स्थूल-शरीर से और स्थूल-इन्द्रियों से भोग करता था, वहाँ स्वप्न-स्थान में आकर सूक्ष्म-शरीर से और सूक्ष्म-शरीर की इन्द्रियों से भोग करता है। यह भोग स्थूल-जगत् का भोग नहीं है, विचारमय-जगत् का भोग है, विवेचन के जगत् का भोग है, इसलिये अन्तः प्रज्ञावस्था में आत्मा को **'सप्तांगः'**—**'एकोनविंशति मुखः'** कहने के साथ-साथ **'प्रविविक्तभुक्'** कहा है।

इस अवस्था में वाह्य-संसार विचार के संसार में आ बैठता है जहाँ यह बिना खाये खाता है, बिना पीये पीता है, बिना आँख खोले देखता है, बिना कान के सुनता है। इस अवस्था में स्थूल-इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, परन्तु सूक्ष्म-रूप में उनका काम चलता है। आत्मा के स्थूल-शरीर को जो नाना नर-नारियों में दीखता है, **'वैश्वानर'** कहा है, सूक्ष्म-शरीर को **'तैजसः'** कहा है क्योंकि इसी के तेज या प्रताप से स्थूल-शरीर क्रिया-शील रहता है। वास्तव में ये शरीर आत्मा के नहीं हैं, आत्मा तो अशरीरी है, परन्तु इन शरीरों में क्रिया करने के कारण, आत्मा के साधन, अर्थात् उपकरण होने के कारण, ये सब आत्मा के शरीर कह दिये गये हैं। जाग्रत्-स्वप्न आदि अवस्थाएँ शरीर की हैं, परन्तु क्योंकि इनमें आत्मा स्थान बना लेता है इसलिये इनको आत्मा के साथ सम्बद्ध मान लिया गया है।

(ख) **ब्रह्म-ज्ञान का द्वितीय-पाद**—जैसे आत्मा का जाग्रत्-स्थान से हट जाने तथा स्वप्न में आ जाने पर स्वप्न-स्थान है, वैसे ब्रह्म का कार्य-रूप सृष्टि से हट कर कारण-रूप सृष्टि में क्रिया करने को स्वप्न-स्थान कहा गया है—**'स्वप्न स्थानः'**। जब ब्रह्म स्वप्न-स्थान में होता है, तब सम्पूर्ण स्थूल-सृष्टि सूक्ष्म-रूप में उसके विचार में होती है—**'अन्तः प्रज्ञः'**। अग्नि, सूर्य-चन्द्र, दिशाएँ, वेद (ज्ञान), वायु, विश्व, पृथिवी—ये सातों अंग जैसे स्थूल-जगत् में ब्रह्म के अंग हैं, वैसे बीज-रूप में भी वे ब्रह्म के अंग हैं—इन सातों के कारण ब्रह्म को भी **'सप्तांगः'** —सप्तांग कहा गया है। प्राणियों के १९ मुख—ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण आदि—जैसे स्थूल-जगत् में आत्मा के व्यष्टि-रूप में साधन हैं, एक-एक व्यक्ति के उपकरण हैं, वैसे ही समष्टि-रूप में ये सब मिल कर सूक्ष्म-जगत् में ब्रह्म के भी उपकरण हैं। तभी ब्रह्म का वर्णन करते हुए वेद में कहा है—**'सहस्र शीर्षाः सहस्राक्षः सहस्रपाद्'**। इसी भाव को सम्मुख रखकर ब्रह्म के स्वप्न-रूप सूक्ष्म-जगत्—अर्थात्, द्वितीय-पाद का वर्णन करते हुए उसे **'एकोनविंशति मुखः'** कहा है—समष्टि-रूप मुख उसी के १९ मुख हैं। जैसे मकान बनाने वाला मकान बनाने से पहले सम्पूर्ण रचना को मन में बना लेता है, ईंट-पत्थर का मकान बनाने से पहले नक्शे का मकान, विचार का मकान मानो बन चुका होता है, मकान बनानेवाला अपने विचार में ही बने मकान का आनन्द भोग चुका होता है, वैसे ही ब्रह्म संसार की स्थूल-रचना करने

से पूर्व स्वप्न-स्थान में, अर्थात् अपने विचार में, विवेक में, बिना विश्व की रचना किये विश्व-रचना का आनन्द भोग लेता है, इसीलिए उसे द्वितीय-पाद में **'प्रविविक्तभुक्'** कहा है। स्वप्न-स्थान में आत्मा का सूक्ष्म-शरीर तैजस—तेज से बना—कहा गया है, स्वप्न-स्थान में ब्रह्म का भी तैजस शरीर है—**'तैजसः'**, जिसे वेद ने हिरण्यगर्भ कहा है—**'हिरण्यगर्भः समवर्तत अग्रे'**। सृष्टि के प्रारम्भ में जब सृष्टि कार्यावस्था में नहीं आयी थी, साम्यावस्था से तो आगे चल पड़ी थी परन्तु अभी मुख्य रूप से कारणावस्था में ही थी, उस समय सब से पहले सृष्टि का रूप **'हिरण्य-गर्भ'** था। कारणावस्था में सृष्टि का जो रूप था उसी का नाम हिरण्य-गर्भ है। यह हिरण्य-गर्भ तेजोमय पिंड था जिसे वर्तमान विज्ञान में 'नेब्यूला' (Nebula) कहा जाता है। इसी का नाम महान्, अहंकार, पंचतन्मात्र है, यही ब्रह्म का स्वप्नावस्था का तैजस-शरीर है। स्वप्न-स्थान के इस 'अन्तः प्रज्ञ', 'सप्तांग', 'एकोनविंशति मुख', 'प्रविविक्तमुक्', 'तैजस' ब्रह्म का बखान उसके द्वितीय-पाद का, दूसरे-चतुर्थांश का वर्णन है।४।

> **यत्र सुप्तः न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थानः, एकीभूतः प्रज्ञानघनः एव आनन्दमयः। हि आनन्दभुक्, चेतोमुखः, प्राज्ञः, तृतीयः पादः ॥५॥**

(क) **आत्म-ज्ञान का तृतीय-पाद**—आत्मा का तृतीय-पाद, तृतीय-स्थान क्या है? सोता-सोता जहाँ पहुंच कर—**'यत्र सुप्तः'**, न किसी काम की कामना होती है—**'न कंचन कामं कामयते'**, न यह किसी प्रकार का स्वप्न देखता है—**'न कंचन स्वप्नं पश्यति'**, शरीर की ऐसी अवस्था हो जाना आत्मा का सुषुप्त-स्थान है—**'तत् सुषुप्तम्'**। जब आत्मा सुषुप्त-स्थान में आ जाता है तब शरीर की सुषुप्तावस्था हो जाती है—**'सुषुप्तस्थानः'**, तब आत्मा जाग्रत्-अवस्था की तरह अपनी शक्तियों को विषयों में बाहर बखेरने के स्थान में अपने भीतर खींच लेता है, अपनी शक्ति को एक केन्द्र में समेट लेता है—**'एकीभूतः'**, मानो अपने को शरीर से अलग-सा कर लेता है, तब आत्मा ज्ञान की घनावस्था में पहुंच जाता है, ज्ञानमय हो जाता है—**'प्रज्ञानघनः'**, और तब प्रज्ञान की घनावस्था में पहुँच कर आनन्द से विभोर हो जाता है—**'आनन्द-मयः'**। इस तरह जब वह शरीर से अलग होकर अपने-आप में आ

जाता है तब निश्चय रूप से स्वरूप-स्थिति का आनन्द भोगता है, **'हि आनन्दभुक्'**, तब उसका मुख़ शरीर की तरफ़ न रह कर चेतना की तरफ़ हो जाता है—**'चेतोमुखः'**, तब वह ज्ञान में डूब जाता है—**'प्राज्ञः'**। जब आत्मा शरीर के बिल्कुल सो जाने पर अपने-आप में स्थित हो जाता है, शरीर का ज्ञान हर तरह से छूट जाता है, तब सोकर उठने पर जिस आनन्द की अनुभूति बनी रहती है, वह आत्म-ज्ञान का तीसरा पाद है, वह आत्म-ज्ञान के तीसरे-चतुर्थांश की अनुभूति है।

(ख) **ब्रह्म-ज्ञान का तृतीय-पाद**—जैसे आत्मा शरीर की जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं में जहाँ-जहाँ अपना स्थान बना लेता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ अपनी क्रियाशीलता प्रारम्भ कर देता है, वहाँ-वहाँ उसका ज्ञान होता है, वैसे ही ब्रह्म सृष्टि की स्थूल-अवस्था में, सूक्ष्म-अवस्था में, कारणावस्था में जहाँ-जहाँ क्रिया करता है, वहाँ-वहाँ मानो उसका स्थान है, वहाँ-वहाँ उसका हमें ज्ञान होता है। प्रकृति की स्थूल-सूक्ष्म-कारण अवस्थाएँ अपने-आप में तो जड़ हैं, वहाँ जो भी निर्माण का कार्य हो रहा है, वह ब्रह्म-शक्ति के कारण ही हो रहा है। इसीलिये शरीर तथा आत्मा के उदाहरण को लक्ष्य में रखकर ब्रह्म-ज्ञान की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए उपनिषत्कार का कहना है कि प्रकृति की जिस अवस्था पर पहुँच कर ब्रह्म-शक्ति मानो सोई-सी हो जाती है—**'यत्र सुप्तः'**, जहाँ पहुँच कर ब्रह्म प्रकृति में न कोई कामना करता दिखलाई देता है—**'न कंचन कामं कामयते'**, न कोई विचार करता-सा प्रतीत होता है—**'न कंचन स्वप्नं पश्यति'**, वह प्रकृति की सुषुप्तावस्था तथा ब्रह्म का सुषुप्त-स्थान है—**'तत् सुषुप्तम्'**। जब ब्रह्म सुषुप्त-स्थान में आ जाता है, जब ऐसा प्रतीत होता है कि वह कुछ कर नहीं रहा, सृष्टि व्यक्त रूप में न होने के कारण ऐसा जान पड़ता है कि उसके करने को कुछ नहीं है, तब उसका सुषुप्त-स्थान है—**'सुषुप्त-स्थानः'**, तब ब्रह्म अपनी शक्ति को सृष्टि के निर्माण में न लगा कर अपने-आप में आ जाता है—**'एकीभूतः'**, सृष्टि के विविध रूप में न प्रकट होकर अपने स्वरूप में आ जाता है। उसका वह स्थान प्रगाढ़ ज्ञान का स्थान है—**'प्रज्ञानघनः'**, क्योंकि उसका स्वरूप ही सर्वज्ञता है, उसका रूप अखण्ड आनन्द का रूप है—**'एव आनन्दमयः'**—क्योंकि उसका स्वरूप ही आनन्दमय है। उस समय ब्रह्म आनन्द-ही-आनन्द का उपभोग करता है—**'हि आनन्दभुक्'**, तब वह अपने चेतन-स्वरूप

में होता है—**'चेतोमुखः'**। उस अवस्था में वह ज्ञानमय होता है—**'प्राज्ञः'**। यह ब्रह्म-ज्ञान का तृतीय-पाद है, तीसरे-चतुर्थांश का वर्णन है।५।

एषः सर्वेश्वरः, एषः सर्वज्ञः, एषः अन्तर्यामी,
एषः योनिः सर्वस्य, प्रभव अप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

ब्रह्म के जिस तृतीय-पाद का अभी बखान किया उसका विस्तार करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीन स्थानों में निवास करने वाले जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है वही सर्वेश्वर है–**'एषः सर्वेश्वरः'**, वही सर्वज्ञ है–**'एषः सर्वज्ञः'**, वही अन्तर्यामी है—**'एषः अन्तर्यामी'**, वही सब को उत्पन्न करने वाला है—**'एषः योनिः सर्वस्य'**, सब भूतों की उत्पत्ति तथा प्रलय का वही कारण है—**'प्रभव-अप्ययौ हि भूतानाम्'**। इन तीन स्थानों में रहने वाला ब्रह्म सगुण ब्रह्म है, और इन तीनों स्थानों में विचरने वाला आत्मा भी सगुण आत्मा है।६।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में आत्मा तथा ब्रह्म का जो ज्ञान होता है, जिन्हें प्रथम-द्वितीय-तृतीय पाद कहा गया है—ये आत्मा तथा ब्रह्म के सगुण रूप हैं, वे रूप हैं जिन्हें हम जानते हैं या जान सकते हैं, परन्तु इन तीन सगुण रूपों के अतिरिक्त आत्मा तथा ब्रह्म का एक निर्गुण रूप है, चतुर्थ रूप, वह रूप जो हमारे ज्ञान की सीमा में नहीं आ सकता। इस निर्गुण, चतुर्थ-पाद का वर्णन करते हुए माण्डूक्योपनिषत्कार कहते हैं :

न अन्तः प्रज्ञं, न बहिः प्रज्ञं, न उभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञान-घनं, न प्रज्ञं, न अप्रज्ञम्। अदृश्यम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्म-प्रत्ययसारम्, प्रपंचोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते, सः आत्मा, सः विज्ञेयः ॥७॥

(ग) आत्म-ज्ञान तथा ब्रह्म-ज्ञान का चतुर्थ-पाद—आत्मा तथा ब्रह्म के ज्ञान के सम्बन्ध में, उनके क्रमशः शरीर तथा प्रकृति में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की अवस्थाओं में व्यक्त होने की प्रक्रिया को हमने आत्मा तथा ब्रह्म का सगुण-ज्ञान कहा है। परन्तु तत्वतः तो ये निर्गुण हैं, आत्मा भी निर्गुण है, ब्रह्म भी निर्गुण है। आत्मा के निर्गुणत्व की चर्चा करते हुए माण्डूक्योपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि आत्मा न अन्तः प्रज्ञ

है, न बहिः प्रज्ञ है—**'न अन्तः प्रज्ञं, न बहिः प्रज्ञं'**, न उभयप्रज्ञ है—**'न उभयतः प्रज्ञं'**, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है—**'न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, न अप्रज्ञं'**। आत्मा न दृश्य है, न व्यवहार्य है, न ग्राह्य है-- **'अदृश्यं, अव्यवहार्यं, अग्राह्यम्'**; न उसका लक्षण किया जा सकता है, न चिन्तन किया जा सकता है, न वाणी से उसे बताया जा सकता है —**'अलक्षणं, अचिन्त्यं, अव्यपदेश्यम्'**; वह अपने-आप में एक है—यही उसके ज्ञान का सार है—**'एकात्म-प्रत्यय-सारम्**; उसके जान लेने से संसार का सब प्रपंच शान्त हो जाता है, उस प्रपंच से व्यक्ति उद्विग्न नहीं होता—**'प्रपंचोपशमम्'**; वह शान्त है—**'शान्तं'**; शिव है, कल्याण-मय है—**'शिवं'**; उस जैसा दूसरा कोई नहीं है—**'अद्वैतम्'**। यह आत्मा का निर्गुण रूप है, यह चतुर्थ-पाद है—**'चतुर्थं मन्यन्ते'**; यही आत्मा का शुद्ध रूप है जिसे जानना चाहिये—**'सः आत्मा, सः विज्ञेयः'**। उप-निषत्कार ने इन वाक्यों में जो-कुछ कहा है वह आत्मा तथा ब्रह्म दोनों पर ही एक-समान घटता है क्योंकि तत्वतः आत्मा भी निर्गुण है, ब्रह्म भी निर्गुण है। शरीर के कारण आत्मा तथा प्रकृति के कारण ब्रह्म **जाग्रत्** में 'बहिः प्रज्ञ', 'सप्तांग', 'एकोनविंशति-मुख', 'स्थूलभुक्', 'वैश्वानर'; **स्वप्न** में 'अन्तः प्रज्ञ', 'प्रविविक्तभुक्', 'तैजस'; **सुषुप्ति** में 'अकाम', 'निःस्वप्न', 'एकीभूत', 'प्रज्ञानघन', 'आनन्दमय', 'आनन्द-भुक्', 'चेतोमुख' कहाते हैं, परन्तु अपने यथार्थ रूप में आत्मा तथा ब्रह्म न बहिःप्रज्ञ हैं, न अन्तः प्रज्ञ हैं, न उभयप्रज्ञ हैं, न प्रज्ञानघन हैं, न प्रज्ञ हैं, न अप्रज्ञ हैं, न दृश्य हैं, न व्यवहार्य हैं, न ग्राह्य हैं, न उनका लक्षण हो सकता है, न वे विचार-कोटि में आ सकते हैं, न उनका वाणी से बखान किया जा सकता है। इस नकारात्मकता के अतिरिक्त उनके विषय में सकारा-त्मक बात यही कही जा सकती है कि उनका अपने स्वरूप में ही भान हो सकता है, उनके ज्ञान से संसार का प्रपंच लीन हो जाता है, वे स्वभाव से शान्तिस्वरूप हैं, कल्याणमय हैं—सब का कल्याण करते हैं, उनके समान दूसरा कोई संसार में नहीं है। यही आत्मा तथा ब्रह्म का नकारात्मक (Negative) तथा सकारात्मक (Positive) रूप है--इसी रूप को जानना प्राणी का ध्येय है।७।

इस उपनिषद् का प्रारम्भ **'ओं इति एतद् अक्षरम्'**--इस वाक्य से हुआ है। अभी तक तो आत्मा तथा ब्रह्म के चार पादों का वर्णन हुआ, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय का वर्णन हुआ। अब आगे ऋषि चार

पादों के स्थान में प्रत्येक पाद के अक्षर, अर्थात् उसकी मात्रा का वर्णन करते हुए कहते हैं :

> **सः अयं आत्मा अध्यक्षरम्, ओंकारः अधिमात्रम्, पादाः मात्राः मात्राः च पादाः, अकारः उकारः मकारः इति ॥८॥**

आत्मा तथा ब्रह्म का अगर अक्षरों में वर्णन किया जाय—'**स अयं आत्मा अधि अक्षरम्**', तो उसे ओंकार कहते हैं—'**ओंकारः**'; मात्राओं में वर्णन किया जाय—'**अधि मात्रम्**', तब भी उसे '**ओंकार**' कहते हैं। अक्षर तथा मात्रा में कोई भेद नहीं है, अक्षर मात्रा है, मात्रा ही अक्षर है—'**पादाः मात्राः मात्राः पादाः**'। वे पाद वा अक्षर कौन-से हैं ? वे पाद या अक्षर हैं—अ, उ, म्—'**अकारः उकारः मकारः इति**'।८।

'**ओम्**' की अ, उ, म्—इन तीनों पादों या मात्राओं को शरीर **तथा प्रकृति** की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन **अवस्थाओं** (Conditions) **एवं आत्मा** तथा ब्रह्म के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन **स्थानों** (Locations) पर कैसे घटाया जा सकता है, इस पर विचार करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं :

> **जागरितस्थानः वैश्वानरः अकारः प्रथमा मात्रा, आप्तेः आदिमत्वात् वा, आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्, आदिः च भवति, यः एवं वेद ॥९॥**

'शरीर' (Body) में आत्मा, तथा 'प्रकृति' (Matter) में ब्रह्म के जाग्रत्-स्थान को, जिसे आत्मा तथा ब्रह्म का वैश्वानर-शरीर कहा गया था, ओंकार के 'अकार' से सूचित किया जाता है—'**जागरित स्थानः वैश्वानरः अकारः**'। इसे प्रथम-पाद या ओंकार की प्रथम-मात्रा भी कहा जाता है—'**प्रथमा मात्रा**'। क्योंकि इसकी उपासना से सब-कुछ प्राप्त हो जाता है इस कारण—'**आप्तेः**', या क्योंकि 'अ' सब अक्षरों का आदि है—'**आदिमत्वाद् वा**', इस कारण उपासक की सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं—'**आप्नोति ह वै सर्वान् कामान्**'। या ऐसा उपासक 'आदि', अर्थात् सब जगह आदि—मुख्य हो जाता है—'**आदिः च भवति**'। जो इस बात को जानता है, वह ओंकार की, जिसका आदि अक्षर 'अ' है, उपासना करता है—'**यः एवं वेद**'। ओंकार का आदि अक्षर 'अ' है, इसलिये उपासक को प्रेरणा देने के लिये यह फल बतला दिया है।९।

स्वप्नस्थानः तैजसः उकारः द्वितीयामात्रा, उत्कर्षात् उभयत्वात् वा उत्कर्षति ह वै। ज्ञान संतर्ति समानः च भवति, न अस्य अब्रह्मविद् कुले भवति, यः एवं वेद ॥१०॥

शरीर (Body) में आत्मा तथा प्रकृति (Matter) में ब्रह्म के **स्वप्न**-स्थान को, जिसे आत्मा तथा ब्रह्म का तैजस-शरीर कहा गया था, ओंकार के 'उकार' से सूचित किया जाता है—**'स्वप्नस्थानः तैजसः उकारः'**। इसे द्वितीय-पाद या ओंकार की द्वितीय-मात्रा भी कहा जाता है—**'द्वितीया मात्रा'**। उकार के कारण जो उपासक ओंकार की उपासना करता है उसका उत्कर्ष होता है—**'उत्कर्षात्'**। क्योंकि ओंकार में 'उ' पाया जाता है इसलिये ओंकारोपासक उभय-स्थिति प्राप्त करता है, 'उभय', —अर्थात् जहाँ दो पक्ष हों वहाँ उसकी उभय-स्थिति हो जाती है, दोनों पक्ष उसका आदर करते हैं—इसलिये भी उसका उत्कर्ष होता है—**'उभयत्वात् वा उत्कर्षति ह वै'**; उसका ज्ञान दोनों पक्षों के लिये एक-समान हो जाता हैं—**'ज्ञान संतर्ति समानः च भवति'**। ऐसे आत्मज्ञानी तथा ब्रह्मज्ञानी के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिसे आत्मा का तथा ब्रह्म का ज्ञान न हो। यहाँ भी ओंकार का द्वितीय अक्षर 'उ' है, इसलिये उपासक को ओंकारोपासना में प्रेरणा देने के लिये यह फल बतला दिया गया है कि ऐसे साधक का उत्कर्ष होता है—'उ' से उत्कर्ष को सूचित किया गया है—**'न अस्य अब्रह्म-वित् कुले भवति, यः एवं वेद'**।१०।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञः मकारः तृतीया मात्रा, मितेः अपीतेः वा मिनोति ह वा इदं सर्वं, अपीतिः भवति, यः एवं वेद ॥११॥

शरीर में आत्मा तथा प्रकृति में ब्रह्म के सुषुप्त-स्थान को, जिसे आत्मा तथा ब्रह्म का प्राज्ञ-शरीर कहा गया था, ओंकार के 'मकार' से सूचित किया जाता है—**'सुषुप्तस्थानः मकारः प्राज्ञः'**। 'म्' को तृतीय-पाद या ओंकार की तृतीय-मात्रा भी कहा जाता है—**'तृतीया मात्रा'**। मात्रा का अर्थ मापना है, यह 'मा मापने' धातु से बना शब्द है—**'मितेः'**। या, मकार को अपीति—'अपि+इति'—यह 'म्', वर्णमाला की इति है, अन्त है—'अपीतेः', इस प्रकार भी 'म्' को समझा जा सकता है। मकार से यह भी समझा जा सकता है कि ओंकार का 'म्' सम्पूर्ण

विश्व को माप रहा है—**'मिनोति ह वा इदं सर्वं'**, या यह कहा जा सकता है कि 'म्' अपीति है—'अपि+इति'—वर्णमाला का अन्त है—और जो 'इति'—अर्थात् अन्त को जान लेता है, वह प्रत्येक वस्तु का अन्त पा जाता है—**'अपीतिः भवति यः एवं वेद'** । यहाँ भी ओंकार का तृतीय अक्षर 'म्' है, इसलिये उपासक को ओंकारोपासना में प्रेरणा देने के लिये यह फल बतला दिया है कि ऐसा साधक विश्व का सब-कुछ माप लेता है—'ओम्' तथा 'मापना' दोनों में 'मकार' की समानता दिखा कर यह बात कही गई है।११।

अमात्रः चतुर्थः, अव्यवहार्यः, प्रपंचोपशमः, शिवः, अद्वैतः, एवं ओंकारः आत्मा एव, संविशति आत्मना आत्मानम्, यः एवं वेद, यः एवं वेद ॥१२॥

आत्मा तथा ब्रह्म का शरीर तथा प्रकृति में जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में ज्ञान होता है उसको इनके सगुण रूप का ज्ञान समझा जा सकता है। जाग्रत् में, आत्मा शरीर में दीखता है और ब्रह्म स्थूल-जगत् में दीखता है। शरीर में से आत्मा को खींच लिया जाय तो शरीर मट्टी रह जाता है, स्थूल-जगत् में से ब्रह्म को खींच लिया जाय तो जगत् भी मट्टी का ढेर रह जाता है, इनकी क्रियाशीलता इनके भीतर विद्यमान, इनके भीतर बैठे 'आत्म-तत्त्व' (Individual consciousness) तथा 'ब्रह्म-तत्व' (Universal Consciousness) के कारण ही है। आत्म-तत्त्व तथा ब्रह्म-तत्त्व अपने को इनके भीतर से अलग करते भी हैं। उदाहरणार्थ, शरीर तथा प्रकृति की स्वप्नावस्था तथा सुषुप्तावस्था में ये शरीर तथा प्रकृति से कुछ-कुछ अलग हो जाते हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति को यहाँ क्रमशः ओंकार का प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद कहा है। शरीर तथा प्रकृति की जाग्रत् अवस्था में इनको अनुप्राणित करने वाला तत्त्व—आत्मा तथा ब्रह्म—बिल्कुल इनमें घुला-मिला दीखता है, इनसे एकाकार हो जाता है, स्वप्नावस्था में यह तत्त्व कुछ-कुछ अलग हो जाता है, सुषुप्तावस्था में बहुत-कुछ अलग हो जाता है, परन्तु इन तीनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था है—तुरीयावस्था—जिसमें आत्मा शरीर से तथा ब्रह्म प्रकृति से सर्वथा अलग है, अपने स्वरूप में स्थित है। उस स्थिति को माण्डूक्योपनिषद् ने आत्मा तथा ब्रह्म की निर्गुण स्थिति कहा है, वह स्थिति 'अमात्र' स्थिति है, ऐसी स्थिति जो ओंकार के अ, उ, म्—इन तीनों मात्राओं को लाँघ जाती है, यह चतुर्थ

स्थिति है—**'अमात्रः चतुर्थः'**। यह चतुर्थ-स्थिति ही आत्मा तथा ब्रह्म का असली रूप है, परन्तु यह व्यवहार में आने वाला रूप नहीं है—**'अव्यवहार्यः'**। आत्मा तथा ब्रह्म को व्यवहार में देखना हो तो शरीर तथा प्रकृति में ही देखा जा सकता है, शरीर तथा प्रकृति के प्रपंच में ही देखा जा सकता है, इनके यथार्थ रूप में शरीर तथा प्रकृति का प्रपंच समाप्त हो जाता है—**'प्रपंच उपशमः'**। यह चतुर्थ-मात्रा ही आत्मा तथा ब्रह्म का शिव रूप है, कल्याणमय रूप है—**'शिवः'**, अद्वितीय रूप है—**'अद्वैतः'**। इस प्रकार ओंकार ही शरीर में आत्मा, तथा प्रकृति में ब्रह्म है—**'एवं ओंकारः आत्मा एव'**। वह व्यक्ति बाहर न भटक कर आत्म-ज्ञान द्वारा अन्तरात्मा में प्रवेश कर जाता है—**'संविशति आत्मना आत्मानम्।'**—जो ओंकार के इस रूप को जानता है, जो ओंकार के इस रूप को जानता है—**'यः एवं वेद, यः एवं वेद'**।१२।

उपसंहार

ओंकार के विषय में माण्डूक्योपनिषद् में जितनी गहराई से विवेचन किया गया है उतनी गहराई से अन्य किसी उपनिषद् में विवेचन नहीं किया गया। इस उपनिषद् में ओंकार को जीवन का अंग बना दिया गया है। संसार में दो तत्त्व ही मुख्य हैं—शरीर में आत्मा, प्रकृति में ब्रह्म या परमात्मा। इस उपनिषद् में पहले ओंकार को अ, उ, म्—इन तीन में तोड़कर 'अ' को शरीर तथा प्रकृति की जाग्रत् अवस्था, 'उ' को शरीर तथा प्रकृति की स्वप्नावस्था, 'म्' को शरीर तथा प्रकृति की सुषुप्तावस्था का नाम दिया है। ये तीन आत्मा तथा ब्रह्म के सगुण रूप हैं, दृश्य रूप हैं, निर्वचनीय रूप हैं, व्यवहार्य रूप हैं। **'अकार'** से शरीर तथा प्रकृति का सारा स्थूल-जगत् अभिप्रेत है। शरीर के जो अंग-प्रत्यंग हैं, वे सब अपना-अपना काम तभी करते हैं जब उनमें आत्मा अपना स्थान बना लेता है, प्रकृति में जो मौलिक-संसार दीखता है उसकी सत्ता, उसमें बढ़ना-घटना तभी तक है जब उसमें ब्रह्म, परमेश्वर या विश्वात्मा स्थान बना लेता है। शरीर में से आत्मा को निकाल दिया जाय, प्रकृति में से परमात्मा को निकाल दिया जाय, तो न शरीर काम-काज करता है, न प्रकृति में काम-काज हो सकता है। स्थूल-शरीर की जाग्रत् अवस्था में यही आत्मा का दर्शन

है, स्थूल-प्रकृति की जाग्रत् अवस्था में यही परमात्मा का दर्शन है। **'उकार'** से शरीर तथा प्रकृति का सूक्ष्म-जगत् अभिप्रेत है। शरीर की स्वप्नावस्था में मनुष्य बिना आँखों के देखता, बिना कानों के सुनता, बिना अंग-प्रत्यंग के सब-कुछ करता है। यह सब क्योंकर होता है? यह इसलिये होता है क्योंकि जब शरीर सो रहा होता है तब आत्मा तो जाग रहा होता है, उसी के सम्पर्क से मनुष्य की आँख देखती है, कान सुनते हैं, वह बिना आँखों के देखता, बिना कानों के सुनता है जिसका प्रमाण स्वप्न में मिल जाता है। शरीर की स्वप्नावस्था में यही आत्मा का दर्शन है, इस समय स्थूल-शरीर काम नहीं कर रहा होता, आत्मा सूक्ष्म-शरीर से सब काम-काज करता है। जैसे शरीर की स्वप्नावस्था में आत्मा का दर्शन हो जाता है, बिना अंग-प्रत्यंग के वह सब-कुछ करता है, वैसे प्रकृति की स्वप्नावस्था में ब्रह्म का भी दर्शन हो जाता है। जब प्रकृति का संसार इस स्थूल रूप में नहीं होता, तब भी परमाणुओं में क्रियाशीलता काम कर रही होती है, वे निर्माण की प्रक्रिया में पड़े ढल रहे होते हैं, उन्हीं से नदी-नाले, पहाड़, सूर्य-चन्द्र-तारे बन चुके नहीं होते परन्तु बन रहे होते हैं। सृष्टि का यह निर्माण-काल न हो तो सृष्टि की स्थूल-रचना भी न हो। इस बात को समझ लेना सृष्टि की स्वप्नावस्था में ब्रह्म के दर्शन कर लेना है। सृष्टि की इस स्वप्नावस्था में ब्रह्म का अस्तित्व बना होता है, तभी इस स्थिति को उपनिषद् ने स्वप्न-स्थान कहा है। **'मकार'** से शरीर तथा प्रकृति का कारण-जगत् अभिप्रेत है। कारणावस्था में क्या होता है? कारणावस्था में शरीर तथा आत्मा एवं प्रकृति तथा परमात्मा—ब्रह्म—का स्थूल तथा सूक्ष्म सान्निध्य टूट-सा जाता है। अब तक स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर में आत्मा घुल-मिल-सा रहा था, प्रकृति में परमात्मा घुल-मिल-सा रहा था, इनमें एक-दूसरे से अलगपना व्यवहार तथा चिन्तन की कोटि में नहीं दीखता था, शरीर ही आत्मा तथा प्रकृति ही परमात्मा बनी हुई थी, परन्तु सुषुप्तावस्था में यह सान्निध्य लगभग टूट जाता है, सुषुप्ति में आत्मा शरीर से एकात्मता की अनुभूति को छोड़ देता है, और परमात्मा से एकात्मता की अनुभूति करने लगता है, शरीर से विलगाव की अनुभूति सोकर उठने के बाद अनुभव होती है, तभी यह कहता है—बड़ा आनन्द आया। यह आनन्द क्या है और कौन-सा है? माण्डूक्योपनिषत्कार कहते हैं कि सुषुप्ति में जब स्थूल शरीर से

सम्बन्ध टूट गया, अंग-प्रत्यंगों ने काम करना छोड़ दिया, स्वप्नावस्था का मानसिक सम्बन्ध छूट गया, तब जो आनन्द की अनुभूति का स्मरण होता है, वह आत्मा के अपने स्वरूप में—जाने तथा अनजाने—भगवान् के निकट पहुँच जाने का आनन्द है। ओंकार का मकार इस आनन्द का प्रतीक है। जैसे सुषुप्ति में आत्मा शरीर के साथ होता हुआ भी शरीर से अलग तथा परमात्मा के निकट होता है, वैसे प्रकृति की सुषुप्ति अवस्था तब होती है जब ब्रह्म सृष्टि का सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में निर्माण तो नहीं कर रहा होता, परन्तु निर्माण की योजना उसके ध्यान में होती है। आत्मा की तो ये तीनों स्थितियाँ—जाग्रत्-स्थान, स्वप्न-स्थान, सुषुप्त-स्थान हर-किसी के अनुभव की बात है, परमात्मा की इन तीनों स्थितियों का हम अपने अनुभव को देखकर अनुमान करते हैं। ये तीनों स्थितियाँ व्यवहार्य हैं, चिन्त्य हैं, व्यपदेश्य हैं, प्रपंचात्मक हैं। इन्हीं तीनों स्थितियों को हमने आत्मा तथा परमात्मा का सगुण-ज्ञान कहा है।

यहाँ 'सुषुप्ति' तथा 'समाधि' में भेद समझ लेना ज़रूरी है। सुषुप्ति में आत्मा-परमात्मा का सान्निध्य तो हो जाता है, परन्तु अनजाने; समाधि में जो-कुछ होता है वह अनजाने न होकर जाने होता है। आत्मा परमात्मा का सान्निध्य दोनों अवस्थाओं में होता है। सुषुप्ति में आनन्द की जागने पर जो अनुभूति होती है उससे सान्निध्य का अनुमान होता है, समाधि में साक्षात् सान्निध्य के आनन्द का अनुभव करके उसकी प्रत्यक्षानुभूति होती है।

इन तीनों स्थितियों के अतिरिक्त आत्मा तथा ब्रह्म की एक निर्गुण स्थिति है जिसे ओंकार की अमात्र स्थिति, तुरीय स्थिति, चतुर्थ स्थिति कहा गया है। असल में तो आत्मा तथा परमात्मा अनिर्वचनीय हैं, परन्तु उनका निर्वचन तथा व्यपदेश न हो, तो उन्हें मानने को ही कोई तय्यार नहीं होता। सब कहते हैं—कहाँ है वह, जब दीखता नहीं तब उसे कैसे मानें। इसी कारण माण्डूक्योपनिषत्कार कहते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है, यह प्रकृति ही परमात्मा है, आत्मा न हो तो क्या शरीर कुछ रह जाता है, इसी अनुमान को लेकर सोचा जाय तो अगर परमात्मा न हो तो क्या संसार कुछ रह जाता है? जाग्रत् में जो शरीर में दीखता है वह आत्मा है, जाग्रत् में जो प्रकृति में दीखता है वह परमात्मा है; स्वप्न में जो बिना शरीर के दीखता, काम-काज करता है वह आत्मा है, स्वप्न में जो सूक्ष्म-संसार की रचना में व्यस्त है वह

परमात्मा है; सुषुप्ति में जो शरीर से अलग होकर परमात्मा के सान्निध्य में आ जाता है वह आत्मा है, जिसके वह सान्निध्य में आता है वह परमात्मा है। परन्तु उसका यथार्थ-स्वरूप जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में जो दीखता है वह नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा का यथार्थ स्वरूप जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति से सर्वथा भिन्न है। यथार्थ रूप अमात्र है, निर्गुण है। आत्मा तथा परमात्मा अपने स्वरूप में अदृश्य हैं, अव्यवहार्य हैं, अग्राह्य हैं, परन्तु यह समझना भूल है कि क्योंकि वे दीखते नहीं इसलिये वे हैं नहीं। वे दीखते नहीं, तो क्या जो नहीं दीखता, वह नहीं होता। दीखता वही है जो दूर होता है, वह तो—**'एषः सर्वेश्वरः एषः सर्वज्ञः एषः अन्तर्यामी'**—है। यथार्थ वही है जो दीखता नहीं, जो दीखता है वह न दीखने वालों के सहारे टिका है। नींव ज़मीन के भीतर छिपी होती है, वह नहीं दीखती, मकान दीखता है परन्तु वह न दीखनेवाली नींव पर खड़ा है। इसी को माण्डूक्य ने कहा है : **'अदृश्यम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारं, प्रपंचोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते सः आत्मा सः विज्ञेयः'**—वह अदृश्य है, व्यवहार से बाहर है, ग्रहण में नहीं आ सकता, उसका कोई लक्षण नहीं है, वह विचार-कोटि में नहीं आता—उसी आत्मा को जानना हमारा लक्ष्य है।

उक्त श्रुति-वाक्यों में अकार, उकार, मकार के लिये 'मात्रा'-शब्द का प्रयोग बड़ा अद्‍भुत तथा महत्त्वपूर्ण है। 'मात्रा' का अर्थ मापना भी है। उपनिषत्कार का कहना है कि सम्पूर्ण संसार का सुख-भोग तराज़ू में एक तरफ़ रख दिया जाय, वह सब ओंकार के जप से प्राप्त अकार के आनन्द की मात्रा के समान भी नहीं है, उकार के आनन्द की मात्रा के समान भी नहीं है, मकार के आनन्द की मात्रा के समान भी नहीं है।

ओंकार के सम्बन्ध में माण्डूक्य का स्पष्टीकरण

अकार (प्र. पाद)	**उकार** (द्वि. पाद)	**मकार** (तृ. पा.)	**अमात्र** (च. पा.)
जाग्रत्-स्थान	स्वप्न-स्थान	सुषुप्ति-स्थान	तुरीय-स्थान
बहिः प्रज्ञ	अन्तः प्रज्ञ	प्रज्ञानघन	अचिन्त्य
सप्तांग तथा	सप्तांग तथा	—	—
एकोनविंशति मुख	एकोनविंशति मुख	चेतोमुख	नेति, नेति
स्थूलभुक्	प्रविविक्तभुक्	आनन्दभुक्	निर्गुण
वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ	अव्यवहार्य

ऐतरेय उपनिषद्

प्रथम अध्याय (प्रथम खण्ड)—अव्याकृत सृष्ट्युत्पत्ति

इस विशाल सृष्टि में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश को देखकर किसके मन में यह प्रश्न नहीं उठता कि इसका निर्माता कौन है? पृथिवी में ऊँचे-ऊँचे पहाड़, गहरी-गहरी खाइयाँ, जल के सम्बन्ध में सैंकड़ों कोसों लम्बी नदियाँ, अथाह समुद्र, अग्नि के सम्बन्ध में सूर्य-चन्द्र-तारे-नक्षत्र, वायु के सम्बन्ध में आँधियाँ और झंझावात, आकाश के सम्बन्ध में करोड़ों वज़न के महापिंडों का निराधार भ्रमण—यह सब देखकर किसके भीतर जिज्ञासा नहीं उठती कि यह सब चक्र कैसे चल रहा है। क्या ये महाभूत अपने-आप सृष्टि को चला रहे हैं या इनका चलाने वाला इनसे अन्य कोई दूसरा है? महाभूतों का अर्थ है—जड़ प्रकृति। क्या यह सम्भव है कि जड़ प्रकृति अपने-आप अपना संचालन कर रही हो? देखने में तो ऐसा नहीं आता। जो-कुछ जड़ पदार्थ है उसका संचालन किसी दूसरे से होता है। लेखनी अपने-आप नहीं लिखती, लिखने वाला लेखनी से लिखता है, हाथ अपने-आप नहीं उठता, उठाने वाला इसे उठाता है। तो फिर यह जड़ जगत् कैसे चल रहा है? इस सृष्टि का उत्पन्न करने वाला, इसे क्रम से चलाने वाला कौन है? सृष्ट्युत्पत्ति के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऐतरेय उपनिषद् में कहा है:

> **आत्मा वा इदम् एकः एव अग्रे आसीत्, न अन्यत् किंचित्**
> **मिषत्। सः ईक्षत, लोकान् नु सृजै इति ॥१॥**

सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व एक परमात्मा ही था—'**आत्मा वा इदम् एकः एव अग्रे आसीत्**'; दूसरी कोई वस्तु झपकती तक नहीं थी—'**न अन्यत्**

किंचित् मिषत्' । परमात्मा ने देखा—**'सः ईक्षत'**, और निश्चय किया कि नाना रूप सृष्टि का सर्जन करूँ—**'लोकान् नु सृजै इति'** ।१।

सृष्ट्युत्पत्ति के लिये यह आवश्यक था कि लोकों का सृजन किया जाय जहाँ जीवधारी रह सकें। इसलिये जब यह निश्चय कर लिया कि सृष्टि की रचना की जाय, तो लोकों का सृजन करना आवश्यक हो गया। इसलिये उपनिषत्कार कहते हैं :

सः इमान् लोकान् असृजत । अम्भः, मरीचीः, मरम्, आपः । अम्भः परेण दिवम् द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरः, याः अधस्तात् ताः आपः ।।२।।

सृष्टि का सृजन करने के निश्चय के बाद परमात्मा ने इन लोकों का निर्माण किया—**'सः इमान् लोकान् असृजत'** । किन लोकों का ? 'अम्भः', 'मरीचीः', 'मरम्' तथा 'आपः'—इन लोकों का—**'अम्भः, मरीचीः, मरम्, आपः'** । 'अम्भः'-लोक की क्या सीमा है ? द्यु-लोक से परे ऊपर जहाँ तक भी लोक हैं वहाँ से द्यु-लोक तक सारा क्षेत्र 'अम्भस्'-लोक है—**'अम्भः परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा'** । 'मरीची'-लोक की क्या सीमा है ? जितना अन्तरिक्ष है, जिसमें सूर्य-चन्द्र-तारे-नक्षत्र प्रकाश दे रहे हैं—यह सम्पूर्ण 'मरीची'-लोक है—**'अन्तरिक्षं मरीचयः'** । **'मर'**-लोक क्या है ? जिस पृथिवी पर प्राणी उत्पन्न होते तथा मरते हैं वह 'मर'-लोक है; 'आपः'-लोक क्या है ? पृथिवी के नीचे जितना भी लोक है वह 'आपस्' लोक है। 'अम्भस्' (अम्भः) तथा 'आपस्' (आपः)—दोनों का अर्थ जल है। क्योंकि पृथिवी घूम रही है इसलिये पृथिवी के ऊपर जो-कुछ है वही नीचे भी होना चाहिये। ऊपर क्योंकि 'आपः'—अर्थात् जल कहा, इसलिये नीचे भी जल ही कहा। इस उपनिषत्कार की सम्मति में सृष्टि को ऊपर-नीचे जल ने घेरा हुआ है—ऊपर भी जल, नीचे भी जल—**'पृथिवी मरः अधस्तात् आपः'** ।२।

प्रारम्भ में सृष्टि जो बनी वह तो जड़-जगत् की रूप-रेखा थी—पृथिवी, द्यु, अन्तरिक्ष—इस तरह का विभाग था। परन्तु इस सृष्टि का प्रयोजन क्या हो, इसमें भौतिक-दृष्टि से क्या-क्या तत्त्व आवश्यक हैं, और उन तत्त्वों का उपभोग करने के लिये किसका होना आवश्यक है—यह समस्या तो बनी रही। इस समस्या को हल करने के लिये परमात्मा ने विराट्-पुरुष की कल्पना की। विराट्-पुरुष का क्या अर्थ है ? विराट्-पुरुष का यह अर्थ है कि ऐसा निर्माण जिसमें सृष्टि

उपभोग-योग्य बन जाय, और उसका भोक्ता भी बन जाय। इसी को लक्ष्य रख कर आगे कहा :

सः ईक्षत। इमे नु लोकाः। लोकपालान् नु सृजै इति।
सः अद्भ्यः एव पुरुषं समुद्धृत्य अमूर्च्छयत् ॥३॥

परमात्मा ने देखा—**'सः ईक्षत'**। क्या देखा? यह देखा कि पृथिवी, द्यु, अन्तरिक्ष—इन लोकों का तो निर्माण हो गया—**'इमे नु लोकाः'**—परन्तु यह प्रश्न रह गया कि इन लोकों की पालना कैसे होगी, ये लोक व्यवहार में कैसे आयेंगे, इनका उपभोग कैसे होगा, कौन करेगा? इस पर उसने सोचा कि लोकपालों की सृष्टि करना भी आवश्यक है, उनकी भी सृष्टि की जाय—**'लोकपालान् नु सृजै इति'**। लोकपाल—अर्थात्, जिनके होने से इन लोकों की पालना हो या सार्थकता बन सके। यह सोच कर उसने जलों में से विराट्-पुरुष का—**'सः अद्भ्यः एव पुरुषं'**—निर्माण किया—**'अमूर्च्छयत्'**। अमूर्च्छयत् का अर्थ है—मूर्च्छित-विराट्-पुरुष का निर्माण किया। मूर्च्छित-विराट्-पुरुष से क्या अभिप्राय है? मूर्च्छित-विराट्-पुरुष का अर्थ है—अघड़ विराट्-पुरुष। अघड़ से सुघड़ बनता है, अव्यक्त से व्यक्त बनता है, कारणावस्था से कार्यावस्था बनती है। यही यहाँ मूर्च्छित का अर्थ है, मूर्च्छित से अमूर्च्छित बना।

उपनिषद् ने जो यह कहा कि जलों में से विराट्-पुरुष बना—यह एक वैज्ञानिक सत्य कहा है। विज्ञान भी यह मानता है कि जीवन का प्रारम्भ जल में से हुआ। विकासवादी कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जलीय-प्राणी थे, उन्हीं से आगे सब प्राणियों का विकास हुआ। अपनी-अपनी कल्पना है। जल में से जीवन उभरा—यह तो विज्ञान तथा उपनिषद् दोनों का एक-सा कथन है, परन्तु यह विकास किस दिशा में हुआ यह दोनों का अपना-अपना विचार है। पुराणों के अनुमार भी पहला अवतार मत्स्यावतार हुआ, फिर कच्छपावतार, फिर वराहावतार—इस प्रकार पुराण भी जीवन का प्रारम्भ जल से ही बतलाते हैं। मत्स्य, कच्छप तो जलीय-प्राणी हैं ही, वराह भी जल में पड़े रहने में आनन्द मानता है।

सृष्टि का व्यवहार दो बातों से होता है। पहली बात यह है कि कुछ वस्तुएँ उपभोग में लायी जाती हैं, वे न हों तो सृष्टि बेकार है। दूसरी बात यह है कि उपभोक्ता का होना भी आवश्यक है, वह न हो

तो उपभोग्य वस्तुएँ बेकार हैं। जलों में से अघड़, अव्यक्त विराट्-पुरुष का निर्माण करना सृष्टि की सार्थकता के लिए आवश्यक है। भोक्ता न हो तो भोग्य बेकार, भोग्य न हो तो भोक्ता बेकार। मूर्च्छित, अर्थात् अघड़ इसलिये कहा क्योंकि जब कोई वस्तु बनती है तब पहले-पहल वह अघड़ ही होती है, उसी को काँट-छाँट कर सुघड़ किया जाता है।

सृष्टि में उपभोग-योग्य वस्तुएँ क्या हैं? किन के होने से हम सृष्टि का उपभोग कर सकते हैं, किन के न होने से सृष्टि का उपभोग नहीं हो सकता? उदाहरणार्थ, क्या अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाओं, वनस्पतियों के बिना संसार में रहा जा सकता है? यह तो ब्रह्मांड की बात हुई। अब पिंड की बात सोचें। क्या मुख, नासिका, आँखों, कानों, त्वचा के बिना संसार का उपभोग किया जा सकता है? सृष्टि रचना में ब्रह्मांड तथा पिंड दोनों की रचना का होना आवश्यक है। ब्रह्मांड में अग्नि, वायु आ गये; पिंड में मुख, नाक आदि आ गये। परमात्मा ने सृष्टि-रचना करते हुए पहले-पहल इसी विराट्-पुरुष की रचना की, ऐसा विराट्-पुरुष जिसमें ब्रह्मांड तथा पिंड दोनों का मूल मौजूद था। इसी बात को सामने रख कर ऐतरेय उपनिषद् के रचयिता सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम इस प्रकार कहते हैं।३।

> **तम् अभ्यतपत्। तस्य अभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथा अण्डम्। मुखाद् वाग् वाचः अग्निः। नासिके निरभिद्येताम् नासिकाभ्याम् प्राणः प्राणाद् वायुः। अक्षिणी-निरभिद्येताम् अक्षिभ्याम् चक्षुः चक्षुषः आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येताम् कर्णाभ्याम् श्रोत्रं श्रोत्रात् दिशः। त्वक् निरभिद्यत त्वचः लोमानि लोमभ्यः औषधिः वनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत हृदयात् मनः मनसः चन्द्रमा। नाभिः निरभिद्यत नाभ्याः अपानः अपानात् मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत शिश्नात् रेतः रेतसः पुरुषः ॥४॥**

सृष्टि का प्रारम्भ अघड, अव्यक्त रूप में हुआ—यह इस उपनिषद् का कथन है। अघड़, अव्यक्त का क्या अर्थ है? ब्रह्मांड की दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण ब्रह्मांड प्रकृति-रूप था, विकृति-रूप नहीं था। साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं; विषमावस्था को विकृति कहते हैं। सब एक में मिले-जुले थे, भिन्नता पीछे आयी। पिंड की दृष्टि से देखा

जाय तो सम्पूर्ण पिंड एक-रूप था, अंगों का मुख, नाक, आँख के तौर से विभाग नहीं हुआ था। परन्तु जब तक सब-कुछ विभक्त न हो जाय तब तक सृष्टि का धंधा कैसे चल सकता था। सृष्टि का धंधा चले, इसके लिये परमात्मा ने तप किया, तप अर्थात् परिश्रम। उसी तप का उल्लेख करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं :

उस अघड़, पुरुषाकार पिंड को तपाया गया क्योंकि वह पुरुषाकार तो था परन्तु उस ब्रह्मांड-पुरुष के मुख, नाक, आँख आदि खुले न थे—**'तम् अभ्यतपत्'**। तपाने से वह ऊपर से ऐसे खुल गया जैसे गर्मी देने से अंडा खुल जाता है और भीतर से मुख, नाक, आँख आदि वाला प्राणधारी जीव निकल आता है—**'तस्य अभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथा अण्डम्'**। इस ब्रह्मांड-पुरुष के मुख से वाणी का प्रादुर्भाव हुआ, और ब्रह्मांड-पुरुष की इस वाणी से अग्नि प्रकट हुई—**'मुखाद् वाग् वाचः अग्निः'**; ब्रह्मांड-पुरुष की नासिकाएँ खुल गईं—**'नासिके निरभिद्येताम्'**, और इन खुली हुई नासिकाओं से ब्रह्मांड-पुरुष के प्राणों का प्रादुर्भाव हुआ, उसके प्राणों से वायु प्रकट हुई—**'नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद् वायुः'**; ब्रह्मांड-पुरुष की आँखें खुल गईं—**'अक्षिणी निरभिद्येताम्'**, और इन खुली हुई आँखों से ब्रह्मांड-पुरुष की आँखों का निर्माण हुआ, उसकी आँखों से ब्रह्मांड के आदित्य का प्रादुर्भाव हुआ—**'अक्षिभ्यां चक्षुः चक्षुषः आदित्यः'**; ब्रह्मांड-पुरुष के कान खुल गये—**'कर्णौ निरभिद्येताम्'**, और इन खुले हुए कानों से ब्रह्मांड-पुरुष के कानों का निर्माण हुआ, और उसके कानों से ब्रह्मांड की दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ—**'कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्रात् दिशः'**; ब्रह्मांड-पुरुष की त्वचा खुल गई—**'त्वक् निरभिद्यत'**, और ब्रह्मांड-पुरुष की त्वचा से ब्रह्मांड-पुरुष के लोमों का निर्माण हुआ और उसके लोमों से ब्रह्मांड-पुरुष की औषधियों और वनस्पतियों का प्रादुर्भाव हुआ—**'त्वचः लोमानि लोमभ्यः ओषधयः वनस्पतयः'**; ब्रह्मांड-पुरुष का हृदय खुला—**'हृदयं निरभिद्यत'**, हृदय खुलने के बाद उसका मन खुला, मन खुलने के बाद ब्रह्मांड-पुरुष के चन्द्रमा का प्रादुर्भाव हुआ—**'हृदयात् मनः मनसः चन्द्रमा'**; ब्रह्मांड-पुरुष की नाभि खुली—**'नाभिः निरभिद्यत'**, नाभि से अपान खुला—**'नाभ्यः अपानः'**, अपान के खुलने से मृत्यु का प्रादुर्भाव हुआ—**'अपानात् मृत्युः'**; ब्रह्मांड-पुरुष का शिश्न खुल गया—**'शिश्नं निरभिद्यत'** शिश्न

के खुलने से वीर्य का निर्माण हुआ, और वीर्य के निर्माण से जलों का प्रादुर्भाव हुआ ।४।

सृष्टि के विकास का यह क्रम कुछ अटपटा-सा लगता है। इसे अगर अक्षरशः वैसा ही समझने का प्रयत्न किया जाय जैसा शब्दों से प्रकट होता है, तो यह अटपटा ही है, परन्तु इस वर्णन को शब्दश: लेना उचित नहीं है। सृष्ट्युत्पत्ति के इस वर्णन में सृष्टि-विकास की एक दिशा की तरफ़ इशारा है। वह दिशा क्या है ?

सृष्टि के विकास के सम्बन्ध में दो विकल्पों से विचार किया जा सकता है। एक विकल्प तो यह है कि ब्रह्मांड तथा पिंड की सृष्टि जैसी आज दीख रही है वह ठीक वैसी-की-वैसी सृष्टि के प्रारम्भ में पैदा हुई या की गई। ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएं, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, चन्द्रमा, मृत्यु, जल—ठीक इस प्रकार पैदा कर दिये गये जैसे आज दीखते हैं; इसी प्रकार पिण्ड के मुख, नासिका, प्राण, आँखें, कान, त्वचा, हृदय, नाभि, शिश्न भी ऐसे ही पैदा कर दिये गये जैसे आज दीखते हैं। इस विकल्प में विकास को कोई स्थान नहीं है। ऐतरेय उपनिषद् इस विकल्प को स्वीकार नहीं करती। इस उपनिषद् का कहना है कि ब्रह्मांड तथा पिंड—इन दोनों में क्रमिक विकास हुआ। पहले ब्रह्मांड तथा पिण्ड दोनों पुरुषाकार तो थे, परन्तु अघड़, अभिन्न, अव्यक्त, अस्पष्ट, अविकसित थे। भगवान् के तप से वे सुघड़, भिन्न-भिन्न, व्यक्त, स्पष्ट विकसित हुए। वर्तमान विज्ञान भी सृष्टि में विकास मानता है, ऐतरेय-उपनिषद् भी विकास को ही स्वीकार करती है। इसी विकास की प्रक्रिया को जतलाने के लिये **'मुखं निरभिद्यत'** कहा है। ब्रह्मांड-पुरुष अण्डे की तरह का था, बाहर कुछ नहीं दीखता था, सब-कुछ अव्याकृत था—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये महाभूत तथा आँख, कान, नाक, त्वचा आदि इन्द्रियाँ—ये बीज रूप में मौजूद थीं, परन्तु प्रकट रूप में नहीं थीं, सब मूर्च्छा में था, इसीलिये कहा—**'पुरुषं अमूर्च्छयत्'**। मूर्च्छा से उसे अमूर्च्छा में लाया गया, विकास की प्रक्रिया द्वारा उसे अव्यक्त से व्यक्त किया गया। अगर इस दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह सारा वर्णन उतना अटपटा नहीं रहता जितना सिर्फ़ शब्दों को पढ़कर दीखने लगता है।

विकासवादी कहते हैं कि सृष्टि का आदि-जीव 'अमीबा'

(Amoeba) जल से उत्पन्न हुआ। उसका अंग-प्रत्यंग अविकसित था। त्वचा से ही देखता, खाता-पीता, मल-त्याग करता था। विकासवादी भाषा में कहने का एक ढंग यह है, एक ढंग ऐतरेयोपनिषद् का है जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया। विकास होने की प्रक्रिया को न विकासवादियों ने देखा, न ऐतरेय उपनिषद् के ऋषि ने देखा, परन्तु बात दोनों एक ही कह रहे हैं, यद्यपि दोनों के कहने का तरीका भिन्न-भिन्न है। सृष्टि प्रारम्भ में अव्याकृत (Undefined) थी—यह बात बृहदारण्यक (४र्थ ब्राह्मण, प्रथम अध्याय के ४र्थ प्रकरण) में भी कही गई है। वहाँ लिखा है कि आदि-मानव ऐसा था जैसे स्त्री-पुरुष एक-जुट मिले-जुले हों—**'सः ह एतावान् आस यथा स्त्री-पुमांसौ सम्परिष्वक्तौ'**। ऐतरेय में लिखा है—**'निरभिद्यत'**, वह अव्याकृत अण्डे की तरह टूट गया, बृहदारण्यक में लिखा है—**'सः इमं एव आत्मानं द्वेधा अपातयत्'**—उसने अपने को दो टुकड़ों में विभक्त कर लिया। मुंडकोपनिषद् (प्रथम मुंडक, द्वितीय खण्ड) में लिखा है : **'यथा सतः पुरुषात् केश लोमानि तथा अक्षरात् संभवति इह विश्वम्'**—उसी अक्षर पुरुष से यह विश्व प्रकट होता है जैसे पुरुष-शरीर में से केश-लोम प्रादुर्भूत होते हैं। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासवाद तथा ऐतरेय, बृहदारण्यक एवं मुंडकोपनिषद् के ऋषिओं की भाषा अलग-अलग है, परन्तु भाव में वे सब एक-दूसरे के निकट हैं।

प्रथम अध्याय (द्वितीय खण्ड)—व्याकृत सृष्ट्युत्पत्ति

सृष्ट्युत्पत्ति का सिलसिला उठा लेने के बाद उसी सन्दर्भ को आगे बढ़ाते हुए ऐतरेय उपनिषत्कार कहते हैं :

> **ताः एताः देवताः सृष्टाः अस्मिन् महति अर्णवे प्रापतन्। तं अशनायापिपासाभ्यां अन्ववार्जत्। ताः एनम् अब्रुवन्, आयतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिताः अन्नम् अदाम इति॥१॥**

ऐतरेय उपनिषद् ने सृष्ट्युत्पत्ति के गहन विषय को सरल बनाने के लिये कथानक के रूप में हमारे सम्मुख रखा है। ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड के देवता तो प्रादुर्भूत हो गये—ब्रह्माण्ड में पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश प्रादुर्भूत हो गये, पिण्ड में मुख, आँख, कान, नाक, त्वचा

आदि प्रादुर्भूत हो गये, परन्तु अगर इन सब को अलंकार रूप में देवता विशेष मान लिया जाय, तो उनके सम्मुख प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि हम बिना अधिष्ठान के कहाँ उड़ते फिरें, कहाँ अपना बसेरा बनायें। जब तक पृथिवी आदि भोग्य-पदार्थों का कोई भोक्ता नहीं, जब तक मुख, आँख, नाक आदि भोक्तृ-शक्तियों का कोई भोग्य नहीं, तब तक वे प्रादुर्भूत होकर भी क्या करें ? ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड के इन देवताओं की दुविधा को सामने रखकर ऋषि कहते हैं :

ये देवता प्रादुर्भूत तो हो गये— **'ताः एताः देवताः सृष्टाः'**, परन्तु प्रादुर्भूत होने के बाद ऐसा अनुभव करने लगे मानो महा-समुद्र में आ पड़े हों, उन्हें कोई ठिकाना न हो—**'अस्मिन् महति अर्णवे प्रापतन्'**। इनका कोई ठिकाना नहीं था, कहाँ रहें, कहाँ दिन-रात काटें। जब ये मारे-मारे व्याकुल होकर फिर रहे थे, तब परमात्मा ने भूख और प्यास को इनके साथ और जोड़ दिया—**'तं अशनायापिपासाभ्यां अन्ववार्जत्'**। अब वे और अधिक व्याकुल हो गये और अपने रचयिता भगवान् के पास आकर बोले—**'ताः एनम् अब्रुवन्'**—कि हमें कोई आश्रय-स्थान, ठिकाना दीजिये—**'आयतनं नः प्रजानीहि'**, जहाँ ठिकाना बनाकर—**'यस्मिन् प्रतिष्ठिताः'**, हम अन्न खाकर अपनी भूख मिटा सकें—**'अन्नम् अदाम इति'** ।१।

जैसा हमने ऊपर कहा, ऐतरेय उपनिषत्कार सृष्ट्युत्पत्ति के विकास-क्रम को समझाने के लिये एक कथानक के रूप में उसे बतला रहे हैं, इसे शब्दशः नहीं लेना चाहिये। यह नहीं समझना चाहिये कि सृष्टि की उत्पत्ति में उपनिषत्कार के मत में यही सब-कुछ हुआ। आधारभूत सिद्धान्त अव्याकृत से व्याकृत, मूर्च्छित से अमूर्च्छित, अव्यक्त से व्यक्त, अनिश्चित से निश्चित होने का सिद्धान्त है, बाकी सब विषय को रोचक बनाने के लिये कथानक का आश्रय लिया गया है।

जब देवताओं को भूख-प्यास सताने लगी, तब वे व्याकुल हो उठे, और उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि उन्हें कहीं ठिकाना देकर बैठा दिया जाय तो भगवान् ने क्या किया ?

ताभ्यः गाम् आनयत्। ताः अब्रुवन्, न वै नः अयं अलम् इति।
ताभ्यः अश्वम् आनयत्। ताः अब्रुवन् न वै नः अयं अलम् इति ।।२।।

भगवान् ने उनके सामने गाय लाकर खड़ी कर दी—**'ताभ्यः गाम् आनयत्'**, और कहा इसमें अपना ठिकाना बना लो। देवताओं—

पाँचों महाभूतों तथा इन्द्रियों ने कहा—**'ताः अब्रुवन्'**, कि यह ठिकाना हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा—**'न वै नः अयं अलम् इति'**; फिर उनके सामने घोड़े को लाकर खड़ा कर दिया—**'ताभ्यः अश्वम् आनयत्'**। उन्होंने कहा—**'ताः अब्रुवन्'**, कि यह ठिकाना भी हमारे लिये पर्याप्त नहीं रहेगा—**'न वै नः अयं अलम् इति'**, क्योंकि जिन्हें ठिकाना चाहिये था वे सिर्फ़ आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ ही नहीं थीं, उनमें मन भी था जिसे अन्य सब इन्द्रियों के साथ ठिकाना चाहिये था।२।

ऐसी हालत में भगवान् ने उनके सामने पुरुष को लाकर खड़ा कर दिया :

ताभ्यः पुरुषं आनयत्। ताः अब्रुवन्, सुकृतं बत इति,
पुरुषः वाव सुकृतम्। ताः अब्रवीत्—यथा आयतनम्
प्रविशत इति ॥३॥

जब भगवान् ने इन्द्रियों के सामने पुरुष को लाकर खड़ा कर के उन्हें कहा कि इसमें ठिकाना कर लो—**'ताभ्यः पुरुषं आनयत्'**, तो वे बोलीं—**'ताः अब्रुवन्'**—कि यह तो बहुत अच्छा बनाया हुआ है, यह रचना तो बहुत अच्छी है—**'सुकृतं बत इति'**, पुरुष ही भगवान् की भली प्रकार बनाई हुई रचना है—**'पुरुषः वाव सुकृतम्'**। फिर उन्होंने एक-दूसरे से कहा—**'ताः अब्रवीत्'**, जैसा जिसको अपने आयतन के अनुसार अनुकूल पड़े—**'यथा आयतनम्'**, वैसे इसमें प्रवेश कर जाओ—**'प्रविशत इति'**।२।

अभी तक सृष्ट्युत्पत्ति की यह हालत थी कि जो-कुछ था अव्याकृत था, अघड़ था; अब ज्यों-ज्यों विकास का कार्य आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों सुगढ़पना आता गया। अब तक अग्नि, वायु, आदित्य आदि ब्रह्मांड के देवता, तथा मुख, नासिका, आँख, कान आदि पिंड की इन्द्रियाँ भूख-प्यास को लेकर भटक रही थीं, व्याकुल थीं, उन्हें कोई ठिकाना नहीं था। जब भगवान् ने उनके सामने पुरुष बनाकर उन्हें उसमें ठिकाना बनाकर रहने को कहा तो देवता भी मान गये, इन्द्रियाँ भी मान गईं। देवताओं तथा इन्द्रियों ने पुरुष में ठिकाना कैसे बनाया—इस पर उपनिषत्कार कहते हैं :

अग्निः वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्; वायुः प्राणः भूत्वा
नासिके प्राविशत्; आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी
प्राविशत्; दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्; ओषधिः

वनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्; चन्द्रमा मनः भूत्वा हृदयं प्राविशत्; मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिं प्राविशत्; आपः रेतः भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड की ४र्थ ऋचा में कहा था कि विराट्-पुरुष के मुख से वाणी और वाणी से अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि ब्रह्माण्ड-पुरुष के मुख की अग्नि पिण्ड-पुरुष के मुख में वाणी होकर प्रविष्ट हो गई—**'अग्निः वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्'**; ४र्थ ऋचा में कहा था कि ब्रह्माण्ड-पुरुष की नासिकाओं से वायु का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि ब्रह्मांड-पुरुष की वायु प्राण बनकर पिंड-पुरुष की नासिकाओं में प्रविष्ट हो गई—**'वायुः प्राणः भूत्वा नासिके प्राविशत्'**; ४र्थ ऋचा में कहा था कि ब्रह्माण्ड-पुरुष की आँखों से आदित्य का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि ब्रह्माण्ड-पुरुष का रचा हुआ आदित्य पिंड-पुरुष की आँखों में प्रविष्ट हुआ—**'आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्'**; ४र्थ ऋचा में कहा था कि ब्रह्माण्ड-पुरुष के कानों से दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि ब्रह्माण्ड-पुरुष की दिशाएँ श्रोत्र बनकर पिंड-पुरुष के श्रोत्रों में प्रविष्टि हो गयीं—**'दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्'**; ४ र्थ ऋचा में कहा था कि ब्रह्माण्ड-पुरुष की त्वचा से लोमों का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि ब्रह्माण्ड-पुरुष के लोम पिंड के जगत् में औषधियों तथा वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गये—**'ओषधिः वनस्पतयः लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्'**; ४ र्थ ऋचा में कहा था कि ब्रह्माण्ड-पुरुष के हृदय से मन तथा मन से चन्द्रमा का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि ब्रह्माण्ड-पुरुष का चन्द्रमा पिंड-पुरुष का मन बना, और मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया—**'चन्द्रमा मनः भूत्वा हृदयं प्राविशत्'**; ४ र्थ ऋचा में कहा था कि ब्रह्मांड-पुरुष की नाभि से अपान का प्रादुर्भाव हुआ, अपान से मृत्यु का प्रादुर्भाव हुआ, इस ऋचा में कहा है कि मृत्यु अपान बन गई, अपान बनकर पिंड-पुरुष की नाभि में प्रविष्ट हो गई—**'मृत्युः अपानः भूत्वा नाभिं प्राविशत्'**; ४ र्थ ऋचा में कहा था कि विराट्-पुरुष के शिश्न से रेतस् (वीर्य) का प्रादुर्भाव हुआ और रेतस् से वह जल बन गया, इस ऋचा में कहा है कि विराट्-पुरुष का जल पिंड-पुरुष के शिश्न में वीर्य बनकर प्रविष्ट हो गया—**'आपः रेतः भूत्वा शिश्नं प्राविशन्'** ।४।

यह सारा वर्णन पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में जो-कुछ कहा है, इस खण्ड में उससे बिल्कुल उल्टा कहा है। यह उल्टा क्यों कहा है—इसका एक कारण है। उपनिषदों की यह स्थापना है कि जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में है, जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है। इस स्थापना के साथ जब सृष्ट्युत्पत्ति के विचार को जोड़ दिया तब वही बात बनती है जो इस उपनिषद् में कही है।

सृष्टि का विकास कैसे हुआ ? सृष्टि का विकास अव्यक्त, अघड़ प्रकृति से हुआ—इस बात को वर्तमान सृष्टि-विज्ञान भी मानता है, उपनिषत्कार भी मानते हैं। उस विकास की दिशा क्या थी—इस बात में उपनिषत्कार अपनी आलंकारिक तथा कथानक की भाषा में अपने विचार को स्पष्ट करते हैं। उपनिषत्कार का कहना है कि सर्व-प्रथम विराट्-पुरुष का निर्माण हुआ। इसमें पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश —ब्रह्मांड के इन सब भौतिक-तत्त्वों तथा आँख, कान, नाक, मुख, त्वचा आदि—पिंड के इन सब इन्द्रिय-तत्त्वों का अस्पष्ट, अघड़, अव्याकृत मिश्रण था। परमात्मा ने इन सब को उस विराट्-पुरुष रूपी अण्डे को भेद कर, उसे तोड़कर अलग-अलग कर दिया। अब ब्रह्माँड तथा पिंड के तत्त्व स्वतन्त्र हो गये, परन्तु उन्हें कोई ठिकाना न मिला। ठिकाना न मिलने के कारण ये भगवान् के पास जाकर फ़रियाद करने लगे कि अब तक तो हम विराट्-पुरुष में ही जुड़े पड़े थे, अब क्या करें, हमें कोई ठिकाना बतलाइये जहाँ जाकर फिर एकीभाव से रहें क्योंकि ब्रह्मांड के महाभूत पिंड की इन्द्रियों के बिना और पिंड की इन्द्रियाँ ब्रह्मांड के महाभूतों के बिना नहीं रह सकतीं। अव्याकृत, अघड़, अव्यक्त जो ब्रह्मांड-पुरुष था, उसके मुख को भेदा गया तो अग्नि प्रादुर्भूत हुई, नासिकाओं को भेदा गया तो वायु प्रादुर्भूत हुआ, नेत्रों को भेदा गया तो आदित्य प्रादुर्भूत हुआ—इसी प्रकार यह सिलसिला आगे चला। ब्रह्मांड-पुरुष के शरीर में से अग्नि, वायु, आदित्य आदि प्रकट हुए। ये ब्रह्मांड-तत्त्व जब इस पिंड-पुरुष के देह में प्रविष्ट हुए तब इस पिंड-पुरुष को जीवित-जागृत बनाने के लिये अग्नि उसके मुख में प्रविष्ट हो गई ताकि जैसे अग्नि प्रकाश देती है वैसे यह पिंड-पुरुष भी अपने मुख की वाणी से प्रकाश दे सके, वायु इसकी नासिकाओं में प्रविष्ट हो गया ताकि नासिका की वायु से यह प्राण लेकर जीवन

धारण कर सके, आदित्य इसकी आँखों में प्रविष्ट हो गया ताकि जैसे आदित्य ब्रह्मांड में प्रकाश देता है वैसे यह आँखों से संसार के पदार्थों को आँखों से देख सके। इसी प्रकार का आगे का सिलसिला है।

ब्रह्मांड तथा पिंड की एकात्मता तथा सह-भाव को दर्शाने के लिये, यह बतलाने के लिये कि जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में है और जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है उपनिषत्कार ने इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के प्रथम खंड में जो-कुछ कहा, उसी अध्याय के द्वितीय खण्ड में उससे उल्टा कह दिया, परन्तु अगर इस बात को ध्यान में रखा जाय कि यह सब सृष्ट्युत्पत्ति के साथ ब्रह्मांड तथा पिंड की एकात्मता को बतलाने के लिये कहा गया है, तो इस कथन में कोई विरोध नहीं रहता।

इस प्रकरण को समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि सृष्ट्युत्पत्ति का यह क्रम कोई यथार्थ क्रम नहीं है, यह सिर्फ़ कथानक के रूप में इस बात को स्पष्ट करता है कि पहले सृष्टि अव्याकृत रूप में थी, उसके बाद व्याकृत रूप में आ गई। यही बात विज्ञान कहता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने भी सृष्टि का विकास 'From Homogeneity to heterogeneity' कहा है।

सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी अपने कथानक को रोचक बनाने के लिये जैसे ऐतरेय-उपनिषद् ने ब्रह्मांड के अग्नि, वायु आदि तथा पिंड के मुख, आँख, कान आदि को कथानक का पात्र बनाया है, वैसे ही भूख और प्यास—अशनाया, पिपासा—को भी पात्र बना दिया है। जब सब देवताओं तथा इन्द्रियों को पुरुष में टिकाना मिल गया तब भूख और प्यास भी भगवान् के पास पहुँचे और कहने लगे :

अशनाया पिपासे अब्रूताम्, आवाभ्याम् अभिप्रजानीहि इति। ते अब्रवीत्, एतासु एव वाम् देवतासु आभजामि, एतासु भागिन्यौ करोमि इति। तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविः गृह्यते, भागिन्यौ एव हि अस्याम् अशनाया पिपासे भवतः ॥५॥

भूख और प्यास भगवान् को कहने लगे—**'अशनाया पिपासे अब्रूताम्'**—कि हम दोनों का भी तो ख्याल रखिये—**'आवाभ्याम् अभिप्रजानीहि इति'**। उन्हें भगवान् ने कहा—**'ते अब्रवीत्'**—कि ब्रह्मांड तथा पिंड के इन देवताओं के साथ ही तुम दोनों को इनकी सेवा के लिये नियुक्त कर देता हूँ—**'एतासु एव वाम् देवतासु आभजामि'**,

इन देवताओं के साथ तुम्हें भी इनके आनन्द का भागीदार बना देता हूँ—**'एतासु भागिन्यौ करोमि इति'**। यही कारण है कि जिस-किसी देवता को हवि दी जाती है—**'तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविः गृह्यते'**—उसमें ये दोनों भी भागीदार होते हैं—**'भागिन्यौ एव हि अस्याम्'**। कौन दोनों ? भूख तथा प्यास—**'अशनाया पिपासे'**।५।

उपनिषत्कार सृष्टि के विकास की चर्चा कर रहे हैं। विकास की जान भूख और प्यास है। भूख-प्यास न हो, तो सृष्टि एक कदम नहीं चल सकती। सारा-का-सारा विकास भूख और प्यास को मिटाने के लिये है। यही सोच कर ऋषि ने सृष्ट्युत्पत्ति के प्रसंग में भूख और प्यास को ब्रह्मांड तथा पिंड के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में जोड़ दिया है। विकास की दृष्टि से यह बिल्कुल वैज्ञानिक है।

प्रथम अध्याय (तृतीय खंड)—अन्न तथा जल की सृष्टि

सृष्ट्युत्पत्ति के जिस कथानक को ऐतरेय उपनिषत्कार ने प्रारम्भ किया है उसे जारी रखते हुए ऋषि कहते हैं कि जब भगवान् ने पृथिवी, अप्, तेज आदि लोकों का तथा उन द्वारा जिन इन्द्रियों की पालना हो सकती थी उन मुख, कान, आँख, कान आदि इन्द्रियों का निर्माण कर लिया, और इनके साथ भूख-प्यास को भी जोड़ दिया, तब प्रश्न हुआ कि ये सब खायेंगे क्या ? इस सब को सोच कर भगवान् ने फिर ईक्षण किया। क्या ईक्षण किया ?

सः ईक्षत। इमे नु लोकाः च लोकपालाः च। अन्नं एभ्यः सृजै इति ॥१॥

भगवान् ने देखा—**'सः ईक्षत'**। क्या देखा ? प्रथम अध्याय के प्रथम खंड में उसने सोचा था कि मैं लोकों और लोकपालों का निर्माण करूं। निर्माण कर चुकने के बाद अब देखा कि पृथिवी आदि लोक—**'इमे नु लोकाः च'**, और ये मुख, आँख, कान आदि लोकपाल—**'लोकपालाः च'**, इनकी सृष्टि तो हो गई, इनके साथ भूख-प्यास को भी जोड़ दिया, अब इनके दाने-पानी की, अन्न-जल की सृष्टि भी करनी चाहिये—**'अन्नं एभ्यः सृजै इति'**।१।

अन्न की सृष्टि हो—इसके लिए उसने क्या किया ?

सः आपः अभ्यतपत्। ताभ्यः अभितप्ताभ्यः मूर्तिः अजायत। या वै सा मूर्तिः अजायत, अन्नं वै तत् ॥२॥

बिना जल के अन्न नहीं हो सकता इसलिये भगवान् ने अन्न की सृष्टि करने के लिये जलों को तपाया। जल जब तपेंगे, उन से भाप बनेगी, भाप से बादल बनेंगे, बादलों से वर्षा होगी, वर्षा से अन्न होगा—इस सम्पूर्ण चक्र को ध्यान में रख कर भगवान् ने जलों को तपाया—**'सः आपः अभ्यतपत्'**। जब पानी तपा, भाप बनी, बादल बने, वर्षा हुई, तब साक्षात् मूर्तिमान् पौधे जमकर उठ खड़े हुए—**'या वै सा मूर्तिः अजायत'**। ये पौधे ही अन्न के पौधे थे, मानो अन्न ही थे—**'अन्नं वै तत्'**।२।

हम ऊपर कह चुके हैं कि उपनिषत्कार सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन एक कथानक के रूप में कर रहे हैं। इस कथानक में अनेक पात्र हैं। ब्रह्मांड के पृथिवी, अप्, तेज आदि, पिंड के मुख, आँख, कान, नाक आदि—इनके साथ भूख-प्यास—इन पात्रों में यहाँ से अन्न भी एक पात्र के रूप में आ मिला है। जब अन्न उत्पन्न हुआ तब उसे पाने के लिये सब लपक पड़े। वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, मन, शिश्न—इन सबने अन्न को पकड़ लेने का प्रयत्न किया, परन्तु वह ऐसा भागा कि किसी के हाथ न आया।

आखिर, अन्न के पौधे उग आने भर से तो काम नहीं बनता। अन्न के पौधे में अन्न के दाने पकेंगे, पौधों को काटा जायगा, दानों को और भूसे को अलग-अलग किया जायगा, दानों को पीसा जायगा—इतना सब-कुछ करने पर वह खाने लायक बनेगा, तब 'अशनाया'-'पिपासा', भूख-प्यास मिटेगी। सिर्फ़ अन्न के दानों को देख लेने से भूख-प्यास नहीं मिटेगी। इसी बात को कहने के लिये ऋषि कहते हैं :

> **तत् एतत् सृष्टं पराङ् अत्यजिघांसत्। तत् वाचा अजिघृक्षत्। तत् न अशक्नोत् वाचा गृहीतुम्। सः यद् ह एनत् वाचा अग्रहैष्यत् अभिव्याहृत्य ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत् ।।३।।**

अन्न को भगवान् ने पैदा तो कर दिया—**'तत् एतत् सृष्टं'**—परन्तु वह देवों की विपरीत दिशा में भाग खड़ा हुआ, इसलिये उनके हाथ न आया—**'पराङ् अत्यजिघांसत्'**। उसे देवों ने वाणी से ग्रहण करना चाहा था—**'तत् वाचा अजिघृक्षत्'** (ग्रह् धातु से बना है)—परन्तु बातें बना लेने मात्र से वे अन्न का ग्रहण न कर सके—**'तत् न अशक्नोत् वाचा गृहीतुम्'**। अगर देव-गण ज़बान हिला कर ही इसे

ग्रहण कर लेते—**'सः यद् ह एनत् वाचा अग्रहैष्यत्'**, तो इसे अपनी ओर बुला कर—**'अभिव्याहृत्य'**, निश्चय से अन्न को खाकर तृप्त हो जाते—**'ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत्'** ।३।

जैसे वाणी ने अन्न को पकड़ना चाहा और वह वाणी के हाथ नहीं आया, वैसे ही प्राण ने उसे पकड़ना चाहा, परन्तु प्राण के भी हाथ न आया । इसी बात को ४थी ऋचा में कहा है :

> **तत् प्राणेन अजिघृक्षत् । तत् न अशक्नोत् प्राणेन गृहीतुम् । सः यद् ह एनत् प्राणेन अग्रहैष्यत् अभिप्राण्य ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत् ।।४।।**

देवों ने उसे प्राण से पकड़ना चाहा—**'तत् प्राणेन अजिघृक्षत्'**, परन्तु लम्बा सांस खींच लेने मात्र से वे अन्न का ग्रहण न कर सके—**'तत् न अशक्नोत् प्राणेन गृहीतुम्'** । अगर देव-गण श्वास-प्रश्वास खींच-छोड़ कर ही इसे ग्रहण कर लेते—**'सः यद् ह एनत् प्राणेन अग्रहैष्यत्'**, तो अन्न की तरफ़ लम्बा सांस खींच कर—**'अभिप्राण्य'**, निश्चय से अन्न को खाकर तृप्त हो जाते—**'ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत्'** ।४।

जैसे वाणी तथा प्राण ने अन्न को पकड़ना चाहा और वह इन दोनों के हाथ नहीं आया, वैसे ही आँख ने उसे पकड़ना चाहा, परन्तु वह आंख के हाथ भी नहीं आया । इसी बात को ५वीं ऋचा में कहा है :

> **तत् चक्षुषा अजिघृक्षत् । तत् न अशक्नोत् चक्षुषा गृहीतुम् । सः यद् ह एनत् चक्षुषा अग्रहैष्यत् दृष्ट्वा ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत् ।।५।।**

देवों ने उसे आँखों से पकड़ना चाहा—**'तत् चक्षुषा अजिघृक्षत्'**, परन्तु सिर्फ़ उसे देख लेने से वे अन्न का ग्रहण न कर सके—**'तत् न अशक्नोत् चक्षुषा गृहीतुम्'** । अगर देव-गण सिर्फ़ अन्न को देख कर ही उसे ग्रहण कर सकते—**'सः यद् ह एनत् चक्षुषा अग्रहैष्यत्'**, तो अन्न की तरफ़ आँख उठाकर देख लेने मात्र से ही—**'दृष्ट्वा ह एव अन्नम्'**, तृप्त हो जाते—**'अत्रप्स्यत्'** ।५।

जैसे वाणी, प्राण तथा आँख ने अन्न को पकड़ना चाहा और वह इन तीनों के हाथ न आया, वैसे ही श्रोत्र ने उसे पकड़ना चाहा, परन्तु वह श्रोत्र के हाथ भी नहीं आया । इसी बात को ६टी ऋचा में कहा है :

तत् श्रोत्रेण अजिघृक्षत् । तत् न अशक्नोत् श्रोत्रेण गृहीतुम् । सः यद् ह एनत् श्रोत्रेण अग्रहैष्यत् श्रुत्वा ह एव अन्नं अत्रप्स्यत् ।।६।।

देवों ने उसे श्रोत्रों—कानों—से पकड़ना चाहा—**'तत् श्रोत्रेण अजिघृक्षत्'**, परन्तु सिर्फ़ अन्न का नाम सुन लेने से वे उसे ग्रहण न कर सके—**'तत् न अशक्नोत् श्रोत्रेण गृहीतुम्'**। अगर देव-गण सिर्फ़ अन्न का नाम सुन कर ही उसे ग्रहण कर सकते, उसे पा जाते—**'सः यद् ह एनत् श्रोत्रेण अग्रहैष्यत्'**, तो अन्न का नाम या उसकी महिमा सुनकर ही—**'श्रुत्वा ह एव अन्नं'**, तृप्त हो जाते—**'अत्रप्स्यत्'**।६।

जैसे वाणी, प्राण, आँखें तथा श्रोत्र ने अन्न को पकड़ना चाहा और वह इन चारों के हाथ न आया, वैसे ही त्वचा ने उसे पकड़ना चाहा, परन्तु वह त्वचा के हाथ भी न आया। इसी बात को ७वीं ऋचा में कहा है :

तत् त्वचा अजिघृक्षत्। तत् न अशक्नोत् त्वचा गृहीतुम्।
सः यद् ह एनत् त्वचा अग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वा ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत्॥७॥

देवों ने अन्न को त्वचा से पकड़ना चाहा—**'तत् त्वचा अजिघृक्षत्'**, परन्तु सिर्फ़ छू लेने से वे उसका ग्रहण न कर सके—**'तत् न अशक्नोत् गृहीतुम्'**। अगर देव-गण सिर्फ़ अन्न को छू कर उसे ग्रहण कर सकते—**'सः यद् ह एनत् त्वचा अग्रहैष्यत्'**, तो अन्न को छूकर ही—**स्पृष्ट्वा ह एव अन्नम्'**, तृप्त हो जाते—**'अत्रप्स्यत्'**।७।

जैसे वाणी, प्राण, आँख, श्रोत्र तथा त्वचा ने अन्न को पकड़ना चाहा और वह इन पाँचों के हाथ न आया, वैसे ही मन ने उसे पकड़ना चाहा—इच्छा भर की मैं इसे पकड़ कर खा जाऊं परन्तु किया कुछ नहीं—तो वह मन के हाथ भी नहीं आया। इसी बात को ८वीं ऋचा में कहा है :

तत् मनसा अजिघृक्षत्। तत् न अशक्नोत् मनसा गृहीतुम्।
सः यद् ह एनत् मनसा अग्रहैष्यत्, ध्यात्वा ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत्॥८॥

देवों ने अन्न को मन से पकड़ना चाहा—**'तत् मनसा अजिघृक्षत्'**, परन्तु सिर्फ़ अन्न का मन द्वारा ध्यान कर लेने से उसका ग्रहण न हो सका—**'तत् न अशक्नोत् मनसा गृहीतुम्'**। अगर देव-गण सिर्फ़ अन्न का चिंतन कर लेने से उसे पकड़ सकते—**'सः यद् ह एनत् मनसा अग्रहैष्यत्'**, तो उनके द्वारा अन्न का ध्यान करते ही—**'ध्यात्वा ह एव अन्नम्'**, तृप्त हो जाते—**'अत्रप्स्यत्'**।८।

जैसे वाणी, प्राण, आँख, श्रोत्र, त्वचा तथा मन ने अन्न को पकड़ना चाहा और वह इन छहों के हाथ न आया, वैसे ही शिश्न ने उसे पकड़ना

चाहा, परन्तु उसके हाथ भी वह न आया। शिश्न ने अन्न को पकड़ना चाहा—इसके शब्दार्थ की तरफ़ नहीं जाना चाहिये। ऋषि ने अपने वक्तव्य को कथानक का रूप दिया हुआ है जिसमें मनुष्य के सब अंग भिन्न-भिन्न पात्रों का काम कर रहे हैं। पहले प्रथम अध्याय के द्वितीय खंड की ४र्थ ऋचा में **'आपः रेतः भूत्वा शिश्नं प्राविशत्'**—यह कहते हुए शिश्न को भी उन्होंने अन्य पात्रों के साथ इस कथानक का एक पात्र माना हुआ है, इसलिये इस प्रकरण में भी अन्य पात्रों का उल्लेख करते हुए शिश्न का भी उल्लेख कर दिया है। इसका उल्लेख करते हुए कहा है :

तत् शिश्नेन अजिघृक्षत्। तत् न अशक्नोत् शिश्नेन गृहीतुम्।
सः यद् ह एनत् शिश्नेन अग्रहैष्यत् विसृज्य ह एव अन्नम् अत्रप्स्यत्॥९॥

जब पुरुष का कोई भी अंग अन्न को न पकड़ सका, न वाणी द्वारा 'अन्न' पुकार देने से, न श्वास-प्रश्वास की क्रिया से, न आँखों द्वारा देखने से, न कानों द्वारा सुनने से, न त्वचा द्वारा छू लेने से, न मन से इच्छा करने मात्र से अन्न की प्राप्ति होती है, तो प्रश्न है कि अन्न की प्राप्ति कैसे होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ऐतरेयोपनिषत्कार कहते हैं :

तत् अपानेन अजिघृक्षत्। तद् आवयत्। सः एषः
अन्नस्य ग्रहः। यत् वायुः अन्नायुः वै, एष यद् वायुः॥१०॥

अन्न को जब अपान-वायु ने पकड़ना चाहा—**'तत् अपानेन अजिघृक्षत्'**, तब वह पकड़ में आ गया—**'तद् आवयत्'**। अपान-वायु अन्न का पकड़ने वाला है—**'सः एषः अन्नस्य ग्रहः'**। यह जो अपान-वायु है वह निश्चय से अन्न द्वारा आयु को देने वाला है—**'यत् वायुः अन्नायुः वै'**। यह अपान-वायु अन्नायु है—**'एषः यद् वायुः'**।१०।

ऋषि ने अपान-वायु का अन्न को पकड़ने में महत्व दर्शाया है। निश्चय से अपान-वायु का बड़ा महत्व है। नाभि के नीचे के प्रदेश में जो वायु संचरण करता है वह अपान-वायु है। इसका काम अन्न के पच जाने पर मल को नीचे धकेल देना है। अपान बिगड़ गया तो सम्पूर्ण उदर-मण्डल बिगड़ जाता है। प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश रोगी पेट में हवा की शिकायत किया करते हैं। पेट से हवा नहीं निकलती, पेट में ही चक्कर काटती है, पेट में हवा की वजह से नींद नहीं आती, हवा अटक जाती है, दर्द होता है—ये सब शिकायतें अपान-

वायु की विकृति के कारण होती हैं। अपान ठीक हो तो मानो अन्न पकड़ा गया, अन्न से कोई विकार नहीं हुआ। इसलिये उपनिषत्कार ने कहा कि अन्न को कोई नहीं पकड़ सकता, सिर्फ़ अपान-वायु ही पकड़ सकता है, उसी को नियम में रखना आयु के लिये आवश्यक है।

यहाँ तक जो-कुछ कहा अन्न को लक्ष्य में रखकर कहा। अन्न को लक्ष्य में रख कर क्यों कहा? इसलिये कहा क्योंकि भगवान् ने देव-लोक (ब्रह्मांड) तथा लोक-पाल (पिंड) की जो रचना की थी, ब्रह्मांड के पंच महाभूतों तथा पिंड की पाँचों इन्द्रियों के साथ भूख तथा प्यास को भी जोड़ दिया था, उसमें भूख-प्यास मिटाने के लिये अन्न का विशेष महत्व था। इस महत्व के कारण अनेक ऋचाओं में अन्न का ही वर्णन किया गया। परन्तु अन्न का इतना वर्णन कर चुकने के बाद ऋषि फिर अध्यातम की चर्चा करने लगते हैं। वे कहते हैं:

सः ईक्षत, कथं नु इदं मद् ऋते स्याद् इति। सः ईक्षत, कतरेण प्रपद्ये इति। सः ईक्षत, यदि वाचा अभिव्याहृतम्, यदि प्राणेन अभिप्राणितम्, यदि चक्षुषा दृष्टम्, यदि श्रोत्रेण श्रुतम्, यदि त्वचा स्पृष्टम्, यदि मनसा ध्यातम्, यदि अपानेन अभ्यपानितम्, यदि शिश्नेन विसृष्टम्, कः अहम् इति ॥११॥

अब-तक जो ईक्षण चल रहा था वह भगवान् का ईक्षण था। अब ऋषि जीवात्मा के ईक्षण की बात कर रहे हैं। क्या बात कर रहे हैं?

जीवात्मा ने ईक्षण किया—'**सः ईक्षत**'। क्या ईक्षण किया? यह ईक्षण किया कि यह पिंड जिसमें ब्रह्मांड की अग्नि वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हो गई है, वायु प्राण बन कर नासिकाओं में प्रविष्ट हो गया है, आदित्य चक्षु बन कर आँखों में प्रविष्ट हो गया है, दिशाएं श्रोत्र बन कर कानों में प्रविष्ट हो गई हैं, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हो गया है, मृत्यु अपान बन कर नाभि में प्रविष्ट हो गई है, जल वीर्य बन कर शिश्न में प्रविष्ट हो गये हैं—यह पिंड भौतिक-तत्त्वों से तो बन गया, परन्तु यह मेरे बिना तो मट्टी का ढेला ही बना रहेगा, मेरे बिना कैसे काम चलेगा—'**कथं नु इदं मद् ऋते स्याद् इति**'। जीवात्मा ने फिर देखा—'**सः ईक्षत**'। क्या देखा? यह देखा कि अगर यह पुरुष का पिंड मेरे बिना वाणी से अपने-आप बोलने लगे—'**यदि वाचा अभिव्याहृतम्**', यदि मेरे बिना प्राण-वायु से अपने-आप

सांस लेने लगे—**'यदि प्राणेन अभिप्राणितम्'**, यदि मेरे बिना आंख के गोलक से अपने-आप देखने लगे—**'यदि चक्षुषा दृष्टम्'**, यदि मेरे बिना कान से अपने-आप सुनने लगे—**'यदि श्रोत्रेण श्रुतम्'**, यदि मेरे बिना त्वचा से अपने-आप स्पर्श करने लगे—**'यदि त्वचा स्पृष्टम्'**, यदि मेरे बिना मन से अपने-आप विचार करने लगे—**'यदि मनसा ध्यातम्'**, यदि मेरे बिना सब-कुछ करने लगे, तो मैं किस काम का रहा—**'कः अहम् इति'**। कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ इस कथानक के अब तक अग्नि आदि ब्रह्मांड के देवता तथा मुख, आँख आदि पिंड की इन्द्रियाँ पात्र थीं, वहाँ अब जीवात्मा को भी ऋषि ने इस कथानक का पात्र बना कर उसे बीच में लाकर खड़ा कर दिया। संक्षेप में, इन सब पात्रों के नाटक को देख कर जीवात्मा ने आकर कहा कि देखें मेरे बिना यह नाटक कैसे खेला जा सकता है। अग्नि भले ही मुख में प्रविष्ट हो जाय, प्राण भले ही नासिकाओं में प्रविष्ट हो जायें, आदित्य भले ही आँखों में प्रविष्ट हो जाय, जब-तक इस पुरुष-रूपी पिंड में मैं प्रविष्ट नहीं होता तब-तक मेरे बिना काम नहीं चल सकता। अगर मेरे बिना काम चल जाय तो मैं जानूं। यह कह कर उसने इस नाटक के पात्रों को ललकारा—सोच लो, मैं कौन हूं—**'कः अहम् इति'**।११।

जब देवता तथा इन्द्रियाँ समझ गईं कि जीवात्मा के बिना सारा सामान जुटा लेने पर भी यह मट्टी का पिंड ही बना रहेगा, तब उनकी दीन दशा देख कर आत्मा उस पिंड में प्रविष्ट हो गया। जैसे अब तक उसमें ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, आदित्य आदि प्रविष्ट हुए थे, वैसे अब उस पिंड में, ब्रह्मांड में वर्तमान आत्म-तत्व प्रविष्ट हो गया। कहाँ और कैसे प्रविष्ट हुआ—इस सम्बन्ध में इस ऐतरेय-कथानक के कथाकार ऋषि कहते हैं :

> **सः एतम् एव सीमानं विदार्य, एतया द्वारा प्रापद्यत सा एषा विदृतिः नाम द्वाः। तत् एतत् नान्दनम्। तस्य आवसथाः, त्रयः त्रयः स्वप्नाः, अयं आवसथः, अयं आवसथः, अयं आवसथः इति ।।१२।।**

यह सोचकर कि मेरे बिना पुरुष का यह शरीर जिसमें इन्द्रियों के द्वार तो बन गये हैं, परन्तु उसमें चेतना नहीं है, बेकार रहेगा, जीवात्मा इस शरीर की सीमा को फाड़ कर, कपाल को भेद कर—**'सः एतम् सीमानं विदार्य'**, उसके द्वारा शरीर के भीतर प्रविष्ट हो गया—**'एतया**

द्वारा प्रापद्यत' । क्योंकि इस द्वार को खोल कर जीवात्मा इस पुतले के भीतर प्रविष्ट हुआ इसलिये इस द्वार का नाम विदृति है—**'सा एषा विदृतिः नाम द्वाः'** । शरीर में आत्मा जब इस स्थान पर—मूर्धा पर पहुँचता है तब वह परमानन्द में जा पहुंचता है—**'तत् एतत् नान्दनं'** । जीवात्मा की शरीर में तीन अवस्थाएं हैं—**'तस्य त्रयः आवसथाः'** । ये तीनों अवस्थाएं स्वप्न की अवस्थाएं हैं—**'त्रयः स्वप्नाः'**, इन्हें जागने की अवस्था नहीं कहा जा सकता । वे तीन अवस्थाएं कौन-सी हैं ? एक अवस्था वह है जिसमें वह नीच विचारों में विचरता है—**'अयं आवसथः'**, दूसरी अवस्था वह है जिसमें वह मध्यम विचारों में विचरता है—**'अयं आवसथः'**, तीसरी अवस्था वह है जिसमें वह उच्च विचारों में विचरता है—**'अयं आवसथः'**; परन्तु इन तीनों अवस्थाओं को आत्मा की स्वप्न अवस्थाएं कहा जा सकता है, आत्मा की जाग्रत् अवस्था तो वह है जब उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है ।१२।

जीवात्मा द्वारा शरीर में प्रवेश हो जाने के बाद उसे शरीर में ही परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है—इस स्थिति को समझाते हुए ऋषि कहते हैं :

सः जातः भूतानि अभिव्यैख्यत्, किं इह अन्यं वावदिषत् इति ।
सः एतं एव पुरुषं ब्रह्म ततमम् अपश्यत्, इदं अदर्शं इति ।।१३।।

वह—जीवात्मा—जब शरीर में प्रविष्ट हो गया—**'सः जातः'**, तब उसने शरीर में पृथिवी, अप्, तेज, वायु आदि भूतों को देखा—**'भूतानि अभिव्यैख्यत्'**, और यह जानना चाहा कि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा भी कौन इस शरीर में बोल रहा है—**'किं इह अन्यं वावदिषत् इति'** । जीवात्मा के अतिरिक्त शरीर में यह दूसरा कौन था ? पुरुष के शरीर के अंग-अंग में फैला हुआ यह ब्रह्म ही था—यह जीवात्मा ने देख लिया—**'सः एतं एव पुरुषं ब्रह्म ततमम् अपश्यत्'** और कहा कि मैंने इसे देख लिया—**'इदं अदर्शं इति'** ।१३।

इस कथानक में जितने पात्र थे उनमें अब एक अन्तिम पात्र का समावेश हुआ—ब्रह्म का । ऋषि कहते हैं कि जब महाभूतों से आविष्ट शरीर में जीवात्मा ने प्रवेश किया तब यह देखा कि महाभूतों तथा जीव के अतिरिक्त शरीर में ब्रह्म पहले से फैला हुआ था । इस ब्रह्म का नाम अगली ऋचा में 'इदन्द्र'—'इन्द्र'—यह कहा गया है :

तस्मात् इदन्द्रः नाम। इदन्द्रः ह वै नाम, तं इदन्द्रं सन्तं इन्द्रः इति आचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रियाः इव हि देवाः, परोक्षप्रियाः इव हि देवाः ॥१४॥

जब शरीर में प्रविष्ट होकर जीवात्मा ने ब्रह्म को देखा तो कहा —**'इदं अदर्शम्'**—यहां मैंने ब्रह्म को देखा। 'इदं अदर्शम्'--इन दो पदों के मिलने से संक्षिप्त शब्द बना इदनदर, इदनदर का संक्षेप हुआ इदन्दर, इदन्दर का संक्षेप हुआ इदन्द्र। ऋषि कहते हैं कि **'इदं अदर्शम्'** का संक्षेप 'इदन्द्रः'—यह है जिसका अर्थ है कि शरीर में प्रविष्ट होकर जीवात्मा ने ब्रह्म को देख लिया—**'इदं अदर्शम्'**—**'तस्मात् इदन्द्रः नाम'**। जो ऋषि कहने लगते हैं कि उन्होंने ब्रह्म को देख लिया, योगियों की गुप्त भाषा में उनके ब्रह्म-प्रत्यक्ष को इदन्द्र कहते हैं— **'इदन्द्रः ह वै नाम'**। इदन्द्र का ही संक्षिप्त परोक्ष नाम **'इन्द्र'** कहा जाता है—**'तं इदन्द्रं सन्तम् इन्द्रः इति आचक्षते परोक्षेण'**। इस दृष्टि से **'इन्द्र'**—यह एक गुह्य शब्द है जिसका वास्तविक अर्थ है—ब्रह्म का दर्शन कर लिया—**'इदं अदर्शम्'**। इस प्रकार यह गुप्त शब्द क्यों रचा गया? इसका समाधान करते हुए ऋषि कहते हैं कि देवता लोग प्रत्यक्ष बात कहना पसन्द नहीं करते, अपने अभिप्राय को रहस्यमयी भाषा में ही कहना पसन्द करते हैं—**'परोक्षप्रियाः इव हि देवाः परोक्ष-प्रियाः इव हि देवाः'**।४।

प्रथम अध्याय का सारांश—ब्रह्मांड तथा पिंड की उत्पत्ति

इस अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति के विषय को एक कथानक के रूप में कहा गया है। कथानक के रूप में किसी विषय को समझाना—यह उपनिषदों की अपनी शैली है। केन उपनिषद् में अग्नि, वायु, इन्द्र, यक्ष तथा उमा के कथानक के द्वारा अध्यात्म की चर्चा की गई है, कठ उप-निषद् में नचिकेता तथा मृत्यु के संवाद का कथानक लेकर श्रेय तथा प्रेय मार्ग की चर्चा की गई है, इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा आदि तथा पिंड के मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों को कथानक का पात्र बनाकर सृष्ट्युत्पत्ति की चर्चा की गई है।

इस उपनिषद् में जब यह कहा कि परमात्मा ने ईक्षण किया और लोकों तथा लोकपालों की सृष्टि कर दी, तब इसका शाब्दिक

अर्थ लेना उचित नहीं है। सृष्ट्युत्पत्ति के कथानक की रचना करते हुए ऋषि ने इस कथानक के अनेक पात्रों की कल्पना की है। इन पात्रों में ब्रह्मांड के पात्र हैं—अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएं, वनस्पतियां, चन्द्रमा, मृत्यु तथा जल; पिंड के पात्र हैं—मुख, नासिका, अक्षिणी, कर्णौ, त्वक्, हृदय, नाभि, शिश्न, भूख तथा प्यास; ब्रह्मांड तथा पिंड के इन सभी पात्रों के हीरो हैं ब्रह्म तथा जीव।

सृष्टि का प्रारंभ मूर्च्छित-पुरुष से हुआ—**'पुरुषं समुद्धृत्य अमूर्च्छ-यत्'**। मूर्च्छित का अभिप्राय है—अव्याकृत, अव्यक्त, अभिन्न। उदाहरणार्थ, पत्थर से मूर्ति गढ़ी जाती है, परन्तु जब तक उसका अंग-प्रत्यंग स्पष्ट तौर पर उघड़ नहीं आता, तब तक बीज रूप में वह-सब उसके भीतर छिपा रहता है, परन्तु अव्याकृत, अव्यक्त और मूर्च्छित होता है, भिन्न-भिन्न अंग अभिन्न रूप में उसमें मौजूद रहते हैं। भगवान् ने जब सृष्टि का प्रारंभ किया तब एक मूर्च्छित-पुरुष की रचना की। उस से ब्रह्मांड के अग्नि, वायु, जल, आदित्य, चन्द्र आदि देवताओं का प्रादुर्भाव हुआ, उसी से पिंड के मुख, नासिका, चक्षु, कर्ण आदि का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारंभ में यह पुरुष मूर्च्छित था, अव्याकृत एवं अव्यक्त था, ज्यों-ज्यों यह मूर्च्छित-पुरुष अमूर्च्छित होता गया, व्याकृत तथा व्यक्त होता गया, इससे ब्रह्मांड तथा पिंड की रचना प्रारंभ हुई, त्यों-त्यों ब्रह्मांड में अग्नि, वायु आदि तथा पिंड में मुख, नासिका आदि प्रकट हुए। विकास की इस प्रक्रिया को हर्बर्ट स्पेंसर ने From indefinite to definite—इस प्रकार कहा है। पाश्चात्य विद्वानों की सृष्टि-विकास के संबंध में जो धारणा है उसमें तथा उपनिषद् की सृष्ट्युत्पत्ति की धारणा में मूलतः कोई भेद नहीं है, वर्णन शैली में भेद है। उपनिषत्कार ने विकास की इस प्रक्रिया को एक कथानक का रूप दे दिया है, और अग्नि, वायु, जल आदि एवं मुख, नासिका आदि तथा भगवान् एवं जीवात्मा को इस कथानक का पात्र मान कर एक रोचक ढंग से सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन किया है। सृष्ट्युत्पत्ति के इस वर्णन को शब्दशः न समझ कर आलंकारिक रूप में समझना चाहिये।

द्वितीय अध्याय—पुरुष की उत्पत्ति

सृष्टि की उत्पत्ति के बाद ऋषि द्वितीय-अध्याय में पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। क्योंकि यह वर्णन एक सामूहिक-समाज में हो रहा था जिसमें पुरुष तथा स्त्रियां दोनों सम्मिलित बैठे थे, इसलिये इस वर्णन का प्रारंभ करते हुए वे कहते हैं—**'अपक्रामन्तु गर्भिण्यः'**, जो देवियां गर्भवती यहां बैठी हैं वे उठकर बाहर चली जायें। उनके बाहर चले जाने के बाद ऋषि पुरुषोत्पत्ति की चर्चा करते हैं :

> **पुरुषे ह वै आदितः गर्भः भवति। यद् एतद् रेतः तद् एतद् सर्वेभ्यः अंगेभ्यः तेजः संभूतम्। आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिंचति अथ एनत् जनयति। तद् अस्य प्रथमम् जन्म ॥१॥**

ऋषि कहते हैं कि कहने को तो स्त्री में गर्भ धारण होता है, परन्तु आदि से पुरुष में ही गर्भ धारण होता है—**'पुरुषे ह वै आदितः गर्भः भवति'**। क्यों पुरुष में ही गर्भ होता है ? इसलिये शुरू से पुरुष में गर्भ होता है क्योंकि पुरुष के सभी अंगों में से तेज इकट्ठा होकर वीर्य बनता है—**'यद एतद् रेतः तद् सर्वेभ्यः अंगेभ्यः तेजः संभूतः'**। क्योंकि सब अंगों के तेज का सार वीर्य है इसलिये वीर्य का बनना अपने में अपने को गर्भ के रूप में धारण करना है—**'आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति'**। जब उस वीर्य को पुरुष स्त्री में सिंचित करता है—**'तद् यदा स्त्रियां सिंचति'**, तब सन्तान का जनन होता है—**'अथ एनत् जनयति'**। इस प्रकार स्त्री में गर्भाधान हो जाना सन्तान का प्रथम जन्म है।१।

इस कथन में ऋषि ने वीर्य के विषय में एक महत्वपूर्ण स्थापना की है। उनका कहना है कि क्योंकि वीर्य का तेज पुरुष के सब अंगों से खिच कर आता है इसलिये वीर्य का बनना स्वयं गर्भाधान है—**'आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति'**। इस दृष्टि से वीर्य का नाश एक दृष्टि से गर्भपात के बराबर है। वैदिक परंपरा में वीर्य को इतना महत्व दिया गया है कि वीर्य अंग-अंग में ही रचता रहे, निकले तो गर्भाधान के लिये ही निकले। जो वीर्य स्त्री में जाता है वह जैसे पुरुष का अंग था वैसे अब स्त्री का अंग हो जाता है। इस विषय में ऋषि कहते हैं :

तत् स्त्रियाः आत्मभूयम् गच्छति । यथा स्वम् अंगं तथा । तस्मात् एनाम् न हिनस्ति । सा अस्य एतम् आत्मानं अत्र गतं भावयति ।।२।।

वह वीर्य स्त्री में जाकर उसका आत्मवत् हो जाता है—**'तत् स्त्रियाः आत्मभूयम् गच्छति'**, जैसा अपना अंग होता है वैसा ही हो जाता है—**'यथा स्वं अंगं तथा'**। यही कारण है कि एक विजातीय-द्रव होने पर भी क्योंकि वह अपना अंग हो जाता है इसलिये स्त्री को कष्ट नहीं देता—**'तस्मात् एनाम् न हिनस्ति'**। वह स्त्री पुरुष की आत्मा को—**'सा अस्य एतम् आत्मानं'**, यह आत्मा अपने भीतर आ गई है, इस प्रेमपूर्वक भावना से पालती है—**'अत्र गतं भावयति'** ।२।

क्योंकि गर्भवती स्त्री सन्तान के रूप में पति को ही अपने भीतर पाल रही होती है इसलिये पति का कर्तव्य है कि प्रेमपूर्वक उसकी पालना करे :

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं विभर्ति । सः अग्रे एव कुमारं जन्मनः अग्रे अधिभावयति । सः यत् कुमारं जन्मनः अग्रे अधिभावयति आत्मानं एव तद् भावयति । एषां लोकानां सन्तत्यै एवं सन्तताः हि इमे लोकाः । तद् अस्य द्वितीयं जन्म ।।३।।

पत्नी सन्तान के रूप में पति की पालना कर रही होती है—**'सा भावयित्री'**, इसलिये वह पति द्वारा भावनापूर्वक पालन की अधिका-रिणी है—**'भावयितव्या भवति'**। स्त्री अपने पति को ही गर्भ में धारण करती है—**'तं स्त्री गर्भं विभर्ति'**। पति भी पहले से ही—**'सः अग्रे एव'**, कुमार के जन्म से पहले ही—**'कुमारं जन्मनः अग्रे'**, उसकी भावना कर रहा होता है—**'अधिभावयति'**। सन्तान के जन्म से पहले ही सन्तान कैसी हो—यह भावना करना वैदिक-संस्कृति की अनहोनी देन है। सन्तान के जन्म के पहले ही उसके जीवन का नक्शा जो बना लेता है—**'सः यत् कुमारं जन्मनः अग्रे अभिभावयति'**, वह मानो अपने-आप को बना रहा होता है—**'आत्मानं एव तद् भावयति'**। इस संसार का प्रवाह चलाने के लिये—**'एषां लोकानां सन्तत्यै'**—ही ये लोक इस प्रकार बनाये गये हैं—**'एवं सन्तताः हि इमे लोकाः'**। यह पुरुष का द्वितीय जन्म है – **'तद् अस्य द्वितीयं जन्म'** ।३।

इन ऋचाओं में दो बातें ऐसी कही गई हैं जो पहले किसी ने नहीं

कही थीं। पहली बात तो यह है कि गर्भ-धारण शुरू-शुरू में पुरुष में ही होता है—**'पुरुषे ह वै आदितः गर्भं भवति'** (१)। स्त्री में तो गर्भ-धारण बाद को होता है, आदि में यह पुरुष में ही होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए फिर कहा—**'आत्मनि एव आत्मानं बिभर्ति'** (१), अपने में ही अपना गर्भाधान हो जाता है। इसका कारण बतलाते हुए ऋषि कहते हैं कि पुरुष का तेज अंग-अंग में व्याप रहा है, वह तेज जब अंगों से खिच कर वीर्य में आ जाता है तब मानो वीर्य के रूप में अपने भीतर ही गर्भ बन जाता है। गर्भ बन जाता है का यह अर्थ नहीं है कि अपने भीतर गर्भाधान हो जाता है। इसका यह अर्थ है कि उस वीर्य को गर्भ का प्रतिनिधि समझ कर उसकी रक्षा करनी उचित है, उसका नाश नहीं करना। उस वीर्य का नाश करना गर्भ-हत्या के समान है। उसका मूल्य उतना ही है जितना गर्भ का होता है। दूसरी बात यह कही कि इस गर्भ से जो सन्तान उत्पन्न होगी उसे भाग्य पर नहीं छोड़ा जा सकता—कैसी होगी, कैसी न होगी, अच्छी होगी, बुरी होगी—यह भविष्य के गर्भ में नहीं है। उस सन्तान के विषय में ऋषि ने कहा है कि उस सन्तान का जीवन उत्पन्न होने से पहले ही बन चुका होता है—**'सः अग्रे एव कुमारं जन्मनः अग्रे अधिभावयति'** (३), पिता सन्तान के उत्पन्न होने से पहले ही उसका निर्माण कर लेता है। उत्पन्न होने से पहले पिता अपनी सन्तान का निर्माण कैसे कर लेता है? इस प्रकार कर लेता है क्योंकि जैसे संस्कार पिता के हैं वैसे ही संस्कार सन्तान में संक्रान्त हो जाते हैं।

पिता के संस्कार जैसे होते हैं पुत्र उन्हीं संस्कारों को लेकर पैदा होता है। एक प्रकार से पिता ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है। इस बात को ऋषि ने आत्मा या पुरुष का द्वितीय जन्म कहा है। अब आगे वे आत्मा के तृतीय जन्म की बात कहते हैं:

> **सः अस्य अयं आत्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते।**
> **अथ अस्य अयं इतरः आत्मा कृतकृत्यः वयोगतः प्रैति।**
> **सः इतः प्रयन् एव पुनः जायते।**
> **तद् अस्य तृतीयं जन्म ॥४॥**

पुरुष का पहला जन्म तब होता है जब वह गर्भ में आता है, दूसरा जन्म तब होता है जब वह कुमार या कुमारी के रूप में जन्म लेता है, तीसरा जन्म तब होता है जब वह इस जन्म के काम-काज से निबट

कर मरने के बाद अगले जन्म में प्रवेश करता है। अगले जन्म में प्रवेश करते हुए वह क्या करता है?

जैसा पहले कहा गया है, पुरुष का पुत्र उसका ही आत्मा है। उसका यह आत्मा—अर्थात् उसका पुत्र—**'सः अस्य अयं आत्मा'**—पुण्य-कर्मों से जब इस संसार में प्रतिस्थापित हो जाता है—**'पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते'**, तब पुरुष का इतर आत्मा—अर्थात् उसका अपना आत्मा—**'अथ अस्य अयं इतरः आत्मा'**, कृतकृत्य होकर और वयोवृद्ध होकर—**'कृतकृत्यः वयोगतः'**, संसार से कूच कर जाता है—**'प्रैति'**। वह यहाँ से तो कूच कर जाता है, परन्तु यहाँ से जाता हुआ ही—**'स इतः प्रयन् एव'**, फिर उत्पन्न हो जाता है—**'पुनः जायते'**। यह आत्मा का तृतीय जन्म है—**'तद् अस्य तृतीयं जन्म'**।४।

इस ऋचा में आत्मा के जन्म-जन्मान्तर के चक्र का निर्देश है। पहले गर्भ में आना—यह उसका पहला जन्म है; फिर जन्म लेने के बाद कुमार या कुमारी के रूप में उत्पन्न होना—यह उसका दूसरा जन्म है; तदनन्तर अपने आत्मा के रूप में पुत्र को इस लोक में छोड़ कर अपने-आप को अगले जन्म में ले जाना—यह आत्मा का तीसरा जन्म है। यह सिलसिला लगातार अनेक जन्मों में चलता चला जाता है, जीव ऐसा अनुभव करता है मानो लोहे के जाल में फंस गया है, इसमें से निकलने का कोई रास्ता नहीं। वामदेव ऋषि कहते हैं कि गर्भ में ही उन्हें यह ज्ञान हो गया था कि मनुष्य को मानो लोहे के जाल में अनेक जन्मों में यहीं फंसे रहना है। परन्तु जैसे श्येन पक्षी जाल में फंसा होने पर अपना पूरा ज़ोर लगाकर ऊपर उड़ जाता है और जाल के बंधनों को परे फेंक देता है वैसे आत्मा जन्म-जन्मान्तर के बंधनों को काट कर परे फेंक देने में समर्थ है:

> **तद् उक्तम् ऋषिणा। गर्भे नु सन् एषाम् अनु अवेदम् अहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुरः आयसीः अरक्षन्। अधः श्येनः जवसा निरदीयम् इति। गर्भे एव एतत् शयानः वामदेवः एवं उवाच ॥५॥**

यह वामदेव ऋषि ने कहा है—**'तद् उक्तम् ऋषिणा'**। क्या कहा है? मैं तो जब गर्भ में था तब ही जान गया था—**'गर्भे नु सन् एषाम् अनु अवेदम् अहम्'**—कि देवताओं को अनेक जन्मों में से गुज़रना पड़ता है—**'देवानां जनिमानि विश्वा'**। वामदेव ऋषि कहते हैं कि मुझे सैकड़ों

जन्म रूपी नगरियों में ऐसे रखा गया था जैसे लोहे के जाल में बांध दिया गया हो—**'शतं मा पुरः आयसीः अरक्षन्'**। जैसे भूमि पर श्येन जाल में फंसने पर उसे वेग से फाड़ देता है वैसे मैंने इस जाल को फाड़ दिया—**'अधः श्येनः जवसा निरदीयम् इति'**। गर्भ में पड़े—**'गर्भे एव एतत् शयानः'**, वामदेव ऋषि ने ये वचन कहे—**'वामदेवः एवं उवाच'**। इस ऋचा में 'जन्मानि' को 'जनिमानि' कहा है—यह वैदिक प्रयोग है।५।

वामदेव ऋषि के मत में जन्म-जन्मान्तर के चक्र-व्यूह में से निकल जाना ही मनुष्य का लक्ष्य है। वामदेव इस बात को जानते थे इसलिए शरीर को छोड़ कर अमर हो गये। उनके विषय में ऋचा कहती है :

> **सः एवं विद्वान्, अस्माद् शरीर-भेदात् ऊर्ध्वं उत्क्रम्य,**
> **अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वा, अमृतः**
> **समभवत् समभवत् ।।६।।**

जन्म-जन्मान्तर के चक्र-व्यूह को कैसे काटना है यह बात वामदेव ऋषि जानते थे—**'सः एवं विद्वान्'**। इस बात को जानने के कारण वे इस शरीर को छोड़कर, इसका भेदन करके ऊर्ध्वगामी होकर—**'अस्माद् शरीरभेदात् ऊर्ध्वं उत्क्रम्य'**, उस स्वर्ग-लोक में—**'अमुष्मिन् स्वर्गे लोके'**, सब कामनाओं को प्राप्त कर—**'सर्वान् कामान् आप्त्वा'**, अमर हो गये, हो गये—**'अमृतः समभवत् समभवत्'**।६।

द्वितीय अध्याय का सारांश—पुरुष की उत्पत्ति, जन्म-जन्मान्तर तथा मुक्ति

प्रथम अध्याय में सृष्टि के निर्माण, अर्थात् ब्रह्मांड तथा पिंड की उत्पत्ति का कथानक के रूप में वर्णन किया; द्वितीय अध्याय में पुरुष की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति के बाद उसकी जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से मुक्ति का वर्णन किया।

पुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस उपनिषद् ने मार्के की दो बातें कही हैं। इस उपनिषद् का कहना है कि वीर्य एक अत्यन्त सारवान् तत्व है। हम तो समझते हैं कि वीर्य का स्त्री में सिंचन होने से ही गर्भ होता है, इस उपनिषद् का कहना है कि गर्भ की स्थापना पहले पुरुष

ही अपने-आप में करता है—**'पुरुषे ह वै आदतिः गर्भः भवति'** (२-१).
यह समझना कि माता गर्भ धारण कर सन्तान को जैसा बनाना चाहती है बना सकती है—ठीक है, परन्तु उससे पहले यह समझना आवश्यक है कि पिता वीर्य का स्वामी है, और माता से पहले पिता सन्तान को अपने में धारण करता है, एक दृष्टि से सन्तान पहले पिता के गर्भ में आती है, फिर माता के गर्भ में। इस बात को अथर्ववेद (११,३,५,३) में बड़े सारगर्भित आलंकारिक शब्दों में कहा गया है—**'आचार्यः उपनयमानः ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भं अन्तः'**—उपनयन संस्कार करते हुए आचार्य अपने शिष्य को गर्भ में धारण करता है। आचार्य का शिष्य को गर्भ में धारण करना तो आलंकारिक-भाषा का प्रयोग है, यहाँ इसका अर्थ इतना ही है कि जैसे शिशु के गर्भ में होने पर उस पर माता के संस्कार पड़ते हैं, वैसे आचार्य की निकटता के कारण शिष्य पर आचार्य के संस्कार पड़ते हैं। परन्तु पिता के सम्बन्ध में जब उपनिषत्कार कहते हैं कि सन्तान का गर्भ माता में होने से पहले पिता में होता है, तब वे आलंकारिक-भाषा का प्रयोग नहीं कर रहे, शुद्ध, वास्तविक भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। पहले पिता पुत्र को अपने गर्भ में धारण करता है—इसका वह अर्थ भी हो सकता है जो आचार्य द्वारा शिष्य को गर्भ में धारण करने के सम्बन्ध में किया जाता है।

इस उपनिषद् ने दूसरी मार्के की बात यह कही है कि जन्म लेने से पहले ही सन्तान का नक्शा बन जाता है—**'सः अग्रे एव कुमारं जन्मनः अग्रे अधिभावयति'** (२-३)। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि पिता अपनी सन्तान के उत्पन्न होने से पहले ही उसका जैसा निर्माण करना चाहता है कर लेता है। यहाँ 'अग्रे'-शब्द को दो बार कहा गया है—जन्म से पहले, हाँ जन्म से पहले सन्तान बन जाती है। संस्कारों के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा जाता है या कहा जा सकता है वह सब **'जन्मनः अग्रे'**—इन दो शब्दों में आ जाता है। **'अधिभावयति'**-शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'भावना देना'—इसका अर्थ होता है—पकाना, जैसा बनाना चाहें वैसा बनाना। सन्तान के उत्पन्न होने से पहले ही उसे संस्कारों की भावना देना—पिता तथा माता—दोनों का कर्तव्य है।

उक्त दो बातों के अलावा इस उपनिषद् में जन्म-जन्मान्तर के चक्र को काटने की बात भी कही गई है। उपनिषत्कार कहते हैं कि

सृष्टि की उत्पत्ति हुई, सृष्ट्युत्पत्ति के साथ मनुष्य की भी उत्पत्ति हुई, परन्तु जीवन का चरम-लक्ष्य उत्पत्ति के इस व्यूह में चक्कर काटते रहना नहीं है। जीवन का चरम-लक्ष्य है जन्म-जन्मान्तर के इस व्यूह में से निकल कर ऊपर उठ जाना—**'अस्मात् शरीरभेदात् उर्ध्वं उत्क्रम्य'**—शरीर को भेद कर उसमें से ऊपर उठना, ठीक ऐसे उठना जैसे लोहे के जाल में बंधा पक्षी ऊपर उड़कर जाल के बंधन को काट कर ऊपर उड़ जाता है। मनुष्य की अन्तिम कामना अमृत प्राप्त करना है, अमृत प्राप्त कर के ही सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। 'मैं अमृत हो जाऊँ'—'अमृत हो जाऊँ' **'अमृतः समभवम्'—'अमृतः समभवम्'**—यही जीवन का लक्ष्य है।

तृतीय अध्याय—आत्मा तथा ब्रह्म का स्वरूप

पिछले दो अध्यायों में ब्रह्मांड में सृष्ट्युत्पत्ति तथा पिंड में पुरुष के जन्म की चर्चा की गई है। इस अध्याय में ऋषि ने यह प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मांड में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला कौन है, इस पिंड के भीतर इसे जीवन देने वाला कौन है? पहले पिंड में जीवन देने वाले आत्मा के, फिर ब्रह्मांड में विद्यमान ब्रह्म के विषय में उपनिषत्कार कहते हैं :

आत्मा

कः अयं आत्मा इति वयं उपास्महे। कतरः सः आत्मा
येन वा रूपं पश्यति, येन वा शब्दं शृणोति, येन वा गन्धान्
आजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु च
अस्वादु च विजानाति ॥१॥

द्वितीय अध्याय में पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यह भी कहा है कि शरीर आत्मा नहीं है। **'शरीर भेदान् ऊर्ध्वं उत्क्रम्य'**—शरीर का भेद करके जो ऊपर निकल जाता है वह आत्मा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि शरीर की उपासना करना सही रास्ता नहीं है, आत्मा की उपासना करना ही सही रास्ता हे। तो फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि आत्मा का स्वरूप क्या है जिसकी हमें उपासना करनी चाहिये—**'किं अयं आत्मा इति वयं उपास्महे'**। वह आत्मा कौन-सा है—**'कतरः**

स: आत्मा', जिससे यह जीव संसार में रूप को देखता है—**'येन वा रूपं पश्यति'**, जिससे यह शब्द को सुनता है—**'येन वा शब्दं शृणोति'**, जिससे यह गंध को सूंघता है—**'येन वा गन्धान् आजिघ्रति'**, जिससे यह वाणी का व्यवहार करता है—**'येन वा वाचं व्याकरोति'**, जिससे यह भोजन स्वादु है वा अस्वादु है—यह जानता है—**'येन वा स्वादु च अस्वादु च विजानाति'** ।१।

इस प्रश्न को उठाकर ऋषि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शरीर तो आत्मा नहीं है, परन्तु इस शरीर में अनेक अभौतिक तत्व हैं, उनका आधार शरीर न होकर 'प्रज्ञान' (Consciousness) है। वे अभौतिक तत्व हैं—मन के उद्वेग, काम, क्रोध आदि, सोचना-विचारना, बुद्धि, स्मृति, संकल्प आदि। ये तत्व जिस चेतना के अंग हैं, जिसके कारण शरीर में ये अभौतिक-तत्व अनुभव में आते हैं, वही आत्मा है। उसे प्रज्ञा, प्रज्ञान, चेतना आदि के नामों से स्मरण किया जाता है। इसी बात को अगली ऋचा में कहा है :

> **यद् एतत् हृदयं, मनः च एतत्। संज्ञानं, आज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टिः, धृतिः, मतिः, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वशः इति सर्वाणि एव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ।।२।।**

आत्मा का स्वरूप क्या है—इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं कि हृदय में जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि 'उद्वेग' (Emotions) उठते हैं, और मन में जो 'विचार' (Thoughts) उठते हैं, वे शरीर के तो अंग हो नहीं सकते—ये हृदय के उद्वेग तथा ये मन के विचार जिसके हैं वही आत्मा है—**'यद् एतत् हृदयं, मनः च'**। इसके अतिरिक्त हमारा सम्यक्-ज्ञान—**'संज्ञानम्'**, पूरा-पूरा, सब तरह का ज्ञान—**'आज्ञानम्'**, किसी विशेष विषय का ज्ञान—**'विज्ञानम्'**, किसी उत्कृष्ट प्रकार का ज्ञान—**'प्रज्ञानम्'**; ये सब जिसके कारण हैं वही आत्मा है। हम में जो आध्यात्मिक-तत्व हैं—**'मेधा'** (बुद्धि), **'दृष्टिः'** (अन्तर्दृष्टि), **'धृतिः'** (धैर्य), **'मतिः'** (मनन), **'मनीषा'** (सूझ-बूझ), **'जूतिः'** (शक्ति), **'स्मृतिः'** (याददाश्त), **'संकल्पः'** (निश्चय), **'क्रतुः'** (कर्म, परिश्रम), **'असुः'** (प्राण-शक्ति), **'कामः'** (कामना करना), **'वशः'** (अपने को या दूसरों को वश में करना)—ये सब—

'इति सर्वाणि एव एतानि', प्रज्ञान, चेतना या आत्मा (Consciousness) के ही नाम या स्वरूप हैं—**'प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'** ।२।

ऋषि कहते हैं कि आत्मा क्या है ? शरीर तो जड़ है, इस जड़-शरीर में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उद्वेग नहीं हो सकते । जब पत्थर से ठोकर लगती है, तब मनुष्य को ही क्रोध आता है, पत्थर को नहीं । परन्तु यह शरीर भी तो जड़ है, उसे काम, क्रोध आदि उद्वेग क्यों आ पकड़ते हैं । यह जड़-शरीर सोच-विचार में क्यों पड़ता है ? किसी ने सड़क की धूल को विचार करते हुए नहीं देखा । हम उद्विग्न भी होते हैं, सोचते-विचारते भी हैं । हमारे भीतर अन्य भी अनेक अभौतिक-तत्व काम करते हैं । मेधा, धृति, संकल्प, आशा-निराशा—इन सबका जो उद्भव-स्थान है वही चेतना है, वही प्रज्ञान है, वही आत्मा है, उसी को (Consciousness) कहते हैं ।

उपनिषदों में आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने के लिए जो अनेक युक्तियाँ दी गई हैं उनमें सबसे बड़ी युक्ति यह है कि मनुष्य के इस शरीर में आँख, कान, नाक आदि जो साधन हैं, वे किसके कारण देखते, सुनते, सूँघते हैं । आँख को आँख से नहीं देखा जा सकता, कान को कान से नहीं सुना जा सकता, नाक को नाक से नहीं सूँघा जा सकता । साधन का इस्तेमाल करने वाला साधन से अलग होता है । इसी युक्ति को उपनिषदों में हेर-फेर से कई प्रकार से कहा गया है । केनोपनिषद् (प्रथम खंड) में कहा है—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'**—**'चक्षुषः चक्षुः'**—जो श्रोत्र का श्रोत्र है—चक्षु का चक्षु—वह शरीर से भिन्न है । छान्दोग्य (पंचम प्रपाठक) में प्राण तथा इन्द्रियों में विवाद खड़ा करके बतलाया गया है कि वाणी न होने पर भी गूँगों का काम चलता है, आँखें न होने पर भी अंधों का काम चलता है, कान न होने पर भी बहरों का काम चलता है, परन्तु आत्मा के निकलते ही सब इन्द्रियाँ बोरी-बिस्तर बांध उसी के साथ चल देती हैं । उपनिषदों में सर्वत्र आत्मा की सत्ता को इसी प्रकार कथानकों से सिद्ध किया गया है ।

ब्रह्म

आत्मा क्या है—इस प्रश्न का उत्तर देने के बाद अब ऋषि ब्रह्म क्या है—इसका उत्तर देते हैं । इस उपनिषद् का प्रारम्भ हुआ था—**'आत्मा'** से । शुरू-शुरू में कहा था—**'आत्मा वै इदम् एकः एव अग्रे**

आसीत्', सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा ही था। 'आत्मा'-शब्द जीवात्मा के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है, परमात्मा के लिए भी। जीवात्मा के विषय में तो जो-कुछ कहना था ऊपर कह दिया; अब परमात्मा के विषय में उपनिषत्कार ने जो कहना है वह कहते हैं :

> **एषः ब्रह्मा, एषः इन्द्रः, एषः प्रजापतिः। एते सर्वे देवाः, इमानि च पंच-महाभूतानि—पृथिवी, वायुः, आकाशः, आपः, ज्योतींषि एतानि; इमानि च क्षुद्रमिश्राणि इव; बीजानि इतराणि च; इतराणि च अण्डजानि च, जारुजानि च, स्वेदजानि च, उद्भिजानि च; अश्वाः गावः हस्तिनः, यत् किम् च इदम् प्राणि जंगमम् च; पतत्रि च, यत् च स्थावरं; सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्, प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३॥**

ये ब्रह्मा, ये इन्द्र, ये प्रजापति—'**एषः ब्रह्मा, एषः इन्द्रः, एषः प्रजापतिः**', और इन तीनों में जो नहीं गिनाये गये वे सब देव भी—'**एते सर्वे देवाः**'—प्रज्ञान-ब्रह्म (Super-consciousness) हैं। इन सब देवों के अतिरिक्त जो पंच महाभूत हैं—पृथिवी, वायु, आकाश, जल तथा अग्नि—'**इमानि च पंच महाभूतानि पृथिवी, वायुः, आकाशः, आपः, ज्योतींषि एतानि**', ये सब भी प्रज्ञान-ब्रह्म हैं। और, ये क्षुद्र, मिश्र-जीव-जन्तु—'**इमानि च क्षुद्र मिश्राणि इव**', इतर प्राणियों के बीज—'**बीजानि इतराणि च**', अण्डज, जेरज, स्वेदज और उद्भिज प्राणी—'**इतराणि च, अण्डजानि च, स्वेदजानि च, उद्भिजानि च**', ये सब भी प्रज्ञान-ब्रह्म हैं। घोड़े, गौएं, हाथी—'**अश्वाः गावः हस्तिनः**', और जो-कुछ भी प्राणी-जगत् में—'**यत् किम् च इदम् प्राणि**', जंगम है, उड़नशील है, स्थावर है—'**जंगमम् च, पतत्रि च, यत् च स्थावरं**', वह सब प्रज्ञा-नेत्र है—'**सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं**'; यह सब प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है, प्रज्ञान में ठहरा हुआ है—'**प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्**'। संपूर्ण विश्व प्रज्ञा-नेत्र है, प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है, प्रज्ञान ही ब्रह्म है—**प्रज्ञानेत्रो लोकः, प्रज्ञा प्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म**'।३।

इस ऋचा में 'प्रज्ञानेत्र'-शब्द बहुत महत्व का है। इस उपनिषद् में संसार की हर वस्तु को 'प्रज्ञानेत्र' और ब्रह्म को 'प्रज्ञान' कहा गया है। 'प्रज्ञानेत्र' का अर्थ है कि हर वस्तु अपने निश्चित लक्ष्य की तरफ़ देख रही है। संसार में कोई वस्तु लक्ष्यहीन नहीं है, अपने लक्ष्य की

तरफ़ नेत्र केन्द्रित कर के उस तरफ़ देख रही तथा लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उधर प्रयत्नशील है।

ब्रह्म को 'प्रज्ञान' कहा गया है—प्रज्ञान—अर्थात् चेतनता। चैतन्य-स्वरूपता ही ब्रह्म है। संसार की हर वस्तु—देवगण, भूतगण, प्राणी, स्थावर, जंगम—जो-कुछ है सब प्रज्ञानमय है, चेतना से ओत-प्रोत है। चेतना का इतना सर्वव्यापक रूप उपनिषदों की ही देन है।

पहले आत्मा के लिये कहा—**'सर्वाणि एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि'**। अब परमात्मा के लिये कहा—**'प्रज्ञानं ब्रह्म'**। भौतिक-जगत् का आधारभूत-तत्व 'प्रज्ञान' (Consciousness) अर्थात् 'चेतना' है। आत्मा भी चेतना है, परमात्मा भी चेतना है—दोनों को 'प्रज्ञान' का नाम ऋषि ने दिया है।

आत्मा तथा परमात्मा—इन दोनों का स्वरूप 'प्रज्ञान' है, 'चेतना' है। जो उपासक यह जान लेता है, वह अमर पद को प्राप्त कर लेता है। इसी भाव को सामने रखते हुए ऋषि कहते हैं :

> **सः एतेन प्रज्ञेन आत्मना अस्मात् लोकात् उत्क्रम्य**
> **अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वा अमृतः**
> **समभवत् समभवत्। इति ओम् ॥४॥**

उपासक आत्मा को जब 'प्रज्ञ'—अर्थात् ज्ञानस्वरूप, चेतनास्वरूप जान गया—**'सः एतेन प्रज्ञेन आत्मना'**, तो वह इस मर्त्य-लोक से उत्क्रमण कर—**'अस्मात् लोकात् उत्क्रम्य'**, उस स्वर्ग-लोक में—**'अमुष्मिन् स्वर्गे लोके'**, सब कामनाओं को प्राप्त कर—**'सर्वान् कामान् आप्त्वा'**, अमर हो गया, अमर हो गया—**'अमृतः समभवत् समभवत्'**, यह उपनिषद् समाप्त हुई—**इति ओम्**।४।

> **वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनः मे वाचि प्रतिष्ठितम्,**
> **आविः आवीः मे एधि। वेदस्य मे आणीस्थः, श्रुतं मे**
> **मा प्रहासीः, अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि।**
> **ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तत् माम् अवतु, तद्**
> **वक्तारं अवतु, अवतु माम्, अवतु वक्तारम् ॥५॥**

उपदेश की समाप्ति पर ऋषि कहते हैं : मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो—**'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता'**, और मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो—**'मनः मे वाचि प्रतिष्ठितम्'**, मेरी वाणी में जो हो वही मन में हो, जो मन में हो वही वाणी में हो, मन तथा वाणी में विरोध

न हो। मेरा जो प्रत्यक्ष हो वही मुझे प्राप्त हो—**'आविः आवीः मे एधि'**। प्रायः हमारे जीवन में प्रत्यक्ष कुछ और होता है, प्रत्यक्ष के पीछे छिपा कुछ और होता है। अप्रत्यक्ष हमारा वास्तविक होता है, प्रत्यक्ष अवास्तविक होता है। जब मन तथा वाणी में एकात्मकता होगी, जो मन में वह वाणी में और जो वाणी में वह मन में हो, तब मनुष्य अपने प्रकट रूप को ही अपना वास्तविक रूप समझ सकता है, इसलिये ऋषि कह रहे हैं कि मेरा प्रत्यक्ष ही मुझे प्राप्त हो, मेरे जो बाहर हो वही मेरे भीतर हो। वेद का ज्ञान मेरी बुद्धि में बना रहे—**'वेदस्य मे आणीस्थः'**, जो-कुछ मैंने विद्वानों से सुना है वह मुझे न छोड़े, मेरे संग बना रहे—**'श्रुतं मे मा प्रहासीः'**, जो-कुछ मैंने पढ़ा है वह दिन-रात मेरे साथ जुड़ा रहे—**'अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि'**। जब मनुष्य का वेद का ज्ञान, श्रुति का ज्ञान, अधीत का ज्ञान उसमें समा जायगा तब वह कह सकेगा कि मैं ऋत कहूंगा–**'ऋतं वदिष्यामि'**, सत्य कहूंगा—**'सत्यं वदिष्यामि'**, वेद श्रुति तथा अधीत मेरी रक्षा करें—**'तत् माम् अवतु'**, ये उपदेष्टा की रक्षा करें—**'तद् वक्तारम् अवतु'**, मेरी रक्षा करें—**'अवतु माम्'**, वक्ता की रक्षा करें—**'अवतु वक्तारम्'**। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।५।

उक्त संदर्भ में 'ऋत' और 'सत्य'—ये दो शब्द आये हैं। **'ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसः अध्यजायत'** (ऋक्, १०, १९०, १)—इस मंत्र में भी ये दो शब्द आते हैं। प्रायः 'ऋत' तथा 'सत्य' का वेदों में अनेक स्थानों पर एक-साथ प्रयोग पाया जाता है। कहीं-कहीं 'ऋत', 'सत्य' तथा 'तप' का भी एक-साथ उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद, मंडल ९, सूक्त ११३ मंत्र ८ में कहा है: **'ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः इन्द्राय इन्दो परिस्रव'**—यहां ऋत, सत्य, श्रद्धा, तप—इन सब का एक-साथ प्रयोग है। 'ऋतवाकेन' इसका 'सत्य' के विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि 'ऋत'—यह 'सत्य' से भी ऊंची वस्तु है। सत्य कैसा हो? ऋतवाक हो, सत्य की वाणी में ऋत हो। यह सब देख कर निष्कर्ष यह निकलता है कि 'ऋत' अखंड ईश्वरीय-विधान के लिये प्रयुक्त हुआ है, 'सत्य' सामाजिक-विधान के लिये प्रयुक्त हुआ है। सामाजिक-विधान ईश्वरीय-विधान के अनुरूप होना चाहिये। ईश्वरीय-विधान अखंड है, अपरिवर्तनीय है, ऋत है; सामाजिक-विधान सामाजिक अवस्थाओं

के अनुसार परिवर्तित हो सकता है, समाज की रचना के लिये सत्य आवश्यक है, परन्तु ऋत की स्थिति सत्य से भी ऊपर है। हम जिन अर्थों में 'सत्य'-शब्द का प्रयोग करते हैं, वेद ने उन अर्थों में 'ऋत'-शब्द का प्रयोग किया है। 'ऋत' दैवीय-नियम हैं, 'सत्य' सामाजिक-नियम हैं। 'सत्य' सामाजिक परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है, 'ऋत' अखंड दैवीय विधान है, वह बदल नहीं सकता—दोनों मिल कर संसार का नियमन कर रहे है—दोनों आवश्यक हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद्

अब तक हम जिन-जिन उपनिषदों पर लिख आये हैं उनके संपूर्ण पाठ की व्याख्या की गई है। अब आगे जिन उपनिषदों की व्याख्या करेंगे उनके मुख्य-मुख्य भागों तथा उस उपनिषद् में जो विशेष बात कही गई है उस पर लिखेंगे।

तैत्तिरीयोपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यक का हिस्सा है। तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठकों में बंटा हुआ है। उस आरण्यक का ७ वां, ८ वां तथा ९ वां प्रपाठक ही तैत्तिरीयोपनिषद् है।

यह उपनिषद् तीन भागों में बंटी हुई है। इन भागों का नाम वल्ली है। वल्ली का अर्थ है लता, बेल। क्योंकि इस उपनिषद् का उपदेश अरण्य में—बन में—हुआ, बन में लता-बेल उसकी शोभा हैं, इसलिये इस उपनिषद् के तीनों भागों को वल्ली कहा गया है। इन तीन वल्लियों के नाम हैं—शिक्षाध्याय-वल्ली, ब्रह्मानन्द-वल्ली तथा भृगु-वल्ली। अब हम इन तीनों वल्लियों पर क्रमशः विवेचन करेंगे।

१. शिक्षाध्याय-वल्ली

प्राथमिक-शिक्षा—संहिता-ज्ञान
(Primary Education)

शिक्षाध्याय-वल्ली का प्रथम अनुवाक

(क) वर्ण-ज्ञान—इस वल्ली का मुख्य विषय शिक्षा है। उपनिषत्कार का कहना है कि शिक्षा देते हुए शिक्षक को इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि बालक का उच्चारण शुद्ध हो। उच्चारण करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि बालक को वर्णों (Alphabets) का ज्ञान हो। जितने वर्ण उच्चारण किये जा सकते हैं उन्हें बालक

बोल सके। प्रायः देखा जाता है कि इस बात पर ध्यान न देने के कारण कई लोग बड़ा हो जाने तथा उच्च स्थान पा जाने पर भी अशुद्ध उच्चारण करते हैं। उदाहरणार्थ, स्थिति को अस्थिति, स्टेशन को इस्टेशन, स को फ, त को ट बोलने वालों की कमी नहीं है। इसी को 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' कहा जाता है। वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण के साथ-साथ स्वर का ज्ञान भी आवश्यक है।

(ख) **स्वर-ज्ञान**—स्वर का अर्थ है कि उच्चारण करते हुए वर्ण को उच्च-स्वर में बोला जाय, मध्यम-स्वर में या निम्न-स्वर में बोला जाय। कई लोगों की बचपन से ही आदत पड़ जाती है कि साधारण-सी बात को चिल्ला कर बोलते हैं। कहां ऊंचा बोलना, कहां मध्यम-बोलना, कहां न बोलने का-सा बोलना—यह अभ्यास भी आवश्यक है। संस्कृत में स्वर को उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित—इन तीन भागों में बाँटा गया है। उदात्त का अर्थ है—ऊंचे बोलना, अनुदात्त का अर्थ है—धीमे-से बोलना, स्वरित का अर्थ—मध्यम-स्वर में बोलना।

(ग) **मात्रा-ज्ञान**—उच्चारण करते तथा लिखते हुए जहाँ वर्ण तथा स्वर ज्ञान आवश्यक है वहाँ मात्रा-ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। मात्राएं ह्रस्व तथा दीर्घ—इस दो प्रकार की होती हैं। किसी शब्द के बोलने तथा विशेषतः लिखने में 'इ'—'उ' आदि की छोटी मात्रा लगाई जाय या बड़ी--कभी-कभी बालक को इसका ज्ञान नहीं होता। जहाँ छोटी मात्रा लगानो चाहिये वहां वह बड़ी और जहाँ बड़ी लगानी चाहिये वहाँ वह छोटी मात्रा लगा देता है। सुशिक्षित बालक वही है जो शब्दों के प्रयोग में ठीक-ठीक, उचित मात्रा का इस्तेमाल करता है।

(घ) **बल-ज्ञान**—भाषा के प्रयोग में इस बात का ज्ञान भी आवश्यक है कि वाक्य में किस शब्द पर बल देना चाहिये, किस पर नहीं। अगर किसी को 'जाओ'—इतना ही कहा जाय, और अगर 'जाओ' ज़ोर देकर कहा जाय, तो दोनों के अर्थ में भेद पड़ जाता है। अगर हमें कहें—'समझा'—तो इसका अर्थ है—समझ गया, अगर हम कहें—समझा?—तो इसका अर्थ है—समझा कि नहीं समझा? यह अर्थ-भेद उच्चारण के बल पर आश्रित है।

(ङ) **साम-ज्ञान**—साम का अर्थ है—समता। जैसे शब्दों के प्रयोग में ऊंचे बोलना, धीमे बोलना आदि भेद हैं, वैसे वाक्यों के प्रयोग में भी उनका उच्चारण भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। उपनिषद् की शिक्षा यह है कि जो-कुछ बोला जाय, समता से, सौम्यता से बोला जाय, ऐसा बोला जाय जिसमें साम-गान का-सा आभास हो। कई लोग साधारण-सी बात को भी ऐसे बोलते हैं मानो पत्थर बरसा रहे हों, कई लोगों की बाणी से अमृत का झरना-सा झरता है। ऋषि कहते हैं कि गुरु का काम यह है कि बालक को ऐसा बोलना सिखाये जो मिठास से भरा हो। एक ही बात को कड़वा भी बोला जा सकता है, मीठा भी बोला जा सकता है। बचपन से ही बच्चों को ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि वे अपनी बात को कहें, परन्तु मिठास के साथ कहें—इसी को मनु ने कहा है—**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'**।

(च) **सन्तान-ज्ञान**—जब कोई बोले तो ऐसे बोले जैसे दूसरा वाक्य पहले वाक्य की सन्तान हो, पहले वाक्य का दूसरा वाक्य अवश्यम्भावी परिणाम हो। ऐसा न बोले जिसमें समझ ही न पड़े कि बोलने वाला अनाप-सनाप बके जा रहा है। प्राय: देखा जाता है कि कई लोग बोलते चले जाते है, और उस बोल में सब वाक्य असम्बद्ध होते या घुल-मिल जाते हैं। ऐसा न होकर हम जो-कुछ बोलें सब-का-सब ऐसा सम्बद्ध हो, पहला वाक्य दूसरे वाक्य से जुड़ा हुआ हो, ऐसा जुड़ा हुआ हो जिससे हम कह सकें कि दूसरा वाक्य पहले वाक्य की उपज है, उसकी सन्तान है। 'सन्तान'—अर्थात् विस्तार—'तनु विस्तारे'-धातु के सन्तान शब्द बना है जिसका यहाँ अर्थ है—वाक्य का विस्तार।

शिक्षाध्याय-वल्ली का द्वितीय अनुवाक

ऋषि कहते हैं कि यही शिक्षा है—**'वर्ण:, स्वर:, मात्रा, बलं, साम, सन्तान: इति उक्त: शिक्षा अध्याय:'** (द्वितीय अनुवाक)—पढ़ने का पहला कदम है वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान का ज्ञान। यहाँ सन्तान का अर्थ औलाद नहीं है, वाक्यों के सुसंगत प्रवाह को वाक्य-सन्तान कहा गया है। वह शिक्षा क्या जहाँ ठीक-से बोलना ही न आये ?

माध्यमिक, उच्च तथा उच्चतम-शिक्षा
(Secondary, Higher and Highest Education)

प्राथमिक-शिक्षा का काम ठीक-से पढ़ना-लिखना, ठीक-से उच्चारण, ठीक-से अपने भावों को व्यक्त करना है। उसके बाद भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आता है।

उपनिषत्कार ने वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, सन्तान आदि की शिक्षा को **'संहिता'** कहा है। इसके बाद की भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञान की शिक्षा को जिसका लक्ष्य ब्रह्म-ज्ञान है शिक्षाध्याय-वल्ली के ३ य अनुवाक में **'महासंहिता'** कहा है। 'संहिता' का अर्थ है—वाक्यों का ऐसा जोड़ जो आपस में मिले-जुले, एक-दूसरे के साथ फ़िट बैठें। वर्ण, स्वर आदि के ज्ञान से जो वाक्य-विन्यास बनता है वह 'संहिता' है—उस वाक्य में प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक शब्द एक-दूसरे के साथ संहत होता है, ठीक-से जुड़ा होता है, एक-दूसरे के साथ फ़िट बैठता है, न जुड़ा हो तो वाक्य ही नहीं बन पाता। इसलिये प्राथमिक-शिक्षा का ज्ञान संहिता-ज्ञान है। इसके बाद माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा का जो ज्ञान है वह भी संहत-ज्ञान ही है, परन्तु क्योंकि वह विशाल-क्षेत्र से सम्बद्ध है इस लिये उसे **'संहिता'** न कह कर ऋषि ने **'महासंहिता'** कहा है—**'ताः महासंहिताः इति आचक्षते'**

यह महासंहिता-ज्ञान पांच प्रकार का है जिसे अधिलोक, अधिज्यौतिष्, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म कहते हैं। इसी बात को प्रकट करते हुए शिक्षाध्याय-वल्ली के तृतीय अनुवाक में कहा है:

शिक्षाध्याय-वल्ली का तृतीय अनुवाक

अथ अतः संहितायाः उपनिषदम् व्याख्यास्यामः पंचसु
अधिकरणेषु—अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्,
अधिप्रजम्, अध्यात्मम्। ताः महासंहिताः इत्याचक्षते ॥१॥

यहाँ से शिक्षाध्याय-वल्ली के पाँचों अधिकरणों की व्याख्या प्रारम्भ है:

वर्णों के ज्ञान से जब यह ज्ञान हो गया कि किसी वर्ण की, अक्षर की अलग-से कोई सत्ता नहीं है, वर्णों तथा अक्षरों की **'संहिता'** से, एक-दूसरे के साथ मिल जाने से ही वर्ण तथा अक्षर शब्द बन जाते हैं,

तभी उनकी सार्थकता उत्पन्न होती है, तब मानव का ज्ञान उपनिषद् के ज्ञान की तरफ़ आगे बढ़ने लगता है—**'अथ अतः संहितायाः उपनिषदं व्याख्यास्यामः'**। प्राथमिक-ज्ञान के बाद जो माध्यमिक तथा उच्च ज्ञान प्राप्त होता है वह पाँच आधारों पर खड़ा है—**'पंचसु अधिकरणेषु'**। ज्ञान के ये पाँच आधार क्या हैं ? ये हैं—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म—**'अधिलोकम्', अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम्।'** जैसे वर्ण-ज्ञान को **'संहिता'** कहा जाता है वैसे उच्च-शिक्षा के ज्ञान को **'महासंहिता'** कहा जाता है—**'ताः महासंहिताः इति आचक्षते'**। शिक्षाध्याय वल्ली के तृतीय अनुवाक का प्रथम श्लोक।१।

ये पाँच महासंहिता-ज्ञान या पांच विद्याएँ क्या हैं ?

उपनिषदों के ऋषियों की विचारधारा का मुख्य आधार ब्रह्मांड तथा पिंड—यह है। वे सृष्टि को दो भागों में बांटते हैं—बाहर का ब्रह्मांड, भीतर का पिंड। ब्रह्मांड से उनका अभिप्राय इस वाह्य-जगत् से है, पिंड से उनका अभिप्राय मानव के इस भीतरी-जगत् से है। इसी आधार पर उन्होंने विद्याओं का वर्गीकरण किया। ब्रह्मांड का ज्ञान देने वाली दो विद्याएँ हैं—अधिलोक तथा अधिज्यौतिष्। अधिलोक का ज्ञान ब्रह्मांड ज्ञान है जिसमें पार्थिव तथा ज्यौतिष् विद्याएँ आ जाती हैं। पार्थिव-ज्ञान वह है जिसमें ज्योति नहीं है, जो स्वयं ज्योतिहीन है—पृथिवी, द्यु, आकाश तथा वायु; ज्यौतिष् वह है जिसमें ज्योति है, स्वयं ज्योतिस्वरूप है—अग्नि, आदित्य, जल, विद्युत्। जल को ज्योति की श्रेणी में इसलिए गिना है क्योंकि जल में ही विद्युत् भरी रहती है। पिंड का ज्ञान देने वाली तीन विद्याएं हैं—अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म। ब्रह्मांड की दोनों—अधिलोक तथा अधिज्यौतिष्—एवं पिंड की तीनों—अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म—इन पांचों का जानना आवश्यक है। हम पहले ब्रह्मांड के ज्ञान की तथा फिर पिंड के ज्ञान की चर्चा करेंगे :

ब्रह्मांड का ज्ञान

(क) अधिलोक-ज्ञान—अधिलोक का अर्थ है—इस लोक का ज्ञान। इस लोक के ज्ञान में सबसे पहला ज्ञान पृथिवी का है। पृथिवी के ज्ञान के साथ अगर 'संहिता', अर्थात् जोड़ के विचार को ध्यान में

रखें, तो इस छोर पर पृथिवी-लोक है, उस छोर पर द्यु-लोक है—इसी को कहा, **'पृथ्वी पूर्व रूपम्, द्यौः उत्तर रूपम्'**। पृथिवी और द्यु के बीच में 'आकाश' है—**'आकाशः सन्धिः'**। इन सब को मिलाने वाली 'वायु' है—**'वायुः सन्धानम्'**। इस सब का ज्ञान अधिलोक-ज्ञान है—**'इति अधिलोकम्'**। अधिलोक-ज्ञान में ज्योतिहीन-तत्वों की गणना की गई है—पृथिवी, द्यु, आकाश तथा वायु। इनका ज्ञान अधिलोक-ज्ञान है। शिक्षाध्याय वल्ली के तृतीय अनुवाक का द्वितीय श्लोक।२।

(ख) अधिज्यौतिष्-ज्ञान—अधिज्यौतिष् का अर्थ है—ज्योतिर्मय तत्वों का ज्ञान। ज्योतिर्मय तत्वों में सब से पहला ज्ञान 'अग्नि' का होता है। अग्नि के ज्ञान के साथ अगर 'संहिता', अर्थात् जोड़ के विचार को ध्यान में रखें, तो इस छोर पर अग्नि है, उस छोर पर आदित्य है—इसी को कहा **'अग्निः पूर्व रूपम्, आदित्यः उत्तर रूपम्'**। अग्नि और आदित्य के बीच मे 'जल' है—अग्नि तथा आदित्य दोनों जलों को वाष्प के रूप में ऊपर उठाकर आकाश में बादलों के रूप में भर देते हैं—**'आपः सन्धिः'**। इन सब को एक-साथ मिलाकर एक कर देने का काम 'विद्युत्' का है—**'वैद्युतः संधानम्'**। जैसे ज्योतिहीन तत्वों के ज्ञान को 'अधिलोक' कहा, वैसे ज्योतिर्मय तत्वों के ज्ञान को उपनिषत्कार ने 'अधिज्यौतिष्' कहा—**'इत्यधिज्यौतिषम्'**। शिक्षाध्याय-वल्ली के तृतीय अनुवाक का तृतीय श्लोक।३।

पिंड का ज्ञान

ब्रह्मांड के सम्बन्ध में ज्योतिहीन तथा ज्योतिर्मय तत्वों के ज्ञान के बाद पिंड के सम्बन्ध में जिन विद्याओं का ज्ञान होना चाहिये उन्हें उपनिषत्कार ने तीन भागों में बांटा है—अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म। इनका क्या अभिप्राय है?

(क) अधिविद्य-ज्ञान—ब्रह्मांड के ज्योतिहीन तथा ज्योतिर्मय तत्वों के साथ-साथ पिंड से सम्बद्ध विद्याओं का ज्ञान भी माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा का अंग है। ब्रह्मांड के तत्वों का ज्ञान आचार्य के द्वारा होता है, इसलिये विद्याओं के ज्ञान का प्रारम्भ आचार्य द्वारा होने से उसे उपनिषत्कार ने पूर्व-रूप कहा—**'आचार्यः पूर्वरूपम्'**। आचार्य अपने ज्ञान की संहिता—उसका जोड़—अपने शिष्य के साथ कर देता है, इसलिये अन्तेवासी को उत्तर रूप कह दिया—**'अन्तेवासी**

उत्तर रूपम्' । शिष्य को वैदिक-संस्कृति में **अन्तेवासी** इसलिये कहते हैं क्योंकि वह हर समय गुरु के अन्तःकरण में बना रहता है, गुरु हर समय उसके शरीर, मन, आत्मा के निर्माण के सम्बन्ध में सोचता रहता है। गुरु तथा शिष्य का आपस में संपर्क—संधि—संहिता—विद्या के द्वारा होती है, इसीलिये विद्या को सन्धि कहा—**'विद्या सन्धिः'** । विद्या का काम गुरु तथा शिष्य को जोड़ना है, परन्तु जोड़ने का साधन गुरु का शिष्य के प्रति प्रवचन है—**'प्रवचनं संधानम्'** । आचार्य तथा अन्तेवासी के पारस्परिक-संपर्क की इसी प्रक्रिया को अधिविद्य कहा है—**'इत्यधि-विद्यम्'** । शिक्षाध्याय वल्ली के तृतीय अनुवाक का चतुर्थ श्लोक ।४।

(४) **अधिप्रज-ज्ञान**—गुरु ने शिष्य को ब्रह्मांड तथा पिंड की विद्या से सम्पन्न कर दिया, अब शिष्य का काम अपने ज्ञान को अपनी सन्तान तक पहुंचाना, आचार्य से प्राप्त ज्ञान को प्रजोत्पत्ति द्वारा समाज के लिये स्थिर बना देना है ताकि वह ज्ञान समाज से लुप्त न हो जाय। चाहे वह ज्ञान पुत्र को दिया जाय, या शिष्य को—हर हालत में ब्रह्मांड तथा पिंड सम्बन्धी जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसकी अखंड धारा बहती रहनी चाहिये—इसी को उपनिषत्कार ने अधिप्रज कहा है। सन्तानोत्पत्ति माता से होती है इसलिये माता को पूर्व-रूप कहा—**'माता पूर्वरूपम्**; माता पूर्व-रूप हुई तो पिता लाज़मी तौर से उत्तर-रूप हुआ—**'पिता उत्तर रूपम्'** । माता-पिता को जोड़ने—उनकी सन्धि—का काम सन्तान द्वारा होता है इसलिये सन्तान को संधि कहा—**'प्रजा सन्धिः'** । प्रजा भी तभी उत्पन्न होती है जब प्रजनन की प्रक्रिया हो—**'प्रजननं संधानम्'** । माता, पिता, सन्तान, प्रजनन—इसी को यहाँ अधिप्रज कहा है—**'इत्यधिप्रजम्'** । गृहस्थधर्म का ज्ञान अधिप्रज-ज्ञान है। शिक्षाध्याय वल्ली के तृतीय अनुवाक का पंचम श्लोक ।५।

(५) **अध्यात्म-ज्ञान**—विद्याओं का ज्ञान ग्रहण करने तथा उस ज्ञान को अपनी सन्तान तक पहुंचा देने के बाद मानव का क्या कर्त्तव्य रह जाता है? ब्रह्मांड-ज्ञान सिद्ध कर लिया, पिंड-ज्ञान सिद्ध कर लिया, अब कौन-सा ज्ञान है जो शेष रह गया? उपनिषत्कार कहते हैं कि सब-कुछ जान लेने पर भी अगर आत्म-ज्ञान न पाया तो कुछ न पाया। इसलिए इन सब ज्ञानों से ऊपरी जो ज्ञान है—आत्म-ज्ञान—वह ज्ञान की अन्तिम सीमा है जिसे अध्यात्म-ज्ञान कहा गया है। उपनिषदों में अध्यात्म के दो अर्थ हैं—आत्मा का अर्थ शरीर भी है, आत्मा भी है।

शरीर को ध्यान में रख कर उसे दो हिस्सों में बांटा गया है—अधर-हनु तथा उत्तर-हनु। अधर-हनु का अर्थ है—ठोडी से नीचे का हिस्सा, उत्तर-हनु का अर्थ है—ठोडी से ऊपर का हिस्सा। नीचे के हिस्से में सारा शरीर—कर्मेन्द्रियां—आ जाती हैं, ऊपर के हिस्से में सारा सिर—ज्ञानेन्द्रियां—आ जाती हैं। कर्मेन्द्रियों के ज्ञान को उपनिषत्कार ने पूर्व-रूप कहा है—**'अधरा हनुः पूर्वरूपम्'**, ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान को उत्तर-रूप कहा है—**'उत्तरा हनुः उत्तररूपम्'**। कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की सन्धि बाणी से होती है—जो बाणी कहती है वह शरीर करता है, इसलिए बाणी को दोनों का जोड़—सन्धि—कह दिया—**'वाक् सन्धिः'**। परन्तु वाणी का साधन तो जिह्वा है इसलिए इस जोड़ के लिए कहा—**'जिह्वा संधानम्'**। शरीर की दृष्टि से अध्यात्म—अर्थात्, शारीरिक-ज्ञान की यह प्रक्रिया है। परन्तु शारीरिक-ज्ञान तक ही अध्यात्म-ज्ञान समाप्त नहीं हो जाता। अध्यात्म-ज्ञान तो आत्मा का ज्ञान है। इसलिये उत्तर-हनु प्रतीक है ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान तथा आत्म-ज्ञान का। इसी को इस उपनिषद् में अध्यात्म नाम से कहा गया है—**'इत्यध्यात्मम्'**। अध्यात्म का हमने अर्थ किया है—शरीर तथा शरीर के भीतर निवास करने वाला आत्मा। इस प्रकार अध्यात्म-ज्ञान का अभिप्राय है—अपने सम्पूर्ण शरीर तथा उसकी समस्याओं का ज्ञान, उसके साथ आत्मा की तथा उसके सम्बन्ध में अन्य जो-कुछ जाना जा सकता है उसका ज्ञान—अध्यात्म-ज्ञान संपूर्ण मनुष्य का ज्ञान है। शिक्षाध्याय वल्ली के तृतीय अनुवाक का षष्ठ श्लोक।६।

तैत्तिरीयोपनिषद् ने वर्णों के पारस्परिक-सम्बन्ध को ध्यानमें रखते हुए **'संहिता'**-शब्द का प्रयोग किया है, और ब्रह्मांड तथा पिंड के सम्बन्ध में प्रत्येक वस्तु का जो एक-दूसरे के साथ समन्वयात्मक-सम्बन्ध है उसे ध्यान में रखते हुए **'महासंहिता'**-शब्द का प्रयोग किया है। अगर गहराई से सोचा जाय, तो 'संहिता' तथा 'महासंहिता'—ये दोनों बड़े कीमती शब्द हैं। उपनिषत्कार का कहना है कि संसार में छोटी-से-छोटी वस्तु तथा बड़ी-से-बड़ी वस्तु—कोई भी वस्तु, अपने इकलेपन में, कुछ अस्तित्व नहीं रखती। हर वस्तु का अस्तित्व, उसकी सार्थकता, दूसरे के साथ मिलकर बनती है। इसी को 'संहिता' तथा 'महासंहिता' कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषत्कार ने संसार में एक तत्व को देखा—सब-कुछ जुड़ा हुआ है, एक को उठाओ तो सब उठ आता

है, एक को छुग्रो तो सब कुछ छुग्रा जाता है। उपनिषदों की यही दृष्टि है—एक में सब है, सब में एक है, एक में नाना है, नाना में एक है—किसी वस्तु को, किसी व्यक्ति को, किसी समाज को ग्रन्यों से तोड़ कर ग्रलग-से रख दो, तो वह बेकार हो जाती है—संहिता का, महा-संहिता का ग्रर्थ ही सब का मिल जाना है। इसी सिद्धान्त को उप-निषद् ने छोटे में, बड़े में, पिंड में, ब्रह्मांड में घटाकर दिखलाया है—इसी को पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि, संधान—इन शब्दों में कहा है। संहिता तथा महासंहिता के सिद्धान्त का उपसंहार करते हुए उपनिषद कहती है :

इति इमाः महासंहिताः। यः एवं एताः महासंहिताः व्याख्याताः वेद। संधीयते प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, ग्रन्नाद्येन, सुवर्ण्येन लोकेन। ॥७॥

ज्ञान की ये महासंहिताएँ हैं—'**इति इमाः महासंहिताः**'। हमने जिन इन पांच महासंहिताग्रों का वर्णन किया है—'**यः एवं एताः महा-संहिताः व्याख्याताः वेद**', वह प्रजा, पशुग्रों, ब्रह्मतेज, ग्रन्न, स्वर्ग-लोक से समन्वित हो जाता है—'**संधीयते प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन ग्रन्ना-द्येन सुवर्ण्येन लोकेन**'। शिक्षाध्याय-वल्ली के तृतीय ग्रनुवाक का सप्तम श्लोक ॥७॥

तैत्तिरीयोपनिषद् का कहना है कि संसार में छोटी जगह '**संहिता**' है, बड़ी जगह '**महासंहिता**' है, हर-एक वस्तु का ऐसा मेल-जोल है जैसे वे एक-दूसरे के लिए ही गढ़ी गई हैं। यह सब समन्वय (Co-ordination, adjustment) ग्रक्षरों तथा शब्दों में ही नहीं, विश्व की समस्त रचनाग्रों में, पृथिवी ग्रौर द्यु में, ग्रग्नि ग्रौर ग्रादित्य में, ग्राचार्य ग्रौर ग्रन्तेवासी में, माता ग्रौर पिता में, शरीर ग्रौर ज्ञानेन्द्रियों में, सब जगह पाया है। वास्तविक शिक्षा इसी समन्वय को, संहिता तथा महासंहिता को जानना है। जहाँ स्पष्ट तौर पर यह समन्वय न दीखता हो वहाँ भी इसे ढूँढ लेना शिक्षा का रहस्य है। सम्पूर्ण विश्व में एक-सूत्रता का नियम काम कर रहा है। इस प्रकार शिक्षा-वल्ली का तृतीय ग्रनुवाक सात श्लोकों में समाप्त होता है।

४र्थ ग्रनुवाक से ८म ग्रनुवाक तक भूः, भुवः, स्वः—इन व्याहृतियों तथा ग्रोंकार की चर्चा है। इनके विवरण का यहाँ महत्व नहीं है। ग्रध्यात्म-शिक्षा के लिए इनका ज्ञान प्राप्त कर नवम ग्रनुवाक

में जो-कुछ कहा गया है वह उपनिषत्कार की दृष्टि से शिक्षा का सार है। शिक्षा के सन्दर्भ की दृष्टि से नवम अनुवाक महत्वपूर्ण है। नवम अनुवाक में क्या कहा गया है ?

शिक्षाध्याय-वल्ली का नवम अनुवाक—
स्वाध्याय तथा प्रवचन

जो व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करे वह उसे जीवित-जाग्रत रखे—इसके उपनिषत्कार ने दो उपाय बतलाये हैं—'**स्वाध्याय**' तथा '**प्रवचन**'। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं। एक अर्थ तो यह है कि जो-कुछ पढ़ा है, शिक्षा ग्रहण की है उसका पाठ करते रहना, नवीन-नवीन ग्रन्थों का भी अध्ययन करना; दूसरा अर्थ यह है कि 'स्व' का—अपने-आप का अध्ययन करना, यह देखते रहना कि मैं जीवन में क्या बना हूँ ? स्वाध्याय के अतिरिक्त अपनी शिक्षा को जीवित रखने के लिए प्रवचन भी आवश्यक है। मनुष्य जो-कुछ जानता है, जिससे उसका जीवन उच्च बना है, उसको प्रवचन द्वारा दूसरों तक पहुँचाना भी उसका कर्त्तव्य है। इसी पृष्ठभूमि को लेकर ६ म अनुवाक में कहा गया है :

जीवन में इस बात को समझ लो कि सर्वत्र नियम का शासन है—देवीय-नियम को '**ऋत**' कहते हैं। मनुष्य का बनाया हुआ नियम नहीं, भगवान् का नियम। मनुष्य का बनाया नियम अगर भगवान् के नियम के अनुसार है तो वह भी चलेगा, परन्तु नित्य-नियम दैवीय-नियम ही है, अखण्ड, सार्वभौम नियम। उन नियमों के अनुसार चलते हुए स्वाध्याय करो और प्रवचन करो—'**ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च**'। ऋत नाम से कहे गये इन दैवीय-नियमों के अलावा नियमों के दो और रूप भी हैं। एक ऐसे नियम जो ऋत के दैवीय नियम के अनुकूल हैं—इन्हें '**सत्य**' कहा जाता है, दूसरे ऐसे नियम जो सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर बने होते हैं, बदल भी सकते हैं, इन्हें '**साधारण नियम**' कहा जा सकता है। हमें जहाँ ऋत का पालन करना है, वहाँ सत्य का भी पालन करना है। उपनिषकार कहते हैं कि सत्य का जीवन में पालन करो और सत्य का ही दूसरों के लिए प्रवचन करो—'**सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च**'। उपनिषदों में 'ऋत', 'सत्य', 'तप'—इन तीन का इकटठा वर्णन भी पाया जाता है।

उदाहरणार्थ, '**ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसः अधि अजायत्**'—इसमें ऋत, सत्य तथा तप को एक-साथ कहा गया है। ऋत तथा सत्य का पालन करना एक प्रकार का तप है क्योंकि ऋत तथा सत्य का उल्लंघन करने के जीवन में अनेक प्रलोभन आते हैं, इन प्रलोभनों के वश में न पड़ना तप है—'**तपः च स्वाध्याय प्रवचने च**'। 'तप' के साथ 'दम' और 'शम' बंधे हुए हैं। प्रलोभनों में न पड़ना 'तप' है, प्रलोभनों का दमन करना 'दम' है, प्रलोभनों में शान्त रहना 'शम' है--इसी को '**दमः च स्वाध्याय प्रवचने च, शमः च स्वाध्याय प्रवचने च**' कहा है। इसी प्रकरण में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, अतिथि-सेवा, मानव-सेवा, प्रजा-पालन, सन्तानोत्पत्ति, पुत्र-पौत्र का पालन—इन सब को करता हुआ स्वाध्याय तथा प्रवचन को न छोड़े—'**अग्नयः च स्वाध्याय प्रवचने च**', '**अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च**', '**अतिथयः च स्वाध्याय प्रवचने च**', '**मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च**', '**प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च**', '**प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च**', **प्रजातिः च स्वाध्याय प्रवचने च**'—इन सब में स्वाध्याय तथा प्रवचन को इतना महत्व दिया गया है कि लक्ष्य को बतलाने वाले प्रत्येक शब्द के साथ स्वाध्याय तथा प्रवचन को अवश्य जोड़ दिया गया है।

इन सब में भी सत्य, तप, स्वाध्याय तथा प्रवचन पर तैतिरोयोपनिषत्कार ने इतना बल दिया है कि उक्त सारा उपदेश देकर उसका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं :

'सत्य' ही सब-कुछ है—यह सत्यवाक् राथीतर के पुत्र का कहना है—'**सत्यं इति सत्यवचा राथीतरः**'; 'तप' ही सब-कुछ है—यह तपस्वी पुरुशिष्ट के पुत्र का कहना है—'**तपः इति तपोनित्यः पौरुशिष्टः**'; स्वाध्याय और प्रवचन ही सब-कुछ हैं—यह मुद्गल के पुत्र नाक का कहना है—'**स्वाध्याय प्रवचने एव इति नाकः मौद्गल्यः**'—मौद्गल्य तो कहता था कि स्वाध्याय ही तप है, प्रवचन ही तप है—'**तत् हि तपः तत् हि तपः**'। शिक्षाध्याय-वल्ली के नवम अनुवाक का श्लोक ।१।

शिक्षाध्याय-वल्ली का दशम अनुवाक

जो ब्रह्मचारी इस प्रकार 'ऋत', 'सत्य', 'तप', 'स्वाध्याय', 'प्रवचन' आदि का जीवन बिताता है वह जीवन में ऐसी साधना से जो

पाता है उसके विषय में शिक्षाध्याय-वल्ली के दशम अनुवाक में कहा है :

अहं वृक्षस्य रेः इवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेः इव। ऊर्ध्व-पवित्रः वाजिनी इव। सु अमृतं अस्मि। द्रविणं, सुवर्चसम्। सुमेधा अमृत उक्षितः। इति त्रिशंकोः वेदानुवचनम् ॥१॥

मैं शरीर-रूपी वृक्ष का मानो गति देने वाला हूं—**'अहं वृक्षस्य रेः इवा'**—यहां इव के लिए 'इवा'-शब्द का प्रयोग हुआ है। शरीर मेरे कहे के अनुसार चलता है, मैं शरीर के पीछे नहीं चलता। मेरी कीर्ति पर्वत की पीठ की तरह ऊंची तथा स्थिर है—**'कीर्तिः पृष्ठं गिरेः इव'**। ऊँचा उठ जाने कारण मैं पवित्र हूँ—**'ऊर्ध्व पवित्रः'**, ज्ञानियों की तरह पवित्र हूं—**'वाजिनी इव'**। मैंने अमृत पा लिया है, अमृतमय हो गया हूं—**'सु अमृतं अस्मि'**। मैंने 'ऋत', 'सत्य' 'तप', 'स्वाध्याय', 'प्रवचन' से जो-कुछ पाया है वही मेरा वर्चस्वी धन है—**'द्रविणन् सुवर्चसम्'**, मैं मेधा (बुद्धियुक्त) हो गया हूँ—'सुमेधा' रूपी अमृत से खींचा गया हूं—**'अमृत उक्षितः'**। वेद के अनुसार त्रिशंकु ऋषि के ये वचन हैं—**'इति त्रिशंकोः वेदानुवचनम्'**। शिक्षाध्याय-वल्ली के दशम अनुवाक का श्लोक।१।

शिक्षाध्याय-वल्ली का एकादश अनुवाक—दीक्षान्त-भाषण (Convocation Address)

आचार्य से शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद शिष्य ने त्रिशंकु ऋषि के माध्यम से अपने स्वालम्बी होने के विषय में जो-कुछ कहा उससे ज्ञात होता है कि गुरुकुल-वास के बाद शिष्य में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न हो गया है। शिक्षा समाप्त कर चुकने बाद आचार्य शिष्य को सीख देता है जो जीवन-भर उसके काम आने वाली है। इसे आजकल की भाषा में दीक्षान्त-भाषण (Convocation Address) कहते हैं। आजकल तो प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में दीक्षान्त-संस्कार के समय यही भाषण देने की परिपाटी चल पड़ी है। यह दीक्षान्त भाषण क्या है ?

वेद की शिक्षा देकर—**'वेदं अनूच्य'**, आचार्य अपने अन्तेवासी शिष्य को—**'आचार्यः अन्तेवासिनं'**, यह अनुशासन, यह आदेश देता है—**'अनुशास्ति'**। क्या आदेश देता है ?

सदा सत्य बोलना—**'सत्यं वद'**; धर्म का आचरण करना—**'धर्मं चर'**; स्वाध्याय में प्रमाद मत करना—**'स्वाध्यायात् मा प्रमदः'**; आचार्य के लिए **'आचार्याय'**, जो उसे प्रिय-धन हो वह दक्षिणा-रूप में लाकर—**'प्रियं धनं आहृत्य'**--उसे देना; वंश-परम्परा को—**'प्रजा-तंतुम्'** मत काट देना—**'मा व्यवच्छेत्सीः**—अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना। सत्य कथन से—**'सत्यात्'**, प्रमाद मत करना—**'न प्रमदितव्यम्'**; धर्म से –**'धर्मात्'**, प्रमाद मत करना—**'न प्रमदितव्यम्'**; जिस बात में तुम्हारा कुशल होता दीखे—**'कुशलात्'**, उसमें प्रमाद मत करना **'न प्रमदितव्यम्'**; अपनी विभूति बढ़ाने में—**'विभूत्यै'**, प्रमाद मत करना—**'न प्रमदितव्यम्'**; स्वाध्याय और प्रवचन में—**'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां'**, प्रमाद मत करना—**'न प्रमदित-व्यम्'**। शिक्षाध्याय-वल्ली के एकादश अनुवाक का पहला श्लोक।१।

संसार में जो 'देव' हैं, तुम से दिव्य-गुणों में बड़े हैं, और जो 'पितर' हैं, तुम से आयु में बड़े हैं—**'देव पितृ कार्याभ्यां'**, उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने में प्रमाद मत करना—**'न प्रमदितव्यम्;'** माता को देवी समझना—**'मातृ देवो भव'**; पिता, आचार्य तथा अतिथि को भी देव समझना—**'पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव'**। हमारे जो अनिन्दित कर्म हैं—**'यानि अस्माकं अनवद्यानि कर्माणि'**, उनका ही--**'तानि'**, सेवन करना—**'सेवितव्यानि'**, अन्यों का सेवन मत करना—**'न इतराणि;'** और जो—**'यानि'**, हमारे सुचरित हैं—**'अस्माकं सुचारितानि'**, उनकी ही—**'तानि'**, तूने—**'त्वया'**, उपासना करना—**'उपास्यानि'**, दूसरे कर्मों की नहीं—**'नो इतराणि'**—शिक्षाध्याय-वल्ली के एकादश अनुवाक का दूसरा श्लोक।२।

हम से श्रेष्ठतर ब्राह्मण जहाँ हों—**'ये के च अस्मत् श्रेयांसः ब्राह्मणाः'**, उनको तूने बैठने के लिये आसन देकर ही सांस लेना—**'तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्'**। श्रद्धा से तो दान देना ही--**'श्रद्धया देयं'**, परन्तु श्रद्धा न होने पर भी दान देना—**'अश्रद्धया देयं'**। अगर तुम पर लक्ष्मी का वरदान हो तब तो देना ही—**'श्रिया देयं'**, अगर न हो तो भी लोक-लाज से देना—**'ह्रिया देयं'**। भय के कारण भी देना—**'भिया देयं'**, प्रेम से भी देना—**'संविदा देयम्'**। शिक्षाध्याय-वल्ली के एकादश अनुवाक का तीसरा श्लोक।३।

अगर किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाय, यह समझ न पड़े कि

'धर्माचार' क्या है, अथवा किस स्थिति में कैसे बरतना है, 'लोकाचार' क्या है—**'अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्त विचिकित्सा वा स्यात्'**, तो तुम्हारे आस-पास के विचारशील विद्वान्—**'ते तत्र ब्राह्मणाः'**, सब दृष्टियों से ठीक-ठाक विचार करने वाले—बैलैंस्ड लोग जो हों—**'समदर्शिनः**, वे जैसा कहें वैसा करना। ये लोग ऐसे होने चाहियें जो उसी प्रकार की समस्या को झेले हुए हों—**'युक्ताः'**, या तो इसी प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिये नामांकित—नौमिनेटेड हों—'आयुक्ताः', स्वभाव से रुखे न हों—**'अलूक्षाः'**, धर्मबुद्धि वाले हों—**'धर्मकामाः स्युः'**। वे जैसा बरतें या बरतने को कहें ऐसी स्थिति में वैसा बरतना—**'यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः'**। यही आदेश है—**'एष आदेशः'**, यही उपदेश है—**'एषः उपदेशः'**, यही वेद और उपनिषद् का सार है—**'एषा वेदोपनिषद्'**, यही हमारा भी अनुशासन है—**'एतत् अनुशासनम्'**, इसी प्रकार आचरण करना उचित है—**'एवम् उपासितव्यम्'**, इसी प्रकार आचरण करना चाहिये—**'एवम् उ उपास्यम्'**। शिक्षाध्याय-वल्ली के एकादश अनुवाक का चौथा श्लोक ।४। शिक्षाध्याय-वल्ली के द्वादश अनुवाक को हम छोड़ रहे हैं।

२. ब्रह्मानन्द-वल्ली

पांचों कोशों का वर्णन

शिक्षाध्याय-वल्ली में प्रारम्भिक-शिक्षा से लेकर उच्चतम-शिक्षा तक जो-कुछ पढ़ना चाहिये उसका वर्णन करते हुए दीक्षान्त-संस्कार तक विद्यार्थी को पहुंचा दिया। शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य अध्यात्म-ज्ञान है—अधिलोक, अधिज्यातिष, अधिविद्य, अधिप्रज तथा अध्यात्म—इस प्रकार ज्ञान का फैलाव होना चाहिये—यह भी कह दिया। अब ब्रह्मानन्द-वल्ली में उसी अध्यात्म का वर्णन कर रहे हैं जिस तक शिक्षाध्याय में छात्र को पहुंचा दिया गया था।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का प्रथम अनुवाक

सबसे पहले आचार्य तथा अन्तेवासी मिलकर एक-दूसरे के प्रति तन्मयता की प्रतिज्ञा करते हैं। वैदिक-संस्कृति में शिष्य के लिये कहा गया है कि वह अपने को आचार्य के प्रति समर्पण कर दे, इतना समर्पण कर दे कि दोनों की एकात्मता हो जाय। शिक्षा की समस्याएँ

खड़ी ही इसलिये होती हैं क्योंकि गुरु-शिष्य में एकात्मता नहीं होती। सब ज्ञानों में सर्व-प्रधान ज्ञान ब्रह्म-ज्ञान है। उस ज्ञान को पाने के लिये गुरु-शिष्य दोनों एकात्म होकर प्रार्थना करते हैं :

ओ३म् सह नौ अवतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्व नौ अधीतम् अस्तु। मा विद्विषावहै। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे भगवन् ! हम दोनों की एक-साथ रक्षा करो—'**सह नौ अवतु**', हम दोनों का एक-साथ पालन-पोषण, खाना-पीना करो—'**सह नौ भुनक्तु**', हम दोनों एक-साथ एक-दूसरे का बल बढ़ायें—'**सह वीर्यं करवावहै**', हम दोनों का पठन-पाठन प्रभावोत्पादक हो—'**तेजस्वि नौ अधीतं अस्तु**', हम आपस में कभी द्वेष-भाव से युक्त न हों—'**मा विद्विषावहै**'। हे प्रभु ! हम दोनों को शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक —इस तीन प्रकार की शान्ति प्राप्त हो—'**ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः**'॥

शिक्षाध्याय-वल्ली में शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य अध्यात्म-ज्ञान बतलाया गया था। अध्यात्म-लक्ष्य को प्राप्त करने का अर्थ है—ब्रह्म-ज्ञान। गुरु-शिष्य की आध्यात्मिक-एकता की प्रार्थना करने के बाद ब्रह्म-ज्ञान के विषय को लेकर ब्रह्मानन्द-वल्ली में कहते हैं :

ओ३म् ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। तद् एषा अभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। यः वेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन्, सः अश्नुते सर्वान् कामान्, सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति॥

ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति सृष्टि में जो भी परम-रहस्य है, जो-कुछ भी जानने योग्य है, उसे पा लेता है—'**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**'; तभी यह वाणी कही गई है—'**तद् एषा अभ्युक्ता**'। क्या वाणी कही गई है? यह वाणी कही गई है कि ब्रह्म '**सत्य**' है, '**ज्ञान**' है, '**अनन्त**' है —'**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म**'। जो हृदयाकाश की गहन-गुहा में उस ब्रह्म को जान लेता है—'**यः वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्**', वह सब कामनाओं से तृप्त हो जाता है—'**सः अश्नुते सर्वान् कामान्**', क्योंकि उस ज्ञानी का ब्रह्म के साथ, साथ हो जाता है—'**सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति**'॥

यहाँ ब्रह्म को कोई व्यक्ति-विशेष नहीं कहा—'सत्य' (Truth), 'ज्ञान' (Knowledge) तथा 'अनन्तता' (Infinity) को ही ब्रह्म कहा है। मनुष्य संसार में असलीयत को ही ढूँढता है। यथार्थ क्या है—इसी को जानने का सब जगह प्रयत्न है। यथार्थ को जानने का ही अर्थ है—'सत्य' तथा 'ज्ञान'। यथार्थ का अर्थ है 'सत्य', जानने का अर्थ है—'ज्ञान'। ये दोनों 'अनन्त' हैं, न सत्य का कहीं अन्त है, न ज्ञान का कहीं अन्त है; सत्य की खोज अनन्त खोज है, उस खोज का साधन ज्ञान है, वह भी अनन्त है। इसी भाव को एक शब्द में कहा जाय, तो ऋषि कहते हैं—वही ब्रह्म है। मनुष्य जब अपने को सत्य के ज्ञान में जो अनन्त है, लगा देता है, उसके साथ एक हो जाता है, तब उसके भीतर संसार की कोई कामना नहीं रहती, वह सत्य के इसी अनन्त ज्ञान में अपने को तृप्त अनुभव करता है, वह मानो हृदयाकाश की गुहा में निहित ब्रह्म के साथ रहने लगता है, उसकी और कोई कामना नहीं बच रहती।

परन्तु ब्रह्म-ज्ञान, अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान को पाने का मार्ग क्या है? इस मार्ग का वर्णन करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मांड के तथा पिंड के—समष्टि के तथा व्यष्टि के—विकास का क्रम बतलाया है। जैसे सृष्टि विकास के क्रम में से गुज़रती हुई अपने लक्ष्य तक पहुंचती है, वैसे ही प्राणी भी विकास के क्रम में से गुज़रता हुआ अध्यात्म तक पहुंचता है। सृष्टि का विकास आत्म-तत्त्व से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी आदि क्रमों में से गुज़रता है, अन्त में जीवधारी प्राणी प्रकट होते हैं, प्राणी का विकास भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आदि क्रमों में से गुज़रता हुआ अन्त में अध्यात्म तक पहुँचता है। इसी प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए तैत्तिरियोपनिषद् में पहले सृष्टि के विकास (ब्रह्मांड) का उल्लेख किया है, फिर जीवधारी प्राणी (पिंड) के विकास का उल्लेख करते हुए पांच कोशों के क्रमिक-विकास का वर्णन किया है। उपनिषत्कार आगे ब्रह्मांड तथा पिंड के विकास की चर्चा करते हुए कहते हैं:

"ब्रह्मांड'—अर्थात्, सृष्टि के विकास का क्रम

तस्मात् वै एतस्माद् आत्मनः आकाशः संभूतः। आकाशात् वायुः। वायोः अग्निः। अग्नेः आपः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्याः ओषधयः। ओषधीभ्यः अन्नम्। अन्नात् रेतः। रेतसः पुरुषः। सः वा एषः पुरुषः अन्न-रसमयः।। ब्रह्मानन्द वल्ली का प्रथम अनुवाक (क)।।

भौतिक-विकास किस क्रम से हुआ—इस सम्बन्ध में तैत्तिरोयोपनिषद् की अपनी कल्पना है जो युक्तिसंगत तथा बुद्धिगम्य प्रतीत होती है। अगर ठोस वस्तु को पिघलाया जाय तो वह तरल हो जाती है, तरल वस्तु को पिघलाया जाय तो वह वायवीय हो जाती है, वायवीय के बाद वह अदृश्य हो जाती है। उदाहरणार्थ, अगर बरफ़ को पिघलाया जाय तो वह जल बन जाती है, जल को गर्म किया जाय तो वह वाष्प बन जाती हैं, वाष्प गर्म हो तो वह इतनी गर्म हो जाती है कि दिखती नहीं। अगर इस क्रम को उल्टा जाय, वाष्प को ठंडा किया जाय तो तरल बन जाती है, तरल को ठंडा किया जाय तो ठोस हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी भौतिकीय-नियम (Law of Physics) को तैत्तिरीय-उपनिषद् ने सृष्टि के विकास-क्रम पर घटाया है। पहले आत्मा से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी। सृष्टि मानो अभी आकाशीय-स्थिति में थी। उस स्थिति से जब उसका विकास प्रारम्भ हुआ, तो वायवीय-स्थिति (Gaseous state) में आयी, वायवीय-स्थिति से जब आगे विकास हुआ, तो आग्नेय-स्थिति (Ignitious state) में आयी, आग्नेय-स्थिति से जब विकास हुआ तब जलीय-स्थिति (Acquious state) में आयी, जलीय-स्थिति से जब विकास हुआ, तब ठोस-स्थिति, पार्थिव-स्थिति (Solid state) में आयी। सृष्टि के विकास के इस क्रम का प्रतिपादन करते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् का कहना है:

उस आत्म-तत्व से—**'तस्मात् वै एतस्माद् आत्मनः'**, आकाश संभूत हुआ—**'आकाशः संभूतः'**। आकाश से वायु—**'आकाशात् वायुः'**। वायु से अग्नि—**'वायोः अग्निः'**। अग्नि से जल—**'अग्नेः आपः'**। जल से पृथिवी—**'अद्भ्यः पृथिवी'**।।

इसके बाद का विकास तो सब जानते हैं। पृथिवी से ओषधियाँ—**'पृथिव्याः ओषधयः'**; ओषधियों से अन्न—**'ओषधिभ्यः अन्नम्'**; अन्न खाने से मनुष्य में वीर्य बनता है—**'अन्नात् रेतः'**; वीर्य से प्राणी का जन्म होता है—**'रेतसः पुरुषः'**। वीर्य से यह जो प्राणी का शरीर बनता है यह शरीर अन्न के रस से बनने के कारण पुरुष अन्नरसमय कहा जाता है—**'अन्नरसमयः'**। इसी अन्नरसमय शरीर को आत्मा का **'अन्नमय कोश'** कहते हैं।। ब्रह्मानन्द वल्ली का प्रथम अनुवाक, (क)।।

इस प्रकरण में एक शब्द पर विशेष ध्यान जाता है। उपनिषद् का कथन है—**'तस्मात् वं एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'**। उपनिषद् में 'संभूत'—'संभूति'—इन शब्दों का एक विशेष अर्थ है। ईशोपनिषद् (१२, १३, १४) में भी 'सम्भूति' तथा 'असम्भूति' शब्दों का प्रयोग किया गया है। दर्शन की परिभाषा में इसे 'सम्भूतिवाद' कहा जाता है, 'सत्कार्यवाद' कहा जा सकता है। 'सम्भूतिवाद' अथवा 'सत्कार्यवाद' का यह अर्थ है कि जो उत्पत्ति होती है उसका बीज पहले कारण में मौजूद होता है, सत् से सत् ही होता है, असत् से—अभाव से—सत्, अर्थात् भाव, उत्पन्न नहीं हो सकता। इस दृष्टि से जब तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है कि आत्मा से आकाश संभूत हुआ, तब उसका यह अर्थ बनता है कि आत्मा का जब अस्तित्व था तब आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—इन सब का बीज रूप में आत्मा के साथ अस्तित्व वर्तमान था। दूसरे शब्दों में, इसका यह अर्थ हुआ कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी का आत्मा निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति का यह क्रम छान्दोग्योपनिषद् (६,२,१-४) में भी पाया जाता है। वहाँ कहा है : **'सत्वेव सोम्येदं अग्रे आसीत् एकं एव अद्वितीयम्। तत् ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय इति। तत् तेजः असृजत। तत् तेजः ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय इति। तत् आपः असृजत। ताः आपः अन्नं असृजन्त'**। इस सन्दर्भ का भी यही अर्थ है कि आत्मा से तेज, तेज से जल, जल से अन्न का विकास हुआ। तैत्तिरीय ने जिस बात को विस्तार से कहा है, उसी बात को छान्दोग्य ने संक्षेप से कहा है। कहने का अभिप्राय यही है कि सृष्टि का विकास होते-होते अन्त में 'अन्नमय-कोश' का निर्माण हुआ। ब्रह्मांड की दृष्टि से पृथिवी ब्रह्मांड का अन्नमय कोश है, पिंड की दृष्टि से यह स्थूल-

शरीर प्राणी का अन्नमय-कोश है ।। ब्रह्मानन्द वल्ली का प्रथम अनुवाक, (क) ।।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक—
[प्राणी का अन्नमय-कोश]

'पिंड'—अर्थात्, प्राणी के विकास का क्रम

अन्नात् वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काः च पृथिवीं श्रिताः अथ उ अन्नेन एव जीवन्ति । अथ एतद् अपियन्ति । अन्ततः अन्नम् हि भूतानां ज्येष्ठम् तस्मात् सर्वोषधम् उच्यते । सर्वं वै अन्नम् आप्नुवन्ति । ये अन्नं ब्रह्म उपासते ।। ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक, (ख)

जो-कुछ उत्पन्न हुआ है वह अन्न से ही उत्पन्न होता है—**'अन्नात् वै प्रजाः प्रजायन्ते'** । जो-कोई भी पृथिवी पर आश्रित हैं या पृथिवी पर विद्यमान हैं—**'याः काः च पृथिवीं श्रिताः'**, वे अन्न से ही जीवित हैं—**'अथ उ अन्नेन एव जीवन्ति'**, और अन्त में अन्न में ही लीन हो जाते हैं—**'अथ एनद् अपियन्ति'** । अन्ततोगत्वा पाँचों महाभूतों का श्रेष्ठतम रूप अन्न ही है—**'अन्तः अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्'**, इसलिए अन्न को सब औषधियों में ज्येष्ठ कहा जाता है—**'तस्मात् सर्वोषधं उच्यते'**, और सब अन्न को ही प्राप्त करना चाहते हैं—**'सर्वं वै अन्नम् आप्नुवन्ति'** । ये लोग अन्न को ही ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करते हैं—**'ये अन्नं ब्रह्म उपासते'** ।। ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक (ख) ।।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द-वल्ली में ब्रह्म की तलाश थी । उपनिपद् कहती है कि सब से पहले तो मनुष्य को जो ज्ञान होता है वह अन्न का ज्ञान होता है, इसलिए सबसे पहले अन्न-ब्रह्म ही ब्रह्म प्रतीत होता है । अन्न को हम ब्रह्म तब तक मानते हैं जब तक आत्मा अपने अन्नमय-कोश—अन्न से बने इस शरीर—के साथ ही एकात्मता बनाये रखता है, यह समझता है कि अन्न से बना यह शरीर ही सब-कुछ है, इससे अतिरिक्त उसकी कोई सत्ता नहीं ।

२ य अनुवाक का आधा हिस्सा हमने पहले दिया है, अगला हिस्सा हिस्सा अगले भाग में दे रहे हैं, उसे भी (ख) ही समझें । अनुवाकों का जो भाग दिया है वह उतना ही दिया है जो आवश्यक समझा है ।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक—
[प्राणी का प्राणमय-कोश]

अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मात् अन्नं तद् उच्यते । तस्मात् वै एतस्माद् अन्नरसमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा प्राणमयः। तेन एषः पूर्णः। सः वै एषः पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः ।। ब्रह्मानन्द-वल्ली के द्वितीय अनुवाक का शेष अंश (ख) ।।

अन्न को अन्न क्यों कहते हैं ? क्योंकि अन्न खाया जाता है इसलिये इसे अन्न कहते हैं—**'अद् भक्षणे'**-धातु से 'अन्न'-शब्द बना है, क्योंकि यह भक्षण किया जाता है इसलिये इसे अन्न कहते हैं—**'अद्यते इति अन्नम्'**। इसे 'अन्न' इसलिये भी कहते हैं क्योंकि यह खाने वाले को भी खा जाता है—**'अत्ति च भूतानि'**। संसार के विषयों को हम भोगते हैं, परन्तु समझदारी से तो कम ही लोग संसार को भोगते हैं, ज़्यादातर तो संसार के विषय ही भोगने वाले को भोग जाते हैं, खाने वाले को खा जाते हैं। इस अन्नरसमय अन्नमय-कोश से अलग या इसके भीतर—**'तस्मात् वै एतस्माद् अन्नरसमयात् अन्यः अन्तरः'**, एक आत्मा है—प्राणी की एक सत्ता है जो अन्नमय-कोश से अतिरिक्त है, जिसे प्राणमय-कोश कहा जा सकता है—**'आत्मा प्राणमयः'**। यह प्राणमय-कोश प्राण से पूर्ण है—**'तेन एषः पूर्णः'**। जैसे अन्नमय-कोश पुरुष के आकार का है, वैसे प्राणमय-कोश भी पुरुष के ही आकार का है—**'सः वै एषः पुरुषविधः एव'**। अन्नमय-कोश की पुरुषविधता के अनुसार प्राणमय-कोश भी पुरुष के आकार का ही है—**'तस्य अनुविधताम् अनु एषः पुरुषविधः'** ।। ब्रह्मानन्द-वल्ली का द्वितीय अनुवाक, (ख) ।।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का तृतीय अनुवाक—
[प्राणी का मनोमय-कोश]

प्राणं देवाः अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवः च ये। प्राणः हि भूतानां आयुः तस्मात् सर्वायुषं उच्यते। सर्वं एव ते आयुः यन्ति ये प्राणं ब्रह्म उपासते ।।

देव, मनुष्य तथा पशु प्राण से ही अनुप्राणित हो रहे हैं—**'प्राणं देवाः अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवः च ये'**। प्राण ही सब प्राणियों की

आयु है—**'प्राणः हि भूतानां आयुः'**, इसलिये प्राण को 'सर्वायु' कहते हैं—**'तस्मात् सर्वायुषं उच्यते'**। जैसे अन्न को 'सर्वौषध' कहा, वैसे प्राण को यहाँ 'सर्वायु' कहा। जो अन्न के स्थान पर प्राण को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं, वे-सब आयु को प्राप्त होते हैं—**'सर्वं एव ते आयुः यन्ति ये प्राणं ब्रह्म उपासते'**।

जैसा हमने पहले कहा, मनुष्य का पहला-पहला ज्ञान यही होता है कि अन्न ही ब्रह्म है। अन्न के बिना कुछ नहीं होता। मानव-समाज का बहुत बड़ा हिस्सा अन्न तक ही जीवन-यापन करता है—रोटी ही उनके जीवन की समस्या अन्त तक बनी रहती है। उनका आत्मा अन्नमय-कोश तक ही जीवन बिता देता है। परन्तु अन्नमय-कोश—या शरीर—के अलावा हम में प्राण भी है। अन्न भी प्राण को ही बनाये रखने में साधन है, परन्तु प्राण-विद्या की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं जाता। हम अन्न के सम्पादन में इतने व्यस्त रहते हैं कि प्राण को ही खो देते हैं। साँसारिक-सम्पत्ति के सम्पादन में इतने भूल जाते हैं कि आयु ही हाथ से चली जाती है। अन्न-ब्रह्म तक जो अपने को सीमित नहीं रखते, वे प्राण-ब्रह्म की उपासना करते हैं, परन्तु प्राण भी जीवन की अन्तिम-सत्ता नहीं, अन्नमय-कोश से आगे प्राणमय-कोश तक बढ़ना होगा, प्राणमय-कोश से आगे मनोमय-कोश की तरफ़ जाना होगा। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् का कहना है :

> **तस्मात् वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा मनोमयः। तेन एषः पूर्णः। सः वै एषः पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः॥** ब्रह्मानन्द वल्ली का तृतीय अनुवाक, (ग)॥

जैसे अन्नमय के अतिरिक्त प्राणमय आत्मा है, वैसे ही एक और आत्मा है—प्राणी की एक और सत्ता है, जो प्राणमय-कोश से भी अतिरिक्त है—**'तस्मात् वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्यः अन्तरः'**, जिसे मनोमय-कोश कहा जा सकता है—**'आत्मा मनोमयः'**। यह मनोमय-कोश मन से परिपूर्ण है—**'तेन एषः पूर्णः'**। जैसे प्राणमय-कोश पुरुष के आकार का है, वैसे मनोमय-कोश भी पुरुष के आकार का है—**'सः वै एषः पुरुषविधः एव'**। प्राणमय-कोश की पुरुषविधता के अनुसार मनोमय-कोश भी पुरुष के आकार का ही है—**तस्य पुरुषविधताम् अन अयं पुरुषविधः'**॥ ब्रह्मानन्द वल्ली का तृतीय अनुवाक, (ग)॥

अब तक अन्नमय, प्राणमय तथा मनोमय का ज़िक्र किया—ये तीनों भौतिक-शरीर से बँधे हैं, अब आगे विज्ञानमय तथा आनन्दमय का उल्लेख होगा, जो दोनों अभौतिक तथा आध्यात्मिक हैं। मन को हमने भौतिक में इसलिये गिना क्योंकि इसका 'तंत्र-संस्थान' (Nervous system) से सम्बन्ध है जो भौतिक है।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक—

[प्राणी का विज्ञानमय-कोश]

अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म मान कर इनकी उपासना करने वाला ब्रह्म को नहीं पा सकता, प्राकृतिक-पदार्थों को पा सकता है, भोग्य-पदार्थों को पा सकता है, अन्न को पा लेगा, जो चाहेगा खा सकेगा, प्राण-शक्ति पा लेगा, शारीरिक-बल प्राप्त कर लेगा, मानसिक-शक्ति पा लेगा, परन्तु ब्रह्म-ज्ञान, जहाँ वाणी नहीं पहुँच सकती, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है, वहाँ नहीं पहुँच पायेगा। जहाँ से वाणी और मन लौट आते हैं वहाँ से ब्रह्म-ज्ञान प्रारम्भ होता है। इसी बात को निम्न सन्दर्भ में उपनिषत्कार कहते हैं :

> **यतः वाचः निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणः विद्वान् न विभेति कदाचन। एषः एव शरीरः आत्मा यः पूर्वस्य। तस्मात् वा एतस्मात् मनोमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा विज्ञानमयः। तेन एषः पूर्णः। सः वा एषः पुरुष-विधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः॥**
> ब्रह्मानन्द-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक (घ) ॥

जहाँ से वाणी और मन ब्रह्म को बिना पाये लौट आते हैं—**'यतः वाचः निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**—वहाँ से ब्रह्म-ज्ञान शुरू होता है। तब ब्रह्म-ज्ञान से जो आनन्द प्राप्त होता है—**'आनन्दं ब्रह्मणः विद्वान्'**—उससे मनुष्य कठिन-से-कठिन विपत्ति आ पड़ने पर भी कभी भयभीत नहीं होता—**'न विभेति कदाचन'**।

यह शरीर ही पूर्व-शरीर का आत्मा है—**'एषः एव शरीरः आत्मा पूर्वस्य'**। पूर्व-शरीर क्या था? पूर्व-शरीर मनोमय-कोश था। उस कोश का आत्मा यह शरीर ही तो है, परन्तु उस मनोमय-कोश से अति-रिक्त एक अन्य शारीर है जिसे विज्ञानमय या विज्ञानमय-कोश कहते

हैं—**'तस्मात् वा एतस्मात् मनोमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा विज्ञान-मयः'** । यह विज्ञानमय-कोश विज्ञान से परिपूर्ण है—**'तेन एषः पूर्णः'** । जैसे मनोमय-कोश पुरुष के आकार का है, वैसे विज्ञानमय-कोश भी पुरुष के आकार का है—**'सः वा एषः पुरुषविधः एव'** । मनोमय-कोश की पुरुषविधता के अनुसार विज्ञानमय-कोश भी पुरुष के आकार का ही है—**'तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः'** ॥ ब्रह्मानन्द वल्ली का चतुर्थ अनुवाक, (घ) ॥

ब्रह्मानन्द-वल्ली का पंचम अनुवाक—
[प्राणी का आनन्दमय-कोश]

अभी विज्ञानमय-कोश का वर्णन हुआ । विज्ञान के दो काम हैं—विज्ञान से आध्यात्मिक-कार्य होते हैं, विज्ञान से लौकिक-कार्य भी किये जाते हैं, इसलिये जैसे कई लोग अन्न-ब्रह्म की उपासना करते हैं, कई प्राण-ब्रह्म की, कई मन-ब्रह्म की उपासना करते हैं—अर्थात्, अन्न को ही सब-कुछ मान बैठते हैं या प्राण, या मन को ही ब्रह्म, अर्थात् अन्तिम सत्ता मान बैठते हैं, इसी तरह कई लोग विज्ञान को ही अन्तिम-सत्ता, अर्थात् ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करते हैं । उदाहरणार्थ, आज का युग विज्ञान का युग है, इस युग में विज्ञान ही ब्रह्म बना हुआ है। कुछ समय हुआ, वैज्ञानिकों की विज्ञान-लिप्सा ने सारे संसार को भयभीत कर दिया था । अमरीका ने परमात्मा के कारखाने में झाँकने के लिये एक व्योम-प्रयोगशाला (Skylab) का निर्माण कर उसे आकाश में भेजा था जो ११ जून १९७९ को खण्ड-खण्ड होकर पृथिवी पर आग के गोले की तरह आ गिरा, जिससे संसार के सब प्राणी कई दिनों तक त्रस्त रहे । न जाने इस प्रकार के परीक्षण करने से इन्हें क्या मिलेगा, परन्तु इनके लिये विज्ञान ही ब्रह्म है। उपनिषत्कार कहते हैं कि विज्ञान से अतिरिक्त, इससे परे, इससे ऊपर कुछ अन्य है जो वास्तव में ब्रह्म है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि विज्ञान निरर्थक है, विज्ञान का महत्व है । विज्ञान के अतिरिक्त कुछ है—यह कहने से पहले विज्ञान के महत्व को विशद करने के लिये ऋषि कहते हैं :

विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुते अपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठं उपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद

तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनः हित्वा सर्वान् कमान् समश्नुते । तस्य एषः एव शरीरः आत्मा यः पूर्वस्य ॥

विज्ञान द्वारा ही मनुष्य यज्ञादि शुभ-कर्मों तथा सामान्य दैनिक-कर्मों का जीवन में विस्तार करता है—**'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुते अपि च'**, विज्ञान को ही सब विद्वान् लोग सर्वोपरि ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करते हैं—**'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठं उपासते'**। जो विज्ञान को ब्रह्म मान कर उसमें प्रमाद नहीं करता—**'विज्ञानं ब्रह्म चेत् वेद तस्मात् चेत् न प्रमाद्यति'**, वह शरीर के सब कष्टों को छोड़ देता है और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है—**'शरीरे पाप्मनः हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते'**। विज्ञानमय-कोश का वही आत्मा है जो इससे पूर्व मनोमय-कोश का आत्मा है—**'तस्य एषः एव शरीरः यः पूर्वस्य'**—परन्तु ब्रह्म की तलाश में विज्ञानमय-कोश तक ही रुक जाना ठीक नहीं है, आगे बढ़ना होगा। कहाँ बढ़ना होगा ?

तस्माद् वै एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्यः अन्तरः आत्मा आनन्दमयः। तेन एषः पूर्णः। सः वै एषः पुरुषविधः एव। तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः ॥ ब्रह्मानन्द वल्ली का पंचम अनुवाक (ङ) ॥

जैसे अन्नमय से अतिरिक्त प्राणमय है, प्राणमय से अतिरिक्त मनोमय है, मनोमय से अतिरिक्त विज्ञानमय है, वैसे ही विज्ञानमय से अतिरिक्त एक और आत्मा है—प्राणी की एक और सत्ता है— **'तस्मात् वै एतस्मात् विज्ञानमयात् अन्यः अन्तरः'**, जिसे आनन्दमय आत्मा कहा जा सकता है—**'आत्मा आनन्दमयः'**। यह आनन्दमय-कोश आनन्द से परिपूर्ण है—**'तेन एषः पूर्णः'**। जैसे विज्ञानमय-कोश पुरुष के आकार का है, वैसे आनन्दमय-कोश भी पुरुष के आकार का ही है—**'सः वै एषः पुरुषविधः एव'**। विज्ञानमय-कोश की पुरुषविधता के अनुसार आनन्दमय-कोश भी पुरुष के आकार का है—**'तस्य पुरुषविधताम् अनु अयं पुरुषविधः'** ॥ ब्रह्मानन्द वल्ली का पंचम अनुवाक, (ङ) ॥

अब तक उपनिषत्कार ने कहा कि ऐसे लोग हैं जो अन्न को ब्रह्म मानते हैं, अन्न की उपासना में लगे हैं, ऐसे हैं जो प्राण की—अपने जीवन को ब्रह्म मानते हैं, जीवन की उपासना में लगे हैं; ऐसे हैं जो

मन को ब्रह्म मानते हैं, विचार के जगत् में विचरते हैं, मानसिक-चिंतन को ब्रह्म मानते हैं; ऐसे लोग हैं जो विज्ञान को ब्रह्म मानते हैं; परन्तु न अन्न-ब्रह्म, न प्राण-ब्रह्म, न मन-ब्रह्म, न विज्ञान-ब्रह्म वास्तविक ब्रह्म है; ब्रह्म का यथार्थ-रूप आनन्द-ब्रह्म है। संसार में कण-कण में आनन्द बिखरा पड़ा है, उसी की तलाश में हर प्राणी भटका फिरता है—कीड़ी से मनुष्य तक सबका ध्येय आनन्द-ब्रह्म को ढूंढना है। इसी को स्पष्ट करते हुए ब्रह्मानन्द वल्ली के सप्तम अनुवाक में कहा है :

ब्रह्मानन्द-वल्ली का सप्तम अनुवाक 'क', 'ख', 'ग', 'घ', 'ङ' के बाद 'च' आना चाहिये, परन्तु 'च', अर्थात् षष्ठ को हमने अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया है और 'ङ' के बाद 'छ' का उल्लेख किया है :

> **रसः वै सः। रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति। कः हि एव अन्यात्, कः प्राण्यात्, यद् एषः आकाशे आनन्दः न स्यात्। एषः हि एव आनन्दयाति यदा हि एव एषः एतस्मिन् अदृश्ते अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलये अभयम् प्रतिष्ठाम् विन्दते ॥** ब्रह्मानन्द-वल्ली का सप्तम अनुवाक, (छ) ॥ षष्ठ अनुवाक को छोड़ दिया गया है ॥

वह अध्यात्म—ब्रह्म-ज्ञान—रस-ही-रस है—**'रसः वै सः'**। रस को पाकर ही तो प्राणी आनन्द में डूब जाता है—**'रसं हि लब्ध्वा आनन्दी भवति'**। यदि हृदयाकाश में जहाँ भगवान् का निवास है वहाँ आनन्द न हो, तो कौन जीने का नाम ले—**'कः हि एव अन्यात्'**, कौन प्राण धारण करना चाहे—**'कः प्राण्यात्'**? जब आत्मा इस अदृश्य—**'यदा हि आत्मा एतस्मिन् अदृश्ये'**, शरीर-रहित—**'अनात्म्ये'**, वर्णनातीत—**'अनिरुक्ते'**, निराधार—**'अनिलये'**, ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसका आश्रय ले लेता है, उसमें मानो स्थित हो जाता है, उस पर अपने को छोड़ देता है, उसके प्रति समर्पित हो जाता है, तब वह अभयपद को प्राप्त कर लेता है—**'अभयं प्रतिष्ठां विन्दते'**। ७म अनुवाक (छ) ॥

यहाँ उपनिषद् ने 'अभय' और 'आनन्द' में समता को दर्शाया है। वह कैसे? 'अभय' और 'आनन्द' में क्या समता है। अनुभव बतलाता है कि जितना भय बढ़ता जाता है उतना आनन्द घटता जाता है। आनन्द के न होने का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है? आनन्द तब नहीं होता जब प्राणी को किसी बात का भय सता रहा होता है। आजी-विका न रहेगी—यह भय, कोई आक्रमण कर देगा—यह भय, जो-कुछ

पास है वह चला जायगा—यह भय। आनन्द का अभाव तभी होता है जब उसके पीछे किसी-न-किसी प्रकार का भय छिपा होता है। इसी कारण उपनिषत्कार कहते हैं कि प्राणी आनन्दमय-कोश में तभी विहार करता है जब अभय में प्रतिष्ठित हो जाता है; अध्यात्म का रूप आनन्दमय है, इसलिये आनन्दमय है क्योंकि अध्यात्म में भय को कोई स्थान नहीं, भौतिक-जीवन में ही भय को स्थान है, क्योंकि वहाँ कुछ छूट जाने का भय रहता है, इसलिये वहाँ आनन्द का भी अभाव है, अध्यात्म में कुछ भी छूटने का भय नहीं इसलिये वहाँ आनन्द-ही-आनन्द है।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का अष्टम अनुवाक—

[ब्रह्मानन्द में आनन्द की मात्रा]

मनुष्य जब अन्न-ब्रह्म, प्राण-ब्रह्म, मन-ब्रह्म, विज्ञान-ब्रह्म के विचार को छोड़कर आनन्द-ब्रह्म के विचार को पकड़ लेता है, तब आनन्द का स्वरूप, उसकी मात्रा कितनी हो जाती है—इसका वर्णन करते हुए ब्रह्मानन्द-वल्ली के अष्टम अनुवाक में कहा है :

सा एषा आनन्दस्य मीमांसा। युवा स्यात्, साधु युवा, अध्यापकः, आशिष्ठः, द्रढिष्ठः, बलिष्ठः। तस्य इयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। सः एकः मानुषः आनन्दः॥ ब्रह्मानन्द-वल्ली के अष्टम अनुवाक का भाग, (ज)॥

प्रत्येक वस्तु की पहले इकाई का निर्धारण करना होता है, उसके बाद उस माप को आधार बनाकर आगे का क्रम चलता है। उदाहरणार्थ, पहले इंच का पैमाना बना कर फुट और गज़ चलते हैं, ग्राम का पैमाना बनाकर आधा किलो, एक किलो का माप चलता है, इसी तरह उपनिषद् ने ब्रह्मानन्द का स्वरूप क्या है—इसके लिये एक पैमाने का, उसकी इकाई का, उसके यूनिट का निश्चय किया है जिसके आधार पर ब्रह्मानन्द को मापा जा सकता है। वह इकाई क्या है ?

आनन्द की इकाई का निर्धारण करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं : आनन्द की इकाई की मीमांसा इस प्रकार है—**'सा एषा आनन्दस्य मीमांसा'**। कल्पना करो कि एक युवक है—**'युवा स्यात्'**, बहुत अच्छा युवक—**'साधु युवा'**, खूब पढ़ा-लिखा, दूसरों को भी पढ़ा सकने वाला—**'अध्यापकः'**, दूसरों पर शासन करने वाला—**'आशिष्टः'**, बड़ा दृढ़, मजबूत—**'द्रढिष्ठः'**, बलशाली—**'बलिष्ठः'**। अब कल्पना करो कि

उसके लिये यह सम्पूर्ण पृथिवी धन-धान्य से पूरी भर जाय—'**तस्य इयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्**'। ऐसे व्यक्ति को जो आनन्द होगा वह आनन्द की इकाई समझो जिसे एक मानुष-आनन्द (Unit of Human Happiness) कहा जा सकता है—'**सः एकः मानुषः आनन्दः**'॥ ब्रह्मानन्द-वल्ली के अष्टम अनुवाक का एक भाग, (ज)॥

इस तरह का सौगुणा आनन्द हो, तो उसे एक '**मनुष्य-गन्धर्वानन्द**' कहते हैं। उस एक से भी सौगुण आनन्द हो, तो उसे '**देव-गन्धर्वानन्द**' कहते हैं। उस एक से भी सौगुणा आनन्द हो, तो उसे '**पितरों**' का एक आनन्द कहते हैं। पितरों के आनन्द से भी सौगुणा आनन्द हो, तो उसे जन्म से ही दिव्य-गुणों को लेकर उत्पन्न हुए—'**आजानज**'-व्यक्तियों का एक आनन्द कहते हैं। जन्म नहीं परन्तु कर्म से जिन लोगों ने देवत्व प्राप्त कर लिया है उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है वह आजानजों के एक आनन्द से सौगुणा है—यह '**कर्म-देवों**' का आनन्द है। सौ कर्म-देवों का जो आनन्द है वह '**इन्द्र-देव**' का एक आनन्द है। इन्द्र-देव के आनन्द से सौ गुणा आनन्द '**बृहस्पति**' का एक आनन्द है, उससे सौ गुणा '**प्रजापति**' का आनन्द है, उससे सौ गुणा आनन्द '**ब्रह्मानन्द**' है।

यह आनन्द किसे प्राप्त होता है? उपनिषत्कार ने प्रत्येक आनन्द का वर्णन करते हुए कहा है—'यह आनन्द उसको प्राप्त है जो श्रोत्रिय है, और एषणा शून्य है'—'**श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य**'। 'कामहत' का अर्थ है—जो कामनाओं से हत है, मारा गया है। '**अकामहत**' वह व्यक्ति है जो कामनाओं से हत नहीं है, कामनाओं का शिकार नहीं है। ऐसा व्यक्ति ही ब्रह्मानन्द के मार्ग का राही हो सकता है।

इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि (ज) के अन्तिम भाग में पाँचों कोशों का उल्लेख करते हुए कहते हैं:

> **सः यः च अयं पुरुषे यः च असौ आदित्ये सः एकः। सः यः एवं वित् अस्मात् लोकात् प्रेत्य एतं अन्नमयं आत्मानं उपसंक्रामति, एतं प्राणमयं आत्मानं उपसंक्रामति, एतं मनोमयं आत्मानं उपसंक्रामति, एतं विज्ञानमयं आत्मानं उपसंक्रामति, एतं आनन्दमयं आत्मानं उपसंक्रामति॥**
> ब्रह्मानन्द-वल्ली के अष्टम अनुवाक का एक भाग, (ज)॥

पिंड के इस पुरुष में जो अध्यात्म-सत्ता है और ब्रह्मांड के सूर्य में जो अध्यात्म-सत्ता है वह एक ही है, सब जगह आध्यात्मिक-सत्ता ही

अखंड वास्तविक सत्ता है—**'सः यः च अयं पुरुषे, यः च असौ आदित्ये सः एकः'**, जो यह जान गया है—**'सः यः एवं वित्'**, वह मर कर—**'प्रेत्य'**, अन्नमय-कोश—अर्थात्, अन्न-ब्रह्म के विचार को लांघ कर आगे निकल जाता है—**'अन्नमयं आत्मानं उपसंक्रामति'**, वह प्राणमय-कोश—अर्थात्, प्राण-ब्रह्म (जीवन-ब्रह्म) के विचार को लांघ कर आगे निकल जाता है—**'प्राणमयं आत्मानं उपसंक्रामति'**, वह मनोमय-कोश—अर्थात्, मन-ब्रह्म के विचार को लांघ कर आगे निकल जाता है—**'मनोमयं आत्मानं उपसंक्रामति'**, वह विज्ञानमय-कोश—अर्थात्, विज्ञान-ब्रह्म के विचार को लांघ कर आगे निकल जाता है—**'विज्ञान-मयं आत्मानं उपसंक्रामति'**, वह आनन्दमय-कोश—अर्थात्, आनन्द-ब्रह्म के विचार को लांघ कर आगे निकल जाता है—**'आनन्दमयं आत्मानं उपसंक्रामति'**। आनन्दमय आत्मा को भी लांघ जाता है का अर्थ है कि वह ब्रह्मानन्दमय हो जाता है, ब्रह्मलीन हो जाता है ।। ब्रह्मानन्द-वल्ली के अष्टम अनुवाक का अन्तिम भाग, (ज) ।।

ब्रह्मानन्द-वल्ली का नवम अनुवाक—

मनुष्य जब ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है तब जो अवस्था होती है उसका न बाणी बखान कर सकती है, न मन उसका चिंतन कर सकता है। उस अवस्था का वर्णन करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि कहते हैं :

> **यतः वाचः निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणः विद्वान् न विभेति कुतश्चन इति। एतं ह वाव न तपति किम् अहम् साधु न अकरवम्, किम् अहम् पापं अकरवम् इति ।।** ब्रह्मानन्द-वल्ली के नवम अनुवाक का एक भाग, (झ) ।।

जहां से बाणी तथा मन चुपचाप लौट आते हैं क्योंकि ब्रह्मानंद न बाणी का विषय है, न मन का विषय है—**'यतः वाचः निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**, वहाँ जो ब्रह्मज्ञानी पहुंच जाता है, ब्रह्मानन्द को पा जाता है, उसे जान लेता है—**'आनन्दं ब्रह्मणः विद्वान्'**, उसे ब्रह्मानन्द में मग्न होने के कारण किसी दिशा से भी भय आता प्रतीत नहीं होता—**'न विभेति कुतश्चन इति'**। ऐसे व्यक्ति को इस बात का भी संताप नहीं होता कि मैंने साधु-कर्म नहीं किया—**'एतं ह वाव न तपति किम्**

अहम् साधु न अकरवम्', और न इस बात का सन्देह होता है कि मैंने कहीं कोई पाप-कर्म तो नहीं किया—**'किम् अहं पापं अकरवम् इति'**। साधु-कर्म नहीं किया—यह नकारात्मक (Negative) दोष है, कहीं पाप-कर्म तो नहीं किया—यह भावात्मक (Positive) दोष है—अच्छा भी नहीं किया, बुरा भी नहीं किया। अच्छा भी जो-कुछ किया कर्तव्य समझ कर ही किया, अच्छा है—इस भावना से नहीं किया।

सः यः एवं विद्वान् आत्मानं स्पृणुते। उभे हि एव
एषः एते आत्मानं स्पृणुते। यः एवं वेद, इति उपनिषत्॥
ब्रह्मानन्द-वल्ली के नवम अनुवाक का अन्तिम भाग, (झ)॥

जो व्यक्ति यह जान कर कि न तो उसे साधु-कर्म न करने का संताप है, न उसे किसी पाप-कर्म करने का प्रायश्चित्त है, जो-कुछ किया है कर्तव्य समझ कर किया है—**'सः यः एवं विद्वान्'**, वह आत्मा में बल धारण कर लेता है—**'आत्मानं स्पृणुते'**, ये दोनों विचार—**'उभे हि एव एषः एते'**—उसकी आत्मा को बल देते हैं—**'आत्मानं स्पृणुते'**। जो अध्यात्म के इस रहस्य को जान जाता है—**'यः एवं वेद'**, वह समझ जाता है कि यही उपनिषद् की शिक्षा है—**'इति उपनिषत्'**॥ ब्रह्मानन्द-वल्ली के नवम अनुवाक का अन्तिम भाग, (झ)॥

पाँच कोशों का क्या अभिप्राय है ?

ऐतरेयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द-वल्ली में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों का वर्णन है। इन कोशों के सम्बन्ध में शंकराचार्य तथा श्री अरविन्द के क्या विचार हैं—इसे यहाँ संक्षेप से स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

(क) **पंचकोशों का शाब्दिक अर्थ**—पंच कोशों का विचार तैत्तिरीयोपनिद् की अपनी ही देन है। अन्य किसी उपनिषद् में यह विचार नहीं पाया जाता। संक्षेप में, इस सिद्धान्त का रूप यह है कि शरीर का यह स्थूल-रूप अन्न से बना है, यह स्थूल-शरीर अन्नमय-कोश है जिसके अन्तस् में—भीतर—प्राणमय-कोश है। अन्नमय-कोश प्राणमय-कोश से परिपूर्ण है जो उसी आकार का है जिस आकार का अन्नमय-कोश है—अर्थात् प्राणमय-कोश भी मनुष्य के ही आकार का है। प्राणमय-कोश के भीतर मनोमय, मनोमय-कोश के भीतर विज्ञानमय-कोश और विज्ञानमय-कोश के भीतर आनन्दमय-कोश है।

प्राणमय-कोश मनोमय से परिपूर्ण है, मनोमय-कोश विज्ञानमय से परिपूर्ण है, विज्ञानमय-कोश आनन्दमय से परिपूर्ण है, और प्रत्येक कोश पहले कोश के आकार का है, अर्थात् प्रत्येक कोश मनुष्य के आकार का ही है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक कोश का आकार एक-समान है, परन्तु उत्तरोत्तर प्रत्येक कोश पहले से सूक्ष्माकार का है। प्राणमय अन्नमय से, मनोमय प्राणमय से, विज्ञानमय मनोमय से, आनन्दमय विज्ञानमय से सूक्ष्म है। यह विचार ऐसा जान पड़ता है मानो प्रत्येक कोश का गिलाफ़ पहले कोश पर चढ़ा हुआ है। साधारण तौर पर पढ़ने से पंचकोशों का शाब्दिक-अर्थ यह जान पड़ता है।

(ख) शंकराचार्य का अर्थ—शंकराचार्य इन कोशों को इस प्रकार स्वीकार नहीं करते। वे इन कोशों की काल्पनिक सत्ता मानते हैं। हम अपने विवेचन में पहले कह आये हैं कि कई लोग अन्न-ब्रह्म के उपासक होते हैं, कई प्राण-ब्रह्म के, कई मन-ब्रह्म के, कई विज्ञान-ब्रह्म के, कई आनन्द-ब्रह्म के—अन्न को ही सब-कुछ मान बैठते हैं, प्राण को ही, मन को ही, विज्ञान को ही, आनन्द को ही ब्रह्म मान बैठते हैं—इसी विचारधारा को उपनिषत्कार ने पाँच कोशों का रूप दे दिया है। उपनिषद् का कहना यह है कि ब्रह्म को पाने के लिए इन सब का अतिसंक्रमण करना होगा। शंकराचार्य ने कहा है :

अन्न प्राण मनोमय विज्ञान आनन्द पंचकोशानाम्।
एकैकांतर भाजां भजति विवेकात् प्रकाश्यताम् आत्मा॥
स्वात्म निरूपणम्॥

अर्थात्, अन्नमयादि पाँचों कोश, जिन्हें एक-दूसरे के बीच में कहा गया है, उनमें से आत्मा विवेक द्वारा अपने स्वरूप को प्रकाशित कर लेता है, अर्थात् उनसे अपने को पृथक् अनुभव कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, अपने-आप का निरूपण कर लेता है, अपने को इनसे परे खोज लेता है।

(ग) अरविंद घोष का अर्थ—कोशों के सम्बन्ध में श्री अरविन्द की अपनी ही धारणा है। उनका कहना है कि आत्मा प्रकृति के माध्यम द्वारा जब अपने को व्यक्त करता है, तब विकास की प्रथम अवस्था यह देह है। देह अन्न से बनता है। जितना अन्नमय जगत् है—उद्भिज जगत्— वृक्ष, लता, औषधि, वनस्पति—ये सब अन्नमय

हैं, और आत्मा की अभिव्यक्ति के प्रथम रूप हैं। ये इतने अंश तक जीवित हैं जितने अंश तक प्राण न लेने पर भी उगने, बढ़ने, फूलने, फलने वाले देह को जीवित कहा जा सकता है। इनमें भोजन का आदान-प्रदान, उगना-बढ़ना-घटना पाया जाता है, परन्तु आत्मा की अभिव्यक्ति का यह स्तर अत्यन्त प्रारम्भिक, अत्यन्त निम्न स्तर है क्योंकि इसमें अभी तक प्राण की अभिव्यक्ति नहीं हुई होती। इसके बाद आत्मा की अभिव्यक्ति का दूसरा स्तर वह आता है जब अन्नमय देह में प्राण का विकास होता है, जिसे प्राणमय-कोश कहा गया है। यह अवस्था वृक्ष-लता-औषधि में नहीं, कीट-पतंग-पशु में पायी जाती है। इनमें आत्मा की अभिव्यक्ति अन्नमय देह तक न रुक कर प्राण-कोश तक चली जाती है। यह आत्माभिव्यक्ति का द्वितीय-स्तर है। इसके बाद आत्माभिव्यक्ति का तृतीय-स्तर आता है जिसमें मन प्रकट हो जाता है। यह स्तर मनुष्य में पाया जाता है। श्री अरविंद का कहना था कि आत्म-तत्व के विकास के इसी स्तर तक अभी हम पहुंचे हैं—अन्नमय देह प्रकट हुआ, जीवनमय प्राण प्रकट हुआ, विचारमय मन प्रकट हुआ—ये तीन कोश अभिव्यक्त हो चुके हैं, अभी तक 'मानस' प्रकट हुआ है, 'अतिमानस' प्रकट होना बाकी है जिसे तैत्तिरीयोपनिषद् ने विज्ञानमय-कोश कहा है। श्री अरविंद का कहना है कि 'देह' (अन्नमय-कोश) का प्रकट होना आत्मा के विकास में एक महान् घटना घटी थी, उसके बाद 'प्राण' (प्राणमय-कोश) प्रकट हुआ, यह दूसरी महान् घटना घटी, फिर जब 'मानस' (मनोमय-कोश) प्रकट हुआ वह तीसरी महान् घटना घटी, अब जब 'अतिमानस' (विज्ञानमय-कोश) प्रकट होगा तब आत्मा के विकास में चौथी महान् घटना घटेगी। श्री अरविंद का कहना है कि जैसे वनस्पति एक विशेष योनि है, पशु दूसरी योनि है, मनुष्य एक तीसरी योनि है, वैसे अति-मानस एक चौथी योनि होगी। उस योनि में जरा-मरण नहीं होगा, उस योनि के लोगों का शरीर एक दिव्य-शरीर होगा। अन्नमय के बाद प्राणमय हुआ परन्तु प्राणमय में अन्नमय मौजूद है, प्राणमय के बाद मनोमय हुआ परन्तु मनोमय में अन्नमय तथा प्राणमय दोनों मौजूद हैं, मनोमय के बाद विज्ञानमय हुआ परन्तु विज्ञानमय में अन्न-मय, प्राणमय तथा विज्ञानमय तीनों मौजूद है। इसी सिलसिले को आगे बढ़ाते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् की भाषा में कहा जा सकता है कि

विज्ञानमय के बाद आनन्दमय की अभिव्यक्ति होगी, आनन्दमय में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान सभी मौजूद रहेंगे—परन्तु श्री अरविंद ने आत्माभिव्यक्ति का वर्णन विज्ञानमय या अतिमानस (Supra-mental) तक ही किया है, आनन्दमय तक नहीं किया।

श्री अरविंद के कहने का अभिप्राय यह है कि पेड़-पौधों का शरीर अन्नमय तक है, उसमें प्राणमय-कोश नहीं है, कीट-पतंग का शरीर अन्नमय तथा प्राणमय तक है, उसमें मनोमय-कोश नहीं है, मनुष्य का शरीर अन्न-प्राण-मन तक है, उसमें अतिमानस विकसित नहीं हुआ, परन्तु उसके विकास की प्रक्रिया चल रही है।

इस विषय पर हमने अपने ग्रन्थ **'वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्व'** के 'आत्म-तत्व'—इस अध्याय में कुछ विस्तार से विचार किया है, जो अधिक जानना चाहें वहां देख सकते हैं।

३. भृगु-वल्ली

पाँच कोशों का अभिप्राय

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों का अभिप्राय क्या है—इस सम्बन्ध में हम पिछले प्रकरण में लिख आये हैं कि शंकराचार्य के मत में ये एक-दूसरे पर गिलाफ़ की तरह चढ़े कोश नहीं हैं, ये काल्पनिक कोश हैं। अर्थात्, ब्रह्म क्या है—इस सम्बन्ध में विचार करते हुए कुछ लोग अन्न को ही ब्रह्म समझ कर जीवन बिताते हैं, कुछ लोग प्राण को ही ब्रह्म समझ लेते हैं, कुछ मन को, कुछ विज्ञान को, कुछ आनन्द को ही ब्रह्म मान बैठते हैं—यथार्थ में इनका अति-संक्रमण करने पर जो सत्ता हाथ आती है वही ब्रह्म है। इसी बात को भृगु-वल्ली में कहा गया है। इसी उपक्रम से इस वल्ली का प्रारम्भ होता है:

भृगु-वल्ली का प्रथम अनुवाक—वरुण के पुत्र भृगु की जिज्ञासा

भृगुः वै वारुणिः वरुणं पितरं उपससार। अधीहि भगवः ब्रह्म इति। तस्मै एतत् प्रोवाच—अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनः, वाचम् इति; तं ह उवाच—यतः ह वा इमानि भतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्

प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति तत् विजिज्ञासस्व; तत् ब्रह्म इति। सः तपः अतप्यत; सः तपः तप्त्वा ॥ भृगु-वल्ली का प्रथम अनुवाक, (क) ॥

कहते हैं कि वारुणि का पुत्र भृगु—**'भृगुः वै वारुणिः'**, अपने पिता वरुण के पास गया—**'वरुणं पितरं उपससार'**, और उसने पिता से कहा, हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश दीजिये—**'अधीहि भगवः ब्रह्म इति'**। भृगु को वरुण ने यह कहा—**'तस्मै एतत् प्रोवाच'**—कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा वाणी—**'अन्नं, प्राणं, चक्षुः, श्रोत्रं, मनः, वाचम् इति'**, ये जिससे उत्पन्न होते हैं—**'यतः ह वा इमानि भूतानि जायन्ते'**, और उत्पन्न होने के बाद जिसके कारण जीते रहते हैं—**'येन जातानि जीवन्ति'**, जीने के बाद जिसमें लौट जाते हैं—**'यत् प्रयन्ति'**, और जिसमें विलीन हो जाते हैं—**'अभिसंविशन्ति'**, उसे जानो—**'तत् विजिज्ञासस्व'**, वही ब्रह्म है—**'तत् ब्रह्म इति'**। यह सुनकर भृगु ने तप किया—**'सः तपः अतप्यत'**, और तप करने के बाद—**'सः तपः तप्त्वा'**, पिता के पास लौट कर आया और कहने लगा ॥ भृगु-वल्ली का प्रथम अनुवाक, (क)॥

भृगु-वल्ली का द्वितीय अनुवाक—'अन्न' ब्रह्म है

अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्। अन्नात् हि एव इमानि भूतानि जायन्ते, अन्ने जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इति। तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार। अधीहि भगवः ब्रह्म इति। तं ह उवाच— तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपः ब्रह्म इति, सः तपः अतप्यत, सः तपः तप्त्वा ॥ भृगु-वल्ली का द्वितीय अनु-वाक, (ख) ॥

भृगु पिता को कहने लगा कि अन्न-ब्रह्म को तो मैं जान गया—**'अन्नं ब्रह्म इति व्यजानात्'**। अन्न से ही ये सब भूत (प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी आदि) उत्पन्न होते हैं—**'अन्नात् हि एव इमानि भूतानि जायन्ते'**, अन्न से उत्पन्न होने के कारण ही ये जीवित बने रहते हैं—**'अन्नेन जातानि जीवन्ति'**, अन्न में ही, अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश में ही लौट जाते हैं—**'अन्नं प्रयन्ति'**, और इन्हीं पांच महाभूतों में विलीन हो जाते हैं—**'अभिसंविशन्ति इति'**। यह

बात तो मैं जान गया हूँ कि अन्न ब्रह्म नहीं है, परन्तु क्या ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा यहीं तक सीमित है, या कुछ आगे भी जानने योग्य है। भृगु ने मन में कहा—अन्न तो ब्रह्म नहीं जान पड़ता—यह जान कर फिर पिता के पास पहुँचा—'**तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार**', और कहने लगा—भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश दीजिये—'**अधीहि भगवः ब्रह्म इति**'। पिता ने कहा—तुमने समझ लिया कि 'अन्न' ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तो तप करो—'**तं ह उवाच, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**', तप से ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है—'**तपः ब्रह्म इति**'। यह आदेश पाकर भृगु ने तप करना शुरू किया—'**सः तपः अतप्यत**', और तप करने के बाद—'**सः तपः तप्त्वा**', पिता के पास लौट आया और कहने लगा ।। भृगु-वल्ली का द्वितीय अनुवाक, (ख) ।।

भृगु-वल्ली का तृतीय अनुवाक—'प्राण' ब्रह्म है

> **प्राणः ब्रह्म इति व्यजानात्। प्राणात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इति। तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार। अधीहि भगवः ब्रह्म इति। तं ह उवाच—तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपः ब्रह्म इति, सः तपः अतप्यत, सः तपः तप्त्वा ।।** भृगु-वल्ली का तृतीय अनुवाक, **(ग)** ।।

भृगु पिता को कहने लगा कि प्राण-ब्रह्म को तो मैं जान गया—'**प्राणः ब्रह्म इति व्यजानात्**'। प्राण से ही ये सब भूत (चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी आदि) उत्पन्न होते हैं—'**प्राणात् इमानि भूतानि जायन्ते**', प्राण से उत्पन्न होने के कारण ही ये जीवित बने रहते हैं—'**प्राणेन जातानि जीवन्ति**', प्राण में ही लौट जाते हैं—'**प्राणं प्रयन्ति**', और प्राण में ही विलीन हो जाते हैं—'**अभिसंविशन्ति इति**'। यह बात तो मैं जान गया कि प्राण ब्रह्म नहीं है, परन्तु क्या ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा यहीं तक सीमित है, या कुछ और आगे भी है। भृगु ने मन में कहा—प्राण तो ब्रह्म नहीं जान पड़ता—यह जानकर फिर पिता के पास पहुंचा—'**तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार**',—और कहने लगा—भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश दीजिये—'**अधीहि भगवः ब्रह्म इति**'। पिता ने कहा—

तुम ने समझ लिया कि 'प्राण' ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तो तप करो—'**तं ह उवाच, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**', तप से ही ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करना होता है—'**तपः ब्रह्म इति**'। यह आदेश पाकर भृगु ने तप करना शुरू किया—'**सः तपः अतप्यत**', और तप करने के बाद—'**सः तपः तप्त्वा**', पिता के पास लौट आया और कहने लगा ।। भृगु-वल्ली का तृतीय अनुवाक, (ग) ।।

भृगु-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक—'मन' ब्रह्म है

मनः ब्रह्म इति व्यजानात् । मनसः हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इति । तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार । अधीहि भगवः ब्रह्म इति । तं ह उवाच—तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपः ब्रह्म इति, सः तपः अतप्यत, सः तपः तप्त्वा ।। भृगु-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक, (घ) ।।

भृगु पिता को कहने लगा कि मन-ब्रह्म को तो मैं जान गया—'**मनः ब्रह्म इति व्यजानात्**'। मन से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं—'**मनसः हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते**', मन से उत्पन्न होने के कारण ये जीवित बने रहते हैं—'**मनसा जातानि जीवन्ति**', मन में ही लौट जाते हैं—'**मनः प्रयन्ति**', और मन में ही विलीन हो जाते हैं—'**अभिसंविशन्ति इति**'। यह बात तो मैं जान गया कि मन ब्रह्म नहीं है, परन्तु क्या ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा यहीं तक सीमित है, या कुछ और आगे भी है। भृगु ने मन में कहा—मन तो ब्रह्म नहीं जान पड़ता, यह जान कर फिर पिता के पास पहुंचा—'**तद विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार**', और कहने लगा—भगवन् ! ब्रह्म का उपदेश दीजिये—'**अधीहि भगवः ब्रह्म इति**'। पिता ने कहा—तुमने समझ लिया कि मन ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तो तप करो—'**तं ह उवाच, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व**', तप से ही ब्रह्म प्राप्त होता है—'**तपः ब्रह्म इति**'। यह आदेश पाकर भृगु ने तप करना शुरू किया—**सः तपः अतप्यत**', और तप करने के बाद—'**सः तपः तप्त्वा**', पिता के पास लौट आया और कहने लगा। भृगु-वल्ली का चतुर्थ अनुवाक, (घ)।

भृगु-वल्ली का पंचम अनुवाक—'विज्ञान' ब्रह्म है

विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्। विज्ञानाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इति। तद् विज्ञाय पुनः एव वरुणं पितरं उपससार। अधीहि भगवः ब्रह्म इति। तं ह उवाच—तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपः ब्रह्म इति, सः तपः अतप्यत। सः तपः तप्त्वा॥ भृगु-वल्ली का पंचम अनुवाक, (ङ)॥

भृगु पिता को कहने लगा कि विज्ञान-ब्रह्म को मैं जान गया—**'विज्ञानं ब्रह्म इति व्यजानात्'**। विज्ञान से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं—**'विज्ञानाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते'**, विज्ञान से उत्पन्न होने के कारण ये जीवित बने रहते हैं—**'विज्ञानेन जातानि जीवन्ति'**, विज्ञान में ही लौट जाते हैं—**'विज्ञानं प्रयन्ति'**, और विज्ञान में विलीन हो जाते हैं—**'अभिसंविशन्ति इति'**। यह बात तो मैं जान गया कि विज्ञान ब्रह्म नहीं है, परन्तु क्या ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा यहीं तक सीमित है, या कुछ और आगे भी है। भृगु ने मन में कहा—विज्ञान तो ब्रह्म नहीं जान पड़ता—यह जानकर फिर पिता के पास पहुंचा—**'तद् विज्ञाय पुनः एव पितरं उपससार'**, और कहने लगा—भगवन्! ब्रह्म का उपदेश दीजिये—**'अधीहि भगवः ब्रह्म इति'**। पिता ने कहा—तुमने समझ लिया कि विज्ञान ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो, तो तप करो—**'तं ह उवाच, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'**, तप से ही ब्रह्म प्राप्त होता है—**'तपः ब्रह्म इति'**। यह आदेश पाकर भृगु ने तप करना शुरू किया—**'सः तपः अतप्यत'**, और तप करने के बाद—**'सः तपः तप्त्वा'**, पिता के पास लौट आया और कहने लगा। भृगु-वल्ली का पंचम अनुवाक, (ङ)।

भृगु-वल्ली का षष्ठ अनुवाक—'आनन्द' ब्रह्म है

आनन्दः ब्रह्म इति व्यजानात्। आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति इति। सा एषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। सः यः एवं वेद

प्रति तिष्ठति, अन्नवान् अन्नादः भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ।। भृगु-वल्ली का षष्ठ अनुवाक, **(च)** ।।

भृगु पिता को कहने लगा कि आनन्द-ब्रह्म को मैं जान गया—**'आनन्दं ब्रह्म इति व्यजानात्'** । आनन्द से ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं—**'आनन्देन हि खलु इमानि भूतानि जायन्ते'**, आनन्द से उत्पन्न होने के कारण ये जीवित बने रहते हैं—**'आनन्देन जातानि जीवन्ति'**, आनन्द में ही लौट जाते हैं—**'आनन्दं प्रयन्ति'**, आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं—**'अभिसंविशन्ति इति'** । इस प्रकार यह जान लेना कि अन्न ब्रह्म नहीं है, प्राण ब्रह्म नहीं है, मन ब्रह्म नहीं है, विज्ञान ब्रह्म नहीं है, आनन्द तथा उसका भी उपसंक्रमण करने के बाद जो सत्ता है उसे पा लेना ब्रह्म है—इसे भृगु तथा वरुण की विद्या कहा जाता है—**'सा एषा भार्गवी वारुणी विद्या'** । यह विद्या मनुष्य के हृदयाकाश में प्रतिष्ठित है—**'परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता'** । वह व्यक्ति जो यह जानता है—**'सः यः एवं वेद'**, वह जीवन में डाँवाडोल नहीं होता, स्थिर-बुद्धि हो जाता है—**'प्रतितिष्ठति'** । वह अन्नवान् हो जाता है, अन्न का भोक्ता हो जाता है—**'अन्नवान् अन्नादः भवति'**; प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज तथा कीर्ति से महान् हो जाता है—**'महान् भवति प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या** ।। भृगु-वल्ली का षष्ठ अनुवाक, (च) ।।

भृगु-वल्ली का ७, ८, ९ अनुवाक—'अन्न' की महिमा

अबतक भृगु ने तप करते हुए जो समझा वह यह था कि अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द—ये ब्रह्म प्रतीत होते हैं, मनुष्य का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों अन्न को, फिर प्राण को, फिर मन को, फिर विज्ञान को, फिर आनन्द को ब्रह्म—अर्थात् सब-कुछ मान कर उसकी उपासना करने लगता है, परन्तु जब वह गहरे में जाता है, तब इन सबका अतिक्रमण कर जो सत्ता इनके आधार में है, इन्हें जीवन दे रही है, वह यह जान जाता है कि वही सत्ता यथार्थ ब्रह्म है। परन्तु उपनिषत्कार का कहना है कि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अन्न जो सब के अनुभव में आता है, जिसे संसार के सब प्राणी सब-कुछ समझ कर जीवन चलाते हैं, उसका कोई महत्व नहीं है । अन्न को ब्रह्म तो नहीं माना जा सकता, परन्तु जो अन्न को—रोटी को—सब

समस्याओं की जड़ मानते हैं उनकी बात से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखने हुए वरुण ने ७, ८, ९ अनुवाकों में अन्न की तरफ़—दूसरे शब्दों में भौतिकवाद की तरफ़—अपने पुत्र भृगु का ध्यान खींचा तथा उसके महत्व को स्वीकार किया है। सातवें अनुवाक में कहा है :

> **अन्नं न निन्द्यात्, तद् व्रतम्। प्राणः वा अन्नम्, शरीरं अन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्, शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तद् एतत् अन्नं अन्ने प्रतिष्ठितम्। सः यः एतद् अन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवान् अन्नादः भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्च-सेन, महान् कीर्त्या॥** भृगु-वल्ली के ७, ८, ९ अनुवाक का सारांश, (छ)॥

वरुण अपने पुत्र भृगु को कहते हैं कि यद्यपि अन्न को ब्रह्म मान कर उसकी ही उपासना में रत हो जाना यथार्थ ब्रह्म को न जानने का परिणाम है, तो भी अन्न-ब्रह्म की निन्दा करना भी उचित नहीं है—अन्न-ब्रह्म की निन्दा न करे—'**अन्नं न निन्द्यात्**', यह व्रत कर ले कि अन्न-ब्रह्म की निन्दा नहीं करनी—'**तद् व्रतम्**'।

इस प्रकरण में अन्न का अभिप्राय है—'भोग्य', अन्नाद का अभि-प्राय है अन्न को खाने वाला—'भोक्ता'। भोक्ता तथा भोग्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भोग्य तभी भोग्य है जब भोक्ता हो, भोक्ता तभी भोक्ता है जब भोग्य हो। हमने अन्न से प्राण को, प्राण से मन को, मन से विज्ञान को, विज्ञान से आनन्द को उच्च-स्तर का कहा है, परन्तु क्यों कहा है? इसलिये कहा है क्योंकि जब अन्न भोग्य है, तब प्राण भोक्ता है, जब प्राण भोग्य है, तब मन भोक्ता है, जब मन भोग्य है, तब विज्ञान भोक्ता है, जब विज्ञान भोग्य है तब आनन्द भोक्ता है—यह क्रम इसलिये ऐसा कहा क्योंकि भोग्य नीचे स्तर का होता है, भोक्ता ऊँचे स्तर का होता है। परन्तु उपनिषत्कार कहते हैं कि एक दृष्टि से जो भोक्ता है, दूसरी दृष्टि से वही भोग्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, अन्न को हम भोग्य कहते हैं, प्राण को हम भोक्ता कहते हैं, परन्तु मन की दृष्टि से प्राण भोक्ता होने के स्थान में भोग्य हो जाता है, मन उसका भोक्ता हो जाता है। इसी दृष्टि से यद्यपि प्राण को हम भोक्ता कह चुके हैं, तो भी कहा—प्राण अन्न है अर्थात् भोग्य

है—**'प्राणः वा अन्नम्'**, और शरीर प्राण का भोक्ता है—**'शरीरं अन्नादं'**—क्योंकि शरीर प्राण के आधार पर टिका हुआ है—**'प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितं'**, और प्राण शरीर के आधार पर टिका हुआ है—**'शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः'**। साराँश यह है कि प्रत्येक भोग्य (अन्न) दूसरे भोग्य (अन्न) के सहारे ही स्थित है। इसी को स्पष्ट करते हुए वरुण ने भृगु को कहा—अन्न अन्न के सहारे ही टिका हुआ है—**'तद् एतद् अन्नं अन्ने प्रतिष्ठितम्'**।

'अन्न' भौतिकवाद का प्रतीक है। संसार का सारा व्यवहार भौतिकवाद के सहारे चलता है। उपनिषत्कार कहते हैं कि यद्यपि वे अध्यात्म की स्तुति कर रहे हैं, तो भी भौतिकवाद सर्वथा हेय नहीं है क्योंकि जिसे हम अध्यात्म कहते हैं उसका भौतिक के बग़ैर गुज़र नहीं है। इसलिये जो यह जान जाता है कि प्रत्येक वस्तु किसी अन्य की दृष्टि से अन्न है, भोग्य है, किसी दूसरे अन्न अर्थात् भोग्य के सहारे टिकी हुई है—**'सः यः एतद् अन्नं अन्ने प्रतिष्ठितं वेद'**—वह संसार में प्रतिष्ठित हो जाता है—**'प्रतितिष्ठति'**, अन्नवान् हो जाता है, अन्नाद हो जाता है, संसार में भोक्ता बन कर विचरता है—**'अन्नवान्, अन्नादः भवतिः'**, प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज के कारण बड़ा माना जाता है—**'महान् भवति प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन'**, उसकी जगत् में कीर्ति फैल जाती है—**'महान् कीर्त्या'**।

इस सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द—इनको हम भोक्ता या अन्नाद समझते हैं, परन्तु ये सब भोक्ता न होकर भोग्य ही हैं, अन्नाद हैं, इनका भोक्ता वह है जो इन सबका अतिसंक्रमण कर इनसे अलग पिंड में आत्मा तथा ब्रह्माण्ड में ब्रह्म के रूप में विद्यमान है। जो आत्म-तत्व संसार से खाया नहीं जाता परन्तु उसे खा जाता है, जो व्यक्ति सिर्फ़ अध्यात्म में ही नहीं रहता, संसार में रहता हुआ संसार की निन्दा न करते हुए इसका स्वामी बन कर जीवन व्यतीत करता है, उसे किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। इसी दृष्टिकोण से ७ वाँ, ८ वाँ, ९वाँ अनुवाक—ये तीनों अन्न की महिमा पर लिखे गये हैं। यह भृगु-वल्ली के ७, ८, ९ अनुवाकों का साराँश है, (छ)।

उक्त तीन अनुवाकों में भौतिकवाद के महत्व पर ध्यान खींचकर ऋषि फिर अध्यात्म पर आ जाते हैं :

भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक—'भौतिक' के साथ 'अध्यात्म' बना रहे

भृगु-वल्ली के प्रथम अनुवाक से षष्ठ अनुवाक तक भृगु ने अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द को ब्रह्म मान कर उनकी क्रमशः उपासना की, और यह ज्ञान प्राप्त किया कि यथार्थ-ब्रह्म ये नहीं हैं, ब्रह्म इनसे अतिरिक्त है, परन्तु सातवें, आठवें तथा नवें अनुवाक में भृगु के पिता वरुण ने उसे समझाया कि अन्न आदि यद्यपि ब्रह्म नहीं हैं, तो भी इनका जीवन में कम महत्व नहीं है। इसीलिये उक्त तीन अनुवाकों में उपदेश दिया, अन्न की निन्दा न करे—**'अन्नं न निन्द्यात्'** (७म अनुवाक), अन्न का अनादर न करे—**'अन्नं न परिचक्षीत्'** (८म अनुवाक), तथा अन्न का बहुत बड़ा भण्डार इकट्ठा करे—**'अन्नं बहु कुर्वीत'** (९म अनुवाक)। तैत्तिरीयोपनिषद् का कहना है कि अध्यात्म भी आधिभौतिक के बिना टिक नहीं सकता, भोक्ता भोग्य के साथ बंधा हुआ है, जिसे हम भोक्ता (अन्नाद) कहते हैं वह भोग्य (अन्न) के साथ बंधा होने पर स्वयं भी किसी अन्य की अपेक्षा भोग्य हो जाता है, संसार का सब आधिभौतिक अन्ततोगत्वा भोग्य (अन्न) की श्रेणी में ही आ जाता है।

अन्न का संग्रह करे, परन्तु इस भौतिक में भी अध्यात्म की पुट बनी रहनी चाहिये। जितना संग्रह करे, उसका स्वयं ही भोग न करता जाय, दूसरों को देने में कोताही न करे। इस प्रकार स्वार्थ को भी परार्थ के लिये समझे—इस विषय को ध्यान में रखते हुए वरुण ऋषि कहते हैं :

> **न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद् व्रतम्। तस्मात् यया कया च विधया बहु अन्नं प्राप्नुयात्। अराधि अस्मै अन्नं इति आचक्षते। एतद् वै मुखतः अन्नं राद्धम्, मुखतः अस्मै अन्नं राध्यते; एतद् वै मध्यतः अन्नं राद्धम्, मध्यतः अस्मै अन्नं राध्यते; एतद् वै अन्ततः अन्नं राद्धम्, अन्ततः अस्मै अन्नं राध्यते।।** भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ज)।।

अन्न या धन एवं भौतिक-पदार्थों का संग्रह तो करे, परन्तु अपनी बस्ती में यदि किसी व्यक्ति को अभाव या कमी के कारण उनकी आवश्यकता हो, तो उसे देने में कभी इन्कार न करे—**'न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत'**, यह व्रत ले ले—**'तद् व्रतम्'**। इस कारण जिस-किसी

विधि से भी अधिक-से-अधिक अन्न, धन एवं भौतिक-पदार्थों को प्राप्त करे—**'तस्मात् यथा कया च विधया बहु अन्नं प्राप्नुयात्'**, क्योंकि जो-कुछ प्राप्त किया जायगा वह उन लोगों में बाँटने के लिये होगा जो अभावग्रस्त हैं या ज़रूरतमन्द हैं। जो-कुछ संग्रह किया जाता है वह दूसरों के लिये किया जाता है—विद्वानों ने ऐसा ही कहा है—**'अराधि अस्मै अन्नम् इति आचक्षते'**। यह समझ लेना चाहिये कि जो-कुछ अन्न (भौतिक-सम्पत्ति) सिद्ध किया गया है उसका जो मुख है—ऊपर का हिस्सा है—**'एतद् वै मुखतः अन्नं राद्धम्'**, वह दूसरों के लिये ही सिद्ध किया जाता है, सम्पादित किया जाता है—**'मुखतः अस्मै अन्नं राध्यते'**; जो-कुछ अन्न (भौतिक-सम्पत्ति) सिद्ध किया गया है उसका जो मध्य-भाग है—बीच का हिस्सा है—**'एतद् वै मध्यतः अन्नं राद्धम्'**, वह दूसरों के लिये ही सिद्ध किया जाता है, सम्पादित किया जाता है—**'मध्यतः अस्मै अन्नं राध्यते'**; जो-कुछ अन्न (भौतिक-सम्पत्ति) सिद्ध किया गया है उसका जो अन्त-भाग है—अन्त का हिस्सा है—**'एतद् वा अन्ततः अन्नं राद्धम्'**, वह दूसरों के लिये ही सिद्ध किया जाता है, सम्पादित किया जाता है—**'अन्ततः अस्मै अन्नं राध्यते'**। भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ज)।

अगर कोई अन्न को ही ब्रह्म मान बैठे तो उसका भी जीवन धन्य है, बशर्ते कि वह भौतिकवाद को भी अध्यात्म के रंग में रंग कर अन्न-ब्रह्म की उपासना करता है, स्वार्थ को भी परार्थ की भेंट चढ़ा रहा है। हमारी सम्पत्ति का ऊपर का, बीच का, अन्त का हिस्सा परार्थ के लिये है—यह अद्भुत विचार है जो उपनिषद् की उक्त पंक्ति में ही पाया जाता है। ऐसे व्यक्ति के विषय में, जो उपनिषद् के उक्त विचार से अनुप्राणित है, ऋषि कहते हैं:

> **यः एवं वेद—क्षेमः इति वाचि, योगक्षेमः इति प्राणा-पानयोः, कर्म इति हस्तयोः, गतिः इति पादयोः, विमुक्तिः इति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः॥** भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, **(झ)**॥

जो निःस्वार्थपरता के इस विचार को जान जाता है—**'यः एवं वेद'**, उसकी वाणी में सब के लिये कल्याण की भावना होती है—**'क्षेमः इति वाचि'**; उसके श्वास-प्रश्वास में सबके लिए कुशल-मंगल की भावना होती है—**'योगक्षेमः इति प्राणापानयोः'**; उसके हाथों में

कर्म-शक्ति रहती है—**'कर्म इति हस्तयोः'**; उसके पांवों में हर-किसी शुभ-कार्य के लिए चल पड़ने की गति होती है—**'गतिः इति पादयोः'**; उसके स्वास्थ्य में हल्कापन होता है—**'विमुक्तिः इति पायौ'**। मानव-समाज के लिये शास्त्र की यही धारणा है—**'इति मनुषीः समाज्ञाः'**। जो व्यक्ति स्वार्थ का जीवन त्याग कर परार्थ के लिए जीता है वह जीवन-पर्यन्त स्वस्थ, कर्मशील तथा क्रियाशील रहता है॥ भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (झ)॥

ऐसे व्यक्ति को कई दिव्य-गुण भी प्राप्त होते हैं। वे दिव्य-गुण क्या हैं—इस सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं:

> **अथ दैवीः। तृप्तिः इति वृष्टौ, बलं इति विद्युति, यशः इति पशुषु, ज्योतिः इति नक्षत्रेषु, प्रजापतिः अमृतं आनन्दः इति उपस्थे, सर्वं इति आकाशे॥** भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ञ)॥

ऐसे व्यक्ति को ये दिव्य-गुण प्राप्त होते हैं—**'अथ दैवीः'**। क्या दिव्य-गुण? उसके लिये आसमान से इतनी वर्षा होती है जितने से उसकी तृप्ति हो जाय—**'तृप्तिः इति वृष्टौ'**; उसे इतना बल मिलता है जितना विद्युत् में होता है—**'बलं इति विद्युति'**; उसे इतना यश प्राप्त होता है जितना अनेक गाय-बैल-घोड़े-हाथी रखने वालों को मिलता है—**'यशः इति पशुषु'**; उसे इतना ज्योतिष्मान् समझा जाता है जितनी ज्योति नक्षत्रों में होती है—**'ज्योतिः इति नक्षत्रेषु'**; उसे प्रजापति का अमृत तथा उपस्थ का आनन्द प्राप्त होता है—**'प्रजापतिः अमृतं आनन्दः इति उपस्थे'**; उसे वह सब-कुछ प्राप्त हो जाता है जो इस धरती तथा खुले आकाश के बीच किसी को भी प्राप्त हो सकता है—**'सर्वं इति आकाशे'**॥ भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ञ)॥

शिक्षा-वल्ली में शिक्षा का अन्त आध्यात्मिक-ज्ञान की प्राप्ति बतलाया गया था, ब्रह्मानन्द-वल्ली में आत्म-ज्ञान का अन्त ब्रह्म की प्राप्ति बतलाया गया था, भृगु-वल्ली में अध्यात्म तथा आधिभौतिक का समन्वय बतलाया है। यह समन्वय कैसे बतलाया गया? पहले कहा कि अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द को लोग ब्रह्म समझ कर उन्हें पूजते हैं, परन्तु ब्रह्म इन से परे है, फिर कहा कि ऐसा होने पर भी अन्नादि—अर्थात्, आधिभौतिक की अवहेलना करना उचित नहीं है क्योंकि अध्यात्म तथा आधिभौतिक एक-दूसरे के सहारे टिके

हुए हैं। इसी दृष्टि से भृगु-वल्ली के ७, ८, ६, अनुवाकों में अन्न की महिमा का भी बखान किया, परन्तु फिर भृगु अन्न को सब-कुछ न समझने लगे, अध्यात्म की अवहेलना न करने लगे, इसलिये १० म अनुवाक के ४ थे खंड में फिर अध्यात्म की महिमा का वर्णन करते हुए वरुण ऋषि कहते हैं :

> **तत् प्रतिष्ठा इति उपासीत, प्रतिष्ठावान् भवति। तत् महः इति उपासीत, महान् भवति। तत् मनः इति उपासीत, मानवान् भवति। तत् नमः इति उपासीत, नम्यन्ते अस्मै कामाः। तत् ब्रह्म इति उपासीत, ब्रह्म-वान् भवति। तत् ब्रह्मणः परिमरः इति उपासीत, परि एनं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः, परि ये अप्रियाः भ्रातृव्याः।।** भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ट)।।

अन्न—अर्थात् आधिभौतिक—की उपासना करते हुए यह नहीं ल जाना चाहिये कि असली उपासना तो अध्यात्म की है, इसलिए जो भी उपासना करे यह समझ कर करे कि सब जगह ब्रह्म ही प्रतिष्ठित है, स्थित है—'**तत् प्रतिष्ठा इति उपासीत**'। जो ब्रह्म को सब जगह प्रतिष्ठित समझ कर उसकी उपासना करता है वह सर्वत्र प्रतिष्ठित हो जाता है, सब जगह उसकी प्रतिष्ठा होती है—'**प्रतिष्ठा-वान् भवति**'। ब्रह्म की उपासना यह समझ कर करनी चाहिए कि वह महान् है—'**तत् महः इति उपासीत**'। जो ब्रह्म को महान् समझ कर उसकी उपासना करता है, वह महान् हो जाता है—'**महान् भवति**'। ब्रह्म की उपासना यह समझ कर करनी चाहिये कि वह सब-कुछ मननपूर्वक करता है—'**तत् मनः इति उपासीत**'। जो ब्रह्म को विचारवान् समझ कर उसकी उपासना करता है वह मननशील हो जाता है—'**मानवान् भवति**'। ब्रह्म की उपासना करते हुए भगवान् को नमन करना चाहिये—'**तत् नमः इति उपासीत**'। जो ब्रह्म का नमन करते हुए उसकी उपासना करते हैं उनकी सब कामनाएँ उनके सामने नमने लगती हैं—'**नम्यन्ते अस्मै कामाः**'। ब्रह्म की उपा-सना करते हुए उसके ब्रह्म-रूप की ही उपासना करे—'**तद् ब्रह्म इति उपासीत**'। जो ब्रह्म की ब्रह्म-रूप में ही उपासना करता है वह ब्रह्म-वान् हो जाता है। ब्रह्म की उपासना करते हुए उसके परिमर-रूप की उपासना करे—'परिमर', अर्थात् चारों तरफ़ से मारने वाला—

संहारक-रूप—**'तद् ब्रह्मणः परिमर इति उपासीत'** । जो ब्रह्म के परि-मर-रूप की उपासना करता है उसके सब शत्रु परास्त हो जाते हैं—**'परि एनम् म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः'**, उसके अप्रिय भाई-बन्धु भी नष्ट हो जाते हैं—**'परि ये अप्रियाः भ्रातृव्याः'** । इस प्रकरण में जो लाभ बतलाये हैं वे सिर्फ़ उपासना के महत्व को बढ़ाने के लिए कहे गये हैं, उनका शाब्दिक अर्थ नहीं लेना चाहिये ।। भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ट) ।।

इस उपनिषद् की ब्रह्मानन्द-वल्ली में पंचकोशों का उल्लेख करके यह समझाने का प्रयत्न किया गया था कि मनुष्य ब्रह्म की तलाश में कभी अन्न को ब्रह्म मान बैठता है, कुछ अधिक सोचता है तो प्राण को ब्रह्म मान बैठता है, और अधिक सोचता है तो क्रमशः मन, विज्ञान, आनन्द आदि को ब्रह्म मान कर उन्हीं की उपासना करने लगता है। गहराई में जाने पर ही भृगु को अनुभव हुआ कि ब्रह्म इन पाँचों कोशों से परे है । अब इस विचारधारा का उपसंहार करते हुए भृगु के पिता वरुण करते हैं :

> **सः यः च अयं पुरुषे यः च असौ आदित्ये सः एकः । सः यः एवंविद् अस्मात् लोकात् प्रेत्य एतम् अन्नमयं आत्मानं उपसंक्रम्य, एतम् प्राणमयं आत्मानं उपसंक्रम्य, एतम् मनोमयं आत्मानं उपसंक्रम्य, एतम् विज्ञानमयं आत्मानं उपसंक्रम्य, एतम् आनन्दमयं आत्मानं उपसंक्रम्य, इमान् लोकान् कामान् नीकामरूपी अनुसंचरन्, एतत् साम गायन् आस्ते ।।** भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ठ) ।।

हे भृगु ! जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है । पिंड का प्रतिनिधि पुरुष है, ब्रह्मांड का प्रतिनिधि आदित्य है । पिंड में, अर्थात् पुरुष में भी अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द पाये जाते हैं, ब्रह्मांड में भी पाये जाते हैं, दोनों में एक ही नियामक आत्म-शक्ति है—**'सः यः च अयं पुरुषे, यः च असौ आदित्ये एकः'** । ज़ो व्यक्ति पिंड तथा ब्रह्मांड में एक ही नियम घटता हुआ देखता है—**'सः यः एवं विद्'**, वह इस लोक से छुटकारा पाकर—**'अस्मात् लोकात् प्रेत्य'**, आत्मा अन्नमय है इस समझ को लांघ कर—**'एतम् अन्नमयं आत्मानं उपसंक्रम्य'**, आत्मा प्राणमय है इस समझ को लांघ कर—**'एतम् प्राणमयं आत्मानं उप-**

संक्रम्य', आत्मा मनोमय है इस समझ को लांघ कर—**'एतम् मनोमयं आत्मानं उपसंक्रम्य'**, आत्मा विज्ञानमय है इस समझ को लांघ कर—**'एतम् विज्ञानमयं आत्मानं उपसंक्रम्य'**, आत्मा आनन्दमय है इस समझ को लांघ कर—**'एतम् आनन्दमयं आत्मानं उपसंक्रम्य'**—निष्काम-रूप होकर, इन अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों की कामनाओं में से भ्रमण करता हुआ जब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है—**'इमान् लोकान् कामान् नीकामरूपी अनुसंचरन्'**—तब आनन्दोल्लास में इस प्रकार गाने में लगता है—**'एतत् साम गायन् आस्ते'** ।। भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ठ) ।।

> **अहम् अन्नम्, अहम् अन्नम्, अहम् अन्नम् । अहम् अन्नादः, अहम् अन्नादः, अहम् अन्नादः । अहम् श्लोक-कृत्, अहम् श्लोककृत्, अहम् श्लोककृत् । अहम् अस्मि प्रथमजा ऋतस्य । पूर्वं देवेभ्यः अमृतस्य नाभिः । यः मा ददाति सः इत् एव मा अवाः । अहम् अन्नम्, अन्नं अदन्तं आ अद्मि । अहम् विश्वं भुवनं अभ्यभवाम् । सुवः न ज्योतीः (सुवर्ण ज्योतीः) । यः एवंविद् इति उपनिषद्** ।। भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ड) ।।

'साम-गान करने लगता है'—यह कहने का क्या अभिप्राय है? वह गाने लमता है—मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ—**'अहम् अन्नं, अहम् अन्नं, अहम् अन्नं'**—अर्थात्, मैं अब तक भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था, भोग्य बना हुआ था, मैं भौतिक-जगत् को अपना सर्वस्व समझे हुए था, अन्न को ब्रह्म माने बैठा था, परन्तु मैं तो अन्नाद हूँ, अन्नाद हूँ, अन्नाद हूँ—**'अहम् अन्नादः, अहम् अन्नादः, अहम् अन्नादः'**—अर्थात्, मैं भोग्य नहीं भोक्ता हूँ, मैं भोग्य नहीं भोक्ता हूँ, मैं भोग्य नहीं भोक्ता हूँ, भौतिक-जगत् के सांसारिक विषय मुझे भोग रहे थे, वे मेरे स्वामी बने हुए थे, मेरी आँखें खुल गई हैं, वे मेरे स्वामी नहीं रहे, मैं जान गया हूँ कि मैं उनका स्वामी हूँ । मैं विषयों में लिप्त होने के कारण अपनी कीर्ति को खो बैठा था, मैं अपनी कीर्ति को स्वयं बनाने वाला हूँ, स्वयं बनानेवाला हूँ, स्वयं बनानेवाला हूँ—**'अहम् श्लोककृत्, अहम् श्लोककृत्, अहम् श्लोककृत्'** । मैं ऋत-रूप ब्रह्म की प्रथम कृति हूं—**'अहम् अस्मि प्रथमजाः ऋतस्य'** । मैं इन्द्रियों से पूर्व हूँ इसलिये मुझे इन्द्रियों के पीछे नहीं चलना, इन्द्रियों को मेरे

पीछे चलना है—**'पूर्वं देवेभ्यः'** । मैं अमृत का केन्द्र हूँ—**'अमृतस्य नाभिः'** । जिसने मुझे जीवन दिया है—**'यः मा ददाति'**, वही मेरी रक्षा करेगा—**'सः इत् एव मा अवाः'** । मैं अन्न हूँ—**'अहम् अन्नम्'** परन्तु अन्न को खा जाने वाले को—**'अन्नम् अदन्तम्'**, मैं खा जाता हूँ—**'आ अद्मि'**—अर्थात्, मैं भोग्य हूं तो क्या, मैं ऐसा भोक्ता भी हूँ जो भोग्य को भी खा जाता है; जो मुझे खाना चाहता है मैं उसे खा जाने वाला हूँ । उपनिषदों की शैली में अगर विषय मुझे खाने वाले हैं तो मैं भी विषयों को खा जाने वाला हूँ; मैं संपूर्ण विश्व को अभिभूत कर देता हूँ—**'विश्वं भुवनं अभ्यभवाम्'** । किस प्रकार ? जैसे सूर्य की ज्योति नक्षत्रों की ज्योति को अभिभूत कर देती है—**'सुवः न ज्योतीः'**, या मैं स्वर्ण की ज्योति वाला हूँ । मैं वह हूँ जो यह सब-कुछ जानता है—**'यः एवं वेद'**, जो यह जानता है वह उपनिषद् के रहस्य को जानता है—**'इति उपनिषद्'** ।। भृगु-वल्ली का दशम अनुवाक, (ड)।।

उपसंहार—ब्रह्म-ज्ञान का क्रम

इस उपनिषद् का मुख्य विषय ज्ञान की क्रमिक-शृंखला द्वारा आत्म-ज्ञान तथा ब्रह्म-ज्ञान कराना है । अध्यात्म का पथिक पहले **'अन्न'** को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता है, अर्थात् इस भौतिक-जगत् को ही सब-कुछ समझता है, परन्तु कुछ देर बाद उसे ज्ञान होने लगता है कि अन्न अर्थात् यह जड़ भौतिक-जगत् ब्रह्म नहीं है । उसके बाद वह जीवन को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता है, यह समझता है कि संसार में जी लेना ही सब-कुछ है, परन्तु कुछ देर बाद उसे ज्ञान होने लगता है कि जीवन—अर्थात् जी-लेना, या **'प्राण'** भी ब्रह्म नहीं है । इसके बाद वह **'मन'** को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करने लगता है, यह समझता है कि मन से संकल्प-विकल्प करना, चिंतन करना ही सब-कुछ है, इसके अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता नहीं है, परन्तु कुछ देर बाद उसे ज्ञान होने लगता है कि मनन भी ब्रह्म नहीं है । इसके बाद वह **'विज्ञान'** को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करने लगता है, चाँद पर पहुंचना चाहता है, सृष्टि में जो-कुछ है उसकी ताक-झाँक करना चाहता है जैसा अमरीका ने अन्तरिक्ष में स्काई लैब (Sky Lab) छोड़ कर किया, परन्तु उसके कुछ देर बाद उसे ज्ञान होने लगता है कि दिमाग़ी इतनी ऊँची-ऊँची उड़ानें लेना ही सब-कुछ नहीं

है, इसके कुछ देर बाद वह आनन्द को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करने लगता है, जिस वस्तु में आनन्द मिले उसकी तलाश में रहता है, परन्तु भौतिक वस्तुओं में आनन्द की तलाश में भटकते-भटकते कुछ देर बाद उसे यह ज्ञान हो जाता है कि चिर-आनन्द की खोज में उसे अन्नमय-कोश, प्राणमय-कोश, मनोमय-कोश, विज्ञानमय-कोश तथा आनन्दमय-कोश का अतिसंक्रमण कर, उन्हें लांघ कर आगे बढ़ना होगा जहाँ अखण्ड आनन्द का भंडार लबालब लहरें मार रहा है—उस आनन्द को वरुण ऋषि ने ब्रह्मानन्द का नाम दिया है ।

उपनिषदों की यह विचार-पद्धति अपनी ही मौलिक पद्धति है जिसके द्वारा व्यक्त के अव्यक्त की तरफ़, ज्ञात से अज्ञात की तरफ़, भौतिक से अध्यात्म की तरफ़ खुला रास्ता दिखाने का प्रयत्न किया गया है । तैत्तिरीयोपनिषद् की इस पद्धति के अनुरूप ही छान्दोग्य-उपनिषद् (अष्टम प्रपाठक, सातवें खण्ड) में प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचन की कथा दी गई है । वहाँ भी प्रजापति ने पहले इन्द्र तथा विरोचन को यह कहा कि जाग्रत् के समय आँख में पुरुष की जो छाया दीखती है वही आत्मा है, इस बात में इन्द्र के संशय करने पर फिर कहा कि स्वप्न में जो दुनियाँ-भर की सैर करता है वही आत्मा है, इस बात पर भी इन्द्र के संशय करने पर फिर कहा कि सुषुप्ति से जाग कर उठने में जो आनन्द का स्मरण करता है वही आत्मा है । इस प्रकार पिछले-पिछले को छोड़ कर आगे-आगे बढ़ना ब्रह्म-ज्ञान का ही नहीं, प्रत्येक ज्ञान प्राप्त करने का सही रास्ता है ।

तैत्तिरीय को तैत्तिरीय क्यों कहा गया—इसकी भी एक कथा है । वैशम्पायन के २८ शिष्य थे, उनमें से उनके भानजे की उनके द्वारा चोट लगकर मृत्यु हो गई । उसके लिए मरणोत्तर-क्रिया करने के लिये ऋषि ने आदेश दिया । याज्ञवल्क्य ने इन्कार कर दिया—यह कहकर कि वे सबसे श्रेष्ठ हैं । ऋषि ने उन्हें पढ़ाई विद्या का वमन करने को कहा । उन्होंने वमन कर दिया । अब अन्य शिष्यों को उसे चाट जाने का आदेश दिया । उन्होंने तीतर बनकर उसे चाट लिया । तीतर बनकर उल्टी चाट जाने के कारण इसका नाम तैत्तिरीय पड़ा । वमन चाटने जैसे घृणित कार्य के कारण यह कृष्ण यजुर्वेद का हिस्सा है । यह अटपटा-सा कथानक है जिसका कोई सिर-पैर नहीं ।

छान्दोग्य उपनिषद्

प्रथम प्रपाठक (प्रथम खंड)

ओंकारोपासना

छान्दोग्य विशाल ग्रन्थ है। पहले जिन उपनिषदों का हमने विवेचन किया है उनका सार थोड़े में आ जाता है, परन्तु छान्दोग्य तो बड़ा विशाल है। इस पर हम जो-कुछ लिखेंगे वह छांट-छांट कर लिखेंगे ताकि इसमें जो-कुछ कहा गया है वह समझ आ जाय। इस पर उतने विस्तार से नहीं लिखेंगे जितने विस्तार से अन्य उपनिषदों पर लिखा है।

छान्दोग्य उपनिषद् ८ प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में १३ खंड हैं, द्वितीय में २४ खंड हैं, तृतीय में १९ खंड हैं, चतुर्थ में १७ खंड हैं, पंचम में २४ खंड हैं, षष्ठ में १६ खंड हैं, सप्तम में २६ खंड हैं, अष्टम में १५ खंड हैं। इस प्रकार इस उपनिषद् में ८ प्रपाठक तथा कुल १५४ खंड हैं।

प्रथम प्रपाठक में ओंकारोपासना का वर्णन है—इसके तेरहों खंडों में ओंकार का भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन किया गया है।

ओंकार का वैदिक-साहित्य में इतना अधिक वर्णन है कि उपनिषदों में तो ओंकार की उपासना को ही जीवन का चरम-लक्ष्य माना गया है। **कठोपनिषद्** (द्वितीय वल्ली, १५) में यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं :

सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यत् वदन्ति।
यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि।
ओम् इति एतत् ॥

अर्थात्, जिस पद का सब वेद बार-बार वर्णन करते हैं, सब तपों से जो-कुछ कहा जा सकता है, जिसकी चाहना से ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया जाता है, संक्षेप में उसे एक शब्द में कहें, तो वह 'ओंकार' है।

प्रश्नोपनिषद् (पंचम प्रश्न, १) में शैव्य सत्यकाम ने पिप्पलाद आचार्य से प्रश्न किया कि हे आचार्य—

सः यः हि वा एतद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तं ओंकारं
अभिध्यायीत कतमं वाव सः तेन लोकं जयति इति ।।१।।

अर्थात्, हे भगवन् ! जो व्यक्ति जीवन भर ओंकार का ध्यान करे, वह ऐसे ध्यान से किस लोक को जीत लेता है ? इसका उत्तर देते हुए पिप्पलाद ऋषि ने कहा :

तस्मै सः ह उवाच, एतत् वै सत्यकाम! परं च अपरं च
ब्रह्म यद् ओंकारः, तस्मात् विद्वान् एतेन एव आयतनेन
एकतरम् अनु एति ।।२।।

हे सत्यकाम ! ब्रह्म के दो रूप हैं—एक पर, दूसरा अपर। ओंकार में पर-ब्रह्म तथा अपर-ब्रह्म—इन दोनों का समन्वय है। संसार से जो परे है वह पर-ब्रह्म, जो संसार में ही है वह अपर-ब्रह्म। संसार से जो परे है, संसार को भी लांघ गया है, जहाँ संसार नहीं है, वहाँ भी जो मौजूद है वह पर-ब्रह्म, और संसार के कण-कण में जो विद्यमान है वह अपर-ब्रह्म है। ओंकारोपासना ब्रह्म के इन दोनों रूपों को समझ लेना है।

मुण्डकोपनिषद् (द्वितीय मुंडक, ४) में शौनक नाम के एक धनिक का वर्णन आता है जो अंगिरा ऋषि के पास यह जानने के लिए पहुंचे कि किसके जानने से सब-कुछ जाना जाता है। अंगिरा ऋषि ने उन्हें 'परा' तथा 'अपरा' विद्या का उपदेश देते हुए प्रसंगवश कहा—'प्रणव'—अर्थात् ओंकार धनुष है—**'प्रणवो धनुः'**, आत्मा शर अर्थात् बाण है—**'शरः हि आत्मा'**, ब्रह्म लक्ष्य है—**'ब्रह्म तत् लक्ष्यं उच्यते'**, अप्रमत्त होकर इस लक्ष्य का बेध करे—**'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्'**, फिर जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है, वैसे आत्मा ब्रह्ममय हो जाता है—**'शरवत् तन्मयः भवेत्'**।

माण्डूक्योपनिषद् तो शुरू से अन्त तक ओंकार की व्याख्या में ही लिखी गई है। उसमें ओंकार की अ, उ, म्—इन तीन-मात्राओं एवं अमात्र का—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीयावस्था के साथ मेल

दर्शाते हुए चेतना के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है जिसका विस्तृत विवेचन हमने माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या में किया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षाध्याय वल्ली, अष्टम अनुवाक) में कहा है, ओम् ही ब्रह्म है—**'ओम् इति ब्रह्म'**, ओम् ही यह सब-कुछ है—**'ओम् इति इदं सर्वम्'**, संसार ओम् की ही अनुकृति है—**'ओम् इति एतद् अनुकृति ह स्म'**।

ओंकार का महत्व दर्शाने के साथ छान्दोग्योपनिषद् का, जिस पर हम लिखने लगे हैं, प्रारम्भ हुआ है। इस उपनिषद् के प्रथम वाक्य में ही कहा गया है, 'ओम्—यह अक्षर उद्गीथ है'—**'ओम् इति एतद् अक्षरं उद्गीथम्'**। इसकी उपासना करे—**'उपासीत'**। ओम् का उच्च-स्वर से गान करे—**'ओम् इति उद्गायति'**। इससे आगे 'ओम्' की ही व्याख्या है—**'तस्य उपव्याख्यानम्'**।१।

ओम् के महत्व को दर्शाते हुए इस उपनिषद् के रचयिता कहते हैं—पाँचों महाभूतों में सब से अधिक महत्वशाली पृथिवी है—**'एषां भूतानां पृथिवी रसः'**, पृथिवी में भी जीवन के लिये अत्युपयोगी जल हैं—**'पृथिव्याः आपः रसः'**, जलों की अपेक्षा भी औषधियों का महत्व है—**'अपां ओषधयः रसः'**, ओषधियों के रस से पुरुष का निर्माण होता है—**'ओषधीनां पुरुषः रसः'**, पुरुष का महत्व भी उसकी वाणी से है—**'पुरुषस्य वाक् रसः'**, बाणी का महत्व वेद की ऋचाओं से है—**'वाचः ऋक् रसः'**, ऋचाओं का महत्व साम-गान से है—**'ऋचः साम रसः'**, साम-गान का रस ओंकार द्वारा प्रभु का गान करने में है—**'साम्ना उद्गीथः रसः'**।२।

ओंकार का सस्वर उच्चारण तथा उसका गान रसों का रस है, परम-रस है—**'स एषः रसानां रसतमः'**, इसका ध्यान में परम-स्थान है—**'परमः परार्ध्यः'**। ऊपर जो रस गिनाये गये हैं, उनमें रसों का रस बनते-बनते इसका आठवां स्थान है—**'अष्टमः यत् उद्गीथः'**। पृथिवी से लेकर उद्गीथ—ओंकार तक गिना जाय तो ओंकार का रस सब रसों के बाद आता है इसलिये ओंकार के गान से परम-रस प्राप्त होता है—यह कहा है।३।

प्रथम खंड के अन्त तक जो-कुछ कहा है उसमें उद्गीथ—ओंकार—की महिमा का ही वर्णन है। ओंकार को उद्गीथ इसलिये कहा है क्योंकि इसका उच्च-स्वर से गान किया जाय, तो चित्त को शान्ति

मिलती है। **'उद्'** का अर्थ है—ऊँचा, **'गीथ'** का अर्थ है—गाना, 'उद्गीथ', अर्थात् उच्च-स्वर से गान।

प्रथम प्रपाठक (दूसरा खंड)

(उद्गीथ की महिमा)

इस प्रपाठक में 'उद्गीथ' के महत्व को दर्शाने के लिये एक कल्पना का सहारा लिया गया है। कल्पना यह है कि देव तथा असुर—ये दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, दोनों भाई-भाई हैं। भाई-भाई में भी स्वार्थों के लिये लड़ाई हो जाया करती है। इन दोनों में लड़ाई छिड़ गई—**'देवाः ह वै यत्र संयेतिरे'**—'संयेतिरे'—अर्थात् लड़ पड़े। **'उभे प्राजापत्याः तद् ह'**—दोनों प्रजापति की ही सन्तान थे। देवों ने अपने बचाव के लिए 'उद्गीथ' को ग्रहण कर लिया—**'देवाः उद्गीथं आजहुः'**। उन्होंने सोचा कि 'उद्गीथ' के सहारे वे असुरों को हरा देंगे—**'अनेन एतान् अभिभविष्यामः इति'**।१।

छान्दोग्य के प्रथम वाक्य में ही कहा गया है—'उद्गीथ' की उपासना करें। 'उद्गीथ' की उपासना कहाँ करें? कहाँ है उद्गीथ'? इस कथानक में यह कल्पना कर ली गई है कि वह नासिका के सांस में जा बैठा। देव-लोग नासिका में जो सांस चल रहा है उसका कारण 'उद्गीथ' मानकर उसकी उपासना करने लगे, मानो यह नासिका में चलने वाला सांस ही 'उद्गीथ' है—**'ते ह नासिक्यं प्राणं उद्गीथं उपासां चक्रिरे'**। असुर भी देवों के पीछे पड़े हुए थे। उन्होंने सांस को पाप से बींध दिया—**'तं ह असुराः पाप्मना विविधुः'**। यही कारण है कि सांस में मनुष्य सुगन्धि तथा दुर्गन्धि दोनों का ग्रहण करता है—**'तस्मात् तेन उभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च'**—क्योंकि असुरों ने उसे पाप से बींध दिया है—**'पाप्मना हि एषः विद्धः'**।२।

जब देवों ने देखा कि सांस तो सुगन्धि तथा दुर्गन्धि दोनों को ग्रहण करता है, तब वे वाणी में जो बोलना चल रहा है उसका कारण 'उद्गीथ' मानकर उसकी उपासना करने लगे, मानो यह बाणी में बोलने वाला ही 'उद्गीथ' है—**'अथ ह वाचं उद्गीथं उपासां चक्रिरे'**। असुरों ने वाणी को पाप से बींध दिया—**'तां असुराः पाप्मना विविधुः'**। यही कारण है कि बाणी से मनुष्य सत्य तथा असत्य दोनों बोलता

है—**'तस्मात् तया उभयं वदति सत्यं च अनृतं च'**—क्योंकि असुरों ने उसे पाप से बींध दिया है—**'पाप्मना हि एषा विद्धा'** ।३।

जब देवों ने देखा कि वाणी से मनुष्य सत्य तथा असत्य दोनों बोलता है, तब वे चक्षु में जो देखना चल रहा है उसका कारण 'उद्गीथ' मानकर उसकी उपासना करने लगे—**'अथ ह चक्षुः उद्गीथं उपासां चक्रिरे'**। असुरों ने चक्षु को पाप से बींध दिया—**'तत् असुराः पाप्मना विविधुः'**। यही कारण है कि दर्शनीय तथा अदर्शनीय दोनों को आंख देखती है—**'तस्मात् तेन उभयं पश्यति दर्शनीयं च अदर्शनीयं च'**—क्योंकि असुरों ने उसे पाप से बींध दिया है—**'पाप्मना हि एतत् विद्धम्'** ।५।

जब देवों ने देखा कि श्रोत्र से मनुष्य श्रवणीय तथा अश्रवणीय दोनों को सुनता है, तब वे मन से जो मनन चल रहा है उसका कारण 'उद्गीथ' मानकर उसकी उपासना करने लगे—**'अथ ह मन उद्गीथं उपासां चक्रिरे'**। असुरों ने मन को भी पाप से बींध दिया—**'तत् ह असुराः पाप्मना विविधुः'**। यही कारण है कि मन सब-कुछ सोचने लगता है, जो सोचने लायक—संकल्पनीय है उसे, तथा जो सोचने-लायक नहीं है उसे भी—**'तेन उभयं संकल्पयते संकल्पनीयं च, असंकल्पनीयं च'**—क्योंकि असुरों ने मन को भी पाप से बींध दिया है—**'पात्मना हि एतद् विद्धम्'** ।६।

जब देवों ने देखा कि नासिका, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन—जहाँ-जहाँ भी 'उद्गीथ' की कल्पना करके वे उसकी उपासना करने लगते हैं, वहाँ-वहाँ असुर अपनी दुष्टता का तीर छोड़कर उस-उस को पाप से बींध देते हैं और परिणामस्वरूप मनुष्य नाक से सुगन्धि के साथ-साथ दुर्गन्धि भी सूंघने लगता है, बाणी से सत्य के साथ-साथ असत्य भी बोलने लगता है, आँख से अच्छे दृश्यों के साथ-साथ बुरे दृश्य भी देखने लगता है, कान से अच्छी बात सुनने के साथ-साथ बुरी बात सुनने में भी रस लेने लगता है, मन से शुभ-संकल्पों के साथ-साथ अशुभ-संकल्प भी करने लगता है, तब उन्होंने सोचा कि कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे असुरों से पल्ला छूटे। यह सोचकर मुख्य प्राण के पास पहुंचे—**'अथ ह यः एव अयं मुख्यः प्राणः'**, और यह सोच कर कि यह जो मुख्य प्राण है, जिसकी वजह से मनुष्य का जीवन बना रहता है, उसी का साथी 'उद्गीथ' है, इसलिये इस मुख्य प्राण की उपासना

करनी चाहिये, वे उसकी उपासना करने लगे—**'तं उद्गीथं उपासां चक्रिरे'**। उसे जब पाप से बींधने के लिए असुर उसके पास पहुंचे—**'तं ह असुराः ऋत्वा'**, तब स्वयं नष्ट हो गये—**'विदध्वंसुः'**। इस प्रकार नष्ट हो गये जैसे कठोर पत्थर से टकराकर मट्टी का ढेला नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है—**'यथा अश्मानं आखणम् ऋत्वा विध्वंसेत'**।७।

जैसे कठोर पत्थर से टकराकर—**'एवं यथा अश्मानं आखणम् ऋत्वा'**—मट्टी का ढेला खंड-खंड हो जाता है—**'विध्वंसते'**, इसी-प्रकार—**'एवं ह एव'**, वह नष्ट हो जाता है—**'सः विध्वंसते'**, जो 'उद्गीथ' की उपासना करने वाले की—**'यः एवं विदि'**, बुराई चाहता है—**'पापम् कामयते'**। जो उद्गीथोपासक को नीचा दिखाना चाहता है—**'यः च एनम् अभिदासति'**, उसे स्मरण रखना चाहिये कि उद्गीथोपासक तो कठोर पत्थर की चट्टान के समान है—**'सः एषः अश्माखणः'**।८।

प्राण में 'उद्गीथ' की कल्पना कर के उसकी उपासना क्यों की—इसका कारण बतलाते हुए ९वें प्रकरण में उपनिषद् ने कहा है—मुख्य प्राण जो जीवन का आधार है उसमें 'उद्गीथ' की कल्पना इसलिये की क्योंकि प्राण के बींधने में असुर असमर्थ थे। नासिका सुगन्ध भी लेती है दुर्गन्ध भी, बाणी सत्य भी बोलती है असत्य भी, आंख दर्शनीय भी देखती है अदर्शनीय भी, कान श्रवणीय भी सुनते हैं अश्रवणीय भी, मन शुभ संकल्प भी करता है अशुभ भी। इन सब में दुर्गन्ध, असत्य, अदर्शनीय, अश्रवणीय, अशुभ का पुट दे देना आसुरीय भाव है, परन्तु प्राण में तो आसुरीयता आ नहीं सकती। प्राण को पाप नहीं छूता, वह उक्त सब पापों से मुक्त है। इसलिये प्राण में 'उद्गीथ' की कल्पना करने से आसुरी-भाव से सम्पर्क छूट जाता है।

प्राण में 'उद्गीथ' की कल्पना करके उसकी उपासना करने से न सुगन्ध रहती है, न दुर्गन्ध—**'न एव एतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानाति'**, प्राण को असुर पाप से नहीं बींध सकते—**'अपहतपाप्मा हि एषः'**। प्राण के साथ 'उद्गीथ' की उपासना करने से मनुष्य जो-कुछ खाता है, जो-कुछ पीता है—**'तेन यत् अश्नाति, यत् पिबति'**, उससे शरीर के अन्य अंगों को वह प्राण-शक्ति देता है, उनकी रक्षा करता है, अपने पास कुछ नहीं रखता—**'तेन इतरान् प्राणान् अवति'**। इसीलिये—**'अत उ एव'**, अन्तकाल के समय अपने साथ कुछ न लेकर, खाली हाथ

संसार से चल देता है—**'अन्ततः अवित्वा उत्क्रामति'**, और अन्त में मुंह खोल देता है—**'व्यावदाति एव अन्ततः इति'**, मानो कह रहा है कि देख लो मुख खाली है, कुछ साथ लिए नहीं जा रहा।९।

आगे के वाक्यों में कहा गया है कि 'उद्गीथ' ही अंगों का रस होने के कारण आंगिरस है, 'उद्गीथ' ही बृहत्—महान् होने के कारण बृहस्पति है, 'उद्गीथ' की अयास्य तथा दल्भ के पुत्र बक ऋषि ने, उपासना की।१३।

इस प्रकरण में 'उद्गीथ' को प्राण तथा मुख में कल्पित करके उसकी उपासना का वर्णन है। 'उद्गीथ' को जब प्राण तथा मुख में प्रतिष्ठित करके उसकी उपासना की गई, तब असुर उसे पाप से न बींध सके, अन्यथा नासिका, बाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि में जब उसे कल्पित किया गया तब असुरों ने उसे पाप से बींध दिया—इसका क्या रहस्य है ?

इस रहस्य का उद्घाटन ९वें पद्य में उपनिषद् ने स्वयं कर दिया है। उसमें कहा है कि मुख जो-कुछ खाता है, पीता है, वह अपने पास न रख कर दूसरों को बाँट देता है, उससे दूसरों की रक्षा करता है—**'इतरान् अवति'**। स्वार्थी सब-कुछ अपने लिए समेट लेता है—यही पाप है। अपने लिए सब-कुछ रख लेने में भला भी है, बुरा भी है। तभी कहा—नासिका से सुगन्ध भी लिया जाता है, दुर्गन्ध भी; आँख से अच्छी चीज़ें भी देखी जाती हैं, बुरी भी; कान से भला भी सुना जाता है, बुरा भी; वाणी से अच्छी बात भी कही जाती है, बुरी भी; मन से शुभ संकल्प भी किए जाते हैं, बुरे भी; परन्तु मुख से जो खाया जाता है, वह अच्छा ही खाया जाता है, बुरा फेंक दिया जाता है, जो खाया भी जाता है वह मुख अपने पास न रख कर शरीर के अंग-अंग में बांट देता है। इसी प्रकार प्राण अपने पास कुछ नहीं रखता। जीवन-शक्ति को लेकर शरीर के कोष्ठ-कोष्ठ में पहुंचा देता है। इसी को प्राणायाम कहा है। प्राणायाम से शक्ति शरीर के भीतर जाती-ही-जाती है। जैसे मुख अपने पास कुछ नहीं रखता, वैसे ही प्राण अपने पास कुछ नहीं रखता। ये दोनों देते-ही-देते हैं। इन दोनों में नासिका, वाणी, आँख, कान, मन की तरह दोतर्फ़ी बातें नहीं हैं। जब 'उद्गीथ' का प्राणायाम द्वारा मुख से उद्घोष होने लगा, तब असुरों के बस का कुछ

नहीं रहा, वे देवों के साथ टकरा कर ऐसे चूर-चूर हो गये जैसे मट्टी का ढेला पत्थर से टकरा कर चूर-चूर हो जाता है।

इस उपाख्यान में कथानक द्वारा प्राण तथा मुख के निःस्वार्थ-भाव का दृष्टान्त देकर ओंकारोपासना का महत्व दर्शाया गया है। 'उद्गीथ' या ओंकार निःस्वार्थ-भाव का प्रतीक है क्योंकि 'उद्गीथ' के गान में प्राण तथा मुख का उपयोग किया जाता है जो दोनों निःस्वार्थता के प्रतीक हैं।

प्रथम प्रपाठक (तीसरा खंड)

प्रथम प्रपाठक के दूसरे खंड में प्राण तथा मुख—इन दोनों में 'उद्गीथ' की कल्पना करके उसकी उपासना की गई है—जैसे प्राण तथा मुख का काम स्वार्थ को छोड़ देना, परार्थ के लिये काम करना है, वैसे 'उद्गीथ'—ओंकार—की उपासना संसार का उपकार करने का प्रतीक है। अभी तक पिंड में—शरीर में—परार्थ के प्रतीक 'प्राण' तथा 'मुख'—इन दोनों में 'उद्गीथ' की कल्पना के ओंकार की उपासना की गई थी, अब तीसरे खंड द्वारा ब्रह्मांड में—संसार में—परार्थ के प्रतीक 'सूर्य' में 'उद्गीथ' की कल्पना करके ओंकार की उपासना की जा रही है। इसी बात को व्यक्त करने के लिये इस खंड का प्रारम्भ होता है—**'अथ अधिदैवतम्'**—इन शब्दों से। उपनिषद् में **'अथ अध्यात्मम्'** का अर्थ है—पिंड में; **'अथ अधिदैवतम्'** का अर्थ है—ब्रह्मांड में।

ब्रह्मांड में उद्गीथोपासना कैसे हो रही है—अब इसका वर्णन शुरू होता है—**'अथ अधिदैवतम्'**। यह जो सूर्य तप रहा है—**'यः एव असौ तपति'**—उस सूर्य में 'उद्गीथ' की कल्पना करके उसकी उपासना करे—**'तं उद्गीथं उपासीत'**। सूर्य जब उदय हो रहा होता है, ऊपर उठ रहा होता है—**'उद्यन् वै एषः'**, वह विश्व की प्रजाओं को मानो ऊपर उठा रहा होता है—**'प्रजाभ्यः उद्गायति'**। उदय होता हुआ और ऊपर-ऊपर चढ़ता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर कर भय को दूर कर देता है—**'उद्यन् तमः भयं अपहन्ति'**। जो व्यक्ति सूर्य में 'उद्गीथ' की कल्पना करके उसकी उपासना करता है, वह भय रूपी अन्धकार का नाश कर देता है—**'अपहन्ता ह वै भयस्य तमसः भवति'**। जो इस

रहस्य को जान लेता है वही यथार्थ में ओंकार की उपासना करता है—**'यः एवं वेद'** ।।१।।

जैसे 'मुख' तथा 'प्राण' में 'उद्गीथ' की कल्पना करके ओंकार की उपासना इसलिये की गई क्योंकि 'मुख' तथा 'प्राण' अपने लिये कुछ न रख कर पिंड को सब-कुछ दे देते हैं, वैसे 'सूर्य' में 'उद्गीथ' की कल्पना करके ओंकार की उपासना का यहाँ उल्लेख है क्योंकि 'सूर्य' भी अपने लिये कुछ न रख कर विश्व के कोने-कोने से अन्धकार को हटाकर भय का निवारण करता है। 'उद्गीथ' की उपासना का इतना ही अर्थ है कि उपासक पिंड में 'प्राण' तथा 'मुख' से, और ब्रह्मांड में 'सूर्य' से निःस्वार्थता की शिक्षा ग्रहण करे। उपासक जब 'उद्गीथ' का गान करे, तब पिंड के 'प्राण' तथा 'मुख' एवं ब्रह्मांड के 'सूर्य' के स्वार्थ-हीनता और परार्थपरायणता के गुण उसके रोम-रोम में बस जायें।

'प्राण' तथा 'सूर्य'—ये दोनों अत्यन्त स्वार्थहीन हैं, देते-ही-देते हैं, लेते कुछ नहीं। इनके इस गुण के कारण असुर इन्हें पाप से न बींध सके, और देवों ने इनमें 'उद्गीथ' की कल्पना कर इनकी उपासना की। उपनिषत्कार कहते हैं कि इन दोनों में स्वार्थहीनता की तो समानता है ही, इसके अतिरिक्त 'प्राण' तथा 'सूर्य' में और भी समानता है—**'समानः उ एव अयं च असौ च'**। वह समानता क्या है? सूर्य भी सम्पूर्ण विश्व को उष्णता देता है ताकि जगत् बना रहे, प्राण भी शरीर को गर्मी देता है ताकि प्राणी का जीवन बना रहे—**'उष्णः अयं उष्णः असौ'**—गर्मी देना, यह एक समानता है। शरीर में जो सांस (प्राण) चलता है उसे 'स्वर' कहते हैं। प्राण-विद्या को स्वर-विद्या भी कहा जाता है। 'स्वर' का अर्थ है—जानेवाला। 'प्राण' जाता है तो चला ही जाता है, फिर लौट कर नहीं आता—**'स्वरः इति इमम् आचक्षते'**; 'प्रतिस्वर' का अर्थ है—जानेवाला पर फिर लौट आने वाला—सूर्य जाता है, अस्त हो जाता है, पर फिर लौट आता है। जाना दोनों में है, इसलिये यह है दूसरी समानता—**'स्वरः इति प्रत्या-स्वरः इति अमुम्'**। इन समानताओं के कारण—**'तस्मात् वै'**, इस प्राण की—**'इमम्'**, उस सूर्य की—**'अमुम्'**, तथा उस **'उद्गीथ'** अर्थात् ओंकार की उपासना करे—**'उपासीत'** ।।२।।

जैसे 'प्राण' तथा 'सूर्य' में 'उद्गीथ' को कल्पित करके इन तीनों की उपासना का वर्णन किया, वैसे तृतीय पदावलि में 'व्यान' में

'उद्गीथ' की कल्पना करके उसकी उपासना करने का आदेश है—**'अथ खलु व्यानम् एव उदगीथं उपासीत'**। व्यान क्या है? जो श्वास भीतर लिया जाता है वह 'प्राण' है—**'यत् वै प्राणिति सः प्राणः'**; जो श्वास बाहर निकाला जाता है वह 'अपान' है—**'यत् अपानिति सः अपानः'**; जहाँ प्राण और अपान की सन्धि, उनका मेल है वह व्यान है—**'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः सः व्यानः'**। जब 'उद्गीथ'—ओंकार—का जाप होता है तब वाणी का प्रयोग जहां प्राण और अपान की सन्धि है, मेल है, वहां से होता है, वही स्थल व्यान है, वहीं से ओंकार की ध्वनि उठती है—**'यः व्यानः सा वाक्'**। यही कारण है कि जब मनुष्य प्राण का प्रयोग नहीं कर रहा होता, अपान का प्रयोग नहीं कर रहा होता—**'अप्राणन् अनपानन्'**—तब इन दोनों की सन्धि-स्थल—व्यान—में वाणी द्वारा ओंकार का प्रयोग कर रहा होता है—**'वाचम् अभिव्याहरति**॥३॥

चौथी तथा पांचवीं पदावली में भी **'व्यान'** में 'उद्गीथ' को कल्पित करके ओंकार की उपासना करने का वर्णन है। पांचवीं पदावली में कहा है—जितने भी शक्तिशाली कार्य हैं—**'अतः यानि अन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि'**, जैसे अरणियों द्वारा मन्थन करके अग्नि का उत्पन्न करना—**'यथा अग्नेः मन्थनम्'**, संग्राम में सरपट दौड़ना—**'आजेः सरणम्'**, दृढ़ धनुष को लेकर उसे खींचना—**'दृढ़स्य धनुषः आयमनम्'**, ये सब काम सांस अन्दर खींचते हुए नहीं किये जाते, सांस बाहर निकालते हुए भी नहीं किये जाते—**'अप्राणन् अनपानन् तानि करोति'**, ये सब सामर्थ्य के काम 'व्यान' में किये जाते हैं जब प्राण तथा अपान रुक जाते हैं, इस हेतु से—**'तस्य हेतोः'**, 'व्यान' में 'उद्गीथ' की कल्पना करके उसकी उपासना करनी चाहिये—**'व्यानम् एव उद्गीथं उपासीत'**, ताकि व्यान में सांस रुक जाने से ध्यान जमा रहे॥४-५॥

ऋषि अब तक 'उद्गीथ' के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में 'उद्गीथ' की कल्पना करके ओंकार के ध्यान की बात कहते रहे। 'प्राण' में 'उद्गीथ' की कल्पना करते हुए ओं[illegible]ी उपासना का अर्थ है—प्राणायाम के साथ ध्यान में ओंक[illegible]ाप करते जाना; 'सूर्य' में 'उद्गीथ' की कल्पना करते हुए [illegible]ना का अर्थ है—सूर्य के गुणों का ध्यान करते हुए ओंकार का जाप करना। सूर्य के गुण हैं, संसार को प्रकाश देना, अन्धकार का नाश करना—मुझ में भी भय रूपी

अन्धकार न रहे, मुझ से सब को प्रकाश मिले, सूर्य की तरह का प्रकाश; भय का उल्टा प्रेम है, मुझ में से प्रेम की गंगा बहे—यह सूर्य में 'उद्गीथ' की कल्पना करते हुए ओंकार के जप का स्वरूप है। अब ऋषि बाह्य प्रतीकों को छोड़कर स्वयं 'उद्गीथ'—इन तीन अक्षरों पर ध्यान जमाने की बात कहते हैं—**'अथ खलु उद्गीथ अक्षराणि समुपासीत'**। 'उद्गीथ' में क्या अक्षर हैं? **'उद्'-'गी'-'थ'**—ये तीन अक्षर हैं 'उद्गीथ' में—**'उद्गीथ इति'**। जब 'उद्गीथ' का ध्यान करे तब इसके पहले अक्षर 'उद्' पर प्राण केन्द्रित करे—**'प्राणः एव उत्'**। 'उत्' पर प्राण केन्द्रित करने से मनुष्य ऊपर उठता है—**'प्राणेन हि उत्तिष्ठति'**। 'ऊपर उठता है'—इसका यह अर्थ नहीं है कि धरती से ऊपर उठ जाता है, इसका अर्थ यह है कि जपने वाला जब 'उद्गीथ' का मन में ध्यान करता है, तब उसका जीवन उठने लगता है, उत्कृष्ट होने लगता है। 'उत्' के ध्यान के बाद इस शब्द का दूसरा अक्षर 'गी' आता है। 'गी' तक पहुंचते हुए वाणी से इसका उच्चारण करने लगे, वाणी ही 'गी' है—**'वाक् गीः वाचः ह गिरः इति आचक्षते'**। 'उद्गीथ' का तीसरा अक्षर 'थ' है। 'उद्गीथ' के 'थ' का ध्यान करते समय अन्न का ध्यान करे क्योंकि अन्न में ही सब-कुछ स्थित है—**'अन्नं थम्, अन्ने हि इदं सर्वं स्थितम्'**॥६॥

पहले 'उद्गीथ', अर्थात् ओंकार की उपासना में 'प्राण', 'सूर्य' तथा 'व्यान' में ओंकार की कल्पना करके उसकी उपासना की, अब कल्पना को छोड़ 'उद्गीथ' के एक-एक अक्षर में ध्यान जमाने का आदेश है। ध्यान के स्वरूप को बतलाते हुए ऋषि ने 'उद् गी थ' को तीन अक्षरों में बाँट दिया है—उद्, गी, थे। 'उद्' का अभिप्राय है—उठना। 'गी' का अर्थ है—ओंकार के गाने से भगवान् के प्रेम में विभोर हो जाना। 'थ' का अर्थ है—इतना न उठ जाना कि भूतल को ही भूल जाय, ज़मीन पर स्थित रहना, थमे रहना। 'उद्गीथ' द्वारा अध्यात्म-जीवन का यह चित्र उपनिषद् की ही अपनी देन है। हम या तो आध्यात्मिकता में इतने रम जाते हैं कि भौतिकता को ही भूल जाते हैं, या भौतिकता में इतने लीन हो जाते हैं कि आध्यात्मिकता को भूल जाते हैं। 'उद्गीथ' में दोनों का समन्वय है।

इससे अगली ऋचाओं में 'उद्', 'गी' और 'थ' को विश्व में सब जगह घटाया गया है। द्यौः 'उद्' है, अन्तरिक्ष 'गी' है, पृथिवी 'थ'

है; सूर्य 'उद्' है, वायु 'गी' है, अग्नि 'थ' है; सामवेद 'उद्' है, यजुर्वेद 'गी' है, ऋग्वेद 'थ' है। कहने का अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण विश्व 'उद्गीथ', अर्थात्, ओंकार का ही रूप है। जो इस प्रकार 'उद्'–'गी'–'थ'—इन अक्षरों को समझ कर ओंकार की उपासना करता है उसके लिये वाणी का ओंकार का गान मानो गौ द्वारा दिया गया दूध बन जाता है—**'दुग्धे अस्मै वाग् दोहम्'**। वाणी का यही दूध है—**'यः वाचः दोहः'**। ऐसा व्यक्ति अन्नवान् हो जाता है, अन्नाद हो जाता है, उसे किसी बात की कमी नहीं रहती—**'अन्नवान् अन्नादः भवति'**। जो व्यक्ति 'उद्गीथ' के इन तीन अक्षरों को इस प्रकार जान लेता है—**'यः एतानि एवं विद्वान्'**, और इस प्रकार उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करता है—**'उद्गीथ अक्षराणि उपास्ते'**, वह 'उद्गीथ' के रहस्य को समझ जाता है—**'उद्गीथ इति'** ॥७॥

उक्त खण्ड के आगे ८ से १२ ऋचाओं में 'उद्गीथ' की ही महिमा का वर्णन है जिसे विस्तार से लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

प्रथम प्रपाठक (चौथा खण्ड)

['उद्गीथ' ओंकार का ही नाम है]

अबतक 'उद्गीथ' की उपासना का वर्णन किया, परन्तु 'उद्गीथ' से उपनिषद् का क्या अभिप्राय है। इस खण्ड में कहा है—'ओम्'—यह अक्षर ही 'उद्गीथ' है—**'ओम् इत्येतद् अक्षरं उद्गीथम्'**। 'ओम्' इसकी उपासना करे, इसका गान करे—**'उपासीत ओम् इति हि उद्गायति'**। 'ओम्' के विषय में एक छोटी-सी निम्न व्याख्या है—**'तस्य उपव्याख्यानम्'** ॥१॥

क्या व्याख्या है? व्याख्या यह है कि देवता लोग मृत्यु के भय से—**'देवाः वै मृत्योः बिभ्यतः'**, त्रयी-विद्या में प्रविष्ट हो गये—**'त्रयीं विद्यां प्राविशन्'**। त्रयी-विद्या—अर्थात्, तीन प्रकार की वेदों की ऋचाओं का पाठ करने लगे—**'ते छन्दोभिः आच्छादयन्'**। उन्होंने सोचा कि वेद की ऋचाओं, अर्थात्, छन्दों का पाठ-मात्र कर लेना अमर-पद पाने के लिये पर्याप्त है। क्योंकि उन्होंने मृत्यु से बचने के लिये अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया था—**'यद् एभिः आच्छादयन्'**, इसीलिये आच्छादित कर लेने के कारण वेद की ऋचाओं को छन्द कहते हैं—**'तत् छन्दसां छन्दस्त्वम्'** ॥२॥

परन्तु केवल वेद के छन्दों का पाठ कर लेने से मृत्यु से थोड़े ही बच सकते हैं। मृत्यु ने उन्हें छन्दों में छिपे हुए ऐसे ही देख लिया जैसे पानी में मछली दीख जाती है—**'तान् उ तत्र मृत्युः यथा मत्स्यं उदके परिपश्येत्'** । मृत्यु ने उन्हें ऋक्, यजुः, साम में छिपे देख लिया—**'एवं परि अपश्यत् ऋचि साम्नि यजुषि'** । जब देवों ने जाना कि मृत्यु ने उन्हें देख लिया है—**'ते नु वित्वा'**, तब वे ऋक्, साम, यजु में से निकल कर ऋचाओं से ऊपर—**'ऊर्ध्वाः ऋचः साम्नः यजुषः'**, स्वर में प्रविष्ट हो गये—**'स्वरं एव प्राविशन्'** ।।३।।

ऋचाओं से ऊपर जा पहुंचने का क्या अर्थ है? जब ऋचा को प्राप्त कर उसके ऊपर जा पहुंचता है—**'यदा वै ऋचम् आप्नोति'**, तब ओम् का ही दीर्घ-स्वर से उच्चारण करता है—**'ओम् इति एव अति स्वरति'** । इसी प्रकार सामवेद का, इसी प्रकार यजुर्वेद का उच्चारण करते हुए ओम् का ही दीर्घ-स्वर से उच्चाण करते हैं—**'एवं साम एवं यजुः'** । वेदों की ऋचाओं का उच्चारण 'ओम्'—इस स्वर का ही उच्चारण है—**'एषः उ स्वरः यत् एतद् अक्षरम्'** । 'ओम्'—यह अक्षर और इसका दीर्घ-स्वर से उच्चारण ही अमृत है—**'एतद् अमृतं'**, इसी से अभय-पद प्राप्त होता है—**'अभयं'** । जब देवताओं ने 'ओम्'—इस अक्षर में प्रवेश किया, ओंकार का दीर्घ-स्वर से जाप करने लगे—**'तत् प्रविश्य देवाः'**, तब वे अमृत तथा अभय हो गये—**'अमृताः अभयाः अभवन्** ।।४।।

वह उपासक जो ओंकारोपासना को इस प्रकार जान लेता है—**'सः यः एतत् एवं विद्वान्'**, और दीर्घ-स्वर से अक्षर-'ओम्' की उपासना करता है—**'अक्षरं प्रणौति'**, वह भी इस अक्षर-स्वर में—**'एतत् एव अक्षरं स्वरं'**—और जो अमृत तथा अभय है—**'अमृतं अभयम्'**, उसमें प्रविष्ट हो जाता है—**'प्रविशति'** । ओंकार रूपी अक्षर-स्वर में प्रविष्ट होने पर—**'तत् प्रविश्य'**, जैसे देवता लोग ओंकारोपसना से अमृत अर्थात् अमर हो गये थे—**'यद् अमृताः देवाः'**, उन्हीं की तरह वह अमृत हो जाता है—**'अमृतः भवति'** ।।५।।

इस सम्पूर्ण व्याख्या का अभिप्राय यह है कि वेद के सिर्फ़ छन्दों का पाठ कर लेना अमर पद प्राप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है। देवों ने अमर पद प्राप्त करने के लिये पहले छन्दों में प्रवेश किया, मन्त्रों का छन्द-गान कर लेना उन्होंने पर्याप्त समझा, परन्तु मृत्यु ने उनका पीछा

नहीं छोड़ा। जब छन्दों के पाठ से वे ऊपर उठे, श्रोंकार के स्वर में लीन हो गये, तब उन्होंने अमृत तथा अभय पद प्राप्त किया। उपनिषद् के इस खण्ड में श्रोंकार का उच्च-स्वर से उच्चारण कर उसमें लीन होने को अमृत तथा अभय पद प्राप्ति के लिये सबसे अधिक महत्त्व दिया है।

उपनिषदों के ऋषियों की अपनी बात को समझाने की यही प्रणाली थी। देवों ने छन्दों में क्या जा छिपना था, छन्द-पाठ तक ही अपने को सीमित कर देना, उसके स्वर तथा अर्थ तक न पहुँचना—इससे कुछ लाभ नहीं होता—इस भाव को व्यक्त करने के लिये उक्त आख्यान कहा गया है। आजकल जो लोग बिना अर्थ-ज्ञान के गायत्री-मन्त्र का जो सहस्रवार या चारों वेदों का अर्थ-ज्ञान-रहित पाठ करते हैं या पण्डितों से करवाते हैं, और इस पाठ-मात्र से ही प्रसन्न हो जाते हैं, उन्हें छान्दोग्य के इस चतुर्थ खण्ड से कुछ शिक्षा लेनी चाहिये।

प्रथम प्रपाठक (पांचवां, छठा, सातवां खण्ड)

प्रथम प्रपाठक के पाँचवें खण्ड तक 'उद्गीथ' की उपासना का वर्णन है। पाँचवें खण्ड में उद्गीथोपासना का लाभ बतलाया गया है। पाँचवें खण्ड में यहाँ तक कहा गया है कि कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा कि उद्गीथोपासना से ही उसे पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। 'उद्गीथ' का अर्थ इस प्रकरण में 'ओंकार' है, और उद्गीथोपासना का अभिप्राय ओंकारोपासना है। परन्तु 'उद्गीथ'–शब्द सामवेद का है—इससे यह कोई न समझे कि उपनिषद् ने ऋग्वेद को भुला दिया है—इस उद्देश्य से छटे तथा सातवें खण्ड में बार-बार यह दोहराया गया है कि सामवेद ऋग्वेद के सहारे टिका हुआ है—'**इदम् एव ऋक् साम तद् एतत्**', इसलिये साम-गान को महत्ता देते हुए ऋग्वेद को भुलाया नहीं गया। वास्तव में ७० मन्त्रों को छोड़कर सामवेद के सभी मन्त्र ऋग्वेद के ही मन्त्र हैं।

ऋक् और साम की एकात्मकता को दर्शाने के लिये सातवें खण्ड में कहा गया है कि शरीर (पिण्ड) की दृष्टि से विचार करें तो वाक् ऋक् है, प्राण साम है, चक्षु ऋक् है, छाया साम है, श्रोत्र ऋक् है, मन साम है, आँख की शुक्ल आभा ऋक् है, कृष्ण आभा साम है; संसार

(ब्रह्माण्ड) की दृष्टि से विचार करें तो पृथिवी ऋक् है अग्नि साम है, अन्तरिक्ष ऋक् है वायु साम है, द्यौः ऋक् है आदित्य साम है, आदित्य की शुक्ल आभा ऋक् है कृष्ण आभा साम है। यह सब कहने का इतना ही अभिप्राय है कि 'उद्गीथ' का सामवेदी-गान करते हुए ऋग्वेद का महत्त्व कम नहीं होता क्योंकि उपनिषत्कार ने अपनी दृष्टि से पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की हर वस्तु को ऋक् तथा साम में विभक्त कर दिया है, इन दोनों का समन्वय कर दिया है।

प्रथम प्रपाठक (आठवां खण्ड)

[उद्गीथ के सम्बन्ध में तीन ऋषियों की कथा]

प्राचीन-काल में तीन व्यक्ति 'उद्गीथ'-गान में कुशल थे—**'त्रयः ह उद्गीथे कुशलाः बभूवुः'**। एक था शालावान् का पुत्र शिलक—**'शिलकः शालावत्यः'**, दूसरा था चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य—**'चैकितायनः दाल्भ्यः'**, तीसरा था जीवल का पुत्र प्रवाहण—**'प्रवाहणः जैवलिः इति'**। वे आपस में बैठकर चर्चा करने लगे—**'ते ह ऊचुः'**, और कहने लगे कि हम 'उद्गीथ'-गान में कुशल हैं—**'उद्गीथे वै कुशलाः स्म'**, आओ मजे में बैठ कर 'उद्गीथ' के सम्बन्ध में चर्चा करें—**'हन्त उद्गीथे कथां वदामः इति ॥१॥**

बहुत ठीक, यह कह कर वे एक-साथ बैठ गये—**'तथा इति ह समुपविविशुः'**। सबसे पहले जीवल का पुत्र प्रवाहण बोला—**'सः ह प्रवाहणः जैविलः उवाच'**, आप दोनों पहले बोलें—**'भगवन्तौ अग्रे वदताम्'**, आप ब्रह्म-ज्ञानियों की चर्चा करती हुई वाणी को—**'ब्राह्मण्योः वदतोः वाचम्'**, मैं सुनूंगा—**'श्रोष्यामि इति'** ॥२॥

अब चर्चा करने के लिये दो रह गये—शिलक तथा दाल्भ्य। शालावत्य शिलक ने—**'सः ह शिलकः शालावत्यः'**, चैकितायन दाल्भ्य को कहा—**'चैकितायनं दाल्भ्यं उवाच'**, क्यों भाई दाल्भ्य, पहले मैं तुझ से पूछूं—**'हन्त त्वा पृच्छानि इति'**? दाल्भ्य ने उत्तर दिया, पूछो भाई—**'पृच्छ इति ह उवाच'** ॥३॥

शिलक ने पूछा—देखो भाई, हम 'उद्गीथ' की चर्चा कर रहे हैं। 'उद्गीथ' का गान 'साम-गान' ही है। 'उद्गीथ' साम-गान से उत्पन्न हुआ, तो प्रश्न होता है कि साम-गान कहाँ से उत्पन्न होता है—**'का साम्नः गतिः इति'**? दाल्भ्य ने उत्तर दिया—साम-गान 'स्वर' से

उत्पन्न होता है—**'स्वरः इति ह उवाच'**। फिर शिलक ने पूछा, स्वर कहाँ से उत्पन्न होता है—**'स्वरस्य का गतिः इति'**। दाल्भ्य ने उत्तर दिया, स्वर 'प्राण' से उत्पन्न होता है—**'प्राणः इति ह उवाच'**। फिर शलक ने पूछा, प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है—**'प्राणस्य का गतिः इति'**। दाल्भ्य ने उत्तर दिया, प्राण 'अन्न' से उत्पन्न होता है, अन्न से गतिमान् होता है, अन्न न हो तो प्राण गतिहीन हो जाता है—**'अन्नं इति ह उवाच'**। फिर शलक ने पूछा, अन्न कहाँ से उत्पन्न होता है—**'अन्नस्य का गतिः इति'**। दाल्भ्य ने उत्तर दिया, अन्न उत्पन्न होता है 'जल' से, जल मिले तभी तो वनस्पति फूलती-फलती है—**'आपः इति ह उवाच'** ।।४।।

फिर शलक ने पूछा, जल कहाँ से उत्पन्न होते हैं—**'अपाम् का गतिः इति'**। दाल्भ्य ने उत्तर दिया, जल उस ऊपर के लोक से, अर्थात् 'अन्तरिक्ष' या स्वर्ग-लोक से आते हैं—**'असौ लोकः इति ह उवाच'**। शिलक ने पूछा, अन्तरिक्ष या स्वर्ग-लोक में जल कहाँ से आते हैं—**'अमुष्य लोकस्य का गतिः इति'**। दाल्भ्य ने उत्तर दिया, अन्तरिक्ष या स्वर्ग-लोक से आगे की बात मत पूछ—**'न स्वर्गं लोकं अतिनयेत् इति ह उवाच'**। क्यों न पूछूं? इसका उत्तर देते हुए दाल्भ्य ने कहा, 'उद्गीथ' अर्थात् साम-गान की उत्पत्ति को ढूंढते-ढूंढते जब स्वर्ग की हमने स्थापना कर ली, उत्तरोत्तर चढ़ते हुए जब हम स्वर्ग तक जा पहुँचे, तब फिर आगे कहाँ जाना—**'स्वर्गं वयं लोकं साम अभिसंस्थापयामः'** या **'सामभिः संस्थापयामः'**। 'उद्गीथ' या ओंकार के रूप में साम-गान करते हुए जब हम स्वर्ग-लोक में पहुँच गये, तब साम-गान मानो स्वर्ग की स्तुति करना है—**'स्वर्ग-संस्तावं हि साम इति'** ।।५।।

शिलक ने दाल्भ्य का यह उत्तर सुनकर उसे कहा—**'तं ह शिलकः शालावत्यः चैकितायनं दाल्भ्यं उवाच'**, कि हे दाल्भ्य! साम-गान द्वारा 'उद्गीथ' की उत्पत्ति को ढूंढते हुए स्वर्ग तक जाकर वहाँ ठहर जाने से तुम्हारे ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं होगी—**'अप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम'**। जो-कोई यहाँ इस समय आकर यही बात पूछे और तू अगर यही उत्तर दे जो मुझे दिया है—**'यः तु एतर्हि ब्रूयात्'**, तो तेरा सिर लज्जा से नीचे हो जायगा—**'मूर्धा ते विपतिष्यति इति'**, सिर नीचा हो जायगा—**'मूर्धा ते विपतेत् इति** ।।६।।

शिलक की बात सुनकर दाल्भ्य ने कहा—तो भाई, मैं आप से जानना चाहूँगा कि 'उद्गीथ' की उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त करते-करते स्वर्ग तक तो जा पहुँचे, परन्तु स्वर्ग से आगे कहाँ जा सकते हैं—**'हन्त, अहम् एतद् भवतः वेदानि इति'**। शिलक ने उत्तर दिया, हाँ ठीक है, पूछो मुझ से—**'विद्धि इति ह उवाच'**। यह सुनकर दाल्भ्य ने पूछा कि अन्तरिक्ष या स्वर्ग-लोक तक पहुंच कर 'उद्गीथ' की उत्पत्ति को ढूँढते-ढूँढते स्वर्ग-लोक से आगे कहाँ पहुंचते हैं—**'अमुष्य लोकस्य का गतिः इति'**। शिलक ने उत्तर दिया, स्वर्ग-लोक तक पहुंच कर फिर इस लोक में ही आ उतरते हैं—**'अयं लोकः इति ह उवाच'**। अब दाल्भ्य ने पूछा, इस लोक में तो आ पहुंचे, परन्तु इस लोक से आगे उद्गीथ की गति कहाँ तक है—**'अस्य लोकस्य का गतिः इति'**। शिलक कहने लगे, इस लोक तक पहुंच कर यहीं ठहर जाना उचित है, आगे की बात करना ठीक नहीं—**'न प्रतिष्ठां लोकं अतिनयेत् इति ह उवाच'**। साम-गान द्वारा उद्गीथोपासना करते हुए हम इस लोक तक ही प्रतिष्ठित हो सकते हैं—**'प्रतिष्ठां वयं लोकं साम अभिसंस्थापयामः'**; जो-कुछ प्रतिष्ठित होकर स्तुत्य है—**'प्रतिष्ठा संस्तावम्,'** उसकी स्तुति करना ही साम-गान है—**'हि साम इति'** ॥७॥

शिलक और दाल्भ्य की आपसी चर्चा सुनकर और यह देखकर कि शिलक साम-गान द्वारा उद्गीथोपासना—ओंकारोपासना—में इस लोक तक आकर ठहर गया, प्रवाहण जैवलि ने शिलक को कहा—**'तं ह प्रवाहणः जैवलिः उवाच'**। क्या कहा ? यह कहा कि हे शिलक शालावत्य, तू उद्गीथोपासना के सम्बन्ध में जो-कुछ कह रहा है उसका अभिप्राय तो यह है कि साम-गान में इस लोक तक आकर इस साम-गान की प्रक्रिया का अन्त हो जाता है—**'अन्तवद् वै किल ते शाकल्य साम'**। अगर तू ऐसा कहेगा कि उद्गीथोपासना के रूप में साम-गान की प्रक्रिया का यहाँ अन्त हो जाता है—**'यः तु एतर्हि ब्रूयात्'**, तो तेरा मस्तक लज्जा से झुक जायगा—**'मूर्धा ते विपतिष्यति इति'**। ऐसा सुनकर शिलक ने जैविल से कहा, ए भगवन्, आप से मैं जानना चाहूँगा कि साम-गान की प्रक्रिया में इस लोक तक पहुँच कर आगे कहाँ तक गति हो सकती है—**'हन्त अहम् एतद् भगवतः वेदानि इति'**। जैविल ने कहा—जानना चाहते हो तो सुनो—**'विद्धि इति ह उवाच'** ॥८॥

प्रथम प्रपाठक (नवां खण्ड)

शिलक ने जैवलि से पूछा—इस लोक तक पहुँच कर आगे कहाँ तक गति हो सकती है—**'अस्य लोकस्य का गतिः इति'**। जैवलि ने उत्तर दिया—इस लोक की गति आकाश तक है—**'आकाशः इति ह उवाच'**। संसार के सब पदार्थ—**'सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि'**, आकाश से ही उत्पन्न होते हैं—**'आकाशात् एव समुत्पद्यन्ते'**, आकाश में ही अस्त हो जाते हैं—**'आकाशं प्रति अस्तं यन्ति'**, क्योंकि सब भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं, आकाश में अस्त हो जाते हैं, इसलिये आकाश इन सबसे बड़ा है, ज्येष्ठ है—**'आकाशः हि एभ्यः ज्यायान्'**, आकाश परम-धाम है—वह स्थान है जहाँ सब की अन्तिम गति—अयन—है—**'आकाशः परायणम्'**।१।

जैसे साम-गान की गति का क्रम बतलाते हुए कहा कि साम का क्रम, इसकी गति 'स्वर', 'प्राण', 'अन्न', 'जल', 'द्यु-लोक' (स्वर्ग-लोक), 'भू-लोक' (अयं लोक), 'आकाश-लोक'—यह है, और आकाश-लोक परायण है, यह अन्तिम गति है, वैसे यह जो 'उद्गीथ' है—**'सः यः परोवरीयान् उद्गीथः'**, वह आकाश की तरह अनन्त है—**'सः एषः अनन्तः'**, उस व्यक्ति का जीवन सब से बढ़-चढ़ कर हो जाता है—**'परोवरीयः ह अस्य भवति'**—और वह सब इन बढ़े-चढ़े स्थानों को जीत लेता है—**'परोवरीयसः ह लोकान् जयति'**—जो उद्गीथ या ओंकार की आकाश सदृश अनन्तता तथा श्रेष्ठता को जानता हुआ—**'यः एतद् एवं विद्वान् परोवरीयांसम् उद्गीथं'**—उसकी उपासना करता है—**'उपास्ते'**।२।

उद्गीथ या ओंकारोपासना के सम्बन्ध में शिलक, दाल्भ्य तथा जैवलि की इस चर्चा को अतिधन्वा शौनक ने अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को सुनाया और उसे कहा कि जब तक तेरे वंश में उद्गीथोपासना का ज्ञान रहेगा तबतक इस लोक में उसका श्रेष्ठ जीवन बना रहेगा और उस लोक में भी सम्मान होगा। जो व्यक्ति इस प्रकार 'उद्गीथ' या ओंकार को जान कर—**'सः यः एतत् एवं विद्वान्'**—उसकी उपासना करता है—**'उपास्ते'**, उसका जीवन इस लोक में सबसे बढ़-चढ़ कर हो जाता है—**'परोवरीयः एव ह अस्य अस्मिन लोके जीवनं भवति'**, तथा परलोक में भी—**'अमुष्मिन् लोके'**, उसका श्रेष्ठ स्थान

हो जाता है—**'लोकः इति'**। दोनों लोकों में उसका श्रेष्ठ स्थान बन जाता है—**'लोके लोकः इति'**। ३,४।

प्रथम प्रपाठक के ८वें तथा ६वें खंड में शिलक, दाल्भ्य तथा जैवलि की 'साम' तथा 'उद्गीथ' के सम्बन्ध में जो वार्ता है वह 'उद्गीथ' का महत्व प्रतिपादन करने के लिये है। इस प्रकार चर्चा करना उपनिषत्कारों की अपनी शैलि है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि 'स्वर', 'प्राण', 'अन्न', 'जल', 'द्यु-लोक', 'भू-लोक', 'अन्तरिक्ष-लोक' का जो सिलसिला कहा गया है उसका कोई विशेष महत्व है। उपनिषत्कार का कहने का अभिप्राय इतना ही है कि ओंकार, भू-लोक, द्यु-लोक, अन्तरिक्ष-लोक—सर्वत्र व्याप रहा है, इसलिये ओंकारोपासना सदा करनी चाहिये—महत्व ओंकारोपासना का है, बाकी सब बातें उस उपासना का महत्व बढ़ाने के लिये कही गई हैं।

प्रथम प्रपाठक (दसवें से तेरहवें खण्ड तक)

[उषस्ति चाक्रायण की कथा]

दस तथा ग्यारह—इन दो खंडों में उषस्ति चाक्रायण की कथा कही गई है। कहते हैं कि किसी समय कुरु-देश में ओलों से सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। उस समय कुरु-देश में एक ग्राम था जिसमें हाथीवान रहते थे। इस ग्राम में एक निर्धन ऋषि उषस्ति चाक्रायण अपनी पत्नी के साथ जाकर रहने लगे। वे भूख से इतने व्याकुल थे कि एक हाथीवान से, जो गले-सड़े उड़द खा रहा था, भिक्षा मांगने लगे। उड़द जूठे थे, परन्तु जूठे उड़द लेकर भी वे खा गये, और जो-कुछ बचे थे वे अपनी पत्नी को लाकर दे दिये। पत्नी पहले ही भिक्षा मांग कर खा चुकी थी इसलिये उसने इन जूठे उड़दों को अगले दिन के लिये संभाल कर रख दिया।

भूख के कारण ऋषि इतने शिथिल हो चुके थे कि अगले दिन फिर इन जूठे उड़दों को खा कर कुछ संभले और आजीविका की तलाश में चल दिये। एक राजा यज्ञ रचा रहे थे। यज्ञ में प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता सब अपने-अपने काम में जुटे थे, ये ऋषि भी उनके निकट जा बैठे। इन्होंने देख लिया कि जो लोग जिस यज्ञ-कार्य में लगे हुए हैं वे अपने उस कार्य से अनभिज्ञ हैं। ऋषि ने इन लोगों से ऐसे प्रश्न करने

शुरू किये जिनका ये लोग कुछ उत्तर न दे सके। राजा ने यह दृश्य देखकर पूछा—भगवन् ! आप कौन हैं, अपना परिचय तो दें। ऋषि ने कहा—मैं उषस्ति चाक्रायण हूँ। राजा ने कहा—मैंने आपका नाम बहुत सुना था, आपको ढूँढवाया भी, परन्तु आपका कहीं पता नहीं चला, तब मैंने इन लोगों को चुन लिया। इन ऋत्विजों के साथ आप मेरे मुख्य ऋत्विज् बन कर इस यज्ञ का सम्पादन करें। उषस्ति ऋषि ने कहा—बहुत अच्छा, परन्तु जिन ऋत्विजों को तुमने पहले वरण किया हुआ है, वे ही मेरी देख-रेख में यज्ञ करायेंगे और साथ ही जितनी दक्षिणा उन्हें देने का तय हुआ है मैं भी उतनी ही दक्षिणा लूँगा, उससे अधिक नहीं। राजा ने कहा—तथास्तु।

ऋषि की इस उदारता को देखकर जो ऋत्विज् पहले-से नियुक्त थे वे नम्र-भाव से उषस्ति के पास आकर अपनी-अपनी कमी पूछने लगे। ऋषि ने सबकी कमी को उन्हें बतलाया और उनका सन्तोष कर दिया।

इस सारे कथानक का यही अभिप्राय है कि निर्धन व्यक्ति भी कितना महान् हो सकता है, गुदड़ी में लाल छिपा हो सकता है। उषस्ति ऋषि समय की मार खाकर इतने निर्धन हो गये थे कि उन्हें भिक्षा मांग कर जीवन निर्वाह करना पड़ा, वह भी जूठा खाकर, परन्तु मेधा में वे इतने महान् थे कि राजा भी उनकी खोज में था। जब उन्हें राजा के यज्ञ का प्रधान ऋत्विज् बनाया तब उन्होंने उतनी ही दक्षिणा स्वीकार की जितनी उनके नीचे काम करने वाले याज्ञिकों को दी गई। विद्वत्ता के साथ उन्मत्तता, अभिमान का आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु यथार्थ-विद्या वह है जहाँ विद्या के साथ विनय की पुट मौजूद हो—**'सा विद्या या विमुक्तये'**।

प्रथम प्रपाठक के १२वें तथा १३वें खंड में उद्गीथोपासना को सृष्टि में सर्वत्र हो रहे सृष्टि-नाद के रूप में दर्शाया गया है। उपनिषत्कार का कथन है कि मनुष्य तो उद्गीथोपासना करता ही है, पशु-जगत् में भी उद्गीथोपासना हो रही है। उदाहरण के तौर पर बारहवें तथा तेरहवें खंड में **'शौव-उद्गीथ'** का वर्णन है। 'श्वा' का अर्थ है—कुत्ता। आख्यायिका के तौर पर कहा है कि एक बार एक विद्यार्थी स्वाध्याय के लिये एकान्त स्थान में जा बैठा। क्या देखता है कि एक सफ़ेद कुत्ता उसके सामने आया। दूसरे कुत्ते उस सफ़ेद कुत्ते के समीप

आकर कहने लगे—कुछ गान सुनाइये। सफ़ेद कुत्ते ने कहा, ठीक है, कल आना। अगले दिन उस विद्यार्थी ने क्या देखा कि जैसे यज्ञ में उद्‌गाता लोग एकत्र बैठ कर उद्‌गीथोपासना करते हुए उच्च-ध्वनि से गान करते हैं, वैसे वे सब कुत्ते एक जगह बैठकर 'हिंकार'-ध्वनि करने लगे, मानो उद्‌गीथ-गान कर रहे हों। कुत्तों की एक ही ध्वनि निकल रही थी, मानो सब मिलकर कह रहे हों कि ओंकार की कृपा से ही हम सब खाते हैं, ओंकार की कृपा से ही हम सब पीते हैं, ओंकार की कृपा से ही हम सब जीते हैं। साम-गान में जैसे 'हाउ'—'हाई'—'ओं होहाई'—इत्यादि अक्षरों से ध्वनि की जाती है, वैसे कुत्ते भी 'हिंकार'-ध्वनि कर रहे थे, मानो साम-गान कर रहे हों।

कुत्तों के **'हिंकार-गान'** की साम-गान के **'उद्‌गीथ-गान'** से तुलना करना अटपटा-सा लगता है, परन्तु इसे दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक दृष्टि मज़ाक की है—कुत्ते प्रायः एक-साथ सिर ऊँचा करके चिल्लाया करते हैं जिसे देखकर किसी मनचले विद्यार्थी ने कह दिया—देखो, ये साम-गान कर रहे हैं। दूसरी दृष्टि गहन-दृष्टि है जिसमें हम सृष्टि की प्रत्येक ध्वनि में उद्‌गीथोपासना के ही दर्शन करते हैं। इसी प्रपाठक के नवें खंड में जैवलि ने सम्पूर्ण आकाश-मंडल को 'उद्‌गीथ' से ओत-प्रोत कहा है—उस दृष्टि से भी **'शौव-उद्‌गीथ'** को समझा जा सकता है।

द्वितीय प्रपाठक (प्रथम खंड)

[सम्पूर्ण सृष्टि में साम-गान हो रहा है]

अभी कहा गया कि उपनिषत्कार की दृष्टि में सर्वत्र साम-गान हो रहा है। सृष्टि को हम जिस दृष्टि से देखना चाहें उस दृष्टि से देख सकते हैं। सायंकाल की सूर्य की लालिमा को देख कर एक योद्धा आकाश में रुधिर-ही-रुधिर की कल्पना कर सकता है, एक संन्यासी सर्वत्र भगवे ही रंग को सर्वत्र देख सकता है। उपनिषद् का ऋषि साम-गान द्वारा 'उद्‌गीथ' की, ओंकार की उपासना कर रहा है, इस लिये वह कुत्तों तक की ध्वनि में 'उद्‌गीथ' की, ओंकार की कल्पना कर रहा है।

प्रथम प्रपाठक में, साम-गान के मुख्य-विषय, 'उद्गीथ' की उपासना का वर्णन किया, द्वितीय प्रपाठक में साम-गान के सब अंगों को ध्यान में रखते हुए सृष्टि की हर वस्तु में ऋषि साम-गान होता हुआ देख रहा है, सुन रहा है। यह कल्पना का जगत् है, ऋषि साम-गान में डूबा हुआ है, इसलिये उसे हर जगह साम-गान ही सुनाई पड़ता है।

साम-गान को ५ हिस्सों में बांटा जाता है—१. हिंकार २. प्रस्ताव, ३. उद्गीथ, ४. प्रतिहार, तथा ५. निधन। किसी वस्तु को प्रारम्भ करने के विचार को **'हिंकारावस्था'** कहा जाता है, उसे प्रारम्भ कर देने को **'प्रस्तावावस्था'** कहा जाता है, प्रारम्भ कर देने के बाद उच्च-शिखर पर पहुँच जाने को **'उद्गीथावस्था'** कहा जाता है, शिखर पर पहुँच कर नीचे उतरने को उस वस्तु की **'प्रतिहारावस्था'** कहा जाता है, और समाप्ति पर आ जाने को **'निधनावस्था'** कहा जाता है। क्योंकि इस उपनिषद् का ऋषि सृष्टि की हर वस्तु में साम-गान होता हुआ देख रहा है, इसलिये हर वस्तु में साम-गान की इन पाँचों प्रक्रियाओं की कल्पना कर रहा है। गाने में भी क्या होता है? पहले गायक गला साफ़ करता है—यह **'हिंकार'** की अवस्था है, फिर वह गाना प्रारम्भ करता है—यह **'प्रस्ताव'** की अवस्था है, फिर गाते हुए उच्च-स्वर पर पहुँच जाता है—यह **'उद्गीथ'** की अवस्था है, फिर धीमे स्वर में उतरता है—यह **'प्रतिहार'** की अवस्था है, फिर गाने की समाप्ति पर आ जाता है—यह **'निधन'** की अवस्था है। ऋषि का कहना है कि साम-गान के ये पाँचों क्रम संसार की हर वस्तु में पाये जाते हैं, अतः सम्पूर्ण सृष्टि साम-गान में मग्न है—सृष्टि के कोने-कोने से, कण-कण से साम-गान की ध्वनि उठ रही है।

द्वितीय प्रपाठक (दूसरा खण्ड)

उदाहरणार्थ, उपनिषत्कार कहते हैं—लोकों पर विचार करें तो वहाँ पंच-विध साम-गान हो रहा है—**'लोकेषु पंचविधं साम उपासीत'**। इन लोकों में पृथिवी-लोक हिंकार है—**'पृथिवी हिंकारः'**, अग्नि-लोक प्रस्ताव है—**'अग्निः प्रस्तावः'**, अन्तरिक्ष-लोक उद्गीथ है—**'अन्तरिक्षं उद्गीथः'**, अग्नि-लोक प्रतिहार है—**'अग्निः प्रतिहारः'**, और पृथिवी लोक निधन है—**'पृथिवी निधनम्'** ।२।

द्वितीय प्रपाठक (तीसरे से नौवें खण्ड तक)

संगीत में आरोह तथा अवरोह हुआ करता है। स्वर को पहले नीचे से उठाकर ऊपर ले जाते हैं, फिर ऊपर से नीचे लाते हैं। सा-रे-गा-मा-पा-धा-नी—इस प्रकार नीचे से स्वर ऊँचे ले जाया जाता है, फिर नी-धा-पा-मा-गा-रे-सा—इस प्रकार ऊँचे से नीचे लाया जाता है। उपनिषत्कार ने सृष्टि की हर वस्तु में साम-गान देखने तथा सुनने का प्रयत्न किया है। इसी को पहले पाँच स्वरों में, फिर आगे चल कर सात स्वरों में साम-गान का विभाग किया गया है। पहले जिन पाँच स्वरों में आरोह तथा अवरोह का विभाग किया है उसे 'हिंकार'-'प्रस्ताव'-'उद्गीथ'-'प्रतिहार'-'निधन—ये नाम दिये गये हैं। जिस प्रकार लोकों को पंच-विध साम में विभक्त किया है, उसी प्रकार सृष्टि के वृष्टि, जल, ऋतु, पशु, प्राण—इनको भी उपनिषत्कार ने पंच-विध साम में विभक्त किया है जो इस प्रकार है :

सृष्टि में पंच-विध साम-गान (३ से ७ खण्ड) का प्रथम वर्णन

शीर्षक	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
१. वृष्टि में	शीत-पवन	मेघ	वर्षा	गर्जन	वर्षा-समाप्ति
२. जल में	मेघ-घटा	बरसना	पूर्व से वृष्टि	पश्चिम से वृष्टि	समुद्र
३. ऋतु में	वसंत	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्	हेमन्त
४. पशु-जगत् में	अजा (बकरी)	अवि (भेड़)	गौ	अश्व	पुरुष
५. पंच-प्राण में	प्राण	वाक्	चक्षु	श्रोत्र	मन

ऊपर सृष्टि में जिस पंच-विध साम-गान का उल्लेख किया गया है, उसका सिर्फ़ इतना ही अभिप्राय है कि साम-गायक ने सृष्टि की हर वस्तु में साम-गान की—उद्गीथोपासना की—ओंकारोपासना की—ध्वनि सुनने का प्रयत्न किया है। उसका कहना है कि सृष्टि के कण-कण में—वृष्टि, जल, ऋतु, पशु-जगत्, प्राण में—ओंकार की—उच्च-स्वर से आरोहावरोह के रूप में उपासना हो रही है। हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन के रूप में जो-जो कुछ कहा गया है वह उपनिषत्कार की अपनी ही कल्पना है, उनके आपसी भेद या सम्बन्ध में ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं है।

सृष्टि में सप्त-विध साम-गान (८वां तथा ९वां खंड)

आजकल गान-विद्या में पंचक की जगह सप्तक का प्रयोग पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि छान्दोग्योपनिषद् के समय **पंच-विध** गान का प्रयोग था, परन्तु **सप्त-विध** (सप्तक) का भी प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इसीलिये पहले पंच-विध साम-गान के बाद ८वें तथा ९वें खण्ड में सप्त-विध साम-गान का उल्लेख है, जो इस प्रकार है :

हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन
(हुं), (प्र), (आ), (उत्), (प्रति), (उप), (नि)

पंचक-गान तथा सप्तक-गान में यह भेद है कि सप्तक में आदि (आ) तथा उपद्रव (उप) को और जोड़ दिया गया है, बाकी **हिंकार-प्रस्ताव-उद्गीथ-प्रतिहार-निधन** वैसे-के-वैसे रखे गये हैं।

साम-गायक जैसे सृष्टि की हर वस्तु में **पंच-विध** साम-गान होता हुआ देखता है, वैसे ही **सप्त-विध** गान होता हुआ भी देखता है। जैसे 'वृष्टि', 'जल', 'ऋतु', 'पशु-जगत्', 'पंच-प्राण' में पंच-विध साम-गान होता हुआ दर्शाया जा चुका है, वैसे उदाहरण के लिये 'वाणी' तथा 'सूर्य' में सप्त-विध गान का दृष्टान्त आठवें तथा नवें खण्ड में दिया गया है। वहाँ लिखा है :

अब सप्त-विध (सप्तक) गान की चर्चा करते हैं—**'अथ सप्त-विधस्य'**। वाणी में सप्त-विध साम की उपासना करे—**'वाचि सप्तविधं साम उपासीत'**। वाणी का जो-कुछ—**'यत् किंच वाचः हुँ'**—यह रूप है, वह 'हिंकार' है—**'हुम् इति सः हिंकारः'**, जहाँ वाणी में 'प्र' आता है वह 'प्रस्ताव' है—**'प्र इति सः प्रस्तावः'**, जहाँ 'आ' आता है वह 'आदि' है—**'यत् आ इति सः आदिः'**, जहाँ 'उद्' आता है वह 'उद्गीथ' है—**'यत् उद् इति सः उद्गीथः'**, जहाँ 'प्रति' आता है वह 'प्रतिहार' है—**'यत् प्रति इति सः प्रतिहारः'**, जहाँ 'उप' आता है वह 'उपद्रव' है—**'यत् उप इति सः उपद्रवः'**, जहाँ 'नि' आता है वह 'निधन' है—**'यत् नि इति तत् निधनम्'**।१-२।

आठवें खण्ड में वाणी तथा [illegible]ड में इसी प्रकार सप्त-विध साम-गान की कल्पना करके उसे [illegible] पर घटाया गया है। सूर्य के उदय-अस्त में साम-गान ही हो रहा है, प्रभु का कीर्तन हो रहा है—इस भाव को साम-गायक प्रेम-विभोर होकर व्यक्त कर रहा है।

द्वितीय प्रपाठक (दसवाँ खण्ड)

ऊपर हमने सप्त-विध साम का वर्णन किया। इस खण्ड में सामोपासक अपनी कल्पना को और उत्तेजना देता है। वह कल्पना के जगत् में, सप्त-विध साम को, एक-एक अक्षर में तोड़ कर, उसके २२ अक्षरों से बाईसवें लोक में अपनी गान-विद्या द्वारा उड़ान भरने लगता है। वह कहता है कि सप्त-विध साम-गान में २२ अक्षर हैं—हिं+का+र—ये ३, प्र+स्ता+व—ये ३, आ+दि—ये २, प्र+ति+हा+र—ये ४, उद्+गी+थ—ये ३, उ+प+द्र+व—ये ४, नि+ध+न—ये ३। इस प्रकार ये सब मिलकर २२ अक्षर हुए। इनमें से साम-गान के २१ अक्षरों द्वारा उपासक आदित्य-लोक तक की उड़ान भर लेता है, और २२वें अक्षर के गान से वह आदित्य से भी परे के परम-ज्योति के लोक में पहुंच जाता है—**'द्वाविंशेन परम् आदित्यात् जयति'**। वह परम-ज्योति का लोक दुःख रहित और शोक रहित है—**'तत् नाकं तत् विशोकम्'** ।५।

इस कथन का इतना ही अभिप्राय है कि साम-गान विद्या से ओंकारोपासना में रमा हुआ उपासक सप्तक के एक-एक अक्षर के मधुर गान से ऊपर-ही-ऊपर उठता जाता है, यहाँ तक कि जब वह इन अक्षरों के अन्तिम अक्षर—जो बाईसवाँ अक्षर है—वहाँ पहुंच जाता है, तब ऐसा अनुभव करता है मानो वह दुःख-रहित, शोक-रहित, परम-ज्योति के लोक में पहुंच गया है। गान-विद्या का यह रस सभी गायक अनुभव करते हैं, और जो गान-विद्या के रसिक नहीं हैं, वे भी इस प्रकार के गान को सुनकर रस-विभोर होकर परम-ज्योति में झूमने लगते हैं।

द्वितीय प्रपाठक (ग्यारहवें से बीसवें खण्ड तक)

इस प्रपाठक के ११ से २० खण्ड तक सृष्टि में हो रहे पंच-विध साम-गान का साम-गायक उल्लेख कर रहा है। साम-गान को उसने १० शीर्षकों में विभक्त किया है, और प्रत्येक शीर्षक का हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन—इन पाँच क्रमों में वर्णन किया है। इस प्रकार का संगीत-पंचक ३ से ७ खण्डों में पहले भी दर्शाया गया है। ११ से २० खण्डों में साम-संगीत का जो पंचक वर्णित है वह इस प्रकार है :

सृष्टि में पंच-विध साम-गान (११-२०) का द्वितीय वर्णन (प्रथम वर्णन ३८१ पृष्ठ पर दिया गया है)

शीर्षक	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
१. गायत्र-साम	मन	वाक्	चक्षु	श्रोत्र	प्राण
२. रथन्तर-साम	अरणि-मंथन	धूम्र	अग्नि प्रज्वलन	अंगार	अग्नि-शमन
३. वामदेव-साम	निमन्त्रण	विवाह घोषणा	विवाह	प्रेम-व्यवहार	जीवन का अन्त
४. बृहत्-साम	उदीयमान सूर्य	उदित सूर्य	मध्याह्न	अपराह्न	सूर्यास्त
५. वैरूप-साम	धुन्ध	मेघ	बरसना	विद्युत्	वर्षान्त
६. वैराज-साम	वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा	शरद्	हेमन्त
७. शक्वरी-साम	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौः	दिशाएँ	समुद्र
८. रैवती-साम	अजा (बकरी)	अवि (भेड़)	गौ	अश्व	पुरुष
९. यज्ञायज्ञीय-साम	लोम	त्वचा	मांस	अस्थि	मज्जा
१०. राजन-साम	अग्नि	वायु	आदित्य	नक्षत्र	चन्द्रमा
११. विश्व-साम	ऋक्, यजु, साम	पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः	अग्नि, वायु, आदित्य	नक्षत्र, पक्षी, किरणें	सर्प, गन्धर्व, पितर

साम-गान के उक्त ११ भेदों का क्या अर्थ है—इसका गायन-विद्या को जानने वालों को पता लगाना चाहिये। यह बात गायन-विद्या के खोजियों के लिये अनुसंधान का एक विषय है। इसके साथ ही हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन—साम-गान के इस पंचक तथा पूर्व-वर्णित सप्तक भी अनुसंधान के विषय हैं। इन पंचकों तथा सप्तकों का वर्तमान प्रचलित सा-रे-गा-मा-पा-धा-नी—इस गान-सप्तक से कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य है, यह बात हिंकारादि के आरोह तथा अवरोह से स्पष्ट प्रतीत होती है। गान के स्वर को प्रारम्भ करना, उसे ऊपर उठाना, फिर नीचे उतारना और अन्त में समाप्त करना—यह तो शास्त्रीय-गान-विद्या में पाया ही जाता है। इस स्वर-लहरी को सृष्टि की हर वस्तु में ओत-प्रोत कर देना, उसमें लीन हो जाना, तन्मय हो जाना—इसी को दर्शाने के लिये उपनिषत्कार ने ऊपर के दृष्टान्तों में आरोह और अवरोह को घटा कर दिखाया है। साम-गायक को सृष्टि की हर वस्तु गान के स्वरों में लीन होती हुई अनुभव होती है। उसके लिये सृष्टि संगीतमय हो—यही इस सारे सन्दर्भ का तात्पर्य है।

द्वितीय प्रपाठक (इक्कीसवाँ खण्ड)

हमने साम-गान के इस सारे प्रकरण का यह अर्थ किया है कि साम-गायन करता हुआ उपासक यह समझे कि सम्पूर्ण सृष्टि में साम-गान हो रहा है, सृष्टि में ओंकारोपासना ओत-प्रोत है। हमारा यह भाव द्वितीय प्रपाठक के इक्कीसवें खण्ड के दो नम्बर के वाक्य से पुष्ट हो जाता है। वहाँ उपनिषत्कार कहते हैं : वह व्यक्ति जो साम-गान के संगीत को—**'सः यः एवम् एतत् साम'**, सम्पूर्ण-जगत् में—**'सर्वस्मिन्'**, ओत-प्रोत जान लेता है—**'प्रौतम् वेद'**, वह स्वयं सारा-का-सारा संगीतमय हो जाता है—**'सर्वं ह भवति'** ।२।

चौथे वाक्य में कहा—संसार संगीतमय है, मैं भी इसके साथ ताल-मेल रखता हुआ संगीतमय हूँ—**'सर्वं अस्मि'**, मैं भी संगीतमय हूँ—यह समझकर ओंकारोपासता करे—**'उपासीत'**। यही जीवन का ध्येय है, यही जीवन का ध्येय है—**'तद् व्रतम्', 'तद् व्रतम्'** ।४।

द्वितीय प्रपाठक (बाईसवाँ खण्ड)

बाईसवें ख़ण्ड में जो बातें कही गई हैं उनमें एक बात विशेष महत्व की है। वहाँ २रे सन्दर्भ में साम-गायक कहता है—दिव्य-गुण-युक्त ब्राह्मणों के लिये मैं अमरता की कामना करता हूँ—**'अमृतत्वम् देवेभ्यः आगायानि'**, इस प्रकार वह साम-गान करे—**'इति आगायेत्'**, देश के जो पितर हैं, देश के रक्षक क्षत्रिय उनके लिये यह कामना करें कि क्योंकि उन्होंने दूसरों की रक्षा करनी है इसलिये उनकी स्वयं में रक्षा —स्व-धारणा—बनी रहे—**'स्वधां पितृभ्यः'**, साधारण मनुष्य आशा में जीवित रहते हैं, इसलिये इन साधारण-मनुष्यों, अर्थात् वैश्यों की आशाएँ पूर्ण हों—**'आशां मनुष्येभ्यः'**, पशुओं का जीवन घास-पात तथा जल पर निर्भर करता है इसलिये पशुओं को चारे की कमी न रहे —**'तृणोदकं पशुभ्यः'**। इन सब के प्रति कामनाओं के साथ यजमान के लिये सुखी जीवन की कामना करे—**'स्वर्गं लोकं यजमानाय'**। परन्तु अपने लिये क्या कामना करे ? उपनिषत्कार कहते हैं कि अपने लिये किसी प्रकार की कामना न करे, जितने से उसका शरीर बना रहे उतने मात्र अन्न की अपने लिये कामना करे—**'अन्नम् आत्मने आगायानि'**। ऊपर जिस तरह की दूसरों के लिये कामना की गई है इस प्रकार की कामनाओं का ध्यान करता हुआ—**'इति एतानि मनसा ध्यायन्'**, बिना प्रमाद किये, भगवान् का साम-गान से स्तवन करता रहे—**'अप्रमत्तः स्तुवीत'**।२।

द्वितीय प्रपाठक (तेईसवाँ खण्ड)

छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम तथा द्वितीय प्रपाठकों का मुख्य लक्ष्य ओंकारोपासना है। ऋषि ने सृष्टि के कण-कण में साम-गान होता हुआ देखा है, और सुना है। यह सब जगह हो रहा साम-गान ओंकार की ही उपासना है। इस खण्ड में साम-गान द्वारा ओंकार की उपासना का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं : धर्म तीन आधारों पर टिका हुआ है— **'त्रयः धर्म स्कन्धाः'**। वे तीन आधार हैं—यज्ञ, अध्ययन तथा दान— **'यज्ञः अध्ययनं दानम् इति'**। इनमें से धर्म का जो प्रथम आधार है— अर्थात् 'यज्ञ', उसका अर्थ है 'तप'—**'प्रथमः तपः एव'**। धर्म का जो

दूसरा आधार है—अर्थात् 'अध्ययन', उसका अर्थ है आचार्य के कुल में रहने वाला 'ब्रह्मचारी'—**'द्वितीयः ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी'**। इनमें से धर्म का जो तीसरा आधार है—अर्थात् 'दान', उसका अर्थ है इच्छाओं का क्षय (अवसादन)—**'तृतीयः अत्यन्तम् आत्मानम् आचार्यकुले अवसादयन्'**। यज्ञ (तप), अध्ययन (ब्रह्मचर्य) तथा दान (इच्छाओं का क्षय) —इन तीन से मनुष्य को पुण्य प्राप्त होता है, इस प्रकार का जीवन पुण्य-लोक का जीवन है—**'सर्वे एते पुण्यलोकाः भवन्ति'**। इन तीनों के अलावा जीवन का एक अन्य मार्ग भी है, उसे ब्रह्म में स्थित हो जाना कहा जाता है—**'ब्रह्मसंस्थः'**। जीवन के इस मार्ग पर चलने से मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है—**'अमृतत्वं एति'**।१।

इस खण्ड में कहा है कि यज्ञ, अध्ययन, दान अथवा तप, ब्रह्मचर्य तथा इच्छाओं का अवसाद—इनसे **'पुण्य'** प्राप्त होता है, परन्तु ब्रह्म में स्थित हो जाने से **'अमृतत्व'** प्राप्त होता है। यज्ञादि कर्मों का सम्बन्ध लोक से है, ब्रह्म-स्थिति का सम्बन्ध परलोक से है। परन्तु अगले भाग में ऋषि कहते हैं कि लोक तथा परलोक—इन दोनों का निचोड़ गायत्री-गान का 'भूः भुवः स्वः'—ये तीन व्याहृतियाँ हैं :

प्रजापति ने धर्म के जो तीन स्कन्ध, तीन लोक ऊपर कहे हैं, उन्हें तपाया—**'प्रजापतिः लोकान् अभ्यतपत्'**। किसी वस्तु को तपाने से जैसे उसका सार चू पड़ता हैं वैसे इन लोकों का सार-भूत त्रयी-विद्या चू पड़ी—**'तेभ्यः अभितप्तेभ्यः त्रयीविद्या संप्रास्रवत्'**। फिर उसने त्रयीविद्या को तपाया—**'ताम् अभ्यतपत्'**, उसके तपने से—**'तस्याः अभितप्तायाः'**, ये अविनाशी अक्षर—चू पड़े—**'एतानि अक्षराणि संप्रास्रवन्त'**। कौन-से अक्षर ? 'भूः', 'भुवः', 'स्वः'—ये अक्षर—**'भूः भुवः स्वः इति**।२।

'भूः भुवः स्वः'—ये तीन व्याहृतियाँ गायत्री मन्त्र की निचोड़ हैं, यह कहने के बाद उपनिषत्कार कहते हैं कि इन तीनों को भी तपाया—**'तानि अभ्यतपत्'**। उनके तपने पर—**'ताभ्यः अभितप्तेभ्यः'**, उनसे 'ओंकार' चू पड़ा—**'ओंकारः संप्रास्रवत्'**। वह जैसे वृक्ष के डंठल से—**'तत् यथा शंकुनाः'**, सब पत्ते संलग्न रहते हैं—**'सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि'**, इसी प्रकार 'ओंकार' से—**'एवं ओंकारेण'**—सारा वाङ्मय संलग्न है—**'सर्वा वाक् संतृण्णा'**। यह सब-कुछ 'ओंकार' ही है—

'ओंकारः एव इदं सर्वं', यह सब-कुछ 'ओंकार' ही है—**'ओंकारः एव इदं सर्वम्'** ।३।

द्वितीय प्रपाठक (चौबीसवाँ खण्ड)

इस खण्ड में 'वसु'—'रुद्र'—'आदित्य'—इन शब्दों का उल्लेख है। 'वसु' उस ब्रह्मचारी को कहते हैं जो २४ वर्ष तक जीवन को यज्ञ मान कर तपस्या का जीवन व्यतीत करता है—यह जीवन **'प्रातः सवन'** कहाता है; 'रुद्र' उस ब्रह्मचारी को कहते हैं जो ३६ वर्ष तक जीवन को यज्ञ मान कर तपस्या का जीवन व्यतीत करता है—यह जीवन **'माध्यन्दिन-सवन'** कहाता है; 'आदित्य' उस ब्रह्मचारी को कहते हैं जो आजीवन ब्रह्मचारी रहता है—यह जीवन **तृतीय-सवन** कहाता है। यज्ञ का यजमान अपने जीवन को यज्ञ मान कर 'वसु'—'रुद्र'—'आदित्य' ब्रह्मचारियों के समान उसे ढाले—यही-कुछ इस खण्ड में भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है। इस खण्ड पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

तृतीय प्रपाठक (पहले से पाँचवें खण्ड तक)

[ब्रह्मचारी आदित्य के समान तेजस्वी तथा मधुर हो]

जैसा ऊपर हमने देखा, द्वितीय प्रपाठक के अन्त में उपनिषद् ने आदित्य ब्रह्मचारी का वर्णन किया है। उपनिषत्कारों की स्थापना है कि जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है, जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में है। पिंड में जिस आदित्य ब्रह्मचारी की कल्पना की गई, ब्रह्मांड में वह आदित्य ब्रह्मचारी सूर्य है। ब्रह्मचारी तेजस्वी होता है, परन्तु तेजस्विता के साथ मधुरता होना आवश्यक है, अन्यथा तेजस्विता कड़वाहट उत्पन्न कर देती है। सृष्टि में आदित्य तेजस्विता का प्रतिनिधि है, परन्तु उसमें कड़वाहट नहीं, मधुरता है—**'ओ३म् असौ वा आदित्यः देवमधुः**। कहने का अभिप्राय यह है कि पिंड की दृष्टि से ब्रह्मचारी को आदित्य की तरह तेजस्वी होना चाहिये, परन्तु कठोर नहीं होना चाहिये क्योंकि सूर्य यद्यपि तेजस्वी है, परन्तु तेजस्विता के साथ सब के लिये भला करता है, सब के लिये मधु है। सूर्य की मधु से तुलना करते हुए यहाँ

कहा है कि जैसे मधु का छत्ता तिरछे बाँस से लटका होता है, वैसे सूर्य-रूपी मधु का छत्ता द्यु-लोक के तिरछे बाँस के सहारे लटक रहा है—**'तस्य द्यौः एव तिरश्चीनः वंशः'**; जैसे मधु-मक्खियों के छत्ते में मधु भरा होता है, इसी तरह अन्तरिक्ष रूपी छत्ते में सूर्य रूपी मधु भरा हुआ है—**'अन्तरिक्षं अपूपः'**; जैसे छत्ते में मधु-मक्खियों के बच्चे चारों तरफ़ फैल रहे होते हैं, वैसे सूर्य की किरण रूपी बच्चे सब जगह फैल रहे हैं——**'मरीचयः पुत्राः'**। यह तृतीय प्रपाठक के प्रथम खंड की प्रथम उक्ति है।

दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवें खण्ड में सूर्य की मधु से तुलना करते हुए आगे के वाक्यों में सूर्य की पूर्व-दिशा की किरणों की मधु-मक्खी के छत्ते के पूर्व-भाग से, दक्षिण-दिशा की किरणों की मधु-मक्खी के छत्ते के दक्षिण-भाग से, पश्चिम-दिशा की किरणों की मधु-मक्खी के छत्ते के दक्षिण-भाग से, उत्तर-दिशा की किरणों की मधु-मक्खी के छत्ते के उत्तर-भाग से, ऊपर की किरणों की मधु-मक्खी के छत्ते के ऊपर के भाग से तुलना की गई है। इन खण्डों में ब्रह्मचारी को आदित्य के सदृश होने की प्रेरणा दी गई है, और आदित्य के तेजस्वी होते हुए भी उसकी मधु से तुलना की गई है जिसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचर्य की पूर्णता आदित्य ब्रह्मचारी होने में है, और आदित्य ब्रह्मचर्य की पूर्णता आदित्य की तेजस्विता के साथ-साथ मधु सदृश मिठास में है।

द्वितीय प्रपाठक के तेईसवें खण्ड में उपनिषत्कार ने कहा था कि लोक तथा परलोक—इन दोनों को तपाने से इनका निचोड़ गायत्री-गान की **'भूः'**, **'भुवः'**, **'स्वः'**—ये तीन व्याहृतियाँ चू पड़ीं, और इनको तपाने से इनका भी निचोड़ 'ओंकार' है। तृतीय, प्रपाठक के पाँचवें खण्ड में आदित्य तथा अमृत का वर्णन है। यह अमृत आदित्य-ब्रह्मचारी को ओंकारोपासना से प्राप्त होता है। जो अमृत उसे प्राप्त होता है वह है यश, तेज, ऐश्वर्य तथा वीर्य—**'यशः तेजः इन्द्रियं वीर्यम्'**। यह सब प्राप्त होता है रसों-के-रस वेद से, वेद के ज्ञान से—**'ते वा एते रसानां रसाः वेदाः'**। जब वेद-रस उसे प्राप्त हो जाता है तब ब्रह्मचारी लोग इतने तृप्त हो जाते हैं कि वे न खाते हैं—**'न वै देवाः अश्नन्ति'**, न पीते हैं—**'न पिबन्ति'**, अमृतमय भगवान् के दर्शन से ही—**'एतत् एव अमृतं दृष्ट्वा'**, वे तृप्त रहते हैं—**'तृप्यन्ति'**॥ तृतीय प्रपाठक के पहले से पाँचवें खण्ड के अन्त तथा छठे खंड के प्रथम वाक्य तक॥

तृतीय प्रपाठक (छटे से ग्यारहवें खण्ड तक)

इस प्रकरण में छटे खण्ड में **वसु**-ब्रह्मचारी को **'अग्नि-मुख'**, सातवें खण्ड में **रुद्र**-ब्रह्मचारी को **'इन्द्र-मुख'**, आठवें खण्ड में **आदित्य**-ब्रह्मचारी को **'वरुण-मुख'**, नवें खण्ड में **आजीवन**-ब्रह्मचारी को **'सोम-मुख'**, दसवें खण्ड में ब्रह्म-सदृश **साध्य**-ब्रह्मचारी को **'ब्रह्म-मुख'** कहा गया है, और इन सबके विषय में यह कहा है कि अपने लक्ष्य में ये इतने तल्लीन हो जाते हैं कि न इन्हें खाने की सुध रहती है—**'न वै देवा: अश्नन्ति,** न पीने की सुध रहती है—**'न पिबन्ति'**, इसी अमृत को देखते-देखते—**'एतत् एव अमृतं दृष्ट्वा'**। इनकी तृप्ति होती रहती है—**'तृप्यन्ति'**।। ६ से ११ खण्ड तक ।।

तृतीय प्रपाठक के उक्त ६, ७, ८, ६, १०, ११ खण्डों में आध्यात्मिक-विकास के जिस क्रम का वर्णन दिया गया है उसे समझाने के लिये हम निम्न चित्र दे रहे हैं। इसे उपनिषत्कार के तृतीय प्रपाठक के ११वें खण्ड की ३री उक्ति में **'ब्रह्मोपनिषद्'** कहा है। इस चित्र की व्याख्या आगे दी जायेगी।

आध्यात्मिक-विकास के क्रम का चित्र (छटे से ग्यारहवें खण्ड तक)

विकास का क्रम	विकास की दिशा	विकास से अमृत-प्राप्ति
१. वसु-देव	अग्नि-मुख	यश प्राप्ति (प्रथम अमृत)
२. रुद्र-देव	इन्द्र-मुख	तेज प्राप्ति (द्वितीय अमृत)
३. आदित्य-देव	वरुण-मुख	ऐश्वर्य प्राप्ति (तृतीय अमृत)
४. मरुत्-देव	सौम्य-मुख	शक्ति प्राप्ति (चतुर्थ अमृत)
५. साध्य-देव	ब्रह्म-मुख (सत्य-ब्रह्म)	अन्न-प्राप्ति (पंचम अमृत)

तृतीय प्रपाठक (प्रयाणान्तर्गत ब्रह्मोपनिषद् की व्याख्या)

जो व्यक्ति आध्यात्मिक-जीवन का संकल्प करता है, वह 'देव' कहलाता है। जो आध्यात्मिक-जीवन को प्रारम्भ कर देता है उसे उपनिषद् ने 'वसु' कहा है। 'वसु', अर्थात् जो संसार में वास करे। जीवन का चरम-लक्ष्य 'साध्य'-कोटि में पहुँचना है जो इस क्रम में पाँचवाँ

कदम है। 'वसु' को अग्नि-मुख कहा है, 'साध्य' को ब्रह्म-मुख कहा है। अग्नि-मुख से देवों का जीवन प्रारम्भ होता है, ब्रह्म-मुख में जीवन समाप्त होता है। अग्नि को साधन बना कर खाना-पीना, सांसारिक-जीवन बिताना—यह आध्यात्मिक-जीवन का प्रारम्भ है, परन्तु संसार को भोगने में ही न लगे रहना, भोगने के बाद उसे त्याग देना, अग्नि से हट कर ब्रह्म की तरफ़ मुख कर लेना—'अग्नि-मुख' से 'ब्रह्म-मुख' हो जाना—यह आध्यात्मिक-जीवन का अन्त है, लक्ष्य है। पहले को 'वसु' कहा, संसार में बसना; अन्तिम को 'साध्य' कहा, इसे जीवन में सिद्ध करना। 'वसु' को यश रूपी अमृत प्राप्त होता है, 'साध्य' को अन्न रूपी अमृत प्राप्त होता है। अन्न का अर्थ यहाँ अनाज नहीं है, अन्न का अर्थ है—**'अद्यते अत्ति वा इति अन्नम्'**—जो खाया जाता है या जो सब-कुछ खा जाता है, वह अन्न है। हम संसारी जीवों को अन्न खा रहा है, हम संसार का भोग नहीं कर रहे, संसार से भोगे जा रहे हैं, संसार हम पर हावी है, हम पर चढ़ा हुआ है; जो संसार पर चढ़ जाता है, संसार जिसका सेवक हो जाता है—उस स्थिति को प्राप्त करना उपनिषत्कार की परिभाषा में साध्य-स्थिति है, और उस स्थिति में अन्न रूपी पंचम अमृत की प्राप्ति होती है, अर्थात् उस स्थिति में उपासक संसार का स्वामी बन जाता है, वह संसार के प्रति मुख न कर ब्रह्म के प्रति मुख कर लेता है, ब्रह्म-मुख हो जाता है, वह अन्नाद हो जाता है। जीवन का लक्ष्य वसु-देव से साध्य-देव होना, अग्नि-मुख से ब्रह्म-मुख होना है। 'ब्रह्म-मुख' अवस्था तक पहुंचना, संसार मात्र को अन्न समझ लेना है, संसार का स्वामी बन जाना है—यही जीवन का साध्य है, लक्ष्य है।

'अग्नि-मुख' तथा 'ब्रह्म-मुख'—ये दोनों आध्यात्मिक-विकास के जीवन की आदि तथा अन्त की अवस्थाएँ हैं, इनके बीच की तीन अवस्थाएँ और हैं—'रुद्र', 'आदित्य' तथा 'मरुत्'। इन तीनों के महत्व को भी समझ लेना चाहिये।

आध्यात्मिक-विकास में इन तीनों का क्रमिक-स्थान क्या है? असल में, भौतिक-संसार में दो तत्त्व हैं—'उष्णता' तथा 'शीतलता'। मानसिक-जगत् में उष्णता को क्रोध, ईर्ष्या, भय कह सकते हैं; शीतलता को प्रेम, सहानुभूति, सहृदयता कह सकते हैं। हमने देखा कि 'वसु' जो 'अग्नि-मुख' था, उसे यश रूपी अमृत की प्राप्ति होना कहा गया है, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि यश की प्राप्ति के साथ तेज रूपी अमृत

की भी प्राप्ति हो। जिसे यश प्राप्त होता है लोग उससे ईर्ष्या करने लगते हैं, उसके प्रति उनमें क्रोध उत्पन्न होता है, अगर वह शक्तिशाली है तो वे उससे भयभीत भी होने लगते हैं। परन्तु 'वसु' के बाद आध्यात्मिक-विकास में जब मनुष्य 'रुद्र' बनता है, तब उसे 'इन्द्र-मुख' कहा है। 'वसु' तो संसार में ही रमा रहता था, उसे भोगता था, 'रुद्र' की स्थिति में आने पर वह संसार को त्यागने भी लगता है। जो त्यागना जान जाता है उसे 'वसु' का 'यश' ही नहीं प्राप्त होता, उसे 'तेज' भी प्राप्त होता है, उसके 'यश' के साथ उसका 'तेज' भी चारों तरफ़ फैल जाता है। परन्तु किसी के तेज को भी देखकर लोगों में ईर्ष्या, जलन पैदा हो जाती है। इसलिये 'रुद्र' के बाद आध्यात्मिक-विकास में जब मनुष्य 'आदित्य' बनता है, तब उसका तेज तीखा नहीं रहता, वह 'ऐश्वर्य' बन जाता है और वह 'वरुण-मुख' हो जाता है, लोग उसके ऐश्वर्य को देखकर उसे वरने लगते हैं, उसके साथ निकटता प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु फिर भी नज़दीकी में भी दूरी अनुभव करते हैं।

वसु-रुद्र-आदित्य—इन तीनों अवस्थाओं में उष्णता कुछ-न-कुछ बनी रहती है, ईर्ष्या, क्रोध, भय का थोड़ा-थोड़ा स्थान रहता है, परन्तु इन तीनों के बाद आध्यात्मिक-विकास में चौथी अवस्था आती है जिसमें उष्णता का स्थान शीतलता, ईर्ष्या आदि का स्थान प्रेम ले लेता है। इस अवस्था को उपनिषत्कार ने 'मरुत्' कहा है, इसमें वह 'सोम-मुख' हो जाता है, 'सोम'—अर्थात् सौम्यता, शान्ति की तरफ़ उसका मुख हो जाता है, तब वह 'शक्ति' रूपी अमृत का सेवन करता है।

'वसु', 'रुद्र', 'आदित्य', 'मरुत्'—इन चार के बाद आत्मिक-विकास की पाँचवीं—अर्थात् 'साध्य' अवस्था आती है, जब विकासोन्मुख व्यक्ति का मुख सब तरफ़ से हट कर 'ब्रह्म' की तरफ़ हो जाता है, यह 'ब्रह्म-मुख' अवस्था है जिसमें सारा संसार उसके लिये अन्न हो जाता है, उसे अन्न के रूप में पंचम अमृत प्राप्त हो जाता है। जैसा हमने ऊपर कहा, इस प्रकरण में अन्न का अर्थ अनाज नहीं है। उपनिषद् में 'अन्न' तथा 'अन्नाद'—ये दो शब्द आते हैं। 'अन्न' हुआ भोग्य, 'अन्नाद' हुआ भोक्ता। यथार्थ भोक्ता तो ब्रह्म है, उसके सम्मुख सारा संसार 'भोग्य' है, 'अन्न' है, वही इस सबका सेवन कर रहा है, उसके लिये

सम्पूर्ण संसार अन्न है, इसलिये साध्य अवस्था में विकासोन्मुख व्यक्ति को अन्न-रूपी अमृत की प्राप्ति होती है, उसके लिये सम्पूर्ण विश्व अन्न—भोग्य—हो जाता है—इसी बात को उक्त चित्र में दर्शाया गया है।

'ब्रह्म-मुख' को ही ११वें खंड में 'सत्य-ब्रह्म' कहा है क्योंकि आध्यात्मिक-विकास में अन्तिम अवस्था ब्रह्म को ही यथार्थ सत्य मानने की है।

तृतीय प्रपाठक (बारहवां खंड)

[गायत्री की महिमा]

इस खंड में गायत्री मन्त्र की महिमा बतलाई गई है। गायत्री की विशद् व्याख्या हमारे बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय के १४वें ब्राह्मण (पृष्ठ ६३८-६४०) में तथा हमारे ग्रन्थ **'वैदिक संस्कृति का सन्देश'** के १०वें अध्याय (पृष्ठ १४६-१६२) में विशेष रूप से की गई है। जो देखना चाहें वहाँ देखें। यहाँ हमारे उपनिषद् से का अभिप्राय हमारे 'एकादशोपनिषद्-भाष्य' से है, इस ग्रन्थ से नहीं।

तृतीय प्रपाठक (तेरहवां खंड)

[पिंड तथा ब्रह्मांड में ईश्वर के दर्शन]

इस खंड में उपनिषत्कार ने बड़े अद्भुत् रूप से पिंड अर्थात् शरीर में तथा ब्रह्मांड अर्थात् सृष्टि में ईश्वर के साक्षात्-दर्शन की चर्चा की है। वे कहते हैं कि शरीर-रूपी भवन में जीवात्मा बैठा हुआ है। इस शरीर में परमात्मा ने एक छिद्र किया हुआ है जिसे हम आँख कहते हैं। उस छिद्र से जीवन बाहर के लोक में देखता है—यह बाहर का लोक कितना अद्भुत् है। इस अद्भुत् लोक को देखकर ब्रह्म का दर्शन नहीं होता, तो किस का दर्शन होता है ? इसी प्रकार इस शरीर में आँखों के किनारे दायें-बायें दो छेद हैं जिन्हें हम कान कहते हैं। इन कानों से बाहर के जगत् की जो ध्वनियाँ सुनाई देती हैं उनसे ब्रह्म का बोध नहीं होता, तो किसका बोध होता है। चक्षु, श्रोत्र के अतिरिक्त मुख में वाणी का छेद है। जीभ चलती है तो हम वाक्-शक्ति का प्रयोग करते हैं। क्या वाणी का प्रयोग कम चमत्कारी है ? इस वाणी से हम क्या-क्या बोल

जाते हैं, कितने अद्भुत् विचारों को दूसरों तक पहुँचाते तथा उन्हें प्रत्यक्ष रूप दे पाते हैं। इसी शरीर में मन का भी एक कारखाना है जिसमें विचार उगते, फूलते, फलते और वाणी द्वारा निकलते रहते हैं। इन सबको जीवित रखने के लिये वात-संस्थान (Nervous system) काम कर रहा है जिसे इस खंड में 'वायु' कहा गया है।

शरीर-रूपी भवन में बैठा जीवात्मा चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, वात-संस्थान (वायु) के छिद्रों से बाहर की दुनियाँ को झाँक रहा है। उसके सहायक हैं पंच-प्राण—प्राण, व्यान, अपान, समान तथा उदान। इनके सहारे वह विश्व को सभी दिशाओं से देख रहा है—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊपर-नीचे। इस भवन में बैठे-बैठे उसे प्राप्त होता है तेज, यश, ब्रह्मवर्चस्, कीर्ति तथा ओज। उपनिषत्कार कहते हैं कि ये सब ब्रह्म-देव के दर्शन के द्वार नहीं तो क्या हैं? पिंड में हो रहा यह चमत्कार क्या अपने-आप रहा है? शरीर के इन पाँच द्वारों से शरीर के भीतर बैठा जीव बाहर जो-कुछ झाँक रहा है वह ब्रह्म का ही दर्शन है।

यह तो हुई पिंड में बैठे जीव का ब्रह्म-दर्शन। ब्रह्मांड में भी जो-कुछ दीख रहा है वह भी ब्रह्म का ही दर्शन है। जैसे पिंड के द्वारों में से जीव ब्रह्म का दर्शन करता है, वैसे ब्रह्मांड अर्थात् सृष्टि के द्वारों में से भी वह ब्रह्म का दर्शन कर सकता है। जैसे पिंड के द्वार हैं—चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन तथा वात-संस्थान (वायु), वैसे ब्रह्मांड के द्वार हैं—आदित्य, चन्द्र, अग्नि, मेघ तथा आकाश। इन द्वारों में खड़ा होकर जीव चारों तरफ़ जो देखता है वह ब्रह्म का ही दर्शन है।

एक प्रसिद्ध लेखक किशन खन्ना लिखते हैं: "I do not believe in God but when I saw the gleaming golden pinnacles of Mount Kailash in the Himalayan galaxy, I bowed my head. I realized divinity on seeing it."—वे लिखते हैं कि मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता, परन्तु जब मैंने हिमालय की शृंखला में कैलाश पर्वत के चमकते हुए स्वर्णिम शिखरों को देखा तब मेरा मस्तक नत हो गया, और उसे देखकर मैंने दिव्य-शक्ति का अनुभव किया।

इसी भाव को उपनिषत्कार ने इस खंड में पिंड तथा ब्रह्मांड में ईश्वर के दर्शन का रूप दिया है। ऊपर जो-कुछ कहा गया है उसे संक्षेप में निम्न प्रकार चित्र में प्रकट कर सकते हैं:

पिंड तथा ब्रह्मांड में ब्रह्म के दर्शन

पिंड में ब्रह्म-दर्शन के द्वार	ब्रह्मांड में ब्रह्म-दर्शन के द्वार	दर्शन से प्राप्ति
चक्षु— प्राण— पूर्व	आदित्य	तेज-प्राप्ति
श्रोत्र— व्यान— दक्षिण	चन्द्र	यश-प्राप्ति
वाक्— अपान—पश्चिम	अग्नि	ब्रह्मवर्चस्-प्राप्ति
मन— समान—उत्तर	मेघ	कीर्ति-प्राप्ति
वात-संस्थान—उदान—ऊपर (वायु)	आकाश	ओज-प्राप्ति

तृतीय प्रपाठक (चौदहवां खण्ड)

[शाण्डिल्य का मत]

इस खंड में शाण्डिल्य के मत का प्रतिपादन किया गया है। शाण्डिल्य का कहना है कि सब ब्रह्म है—**'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'**। ब्रह्म की 'जलान्'—इस शब्द से उपासना करे—**'तत् जलान् इति उपासीत'**। 'जलान्' का अर्थ क्या है? 'जलान्' तीन अक्षरों का शब्द है—ज+ल+अन्। 'ज' का अर्थ है—विश्व का उसी ब्रह्म से जन्म है; ल का अर्थ है—विश्व उसी में लीन हो जाता है; अन् का अर्थ है—सब उसी से अनुप्राणित होता है। ब्रह्म की उपासना कौन करे? यह पुरुष करे। पुरुष को ब्रह्म की उपासना करके ही नहीं बैठे रहना, कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करना है क्योंकि मनुष्य का धर्म कर्म करते रहना है—**'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः'**। पुरुष इस लोक में जैसे कर्म करता है—**'यथा क्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषः भवति'**, यहाँ से मर कर वैसा ही होता है—**'तथा इतः प्रेत्य भवति सः'**। इसलिये ब्रह्म की उपासना के साथ-साथ कर्म भी सदा करता रहे—**'क्रतुं कुर्वीत**।१।

मरने पर जीव का शरीर तो यहीं छूट जाता है, परन्तु एक सूक्ष्म शरीर उसके साथ जाता है। वह शरीर कैसा है? वह मनोमय-शरीर है-**'मनोमयः'**, प्राणमय शरीर है—**'प्राणमयः'**, प्रकाशस्वरूप शरीर है—**'भा रूपः'**। इस जीवन के सब संकल्प उसके ठीक-ठीक निहित रहते हैं—**'सत्यसंकल्पः,'** वह आकाश में चला जाता है—**'आकाशात्मा,'** सब

कर्म तथा सब कामनाएं उसके साथ रहती हैं—**'सर्वकर्मा सर्वकामः', ये** संकल्प, कर्म, कामनाएँ उसमें ऐसी बसी रहती हैं, जैसे गन्ध किसी वस्तु में व्याप्त हो जाती है, जैसे रस किसी में भर जाता है—**'सर्वगन्धः, सर्वरसः'**। यह सूक्ष्म-शरीर इन सब संकल्पों, कर्मों, कामनाओं को सब तरफ़ से सब-कुछ लेकर—**'सर्वं इदं अभि आत्तः'**, बिना बोले—**'अवाकी'**, और किसी भी संकल्प, कर्म या कामना को बिना छोड़े—**'अनादरः'**, अगले जन्म के लिये प्रयाण कर देता है।२।

मेरा यह जीवात्मा जिसका सूक्ष्म-शरीर मृत्यु के बाद सब संस्कारों को लेकर अगले जन्म के लिये चल देता है—**'एषः मे आत्मा'**, हृदय के भीतर—**'अन्तः हृदये'**, अणु-प्रमाण—**'अणीयान्'**, विराजता है। वह अन्न के दाने से, जौ से, सरसों से, चावल से—इन सबसे सूक्ष्म है—**'व्रीहेः वा, यवाद् वा, सर्षपाद् वा, श्यामाक-तण्डुलाद् वा'**। इतना सूक्ष्म, अणु-प्रमाण होने पर भी हृदय-प्रदेश में वर्तमान मेरा आत्मा—**'एषः मे आत्मा अन्तः हृदये'**—पृथिवी से भी महान् है—**'ज्यायान् पृथिव्याः'**, अन्तरिक्ष से भी महान् है—**'ज्यायान् अन्तरिक्षात्'**, द्यु लोक से भी महान् है—**'ज्यायान् दिवः'**, इन सब लोकों से महान् है—**'ज्यायान् एभ्यः लोकेभ्यः'**।३।

सूक्ष्म-शरीर का स्वामी यह जीवात्मा जो सब कर्मों तथा कामनाओं को करने वाला है—**'सर्वकर्मा सर्वकामः'**, जिसमें सब कामनाएँ ऐसे बसी रहती हैं जैसे गन्ध किसी वस्तु में व्याप्त हो जाता है, जैसे रस किसी में भर जाता है—**'सर्वगन्धः सर्वरसः'**, जो सब तरफ़ से सब-कुछ लेकर—**'सर्वं इदं अभि आत्तः'**, बिना बोले—**'अवाकी'**, और किसी भी संकल्प, कर्म या कामना को बिना छोड़े—**'अनादरः'**, मेरे हृदय-प्रदेश में वर्तमान है—**'एषः मे आत्मा अन्तः हृदये'**, यह ब्रह्म है, महान् है—**'एतद् ब्रह्म'**। इस ब्रह्म को मैं यहाँ से चल कर (मर कर) **'एतम् इतः प्रेत्य'**, प्राप्त कर लूंगा—**'अभिसंभवितास्मि'**। जिस व्यक्ति की इस बात में श्रद्धा है—**'यस्य स्यात् अद्धा'**, और जिसको इसमें सन्देह नहीं है—**'न विचिकित्सा अस्ति'**, शाण्डिल्य का कहना है कि वह उस गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है—**'इति स्म आह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः'**।४।

तृतीय प्रपाठक (सोलहवाँ खंड)

[जीवन मानो सोम-याग है]

इस खंड में उपनिषत्कार ने जीवन को यज्ञ कहा है और उसका सोम-याग से समन्वय दर्शाया है। सोम-याग में तीन समय यज्ञ होता है—प्रातः, मध्याह्न तथा तृतीय-काल। ब्रह्मचारी का जीवन तीन कालों में विभक्त है—वसु-ब्रह्मचर्य, रुद्र-ब्रह्मचर्य तथा आदित्य-ब्रह्मचर्य। सोम-याग का प्रातःकाल ब्रह्मचारी का वसु-ब्रह्मचर्य का काल है; सोम-याग का मध्याह्न-काल ब्रह्मचारी का रुद्र-ब्रह्मचर्य का काल है; सोम-याग का तृतीय-काल ब्रह्मचारी का आदित्य-ब्रह्मचर्य का काल है। सोम-याग में छन्दों का प्रयोग होता है—गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती। गायत्री के २४ अक्षर हैं, त्रिष्टुप् के ४४ तथा जगती के ४८ अक्षर हैं। सोम-याग का २४ अक्षरों का गायत्री छन्द वसु-ब्रह्मचारी के २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है; सोम-याग का ४४ अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द रुद्र-ब्रह्मचारी के ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है; सोम-याग का ४८ अक्षरों का जगती छन्द आदित्य ब्रह्मचारी के ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है।

यह जीवन मानो एक सोम-यज्ञ हो रहा है—**'पुरुषो वाव यज्ञः'**। इस जीवन के जो पहले २४ वर्ष हैं, वे इस जीवन का वसु-ब्रह्मचर्य का काल है—**'तत् अस्य वसवः अन्वायत्ताः'**। अगर इस जीवन के वसु-ब्रह्मचर्य के काल में कुछ बाधा आ पड़े—**'तं चेत् एतस्मिन् वयसि किंचित् उपतपेत्'**, तो कहे—**'ब्रूयात्'**—कि वसु-ब्रह्मचर्य का काल तो मेरे जीवन का २४ वर्षों का प्रातःकाल था—**'इदं मे प्रातः सवनम्'**, मुझे तो यहीं नहीं रुक जाना, जीवन में आगे ४४ वर्षों के रुद्र-ब्रह्मचर्य तक जाना है जो इस आध्यात्मिक-जीवन का माध्यन्दिन-काल है—**'माध्यन्दिनं सवनं अनुसंतनुत इति'**। मेरे जीवन का यज्ञ मध्य में ही लुप्त न हो जाय—**'मा अहम् मध्ये विलोप्सीय इति'**। इसी प्रकार जब रुद्र-ब्रह्मचर्य का ४४ वर्षों का काल पूरा कर ले तब कहे कि मुझे तो ४८ वर्षों का, आदित्य-ब्रह्मचर्य का, सोम-याग पूरा करना है। कहते हैं कि इस प्रकार उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्य का जीवन बिताते हुए इतरा के पुत्र महीदास ने ११६ वर्षों का जीवन प्राप्त किया। ब्रह्मचर्य-जीवन का सोम-याग के साथ जिस समन्वय का यहाँ उल्लेख है, वह निम्न चित्रपट से स्पष्ट हो जाता है :

जीवन तथा सोम-याग का समन्वय

सोम-याग	जीवन-यज्ञ
प्रातः सवन (२४ अक्षरों का गायत्री छन्द)	वसु-ब्रह्मचर्य (२४ वर्ष का ब्रह्मचर्य)
मध्य सवन (४४ अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द)	रुद्र-ब्रह्मचर्य (४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य)
तृतीय सवन (४८ अक्षरों का जगती छन्द)	आदित्य-ब्रह्मचर्य (४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य)

इस प्रकार उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन बिताने से महीदास ११६ वर्ष तक जीवित रहे। यह ब्रह्मचर्य की महिमा है।

तृतीय प्रपाठक (सत्रहवां, अठारहवां तथा उन्नीसवां खंड)

सत्रहवें खंड में जीवन को यज्ञ-मय कहा है, और यह कहा है कि जीवन को यज्ञ-मय समझने की बात घोर आंगिरस् ने देवकी के पुत्र कृष्ण को बतलाई और कहा—**'तत् एतद् घोरः आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्राय उक्त्वा उवाच'**। क्या कहा ? यह कहा कि जो व्यक्ति अन्तवेला में ये तीन वाक्य बोलता है वह कामना की प्यास से रहित हो जाता है—**'अपिपासः एव सः बभूव यः अन्तवेलायाम् एतत् त्रयं प्रतिपद्येत'**। कौन से तीन वाक्य ? पहला है—हे भगवन् ! आप अविनाशी हैं—**'अक्षितम् असि'**; दूसरा है—**'अच्युतम् असि'**—हे भगवन् ! आप सदा अडिग हैं, एक-रस हैं, तीसरा है—**'प्राण-संशितं असि'**—हे भगवन् ! आप प्राण से भी तीक्ष्ण हैं, सूक्ष्म हैं ।। यह तृतीय प्रपाठक के सत्रहवें खंड की छटी उक्ति है ।।

ऐतिहासिकों के लिये ध्यान देने की यह बात है कि यहाँ देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण का नाम आया है। यहाँ कहा गया है कि आंगिरस् ने देवकी के पुत्र कृष्ण को जीवन के यज्ञमय होने का रहस्य समझाया। गीता में यज्ञ की महिमा का वर्णन भी है। वहाँ लिखा है :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।३-६-१०।

उक्त श्लोक में **'प्रसविष्यध्वम्'**-शब्द आया है। इसका **अर्थ** यह है कि यज्ञ का काम प्रसव करना है—'प्रसव'—अर्थात् नया जन्म। मनुष्य के यज्ञ करने का अर्थ है—नया जन्म। अगर यज्ञ के बाद वहीं-के-वहीं रहे, तो यज्ञ बेकार है। हम रिवाज़ी तौर पर यज्ञ कर लेते हैं—यज्ञ करने के बाद हमारा नया जन्म नहीं होता। यज्ञ का परिणाम जीवन में परिवर्तन हो जाना चाहिये। इसी को वेद में कहा है—**'यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः'**—अर्थात् यज्ञ से (बाहर के यज्ञ से) यज्ञ का (भीतर के जीवन का) यजन (नया जन्म) होना चाहिये।

चतुर्थ प्रपाठक (प्रथम से तृतीय खंड)

[गाड़ीवान रैक्व ऋषि की संवर्ग-विद्या]

प्राचीन-काल में जानश्रुति नाम के एक राजा थे जिनके पिता, पितामह तथा प्रपितामह तीनों जीवित थे इसलिये वे पौत्रायण कहलाते थे, ऐसे परिवार के जो पुत्र-पौत्रों से भरा था। खूब दान देते थे, उनके यहाँ भंडारा चढ़ा रहता था—**'बहुदायी बहुपाक्यः आस'**, चारों तरफ़ उन्होंने धर्मशालाएँ बनवा दी थीं—**'स ह सर्वतः आवसथान् मापयान् चक्रे'**। वे चाहा करते थे कि यात्री लोग उनके यहाँ आकर भोजन किया करें—**'सर्वतः मे अत्स्यन्ति इति'**।

एक बार ऐसा हुआ कि कुछ परम हँस महात्मा लोग रात्रि में उनके यहाँ आ टिके। वे आपस में वार्तालाप कर रहे थे। एक ने दूसरे से कहा—इस जानश्रुति पौत्रायण राजा का यश दिग्दिगन्त में फैल रहा है, देखना, राजा से टक्कर न ले बैठना, कहीं राजा नाराज़ हो जाय। दूसरे महात्मा ने उत्तर दिया—तुम इस साधारण-से राजा के विषय में ऐसे बात कर रहे हो मानो वह गाड़ीवान रैक्व ऋषि के समान हो। पहले महात्मा ने पूछा—यह गाड़ीवाला रैक्व ऋषि कौन है, और कैसा है? दूसरे ने कहा—लोग जो-कुछ भी अच्छा काम करते हैं उस सब का फल इस ऋषि को ही जा पहुँचता है। देखने में इतना सरल तथा सीधा-सादा, परन्तु अध्यात्म में इतना ऊँचा है कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उसके सामने सिर झुकाते हैं।

इन महात्माओं की बात-चीत राजा जानश्रुति पौत्रायण सुन रहा था। उसने प्रातःकाल उठते ही अपने सारथि को आदेश दिया कि रैक्व ऋषि की खोज करो, वे कहाँ रहते हैं। सारथि ने बड़े-बड़े शहरों

में, जगह-जगह के महलों में उसे ढूँढने का प्रयत्न किया, परन्तु ऋषि का कहीं पता नहीं चला। अन्त में, हार कर जब वह लौट आया और राजा से कहा कि मैंने तो सब जगह ऋषि की तलाश की, परन्तु उसका कहीं पता नहीं चला, तो राजा ने पूछा—तुमने कहाँ-कहाँ उन्हें ढूँढा। सारथि ने कहा—हर शहर में, हर मकान में, पर वे कहीं नहीं दिखलाई दिये। राजा ने कहा—भले मानस, ऋषियों को महलों में नहीं ढूँढा करते, झोपड़ों में, वृक्षों की छाया के नीचे, नदियों के किनारे—ऐसी जगह जहाँ धूम-धुमक्कड़ न हो, शान्त स्थान हो, वहाँ जाकर देखो—कहीं मिलेंगे।

सारथि फिर ढूँढने को निकला। देखता क्या है कि एक गाड़ी की छाया के नीचे एक व्यक्ति अपने को खुजलाता हुआ बैठा है। सारथि ने पूछा—क्या आप ही गाड़ीवान रैक्व हैं? ऋषि ने उत्तर दिया, हाँ मैं ही रैक्व हूँ। सारथि ने लौट कर राजा को रैक्व का पता दिया।

राजा धन-धान्य तथा भारी दक्षिणा लेकर ऋषि के पास पहुंचा, और उससे निवेदन किया कि महाराज, मैं इतनी दक्षिणा लेकर आया हूँ—ये सहस्र गौएँ हैं, यह रत्नों की माला है, यह रथ है, यह मेरी कन्या है जो आपकी सेवा करेगी—यह सब मैं आपकी भेंट कर रहा हूँ, मुझे उपदेश दीजिये—**'भगवः मा शाधि इति'**।

ऋषि ने कन्या के मुख को ऊंचे उठा कर—**'तस्याः ह मुखं उप उद्गृहणन्'**, कहा—**'उवाच'**, अरे शूद्र, इन गौओं को लाया है—**'आ जहार इमाः'**। इस पुत्री के मुख की लाज रखने के लिये मुझे उपदेश देने के लिये बाधित होना पड़ेगा—**'अनेन एव मुखेन आलापयिष्यथाः'**॥ यहाँ चतुर्थ प्रपाठक २ य खंड, ५ म उक्ति॥

रैक्व ऋषि ने उपदेश देना शुरू किया—जब अग्नि बुझ जाती है तब वायु में लीन हो जाती है, जब सूर्य अस्त हो जाता है तब वायु में ही लौट जाता है, जब चन्द्र अस्त हो जाता है तब वायु में लौट जाता है, जब पानी सूक जाता है तब वायु में चला जाता है, वायु ही इन सबका संवरण कर लेती है। जैसे ब्रह्मांड में जो-कुछ है वह आँखों से ओझल हो जाता है, वह नष्ट नहीं होता, वायु में चला जाता है, वैसे ही पिंड में जब वाणी नहीं बोलती तब प्राण में चली जाती है, जब आँख, श्रोत्र नहीं देखते-सुनते तब यह प्राण में वर्तमान होते हैं, प्राण ही इन सबका संवरण करता है। इसे 'संवर्ग-विद्या' कहते हैं। इस प्रकार

ब्रह्मांड तथा पिंड के लय के स्थान दो हैं—**'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ'**, दैवीय-जगत्, अर्थात् ब्रह्मांड में वायु—**'वायुरेव देवेषु'**, तथा आत्मिक-जगत्, अर्थात् पिंड में प्राण—**'प्राणः प्राणेषु'**। ४ प्रपाठक, ३ खंड, ४।

इस कथानक में तीन बातों पर ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि राजा अपनी कन्या को लेकर ऋषि के पास आया; ऋषि ने राजा को 'शूद्र'—इस नाम से सम्बोधित किया; उपदेश देते हुए 'संवर्ग'-विद्या का उपदेश दिया।

राजा भले ही कन्या को दान में देने के लिये लाया हो, या ऋषि की परीक्षा करने के लिये उसे लाया हो, ऋषि ने तो उसे 'शूद्र' ही कहा। इससे ऋषि की महानता का परिचय स्वयं मिल जाता है। तीसरी बात है—'संवर्ग'-विद्या। यह 'संवर्ग'-विद्या क्या है? 'संवर्ग'-विद्या का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं कि जैसे ब्रह्मांड में सब दृश्य अदृश्य वायु में खो जाता है, वैसे पिंड में सब ज्ञानेन्द्रियाँ प्राण में खो जाती हैं। 'क-वर्ग' का अर्थ है 'ख', 'ग', 'घ', 'ङ' का 'क' के 'वर्ग' में सिमिट जाना, इसी प्रकार ब्रह्मांड में 'सं-वर्ग' का अर्थ है वाक्, चक्षु, श्रोत्र का प्राण के वर्ग में समा जाना। इस दृष्टि से संवर्ग-विद्या प्राण-विद्या का नाम है।

चतुर्थ प्रपाठक (चतुर्थ से नवम खंड)

[सत्यकाम को प्रकृति द्वारा ज्ञान]

कहते हैं कि एक बार जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से पूछा, हे भवति, मेरी इच्छा ब्रह्मचर्य धारण करने की है, मुझे यह तो बतलाओ, मेरा क्या गोत्र है?

माता ने पुत्र से कहा, बेटा! मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है। मैं युवावस्था में अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थी, उसी समय मैंने तुझे पाया, इसलिये मुझे नहीं मालूम तेरा क्या गोत्र है? बस, जबाला मेरा नाम है, सत्यकाम तेरा नाम है। सो गुरु के पूछने पर कह देना कि तू सत्यकाम जाबाल है।

सत्यकाम गौतम-गोत्री हारिद्रुमत मुनि के पास जाकर बोला, हे भगवन्! मैं नहीं जानता, मेरा क्या गोत्र है। मैंने मातुश्री से पूछा था, उन्होंने मुझे उत्तर दिया कि युवावस्था में वे अनेक व्यक्तियों की सेवा किया करती थीं, उसी समय मेरा जन्म हुआ, इसलिये उन्हें नहीं

मालूम कि मेरा क्या गोत्र है। माता ने कहा कि जबाला उनका नाम है, सत्यकाम मेरा नाम है। सो भगवन्! मैं जाबाल सत्यकाम हूँ।

मुनि ने कहा, जो ब्राह्मण न हो वह ऐसी बात कह नहीं सकता—**'न एतद् अब्राह्मणः विवक्तुम् अर्हति'**। हे सौम्य! समिधा ले आ, मैं तुझे उपनयन की दीक्षा दूँगा—**'उप त्वा नेष्ये'**। तू सत्य से डिगा नहीं—**'न सत्यात् अगाः इति'**।

मुनि ने सत्यकाम का उपनयन-संस्कार कर दिया और उसे ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी। उस समय ब्रह्मचर्याश्रम बनों में हुआ करते थे। ब्रह्मचारी आचार्य के वनस्थ-आश्रम में रहता हुआ विद्याध्ययन भी करता था, आचार्य की गौओं को भी पालता था। जंगल में निवास करते हुए जहाँ आचार्य का सान्निध्य था, वहाँ गाय-बैल का भी सान्निध्य था क्योंकि वह उनकी भी पालना करता था। इनके अतिरिक्त उसका दूसरा कौन साथी था? भू-लोक की अग्नि, अन्तरिक्ष-लोक की वायु और द्यु-लोक का सूर्य—इन्हीं में तो उसका जीवन व्यतीत होता था। उपनिषत्कार कहते हैं कि जब सत्यकाम का अध्ययन-काल समाप्त हो गया, तब उसने अनुभव किया कि आचार्य-कुल के प्रधानाचार्य के अतिरिक्त उसके चार और गुरु थे—गौओं में विचरने वाला 'बैल', भू-लोक की 'अग्नि', अन्तरिक्ष-लोक की 'वायु' तथा द्यु-लोक का 'सूर्य'। इन्हीं में तो उसने अपना अध्ययन-काल बिताया था। इसी को स्पष्ट करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं कि जब इतना समय गुरु की सेवा करते-करते बीत गया कि गौएँ बढ़कर ४०० की जगह १००० हो गईं तब सत्यकाम की शिक्षा पूरी हुई। कथानक के रूप यहाँ कहा गया है कि गौओं में से 'वृषभ' (बैल) ने शिक्षा दी कि हे सोम्य, इस बन में जिन चार दिशाओं में तू फिरता रहा है वहाँ सब जगह जिसका प्रकाश फैल रहा है उसी का नाम ब्रह्म है—**'सोम्य, चतुष्कलः पादः ब्रह्मणः प्रकाशवान् नाम'**। इस बनवास में उसका दूसरा साथी भू-लोक का देवता 'अग्नि' था। अग्नि ने उसे भौतिक-प्रकाश तथा ताप तो दिया ही, परन्तु आध्यात्मिक-प्रकाश भी दिया और बतलाया कि हे सोम्य, बन-बन में फिरते हुए तुझे जिस अनन्तता का भान हुआ उसी का नाम ब्रह्म है—**'यः एतम् चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः अनन्तवान् इति उपास्ते'**। इस बन में सत्यकाम का तीसरा साथी 'सूर्य' था। सूर्य कितना विशाल है, सूर्य के साथ चन्द्र, विद्युत् आदि द्यु-लोक के देवता हैं—ये सब

ज्योतिष्मान् हैं। द्यु-लोक की इन ज्योतियों के प्रतिनिधि सूर्य ने उपदेश दिया, हे सोम्य, बन में विचरते हुए जिन ज्योतियों के तुम्हें द्यु-लोक में दर्शन हुए उन्हीं का नाम ब्रह्म है—**'सोम्य, चतुष्कलः पादः ब्रह्मणः ज्योतिष्मान् नाम'**। इस वन्य जीवन-काल में सत्यकाम का चौथा साथी अन्तरिक्ष में विचरने वाला 'वायु' था। वायु ने यह शिक्षा दी कि ब्रह्मांड में अन्तरिक्षस्थ वायु पिंड का प्राण है—पिंड में प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन को जो थामे हुए है—शरीर का आयतन है—उसी का नाम ब्रह्म है—**'सोम्य, चतुष्कलः पादः ब्रह्मणः आयतनं नाम ब्रह्म'**।

इस कथानक में कई बातें बड़े महत्व की हैं। पहली महत्व की बात तो यह है कि सत्यकाम ने अपने गुरु से साफ़-साफ़ कह दिया कि उसकी माता द्वारा उसे पता चला है कि वह कह नहीं सकता कि उसका पिता कौन है। इस कथन पर गुरु ने उसे ब्राह्मण का वर्ण दिया। दूसरी महत्व की बात यह है कि सत्यकाम अपनी शिक्षा के लिये किसी कमरे में बन्द होकर नहीं बैठा, वह प्रकृति की गोद में विचरता रहा, जो उसे शिक्षा प्राप्त हुई वह प्रकृति से प्राप्त हुई—पशु, अग्नि, सूर्य, वायु से प्राप्त हुई। तीसरी बात यह है कि वह गौओं के बीच रहा, उनका पालन करता रहा, इतनी देर तक पालन करता रहा कि वे ४०० से १००० हो गईं। इन तीनों बातों का जीवन में बड़ा महत्व है।

(क) गुरु द्वारा सत्यकाम को ब्राह्मण वर्ण देना—यह ध्यान देने की बात है कि यह जानते हुए कि उसकी माता का चरित्र शिथिल रहा है, सत्यकाम ने गुरु के सामने कुछ नहीं छिपाया, सब-कुछ सत्य-सत्य कह दिया। चरित्रहीनता आज के युग की उपज नहीं है, जब से मनुष्य उत्पन्न हुआ तब से चरित्र के गुण-दोष विद्यमान रहे हैं। सत्यकाम ने जब सब-कुछ सच-सच कह दिया, तब इस गुण को देखकर गुरु ने उसे ब्राह्मण की संज्ञा दे दी। उसे ब्राह्मण कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि गुरु ने समझा कि हो-न-हो यह किसी ब्राह्मण का पुत्र होगा, गुरु ने उसे सच बोलने के कारण ब्राह्मण कहा। सत्य ब्राह्मण का विशेष गुण है—आचार के कारण उसे ब्राह्मण कहा, ब्राह्मण का पुत्र होने के कारण नहीं।

(ख) अग्नि, वायु, सूर्य के बीच शिक्षा-काल बिताना—दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि सत्यकाम को अपना शिक्षा-काल प्राकृतिक वातावरण में बिताने को कहा गया। इस काल का माप-दंड लगभग

वह काल है जिसमें गौएँ ४०० से १००० हो जायें—अर्थात् जितने काल में गौएँ दो बार ब्याह जायें। यह काल ४-५ साल का हो सकता है। इतने समय जो व्यक्ति प्राकृतिक वाताबरण में रहेगा, कड़ी धूप, कड़ी सर्दी, आँधी-पानी मं तपस्यामय जीवन व्यतीत करेगा, आराम तथा विलासिता का जीवन नहीं व्यतीत करेगा, वह जीवन की हर चोट को बर्दाश्त कर सकेगा, कहीं नहीं टूटेगा।

(ग) **गौओं के बीच रहकर उनकी सेवा करना**—शिक्षा का मूल-भूत सिद्धान्त यह माना जाता है कि इसका जीवन के साथ सम्बन्ध होना चाहिये। प्राचीन-काल में जीवन का सारा कार्य-क्रम कृषि के साथ बन्धा हुआ था। इस दृष्टि से कृषि को शिक्षा का आधार बना लिया गया था, कृषि को शिक्षा के साथ जोड़ दिया गया था। क्योंकि सारा जीवन कृषि के साथ बन्धा हुआ था, इसलिये प्रारम्भ से ही बालक की शिक्षा कृषि के वातावरण में होती थी—बालक को शिक्षा प्रारम्भ करते ही गौओं की गति-विधियों से परिचित कराया जाता था। आजकल भी शिक्षा के क्षेत्र में 'योजना-पद्धति' (Project system) का विशेष महत्व है। अमरीका में योजना-पद्धति का जन्म जान ड्यूई (१८५९-१९५२) द्वारा हुआ, किन्तु जाबाल सत्यकाम की कथा का सार यही है कि प्राचीन-काल के ऋषियों के आश्रमों में योजना-पद्धति को ही शिक्षा का आधार बनाया गया था। योजना-पद्धति से प्रेरणा लेकर महात्मा गांधी ने 'बुनियादी-तालीम' की नींव रखी थी, परन्तु इस पद्धति का श्रीगणेश छान्दोग्योपनिषद् के जाबाल सत्यकाम से हो चुका था जिसकी शिक्षा गोपालन की योजना के माध्यम से हारिद्रुमत मुनि ने की थी। जब सत्यकाम बन-उपवन में विचरता हुआ अपने गुरु के आश्रम में लौट कर आया तब गुरु ने कहा—तुम्हारी आभा से ऐसा दीखता है कि तुम ब्रह्मविद् हो गये हो—**'ब्रह्मविद् इव वै सोम्य ! भासि'**। तुम्हें ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश किस ने दिया ?—**'कः नु त्वा अनुशशास इति'** ? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैंने किसी मनुष्य से ब्रह्म-ज्ञान नहीं प्राप्त किया—**'अन्ये मनुष्येभ्यः इति ह प्रतिजज्ञे'**। मैंने जो ज्ञान प्राप्त किया है वह प्रकृति में विचरते हुए ही प्राप्त किया है परन्तु मैं आप को ही अपना गुरु मानता हूँ—**'भगवान् तु एव मे कामं ब्रूयात्'**—मैं तो समझता हूँ कि सम्पूर्ण शिक्षा मैंने आप से ही प्राप्त की है, आप जो चाहें उपदेश दें।

इसके बाद सत्यकाम स्वयं आचार्य बन गया। आचार्य ने कहा कि जो-कुछ तुमने सीख लिया है उससे आगे तुम्हें सिखाने के लिये मेरे पास कुछ शेष नहीं रहा—**'अत्र ह न किंचन वीयाय इति'**।

चतुर्थ प्रपाठक (दशम से चौदहवें खंड तक)

[सत्यकाम की तरह उपकोसल को अग्नियों द्वारा आत्म-विद्या का उपदेश]

सत्यकाम ने प्रकृति के बन-उपवन में विचरते-विचरते अग्नि, वायु, सूर्य को देखकर स्वयं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उस मनुष्य को ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता जो विश्व में अग्नि, वायु, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, तारा-गण को देखकर भी ईश्वर की स्तुति में निमग्न नहीं हो जाता। सत्य-काम अबतक आचार्य बन चुके थे, आश्रम में रहकर ब्रह्मचारियों को ब्रह्म-ज्ञान की दीक्षा देने लगे थे। सत्यकाम के आश्रम में उपकोसल वंश का, कमल नामक व्यक्ति का पुत्र एक ब्रह्मचारी था—**'उपकोसलो ह वै कमलायनः'**, जो उनके पास ब्रह्मचर्य धारण करके रहने लगा—**'सत्य-कामे जाबाले उवास'**। वह बारह वर्ष तक आचार्य की अग्नियों की सेवा करता रहा—**'तस्य ह द्वादशं वर्षाणि अग्नीन् परिचचार'**। बारह वर्ष बीत जाने पर आचार्य ने अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन-संस्कार कर दिया, उन्हें दीक्षा देकर विदा कर दिया—**'सः ह स्म अन्यान् अन्ते-वासिनः समावर्तयन्'**, परन्तु उपकोसल का समावर्तन नहीं किया—**'तम् ह स्म एव न समावर्तयति'**।१।

आचार्य की पत्नी ने पति से कहा कि इस ब्रह्मचारी ने तुम्हारी इतनी सेवा की है, परन्तु तुमने इसे दीक्षा नहीं दी—यह ठीक नहीं है, परन्तु आचार्य ने पत्नी की सुनी अनसुनी कर दी और प्रवास में चल दिये। उपकोसल को अपने प्रति आचार्य की यह उपेक्षा देखकर अत्यन्त कष्ट हुआ, उसने खाना तक छोड़ दिया। आचार्य की पत्नी ने ब्रह्मचारी को खाने के लिये कहा, तो वह व्याकुल होकर कहने लगा कि मैं बड़ा अभागा हूँ, मुझे आचार्य ने दीक्षा इसलिये नहीं दी क्योंकि मैं अपने को उनके आदर्श के अनुरूप नहीं ढाल सका। मनुष्य में नाना प्रकार की कामनाएँ भरी पड़ी हैं—**'बहवः अस्मिन् पुरुषे कामाः'**, जिनसे जीवन में नाना प्रकार के विघ्न उत्पन्न होते हैं—**'नाना अत्ययाः'**, मैं इस प्रकार

के अनेक विघ्नों से भरा पड़ा हूँ—**'व्याधिभिः परिपूर्णः अस्मि'**, इसलिये मैं भोजन नहीं करूँगा—**'न अशिष्यामि इति'** ॥१०-३॥

इसके आगे कथानक ने एक रूपक का रूप धारण कर लिया है। सत्यकाम बन-उपबन में विचरता रहा था, प्रकृति में रहते-रहते उसे दीखा था कि इस अद्भुत् संसार को बिना ब्रह्म के जाने नहीं समझा जा सकता, उसे अग्नि, वायु, सूर्य ने शिक्षा दी थी। उपकोसल तो आचार्य के आश्रम में ही रहता था, वहाँ प्रतिदिन अग्निहोत्र होता था, इस रूपक के अनुसार उसे आचार्य के घर में जो अग्नियाँ प्रज्वलित होती थीं उन्होंने शिक्षा दी। उपनिषत्कार कहते हैं कि उपकोसल को व्याकुल देखकर आचार्य के घर की अग्नियाँ कहने लगीं कि हम सब को मिल कर ब्रह्मचारी का दुःख दूर करना चाहिये और उसे शिक्षा देनी चाहिये। घर के बाहर रहने वाले सत्यकाम को अग्नि, वायु तथा सूर्य ने शिक्षा दी थी, घर के भीतर रहने वाले उपकोसल को गार्हपत्याग्नि, अन्वाहार्यपचनाग्नि, आहावनीयाग्नि ने शिक्षा दी। तीनों अग्नियों ने उसे कहा कि जो शिक्षा हम दे रहे हैं वह अग्नि-विद्या है, इस अग्नि-विद्या को आत्म-ज्ञान की विद्या कह सकते हैं।

'अग्नि-विद्या' को 'आत्म-विद्या' कह सकते हैं—इसका क्या अभिप्राय है? अग्नि का उद्भव शुष्क समिधा से होता है। समिधा में भी आग है क्योंकि शुष्क-समिधा—अरणियों—के रगड़ने से आग उत्पन्न हो जाती है। या तो समिधा का घर्षण करके उसमें से आग उत्पन्न की जाय, या बाहर से आग लायी जाय—अप्रज्वलित समिधा प्रज्वलित हो जाती है। मानव-जीवन शुष्क समिधा के समान है। जब जीवन में संघर्ष नहीं होता तब वह शुष्क-का-शुष्क रह जाता है, संघर्ष से जीवन की आग भीतर से ही लपट उठती है, या कोई जीवनवाला आचार्य इस शुष्क जीवन में क्रांति ला इसे प्रज्वलित कर देता है। यही अग्नि-विद्या या आत्म-विद्या है। इस आत्म-विद्या का ज्ञान उपकोसल को अग्नियों को देखकर प्राप्त हुआ। जब आचार्य सत्यकाम प्रवास से लौट कर आये तब उन्होंने देखा कि जैसे वे स्वयं बाहर के अग्नि, वायु, सूर्य के सम्पर्क में रह कर ज्ञानवान् हो गये थे, वैसे ही उपकोसल घर की अग्नियों के सम्पर्क में रहकर ज्ञानवान् हो गया था। आचार्य ने अपने आचरण से इस बात की पुष्टि की कि ज्ञान गुरु के बिना भी भीतर से उपज आता है, उसे पाने के लिये व्याकुलता चाहिये।

चतुर्थ प्रपाठक (पन्द्रहवाँ खण्ड)

[मरने के बाद क्या गति होती है]

४र्थ प्रपाठक के इस खण्ड में मरने के बाद मानव का क्या रूप होता है—इस पर उपनिषत्कार के विचार निहित हैं। इस सम्बन्ध में देवयान-पितृयाण, उत्तरायण-दक्षिणायन आदि के सम्बन्ध में हम प्रश्न उपनिषद् (देखो पृष्ट सं० १५६) में विस्तार से विचार कर आये हैं। यहाँ जो-कुछ कहा गया है वह संक्षेप में इस प्रकार है :

ब्रह्मवित् जब मर जाते हैं, उनका चाहे दाह-संस्कार करें या न करें, —**'अथ यद् उ च अस्मिन् शव्यम् कुर्वन्ति यदि च न'**, तो भी मृत्यु के अनन्तर वे ज्योति की किरणों को ही प्राप्त होते हैं—**'अर्चिषम् एव अभिसंभवन्ति'**। किरणों से दिन को—**'अर्चिषः अहः'**, दिन से शुक्ल-पक्ष को—**'अन्हः आपूर्यमाणपक्षम्'**, शुक्ल-पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को, उनसे संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्र को, चन्द्र से विद्युत् को—इस प्रकार पुरुष का मानव से अमानव रूप हो जाता है—**'तत् पुरुषः अमानवः'**।१५-५।

इस सन्दर्भ में उपनिषत्कार का कहना है कि मृत्यु के बाद आत्मा का ज्योतिर्मय-रूप प्रकट होता है। ज्योति की उत्तरोत्तर गहराई को बतलाने के लिये यहाँ कहा है कि यह ज्योति सूर्य की किरण के समान, दिन के समान, शुक्ल-पक्ष के समान, संवत्सर में कुल मिला कर जितनी ज्योति हो सकती है उसके समान उत्तरोत्तर घनीभूत होती जाती है। उपनिषत्कार की इस बात की कई लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से पुष्टि की है। रेमोन्ड ए० मोडी ने १९७५ में एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम था—Life after life—जीवन के बाद का जीवन। इस पुस्तक में उन्होंने डा० रिटशे के अनुभव का वर्णन किया है। डा० रिटशे को मृत घोषित कर दिया गया था, परन्तु कुछ देर बाद वे जी उठे। मृत्यु का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि जब मैं मरा तब मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं १५ वाट प्रकाश के बल्ब के समान किसी दैवी सत्ता की तरफ़ खिच रहा हूँ। यह प्रकाश धीरे-धीरे तीव्र होता गया। कितना तीव्र होता गया—इसके विषय में वे लिखते हैं :

"And suddenly the intensity of that light was so strong that the only thing I could compare it to is if you turned on a million welder's light."

मृत्यु के बाद डा० रिटशे को जिस प्रकाश की तरफ़ खिचाव का अनुभव हुआ वह धीरे-धीरे इतना तीव्र होता गया कि अन्त में वह इतना तेज़ हो गया जितना वेल्डिंग का प्रकाश होता है जिससे आँख को बचाने के लिये लोहार को गहरे रंग का चश्मा लगाना पड़ता है।

मृत्यु के बाद जिस प्रकाश की तरफ़ आत्मा खिचता चला जाता है उसका वर्णन उपनिषत्कार ने किरण, दिन की ज्योति, शुक्ल-पक्ष की ज्योति, आदित्य की ज्योति, चन्द्र की ज्योति, विद्युत् की ज्योति—इस प्रकार किया है; रेमन्ड ए० मोडी ने डा० रिटशे के शब्दों में १५ वाट का बल्ब और वेल्डिंग का प्रकाश—इस प्रकार किया है। उपनिषत्कार के अनुसार मृत्यु के बाद जिस प्रकाश का अनुभव होता है वह चन्द्र की ज्योति के समान शीतल, आह्लादमय होता है।

पंचम प्रपाठक (पहला खण्ड)

[प्राण तथा इन्द्रियों का विवाद]

एक बार प्राण तथा इन्द्रियों में विवाद छिड़ गया कि उनमें सर्व-श्रेष्ठ कौन है। श्रेष्ठता के विषय में वे एक-दूसरे को कहने लगे—**'अथ ह प्राणाः अहं श्रेयसि व्यूदिरे'**, मैं तुम से श्रेष्ठ हूँ, मैं तुम से श्रेष्ठ हूँ—**'अहं श्रेयान् अहं श्रेयान् अस्मि इति'** ।६।

वे प्राणि-जगत् के पिता प्रजापति के पास जाकर बोले—**'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरं एत्य ऊचुः'**, कि हे भगवन्, हम में से कौन श्रेष्ठ है—**'कः नः श्रेष्ठः इति'**। उनसे उसने कहा—**'तान् ह उवाच'**—कि तुम में से जिसके निकल जाने पर—**'यस्मिन् वः उत्क्रान्ते'**, यह शरीर घृणित दीखे—**'शरीरं पापिष्ठतरम् इव दृश्येत'**, वह तुम में से श्रेष्ठ है—**'सः वः श्रेष्ठः इति'** ।७।

पहले वाणी बाहर निकल गई। साल भर बाहर रह कर लौटी और अन्य इन्द्रियों से बोली, मेरे बिना कैसे जी सके ? उन्होंने उत्तर दिया, जैसे गूंगे बिना बोले, प्राण द्वारा प्राण लेते हैं—**'प्राणन्तः प्राणेन'**, आँख से देखते, कान से सुनते, मन से सोचते हैं, वैसे ही हम भी जी सके। वाणी अपनी हैसियत समझ गई और अपने ठिकाने आ बैठी।८।

यही सिलसिला आँख, कान तथा मन के साथ हुआ। जैसे आँख के बिना अन्धे, कान के बिना बहरे, मन के बिना बालक जीते हैं, वैसे शरीर बिना कुछ देखे, बिना कुछ सुने, बिना कुछ चिन्तन किये जीवित रहा। पंचम प्रपाठक, पहला खंड, ९, १०, ११ का संदर्भ।

अब जब प्राण निकलने को उद्यत हुआ—**'अथ ह प्राणः उच्चिक्रमिषन्'**, तब उसने दूसरे प्राणों—अर्थात्, इन्द्रियों को इस तरह उखाड़ दिया जैसे मज़बूत घोड़ा पिछाड़ी के खूँटों को उखाड़ फेंके—**'सः यथा सुहयः पड्वीशशंकून् संखिदेत्'**। इस प्रकार प्राण ने अपने से इतर प्राणों को (इन्द्रियों को) उखाड़ फेंका—**'एवम् इतरान् प्राणान् समखिदत्'**। वाणी, आँख, कान, मन की जब यह दुर्दशा हुई तब वे प्राण के पास आकर बोले——**'तम् ह अभिसमेत्य ऊचुः'**, हे भगवन्, आप का यश बढ़े–**'एधि'**, आप ही हम सब में से श्रेष्ठ हैं—**'त्वम् नः श्रेष्ठः असि'**, आप हमें छोड़कर मत जाइये—**'मा उत्क्रामीः इति'**।१२।

इस कथानक में इन्द्रियों में से प्राण को उत्कृष्ट दिखाया गया है। बृहदारण्यक, छटा अध्याय, १म ब्राह्मण में भी यही कथा पायी जाती है। कथानक में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि जो दीखता है उसकी अपेक्षा वह अधिक सत्य है जो नहीं दीखता। हम समझते हैं कि वाणी, आँख, नाक, कान ही मानव का रूप है, असल में मानव का जीवन उस पर टिका हुआ है जो नहीं दीखता। उपनिषदों की इस प्रकार के कथानकों द्वारा अपने भाव को प्रकट करने की अपनी ही निराली शैली है। मनुष्य के सम्बन्ध में जिस शैली का प्रयोग किया गया है, सृष्टि के सम्बन्ध में भी इसी शैली का प्रयोग किया गया है। केनोपनिषद् में इसी प्रकार का विवाद अग्नि, वायु तथा इन्द्र के बीच दिखलाया गया है। अग्नि कहती है, मैं ही सब-कुछ हूँ; वायु कहती है, मैं ही सब-कुछ हूँ। जब उनमें से वह सत्ता जो उनकी आत्मा थी निकल कर बाहर चली गई, तब अग्नि तिनके को न जला सका, वायु तिनके को न हिला सका। उपनिषत्कार अपनी इस शैली से यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि जब तक शरीर में अदृश्य सत्ता—प्राण की या आत्मा की सत्ता—विद्यमान रहती है, तब तक जीवन बना रहता है, इसी प्रकार जब तक सृष्टि में अदृश्य सत्ता—भगवान् की सत्ता—सृष्टि में जीवन का संचार कर रही है, तभी तक सृष्टि का जीवन है। पिंड में यथार्थ यह नहीं वह है, ब्रह्मांड में भी यथार्थ यह नहीं वह है।

पंचम प्रपाठक (दूसरा खण्ड)

[महत्व प्राप्त करने की विधि—मन्थ-रहस्य]

इस प्रकरण में जीवन में महत्त्व प्राप्त करने की तान्त्रिकों या याज्ञिकों की बात कही गई है। पहले सृष्टि के स्थावर (औषधि आदि), जंगम (चलते-फिरते जानवरों के पदार्थ—दधि आदि) तथा विहंगम (उड़ने वाले जीवों के पदार्थ—मधु आदि) को लेकर, उन्हें मिला कर, उन्हें मथे—इसी कारण इसे 'मंथ' कहते हैं। इस मंथ में मन्त्रों द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा करे। प्राण-प्रतिष्ठा करते हुए यह सोचे कि 'मंथ' का स्थावर-जगत् मुझे महानता की तरफ़ ले जा रहा है, मंथ का जंगम-जगत् मुझे महानता की तरफ़ ले जा रहा है, मंथ का विहंगम-जगत् मुझे महानता की तरफ़ ले जा रहा है। ये भावनाएँ औषधि, दधि तथा मधु के मंथ में मन्त्रों के जाप द्वारा निहित करे, और इन भावनाओं से भावित मंथ को पी जाये। इस प्रकार ऊँची भावनाओं से भावित किये हुए मन्थ का पान करने से महान् बनने का संकल्प दृढ़ होता है।

यह विधि कुछ विस्तार से बृहदारण्यक उपनिषद् के ६ टे अध्याय के ३ य ब्राह्मण में भी दी हुई है। इसका कुछ विस्तार से उल्लेख हमने अपने एकादशोपनिषद्-भाष्य में दिया है जो ग्रन्थ इस ग्रन्थ से भिन्न ग्रन्थ है।

पंचम प्रपाठक (तीसरे से दसवें खण्ड तक)

[श्वेतकेतु के ५ प्रश्न तथा उनका उत्तर]

श्वेतकेतु अपने पिता से विद्या प्राप्त कर पाँचाल देश के क्षत्रियों की समिति में पहुंचा। वहाँ जैबलि प्रवाहण नाम के एक क्षत्रिय राजा से उसका सामना हुआ। राजा ने श्वेतकेतु से पूछा कि क्या तुम अपने पिता से विद्या ग्रहण कर चुके हो? श्वेतकेतु ने कहा—हाँ, पिता मुझे जो-कुछ पढ़ा सकते थे पढ़ा चुके हैं। राजा ने श्वेतकेतु से पाँच प्रश्न पूछे जिनका वह उत्तर न दे सका। वह घर लौट आया और पिता से शिकायत की कि क्षत्रिय राजा ने मुझ से पाँच प्रश्न किये थे जिनका मैं उत्तर नहीं दे सका। प्रश्न सुनने पर पिता ने कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर तो मैं भी नहीं जानता। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल

में ब्रह्म-विद्या का ज्ञान क्षत्रियों को था, ब्राह्मणों को नहीं था। श्वेत-केतु का पिता इन्हीं प्रश्नों का हल पाने के लिये राजा के पास पहुंचा। राजा ने कहा—यह गुप्त-विद्या है, इस सम्बन्ध में प्रश्न मत पूछो, जितना मानुष-धन चाहो माँग लो—**'तं ह उवाच मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथाः इति'**। श्वेतकेतु के पिता ने उत्तर दिया —हे राजन्, मानुष-धन तो आप अपने पास ही रखो—**'सः ह उवाच तव एव राजन् मानुषं वित्तम्'**, मेरे पुत्र से आपने जो प्रश्न किये थे—**'यां एव कुमारस्यान्ते वाचं अभाषथाः'**, उन्हीं प्रश्नों का मुझे उत्तर दीजिये—**'ताम् एव मे ब्रूहि इति'**। यह उत्तर सुनकर राजा असमंजस में पड़ गया—**'सः ह कृच्छी बभूव'**।

राजा ने श्वेतकेतु के पिता को कहा—यह विद्या तेरे से पहले किसी ब्राह्मण को नहीं दी गई थी—**'न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति'**। यही कारण है कि सब जगह क्षत्रियों का ही राज्य रहा—**'तस्मात् उ सर्वेषु लोकेषु प्रशासनम् अभूत् इति'**।

ब्रह्म-विद्या गुप्त-विद्या थी, उसे सुरक्षित रखा जाता था। यह समझा जाता था कि अगर इस विद्या का ज्ञान अनधिकारी को दिया गया, तो इसका महत्त्व कम हो जायगा। आज सब लोग आध्यात्मि-कता का उपदेश देते हैं, उसे जीवन में कोई नहीं उतारता। यह कहने की विद्या हो गई है, करने की नहीं रही। ब्रह्म-ज्ञान का मुख्य उद्देश्य जीवन को बदल देना है। जिनका जीवन भौतिकवादी है, वे जब अध्यात्मवाद का उपदेश देते हैं, तब अध्यात्म की कोई कीमत नहीं रहती। जैबलि प्रवाहण भी सोच में पड़ गया कि श्वेतकेतु के पिता को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दे या न दे। इसीलिये उसे कहा—मानुष-धन माँग लो, ब्रह्म-विद्या मत माँगो। परन्तु जिज्ञासु तो ब्रह्म-ज्ञान ही पाना चाहता था। उसने उत्तर दिया—**'तव एव राजन् मानुषं वित्तम्'** —हे राजन्, मानुष-धन तो आप अपने पास ही रखो। उपनिषद् के जिज्ञासुओं की यही मनोवृत्ति सब उपनिषदों में पायी जाती है। नचिकेता ने भी यमाचार्य से अध्यात्म की जिज्ञासा की थी। यमाचार्य ने भी अध्यात्म का उपदेश देने में आनाकानी की थी, सांसारिक वैभव देने का लालच दिया था। नचिकेता ने भी यही उत्तर दिया था—**'तवैव वाहाः तव नृत्यगीते'**—हे यमाचार्य, ये हाथी-घोड़े, नाच-गाना मुझे नहीं चाहिये, यह सब आप अपने पास रखो। याज्ञवल्क्य जब वन

को चले तब मैत्रेयी को धन-धान्य देने लगे। उसने भी यही पूछा—यह सब-कुछ आप क्यों नहीं रखते, आप क्यों छोड़ रहे हो। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—**'न वित्तेन तर्पणीयः मनुष्यः'**—वित्त से मनुष्य की अन्तिम तृप्ति नहीं होती।

अन्त में, राजा ने श्वेतकेतु के पिता का आग्रह देख कर उसके प्रश्नों का उत्तर देना शुरू किया। प्रश्न तो राजा ने स्वयं यह जानने के लिये खड़े किये थे कि श्वेतकेतु को अध्यात्म के इन प्रश्नों का कुछ ज्ञान है या नहीं, परन्तु स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई कि राजा को ही इन प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा। प्रश्न निम्न थे :

(१) क्या तुम्हें मालूम है कि मर कर मनुष्य यहाँ से कहाँ जाता है?

(२) क्या तुम्हें मालूम है कि मरने के बाद वह लौटकर कैसे आता है?

(३) क्या तुम्हें मालूम है कि 'देवयान' तथा 'पितृयाण' के मार्ग कहाँ अलग-अलग हो जाते हैं?

(४) क्या तुम्हें मालूम है कि इतने प्राणियों के मरते रहने पर भी मृत्यु के पार का लोक भर क्यों नहीं जाता?

(५) क्या तुम्हें मालूम है कि 'जल' पाँचवीं आहुति में किस प्रकार पुरुष बनकर बोलने लगता है?

पहले चार प्रश्न मृत्यु के सम्बन्ध में हैं, पाँचवाँ प्रश्न जन्म के सम्बन्ध में है, परन्तु मृत्यु की समस्या जन्म से हल होती है, इसलिये उत्तर देते हुए उपनिषत्कार पहले जन्म के प्रश्न का उत्तर देते हुए पाँचवें प्रश्न को पहले लेते हैं :

पंचम प्रश्न का उत्तर—पंचम प्रश्न यह था कि जल किस प्रकार पाँचवीं आहुति में पुरुष बनकर बोलने लगते हैं?

उपनिषत्कार ने पिंड तथा ब्रह्मांड को मिलाकर सर्वत्र पाँच यज्ञों की कल्पना की है। एक यज्ञ द्यु-लोक में हो रहा है जिसमें सूर्य समिधा है, किरणें धुआँ हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्र अंगार है, नक्षत्र चिनगारियाँ हैं; दूसरा यज्ञ पर्जन्य में हो रहा है जिसमें वायु समिधा है, अभ्र धूआँ है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अंगारे हैं, गर्जन चिनगारियाँ हैं; तीसरा यज्ञ पृथिवी में हो रहा है जिसमें संवत्सर समिधा है, आकाश धूँआ है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अंगारे हैं, अवान्तर दिशाएँ, चिनगारियाँ हैं—

ये तीन यज्ञ **'ब्रह्मांड'** में हो रहे हैं, बाकी दो यज्ञ पिंड में हो रहे हैं। इस यज्ञ-शृंखला में चौथा यज्ञ **'पिंड'**—अर्थात् पुरुष के जीवन में हो रहा है जिसमें वाणी समिधा है, प्राण धूँआ है, जिह्वा ज्वाला है, आँख अंगारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं। इस चौथे यज्ञ में देव-गण अन्न की आहुति देते हैं जिससे रेतस् (वीर्य) उत्पन्न होता है। यह वीर्य, जो जल-समान है, स्त्री के गर्भाशय में जाकर पुरुष को जन्म देता है जो उत्पन्न होने पर बोलने लगता है। यहाँ उपनिषत्कार ने गर्भाधान को भी यज्ञ का रूप दिया है। यज्ञों की शृंखली में **द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष** तथा **स्त्री**—इस यज्ञ-शृंखला में पाँचवाँ स्थान स्त्री को दिया है जो जन्म का कारण है, जिसमें अन्न से बना हुआ वीर्य पुरुष को जन्म देता है जो उत्पन्न होने पर बोलने लगता है।

वीर्य को जल की पाँचवीं आहुति क्यों कहा? पहले **जल** (१) था, वह सूर्य से तप कर **बादल** (२) में गया, बादल से बरस कर **पृथिवी** (३) में गया, पृथिवी में जाकर **अन्न** (४) में गया, अन्न से जाकर **वीर्य** (५) में गया। इस प्रकार वीर्य—जो सृष्टि के ब्रह्मांड तथा पिंड में हो रहे सार्वत्रिक यज्ञ की पाँचवीं आहुति है, वह गर्भाधान से प्रसव होने पर सन्तान के रूप में आहुति बनकर बोलने लगती है।

इस सारे वर्णन का अभिप्राय सन्तानोत्पत्ति को यज्ञ का रूप देना है। सृष्टि में सर्वत्र यज्ञ हो रहा है, सन्तानोत्पत्ति भी एक यज्ञ है। यज्ञ के साथ जो पवित्र भावनाएँ लगी हुई हैं, वही सन्तानोत्पत्ति के साथ होनी चाहियें—यह उपनिषत्कार का अभिप्राय है।

ब्रह्मांड-यज्ञ तथा पिण्ड-यज्ञ का विवरण

ब्रह्माण्ड-यज्ञ अथवा सृष्टि-यज्ञ				पिण्ड-यज्ञ अथवा व्यष्टि-यज्ञ	
यज्ञ	द्युलोक	पर्जन्य-लोक	पृथिवी-लोक	पुरुष-लोक	स्त्री-लोक
समिधा	सूर्य	वायु	संवत्सर	वाणी	उपस्थ
धूम्र	रश्मि	अभ्र	आकाश	प्राण	उपमन्त्रणा
ज्वाला	दिवस्	विद्युत्	रात्रि	जिह्वा	योनि
अंगाराः	चन्द्र	वज्र	दिशाएँ	चक्षु	अन्तः करोति
विस्फुलिंगाः	नक्षत्र	गर्जन	अवान्तर दिशाएँ	श्रोत्र	अभिनन्दाः

अन्य प्रश्नों का उत्तर—जैसा हमने कहा, सारा प्रश्न तो मृत्यु से सम्बन्ध रखता है, परन्तु क्योंकि जीवन का पहला छोर जन्म है, अन्तिम छोर मृत्यु है, इसलिये मृत्यु की चर्चा करते हुए उपनिषत्कार ने जन्म की चर्चा पहले की है। संसार में सर्वत्र चल रहे यज्ञ की प्रक्रिया में जन्म भी एक यज्ञ है। अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि मर कर मनुष्य कहाँ जाता है? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं कि मनुष्य दो तरह के होते हैं—निष्काम-कर्मी तथा सकाम-कर्मी। निष्काम-कर्मी वे हैं जो अरण्य में श्रद्धा और तप से उपासना में लीन रहते हैं—**'ये च इमे अरण्ये श्रद्धा तपः इति उपासते'**। वे मर कर ज्योति की ओर उन्मुख होते हैं—**'ते अर्चिषम् अभिसंभवन्ति'**। वे ज्योतिमय मार्ग पर चलते हुए उत्तरायण मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं—**'सः एनान् ब्रह्म गमयति'**। यह देवताओं का मार्ग है—**'एषः देव-यानः पन्थाः इति'**। सकाम-कर्मी वे हैं जो ग्राम या बस्ती में रह कर—**'अथ ये इमे ग्रामे'**, कूएँ-बावड़ी बनवाकर, दान-दक्षिणा देकर भगवान् की उपासना करते हैं—**'इष्टापूर्ते दत्तं इति उपासते'**। वे मर कर धूम्र-सदृश मार्ग की ओर उन्मुख होते हैं—**'ते धूम्रं अभिसंभवन्ति'**। वे धूम्र-मय मार्ग पर चलते हुए दक्षिणायन मार्ग से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं—चन्द्र-लोक का अर्थ चाँद नहीं, अपितु यह है कि वे आह्लादपरक स्थिति में जा पहुँचते हैं। मर कर मनुष्य कहाँ जाते हैं—इस प्रश्न का उत्तर हो गया। अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि मरने के बाद लौट कर कैसे आते हैं।५।

निष्काम-कर्मियों के लिये तो कहा कि वे ब्रह्म-लोक में चले जाते हैं। सकाम-कर्मियों के लिये कहा है कि वे चन्द्र-लोक में जाते हैं, परन्तु आनन्द का उपभोग कर, कर्म क्षीण होने पर लौट आते हैं। उनके लौटने का वही मार्ग है जिस मार्ग से वे गये थे। जाते हुए वे आकाश-लोक तक पहुँच कर चन्द्र-लोक में गये थे। अब चन्द्र से आकाश, आकाश से वायु, वायु से धूम्र, धूम्र से अभ्र लोक में आकर बरस पड़ते हैं। बरस कर धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल, माष—किसी में भी जा पहुँचते हैं। बस इन में से निकलना कठिन होता है—**'अतः वै खलु दुः निष्प्र-पतरम्'**। जो-जो भी अन्न खाता है, उसके वीर्य से उस जैसी ही सन्तान उत्पन्न होती है—**'यः यः हि अन्नं अत्ति, यः रेतः सिंचति, तद् भूयः एव भवति'**।६।

इनमें सकाम-कर्मियों का जीवन दो योनियों में जा सकता **है।** कर्मयोनि के प्राणी मनुष्य-योनि में जाते है, भोग-योनि के प्राणी पशु-योनि में चले जाते हैं। मनुष्य-योनि में जो जाते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होते हैं, पशु-योनि में जो जाते हैं वे कुत्ता, सूअर आदि प्राणी हो जाते हैं। मनुष्य तथा पशु योनि के लिये कहा गया है कि ये जीते हैं, मरते हैं—**'जायन्ते म्रियन्ते'** ।७।

एक प्रश्न यह था कि क्या तुम्हें मालूम है कि देवयान तथा पितृयाण मार्ग कहाँ अलग-अलग हो जाते हैं। हमने देखा कि निष्काम-कर्मी ब्रह्म-लोक को जाते हैं, सकाम-कर्मी चन्द्र-लोक को जाते हैं। मरने पर शुरू-शुरू में दोनों का मार्ग एक ही है—ब्रह्म-लोक तथा चन्द्र-लोक के बीच में सूर्य-लोक पड़ता है। यहाँ तक तो निष्काम-कर्मियों तथा सकाम-कर्मियों का मार्ग एक ही है, वहाँ से दोनों का मार्ग अलग-अलग हो जाता है, निष्काम-कर्मी वहाँ से ब्रह्म-लोक की तरफ़ मुड़ जाते हैं, सकाम-कर्मी वहाँ से चन्द्र-लोक की तरफ़ मुड़ जाते हैं। चन्द्र-लोक से अभिप्राय पृथिवी के गिर्द घूमने वाला चन्द्र नहीं है, यह चन्द्र-लोक सूर्य से भी आगे है।

मरने पर मनुष्य की गति क्या होती है—इस पर यह राजा जैबलि प्रवाहण का अपना मत है। निश्चित तौर पर ऐसा ही होता है—यह नहीं कहा जा सकता।

पंचम प्रपाठक (ग्यारहवें से चौबीसवें खंड तक)

[राजा अश्वपति का उपदेश—'वैश्वानर' (Cosmic soul) क्या है]

पंचम प्रपाठक के इन १४ खंडों में पाँच सेठों का उल्लेख है जो बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं के स्वामी थे—**'महाशालाः'**, और धनिक होने के साथ बड़े विद्वान् भी थे—**'महाश्रोत्रियाः'**। वे आत्मा तथा ब्रह्म की खोज में निकले। वे पहले अरुण के पुत्र उद्दालक के पास पहुंचे। अब अरुण को मिला कर ये पाँच के स्थान में छः हो गये। उन्हें पता चला कि कैकेय देश का राजा अश्वपति बड़ा ब्रह्मज्ञ है। वे उसके पास पहुँचे। राजा ने उन्हें अपनी अतिथिशाला में ठहराया और अपने राज्य के विषय में उनसे कहा :

मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है—**'न मे स्तेनो जनपदे'**, कोई कृपण

नहीं है—**'न कदर्यः'**, कोई अग्निहोत्र न करने वाला नहीं है—**'न अनाहिताग्निः'**, कोई अविद्वान् नहीं है—**'न अविद्वान्'**, कोई स्वेच्छाचारी नहीं है—**'न स्वैरी'**, स्वेच्छाचारी नहीं है तो स्वेच्छाचारिणी कैसे हो सकती है—**'स्वैरिणी कुतः'** (५-११-५)। मैं यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला हूँ—**'यक्ष्यमाणः वै भगवन्तः अस्मि'**। मैं एक-एक ऋत्विज को जो दक्षिणा दिया करता हूँ—**'यावत् एकैकस्मै ऋत्विजे धनम् दास्यामि'**, उतना ही आप लोगों को दक्षिणा दूँगा—**'तावत् भगवद्भ्यः दास्यामि'**। आप लोग मेरे यहाँ निवास करें—**'वसन्तु भगवन्तः इति'**। ५-११-५।

छहों जिज्ञासुओं ने कहा—**'ते ह ऊचुः'**, जिस प्रयोजन से मनुष्य घूम रहा हो—**'येन ह एव अर्थेन पुरुषः चरेत्'**, उसी प्रयोजन की चर्चा करनी चाहिये—**'तम् ह एव वदेत्'**। हे राजन्! आप वैश्वानर आत्मा के विषय में ही खोज कर रहे हो—**'आत्मानं एव इमम् वैश्वानरं सम्प्रति अध्येषि'**, इसलिये दक्षिणा की बात न करके वैश्वानर-आत्मा की ही हम से चर्चा कीजिये—**'तम् एव नः ब्रूहि इति'**।५-११-६।

वैश्वानर-आत्मा के विषय में अश्वपति ने क्या खोज की थी—इसे बतलाने से पहले उसने इन पाँचों जिज्ञासुओं से पूछा कि तुम इसके विषय में क्या जानते हो? उपमन्यु के वंशज प्राचीनशाल ने कहा कि हे राजन्, **'द्यु-लोक'** को मैं वैश्वानर मान कर उसकी उपासना करता हूँ—**'दिवं एव भगवः राजन्'**! राजा ने कहा—ठीक है, परन्तु यह वैश्वानर का पूर्ण रूप नहीं है, यह उसका **'तेजोमय'** रूप ही है—**'एषः वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः यं त्वम् आत्मानं उपास्से'**। फिर पुलुष के वंशज सत्ययज्ञ से पूछा कि तुम इस विषय में क्या जानते हो? उसने कहा कि हे राजन्, मैं **'आदित्य'** को वैश्वानर मान कर उसकी उपासना करता हूँ—**'आदित्यं एव भगवः राजन्'**! राजा ने कहा—ठीक है, परन्तु यह वैश्वानर का पूर्ण रूप नहीं है, यह उसका, **'विविध'** रूप है, सर्व-प्रकाशक रूप है—**'एषः वै विश्वरूपः आत्मा यं त्वम् आत्मानं उपास्से'**। फिर भल्लव के वंशज इन्द्रद्युम्न से पूछा कि तुम इस विषय में क्या जानते हो? उसने कहा कि हे राजन्, मैं **'वायु'** को वैश्वानर मान कर उसकी उपासना करता हूँ—**'वायुं एव भगवः राजन्'**! राजा ने कहा—ठीक है, परन्तु यह वैश्वानर का पूर्ण रूप नहीं, यह उसका भिन्न-भिन्न मार्गों में बहने वाला **'पृथग् वर्त्मा'** रूप है—**'एषः वै पृथग्वर्त्मा आत्मा वैश्वानरः यं त्वम् आत्मानं उपास्से'**। फिर शर्कराक्ष

के वंशज जन से पूछा कि तुम इस विषय में क्या जानते हो ? उसने कहा कि हे राजन्, मैं **'आकाश'** को वैश्वानर मान कर उसकी उपासना करता हूँ—**'आकाशं एव भगवः राजन्'** ! राजा ने कहा—ठीक है, परन्तु यह वैश्वानर का पूर्ण रूप नहीं, यह उसका बहुल, **'अनन्त'** रूप है—**'एषः वै बहुलः आत्मा वैश्वानरः यं त्वम् आत्मानं उपास्से'**। फिर अश्वतराश्व के वंशज बुडिल से पूछा कि तुम इस विषय में क्या जानते हो ? उसने कहा कि हे राजन्, मैं **'जल'** को वैश्वानर मान कर उसकी उपासना करता हूँ—**'अपः एव भगवः राजन्'** ! राजा ने कहा, ठीक है, परन्तु यह वैश्वानर का पूर्ण रूप नहीं है, यह उसका **'रयि'** रूप है—**'एषः वै रयिः आत्मा वैश्वानरः यं त्वम् आत्मानं उपास्से'**। फिर अरुण के वंशज उद्दालक से पूछा कि तुम इस विषय में क्या जानते हो ? उसने कहा कि राजन्, मैं **'पृथिवी'** को वैश्वानर मान कर उसकी उपासना करता हूँ—**'पृथिवीम् एव भगवः राजन्'** ! राजा ने कहा—ठीक है, परन्तु यह वैश्वानर का पूर्ण रूप नहीं, यह उसका **'प्रतिष्ठा'**—सबको संभालना—रूप है—**'एषः वै प्रतिष्ठा आत्मा वैश्वानरः यं त्वम् आत्मानं उपास्से'**। ५-१७,१।

इतना कह चुकने के बाद अश्वपति कैकेय ने उन सब उपासकों को सम्बोधित करके कहा—आप लोग वैश्वानर-आत्मा के पृथक्-पृथक् रूप की उपासना करते रहे—**'वै खलु यूयम् पृथक् इव इमम् आत्मानम् वैश्वानरं विद्वांसः'**। यह आपका ज्ञान उसके एक प्रदेश का ज्ञान है—**'प्रादेशमात्रम्'** (५-१८,१)। उसका विराट् स्वरूप देखना हो, तो यह समझ लो कि द्यु-लोक उसका मूर्धा है, आदित्य उसका चक्षु है, वायु उसका प्राण है, अनन्त आकाश उसका धड़ है, जल उसका बस्ति-प्रदेश है, पृथिवी उसके पांव हैं, यज्ञ की वेदी उसकी छाती है, यज्ञ की कुशा उसके रोम हैं, गार्हपत्याग्नि उसका हृदय है, अन्वाहार्यपचनाग्नि उसका मन है, आहवनीयाग्नि उसका मुख है (५-१८,२)। पुरुष रूप में उसकी कल्पना करनी हो तो विश्व में नर (Cosmic man) की कल्पना का यह रूप है, भगवान् की खोज करनी हो तो उसके एक पक्ष को लेकर मत बैठे रहो, सम्पूर्ण सृष्टि को भगवान् का रूप समझो। गीता के ग्यारहवें अध्याय में श्री कृष्ण ने जो विराट् रूप दिखलाया है उसके आधार में अश्वपति की यही विचारधारा है।

षष्ठ प्रपाठक (एक से सात खण्ड तक)

[श्वेतकेतु को उसके पिता का 'सदेवेदं अग्रे आसीत्' का उपदेश]

प्राचीन-काल में अरुण का वंशज श्वेतकेतु था। उसे उसके पिता ने कहा—पुत्र, हमारे कुल में कोई व्यक्ति 'ब्रह्म-बन्धु' नहीं रहा—अर्थात्, ऐसा नहीं रहा जिसकी योग्यता सिर्फ़ यह हो कि उसके रिश्ते-दार ब्रह्म-ज्ञानी थे। उसे स्वयं ब्रह्म-ज्ञानी होना चाहिये, इसलिये तुम ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने किसी योग्य गुरु के पास जाओ। वह १२ वर्ष की आयु में आचार्य के पास गया और २४ वर्ष की आयु में सब वेदों का ज्ञान प्राप्त कर—**'सर्वान् वेदान् अधीत्य'**, घर लौट आया। पिता ने देखा कि पुत्र को अपने पाण्डित्य का बड़ा घमण्ड है—वह **'अनूचान-मानी'** हो गया है, और पाण्डित्य में फूला तहीं समाता—**'स्तब्धः'**। पिता ने पूछा—क्या तेरे गुरु ने तुझे वह ज्ञान दिया जिसके जानने से अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है—**'येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमंत मतं, अविज्ञातं विज्ञातं इति'**। ६-१,३।

श्वेतकेतु ने पिता से पूछा—वह ज्ञान किस प्रकार का है ? पिता ने उत्तर दिया—सोम्य ! जिस प्रकार मट्टी के एक ढेले के जान लेने से संसार के सभी मट्टी से बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है—**'यथा सोम्य, एकेन मृत्पिडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्'**, वे सब पदार्थ मिट्टी के विकार हैं, केवल वाणी से कहने की वस्तु हैं, **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'**, परन्तु वास्तव में मिट्टी ही सत्य-वस्तु है—**'मृत्तिका इति एव सत्यम्'**। ६-१,४।

फिर पिता ने कहा—जैसे सीसे से बने नुहरने के जानने से सीसे के सब पदार्थ जाने जाते हैं, सीसे से जो पदार्थ बने हैं वे सीसे के ही विकार हैं, नाम भिन्न-भिन्न हैं, सीसा ही सद्-वस्तु है, मृत्तिका तथा सीसे को जान लेने से मृत्तिका तथा सीसे से बने सब पदार्थ जान लिये जाते हैं, इसी प्रकार सृष्टि का आधार एक सत् है, उस सत् को जान लेने से सारी सृष्टि जान ली जाती है। श्वेतकेतु, क्या तुम्हारे गुरु ने उस सत् का तुम्हें उपदेश दिया ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं, हो सकता है, वे स्वयं न जानते हों, जानते होते तो मुझे क्यों न बतलाते। पिता जी, आप ही मुझे उस सत् का उपदेश दीजिये। पिता ने कहा—'तथास्तु'।

श्वेतकेतु के पिता ने उसे उपदेश देना शुरू किया—हे सोम्य ! सृष्टि के प्रारम्भ में 'सत्' ही था—एक अद्वितीय—**'सत् एव सोम्य इदं अग्रे आसीत्, एकम्, अद्वितीयम्'**। कई लोग कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में **'सत्'** नहीं था, **'असत्'** था—**'तत् ह एके आहुः असद् एव इदम् अग्रे आसीत्'**। उस **'असत्'** से **'सत्'** हुआ—अभाव से भाव हुआ—**'असतः सद् अजायत'**।६-२,१।

परन्तु 'असत्'—अभाव—से 'सत्'—भाव कैसे हो सकता है—**'कथम् असतः सत् जायेत इति'**। इसलिये मानना पड़ता है कि सृष्टि के आरम्भ में 'सत्' ही था—एक, अद्वितीय, **'सत् तु एव सोम्य इदम् अग्रे आसीत्, एकम् अद्वितीयम्'**।६-२,२।

सत् से ही सृष्टि का निर्माण हुआ, एक से अनेक-विध सृष्टि की रचना हुई। अनेक-विध सृष्टि की रचना में तीन तत्व आधारभूत रहे—अग्नि, जल तथा पृथिवी। अग्नि के लिये उपनिषत्कार ने 'तेज'-शब्द का, जल के लिये 'आपः'-शब्द का, तथा पृथिवी के लिये 'अन्न'-शब्द का प्रयोग किया है। इन तीनों के मिश्रण से जो-कुछ बना उसमें अंडे से उत्पन्न होने वाले **'अण्डज'**, जरायु से उत्पन्न होने वाले **'जीवज'** तथा पृथिवी भेद कर उत्पन्न होने वाले **'उद्भिज'** प्रकट हुए।६-३,१।

'अण्डज' पक्षी संख्यातीत हैं, विविध हैं, अनेक हैं; 'जीवज' पशु भी संख्यातीत हैं, विविध हैं, अनेक हैं; 'उद्भिज' पेड़-पौधे-लता भी संख्यातीत हैं, विविध हैं, अनेक हैं; परन्तु इन सबको श्वेतकेतु के पिता ने तेज-जल-अन्न—इन तीनों में विलीन कर दिया है। ये तीन भी तीन नहीं हैं—ये नाम और रूप ही हैं। सृष्टि के आदि 'सत्' ने नाम रूपात्मक विविध सृष्टि की रचना की—**'नाम रूपे व्याकरवाणि इति'**। ६-३,२।

उपनिषत्कार का कहना है कि सृष्टि के आदि में 'असत्'—अभाव—नहीं था, 'सत्'—भाव—था। उसी सत् से इस सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक सृष्टि की रचना हुई। अब षष्ठ प्रपाठक के अगले भाग में बतलाते हैं कि वह 'सत्' क्या था ?

षष्ठ प्रपाठक (आठवें से सोलहवें खण्ड तक)

[श्वेतकेतु को पिता का 'तत्वमसि' उपदेश]

श्वेतकेतु के पिता का नाम था उद्दालक, उद्दालक के पिता का नाम था अरुण। उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाया था कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'सत्' ही था। सृष्टि का विकास होते समय 'तेज', 'जल' तथा 'अन्न' के सम्मिश्रण से अण्डज, जीवज तथा उद्भिज उत्पन्न हुए। अगर सृष्टि का आदि सोचने के लिये पीछे को चलें तो अन्न से जल, जल से तेज तक पहुँचते हैं। इनका भी कारण ढूँढें तो **'सत्'** तक पहुँच जाते हैं—**'सन्मूलाः सोम्य इमाः सर्वाः प्रजाः'** ।६-८,४।

इससे आगे समझाते हुए उद्दालक ने कहा कि भूख-प्यास तो ऐसी चीजें हैं जो हर-एक को सताती हैं। इन पर विचार किया जाय, तब इनकी भी डोर पकड़ कर मनुष्य इसी परिणाम पर पहुंचता है कि इनका भी कारण **'सत्'** ही है। भूख-प्यास **'सत्'** नहीं हैं, ये तो नाम-रूप हैं, इनका कारण वही **'सत्'** है, जो संसार की हर वस्तु का कारण है। उपनिषत्कार का कहना यह है कि जो लोग कहते हैं कि सृष्टि अभाव से उत्पन्न हुई, वे नासमझी की बात करते हैं। अभाव से कुछ नहीं उत्पन्न हो सकता। आदि-उत्पत्ति-स्थान **'सत्'** है। वही **'सत्'** हर वस्तु का कारण है। सृष्टि में जो-कुछ दीखता है उसका उसी **'सत्'** से प्रादुर्भाव हुआ है, जब यह सब-कुछ मिटता है तब वह **'सत्'** नहीं मिटता, नानारूप जगत् उसी में लीन हो जाता है। उदाहरणार्थ :

हे सोम्य ! जैसे मधु-मक्खियाँ मधु को बनाती हैं—**'यथा सोम्य मधु मधुकृतः निस्तिष्ठन्ति'**, नाना प्रकार के फलों के वृक्षों के रसों को लेकर अनेक रसों का एक रस बना देती हैं—**'नानात्ययानाम् वृक्षाणां रसान् समवहारम् एकतां रसं गमयन्ति'**, वे इस शहद के छत्ते में पहुँचकर यह विवेक नहीं कर सकते—**'ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते'**, कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ—**'अमुष्य अहं वृक्षस्य रसः'**, अमुक वृक्ष का रस हूँ—**'अमुष्य अहं वृक्षस्य रसः अस्मि इति'**, हे सोम्य ! इसी प्रकार—**'एवं एव खलु सोम्य'**, ये सब जीव-जन्तु—**'इमाः सर्वाः प्रजाः'**, उस **'सत्'** में पहुँचकर—**'सति संपद्य'**, यह नहीं जानते कि हम सब उसमें लीन हो जाते हैं—**'न विदुः सति संपद्यामहे इति'** ।६-९,१,२।

हे सोम्य ! जैसे पूर्व की नदियाँ पूर्व को बहती हैं, पश्चिम की

नदियाँ पश्चिम को, परन्तु वे स्वयं क्या हैं ? समुद्र से वाष्प द्वारा जो पानी उठा वही नदी बन कर समुद्र में जा पहुंचता है और समुद्र ही हो जाता है—**'समुद्रात् समुद्रं अपियन्ति समुद्रः एव भवन्ति'**, उन्हें जैसे मालूम नहीं होता—**'ताः यथा न विदुः'**—कि मैं यह जल हूँ—**'इयम् अहम् अस्मि इति'**, कि मैं यह जल हूँ—**'इयम् अहम् अस्मि इति'**। ६-१०,१।

हे सोम्य ! इसी प्रकार संसार के प्राणी-मात्र उसी **'सत्'** से आते हैं—**'एवं एव खलु सोम्य, इमाः प्रजाः सतः आगम्य'**, यह नहीं जानते कि हम **'सत्'** से ही आते हैं—**'न विदुः सतः आगच्छामहे इति'**। ६-१०,२।

वह जो अणिमा है, सूक्ष्म-तत्त्व है—**'सः यः अणिमा'**, यह सब स्थूल-जगत् उसीका आत्मा है, उसीका शरीर है—**'एतद् आत्म्यम् इदम् सर्वम्'**। वह अणिमा ही सत्य है, **'सत्'** है—**'तत् सत्यम्'**, वह अणिमा ही आत्मा है—**'सः आत्मा'**। हे श्वेतकेतो, तू वही है—**'तत् त्वं असि श्वेतकेतो'**।६-१०,३।

यहाँ आत्मा शब्द दो बार आया है। यह स्थूल-जगत् उसका आत्मा है; वह अणिमा आत्मा है। इस 'सन्दर्भ' में पहला 'आत्मा'-शब्द शरीर के लिये प्रयुक्त हुआ है, दूसरा 'आत्मा'-शब्द आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'आत्मा'-शब्द के दोनों अर्थ हैं। उपनिषदों में शरीर को भी कहीं-कहीं आत्मा कहा गया है।

उपनिषत्कार इस प्रकरण में यह समझा रहे हैं कि जो-कुछ दीखता है उसे हम **'सत्'** मानते हैं, परन्तु वास्तव में तो जो नहीं दीखता, जो इस दृश्यमान के पीछे इसे जीवन दान दे रहा है, वही **'सत्'** है। वह **'सत्'** सूक्ष्महोता हुआ भी सर्वत्र विद्यमान है। हर वस्तु का आधार वही **'सत्'** है। संसार में नाना पदार्थ अलग-अलग दीखते हैं, परन्तु सब का आधार **'सत्'** है, जो हर वस्तु में, हर वस्तु के कण-कण में विद्यमान है। इस भाव को स्पष्ट करते हुए उद्दालक श्वेतकेतु को कहते हैं :

हे सोम्य ! अगर किसी वृक्ष के मूल में प्रहार करें, तो रस बह पड़ता है, मध्य में प्रहार करें, तब भी रस बह पड़ता है, वृक्ष की शाखा, पत्ते अलग-अलग हैं, परन्तु रस सम्पूर्ण वृक्ष के रेशे-रेशे में विद्यमान है, इसी प्रकार संसार की हर वस्तु अलग-अलग दीखती है, परन्तु **'सत'** सब में विद्यमान रहता है।

दीखता नहीं तो क्या। हे श्वेतकेतु ! इस वाटिका में से वट-वृक्ष का फल लाओ—**'न्यग्रोध फलम् अतः आहर इति'**। श्वेतकेतु ने फल लाकर कहा, भगवन्, ले आया—**'इदं भगवः इति'**। पिता ने कहा, इसे तोड़ो—**'भिन्धि इति'**, पुत्र ने कहा, तोड़ दिया—**'भिन्नम् भगवः इति'**। पिता ने कहा, क्या दीखता है– **'किं पश्यसि इति'** ? पुत्र ने कहा, इसमें छोटे-छोटे अणु-प्रमाण दाने दीखते हैं—**'अण्व्यः इव इमाः धानाः भगवन् इति'**। हे पुत्र, इनमें से एक दाने को लेकर तोड़ो—**'आसां एकां भिन्धि इति'**। पुत्र ने कहा, तोड़ दिया—**'भिन्ना भगवः इति'**। पिता ने कहा, क्या दीखता है—**'किं अत्र पश्यसि इति'** ? पुत्र ने कहा, कुछ नहीं दीखता—**'न किंचन भगवः इति'**। ६-१२,१।

उद्दालक ने पुत्र को कहा—हे सोम्य, जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है, जिस अणु रूप को तू नहीं देख पा रहा, इस अणु पर ही यह महान् न्यग्रोघ का वृक्ष खड़ा हुआ है—**'अणिम्नः एवं महान् न्यग्रोधः तिष्ठति'**। इस बात को श्रद्धापूर्वक मान—**'श्रद्धत्स्व सोम्य इति'**। ६-१२,२।

फिर पिता ने पुत्र को कहा कि पानी में नमक की डली डाल दो, और कल मेरे पास आना। अगले दिन जब श्वेतकेतु पिता के पास पहुंचा तो पिता ने कहा, जो नमक की डली रात पानी में डाली थी वह जाकर ले आओ—**'यद् दोषा लवणं उदके अवाधाः अंग तद् आहर'**। श्वेतकेतु ने जाकर देखा किन्तु छानबीन करने पर भी नमक की डली न मिली—**'तद् अवमृश्य न विवेद'**। ६-१३,१।

पिता ने कहा, प्यारे ! लवण पानी में लीन हो गया है। इसे ऊपर से आचमन कर, कैसा है ? लवण है। मध्य से आचमन कर, कैसा है ? लवण है। नीचे से आचमन कर, कैसा है ? लवण है। अरे, लवण तो दीखता नहीं परन्तु जल चखने से वैसे-का-वैसा है। पिता ने कहा—वह **'सत्'** जिससे सृष्टि बनी है, वह भी यही है, वह दीख नहीं रहा, परन्तु निश्चय से वह यहीं है। हे श्वेतकेतु, आत्मा सर्वत्र है, दीख नहीं रहा, तू भी अपने को शरीर मत समझ, तू भी वह आत्मा है—**'सः आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'**। ६-१३,३।

श्वेतकेतु के मन में शंका उठी कि अगर मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ, तो मैं शरीर को ही 'मैं' समझ कर भटका क्यों फिर रहा हूँ। इसका समाधान करते हुए उसके पिता कहते हैं :

हे सोम्य ! जैसे कोई गन्धार देश के किसी व्यक्ति को आँखें बांध कर निर्जन स्थान में लाकर छोड़ दे, वह जैसे शोर मचा कर दिशाओं को गुंजा देता और चिल्लाता है कि आँखें बाँध कर मुझे पकड़ लाये हैं और आँखें बांधे ही छोड़ गये हैं :

जैसे कोई उसके बन्धन खोल कर उसे कहे, अमुक दिशा में गंधार देश है, उधर चले जाओ, वह बुद्धिमान् गाँव-गाँव पूछता हुआ गंधार देश को पहुंच जाता है, ठीक इसी तरह आचार्य अर्थात् गुरु को पाकर यह भटकता हुआ पुरुष अपने **'सत्'** को पाने के लिये चल देता है— **'एवम् एव इह आचार्यवान् पुरुषः वेद'**। इस संसार में बन्धे रहने की अवधि तो उतनी ही है—**'तस्य तावत् एव चिरं'**—जब तक कोई रास्ते पर डालने वाला गुरु उसकी आँखों पर बंधी पट्टी को खोल कर उसे मुक्त नहीं कर देता—**'यावत् न विमोक्ष्ये'** ।६-१४,२।

सप्तम प्रपाठक (प्रथम से छब्बीसवें खण्ड तक)

[नारद को सनत्कुमार का उपदेश]

कहते हैं कि एक बार सनत्कुमार, अर्थात् सदा कुमार-रूप रहने वाले ऋषि के पास नारद मुनि पहुंचे और उनसे कहा—भगवन् ! मुझे ज्ञान दीजिये। ऋषि ने कहा, जो-कुछ तुम पहले जानते हो वह बतलाओ, तब मैं उससे आगे की शिक्षा दूँगा—**'ततः ते ऊर्ध्वं वक्ष्यामि इति'**। ७-१,१।

नारद ने कहा—भगवन्, मैंने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, पित्र्य, राशि, दैव-विद्या, निधि-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, विष-विद्या, ललित-कला—इन सबको पढ़ा है, परन्तु भगवन् ! मैं यह सब पढ़ कर **'मंत्रविद्'** ही हुआ हूँ, **'आत्म-विद्'** नहीं हुआ, **'सः अहम् मन्त्रविद् एव अस्मि न आत्मविद्'**। मैंने आप सरीखे विद्वानों से सुना है—**'श्रुतं हि एव मे भगवद् दृशेभ्यः'**—कि जो आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह शोक-सागर को तर जाता है— **'तरति शोकं आत्मविद् इति'**। हे भगवन्, वह मैं शोक-मग्न रहता हूं— **'सः अहम् शोचामि'**। आप कृपा करके मुझे शोक-सागर से पार तार दें—**'तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु'**।

ऋषि ने कहा, परन्तु तुमने वेदादि शास्त्रों का जो ज्ञान प्राप्त किया है वह नाम-मात्र का ज्ञान है, इसे **'नाम'-ब्रह्म** कह सकते हैं। तुमने शास्त्र पढ़ लिये हैं, गुने नहीं, शब्द-ज्ञान तक पहुंचे हो आत्म-ज्ञान तक नहीं पहुंचे—**'यद् वै किंच एतद् अध्यगीष्ठाः नाम एव एतत्'**। ७-१,२,३,४।

नारद ने पूछा कि जो-कुछ मैं पढ़ आया हूं उससे आगे भी कुछ है? सनत्कुमार ने कहा—हाँ, है। तो भगवन्, 'नाम'-ब्रह्म के आगे जो-कुछ है उसकी शिक्षा दीजिये। गुरु ने कहा—नाम के आगे **'वाणी'-ब्रह्म** है। शब्द-मात्र का ज्ञान तो प्रारम्भिक ज्ञान है, उसको समझ लेने के बाद वाणी काम करने लगती है, मनुष्य का ज्ञान शब्द-ज्ञान तक ही सीमित नहीं रहता। जब वह समझ लेता है, तब वाणी द्वारा दूसरों को समझा भी सकता है। नारद ने पूछा कि 'वाणी'-ब्रह्म तक पहुंचने के बाद क्या आगे भी जाना होता है? गुरु ने कहा, हाँ, वाणी-ब्रह्म के आगे **'मन'-ब्रह्म** (Knowing) है। वाणी नाम से आगे है, मन वाणी से आगे है क्योंकि वाणी का प्रयोग भी हम सब तब करते हैं जब विचार मन में होता है। नारद ने पूछा, तो क्या मन-ब्रह्म से आगे भी कुछ है? गुरु ने कहा, मन-ब्रह्म के आगे **'संकल्प'-ब्रह्म** (Willing) है। मन तो भटकता रहता है—कभी इधर, कभी उधर। मन से संकल्प आगे है क्योंकि संकल्प मन पर लगाम लगा कर उसे बांध देता है, भटकने नहीं देता। नारद ने पूछा, तो क्या संकल्प-ब्रह्म से आगे भी कुछ है? गुरु ने कहा, संकल्प से आगे **'चित्त'-ब्रह्म** (Feeling) है। मनुष्य संकल्प भी तभी करता है जब उसका चित्त उस संकल्प के लिये उद्यत हो जाता है। नारद ने पूछा, तो क्या चित्त-ब्रह्म से भी आगे कुछ है? गुरु ने कहा, चित्त से आगे **'ध्यान'-ब्रह्म** (Concentration or Meditation) है। संसार के नर-नारियों में जो महत्ता को (ब्रह्म का अर्थ महत्ता है) प्राप्त करते हैं, उन्हें ध्यान से ही महत्व प्राप्त होता है। जो लोग 'अल्प' हैं, 'तुच्छ' हैं, वे भी ध्यान के सहारे ही कलह करते हैं, लड़ते-झगड़ते हैं; जो 'अल्प' नहीं, 'महान्' (प्रभु) हैं, वे भी ध्यान से ही प्रभुता प्राप्त करते हैं। नारद ने पूछा, तो क्या ध्यान-ब्रह्म से भी आगे कुछ है? गुरु ने कहा, ध्यान से आगे **'विज्ञान'-ब्रह्म** (True knowledge) है। अनेक विकल्पों में से एक को चुन कर उस पर अटक जाना ध्यान है, परन्तु इस चुनाव में अच्छी बात भी हो सकती है, बुरी बात भी,

अल्प भी हो सकता है, महान् भी। बुरे को या अल्प को छोड़ कर अच्छे को या महान् को चुन लेना विज्ञान-ब्रह्म की उपासना करना है। यहाँ तक गुरु ने नारद को मनोवैज्ञानिक-क्षेत्र (Psychological plane) तक का सिलसिला दिखलाया। अब मनोवैज्ञानिक से वे उसे भौतिक-धरातल (Physical plane) पर ले आते हैं।

नारद ने पूछा, क्या 'विज्ञान'-ब्रह्म से आगे भी कुछ है? गुरु ने कहा, विज्ञान से आगे **'बल'-ब्रह्म** (Strength) है। 'विज्ञान' तक तो मानसिक-क्षेत्र था, बल शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार का होता है। एक बलवान् सौ विज्ञानवालों को कंपा देता है—**'शतं ह विज्ञानवतां एकः बलवान् आकम्पयते'**। विज्ञानवान् जब बलवान् होता है, तब कुछ करने को उठ खड़ा होता है, जब उठ खड़ा होता है, तब किसी गुरु की सेवा में पहुंचता है, उसे गुरु-प्रसाद मिलता है जिससे वह तत्व-ज्ञान का दृष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञाता हो जाता है। नारद ने पूछा, तो क्या बल-ब्रह्म से भी आगे कुछ है? गुरु ने कहा, बल से आगे **'अन्न'-ब्रह्म** है। अगर कोई दस दिन तक कुछ न खाये, उसके बाद अगर जीता रहे, तो वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता, अविज्ञाता हो जाता है, उसका मन काम करना छोड़ देता है, पर जब उसे अन्न प्राप्त हो जाता है, तब वह फिर देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने और समझने लगता है। नारद ने पूछा, तो क्या अन्न-ब्रह्म से भी आगे कुछ है? गुरु ने कहा, अन्न से आगे **'जल'-ब्रह्म** है। अन्न मिले, जल न मिले, तो जीवन चल नहीं सकता। नारद ने पूछा, तो क्या जल-ब्रह्म से भी आगे कुछ है? गुरु ने कहा, जल से आगे **'तेज'-ब्रह्म** है। अन्न-जल-तेज (पृथिवी, जल, अग्नि) के आगे क्या है? इनके आगे **'आकाश'-ब्रह्म** है।

ऋषि सनत्कुमार ने पहले नारद को नाम, वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान—इन मनोवैज्ञानिक-तत्वों की परिगणना करते हुए बतलाया कि ये एक-दूसरे से उत्तरोत्तर महत्वशाली हैं।

फिर बतलाया कि ये मनोवैज्ञानिक-तत्व बेकार हो जाते हैं अगर बल, अन्न, जल, तेज, आकाश—इन भौतिक-तत्वों का सहारा न हो—इस दृष्टि से ये भौतिक-तत्व मनोवैज्ञानिक-तत्वों को जीवित बनाये रखने के लिये आवश्यक हैं। मनोवैज्ञानिक-जगत् भौतिक-जगत् के सहारे टिका हुआ है।

अब फिर भौतिक के बाद मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक तत्वों की तरफ़ ध्यान खींचते हुए ऋषि कहते हैं :

'आकाश'-ब्रह्म से **'स्मृति'-ब्रह्म** महत्वशाली है—**'स्मरः वाव आकाशात् भूयः'**। आकाश में तो शब्द आता है और चला जाता है, स्मृति में शब्द स्थिर होकर बैठ जाता है। अगर आकाश के किसी स्थान पर अनेक व्यक्ति आकर बैठ जायें और स्मरण-शक्ति किसी में न हो, तो पास बैठे हुए भी वे एक-दूसरे से दूर ही रहेंगे। नारद ने पूछा, तो क्या स्मृति से आगे भी कुछ है ? गुरु ने कहा, **'आशा'-ब्रह्म** स्मृति से आगे है। स्मृति का भूत से सम्बन्ध है, आशा स्मृति को साथ लेकर भविष्यत् से सम्बन्ध जोड़ती है। नारद ने पूछा, तो क्या आशा से आगे भी कुछ है ? गुरु ने कहा, **'प्राण'-ब्रह्म** आशा से भी आगे है। आशा भी जीवन, अर्थात् प्राण के लिये ही तो है। जिस प्रकार रथ के चक्र के सब अरे नाभि से जुड़े होते हैं, इसी प्रकार 'नाम' से लेकर 'प्राण' तक जीवन के सब अरे प्राण-रूपी चक्र में—**'प्राण'-ब्रह्म** में समर्पित हैं। सब-कुछ प्राण के सहारे चल रहा है।

जो इस प्रकार देखता है—**'सः वै एषः एवं पश्यन्'**, इस प्रकार मानता है—**'एवं मन्वानः'**, इस प्रकार जानता है—**'एवं विजानन्'**, अर्थात् 'नाम' से प्रारम्भ कर 'प्राण' तक जो पहुंच जाता है, उसे यदि लोग **'अतिवादी'** कहें—**'तम् चेद् ब्रूयुः अतिवादी असि इति'**, तब वह इस बात को स्वीकार करे कि मैं अतिवादी हूँ—**'अतिवादी अस्मि इति ब्रूयात्'**, इस बात को छिपाये नहीं—**'न अपन्हुवीत'** ।७-१५,४।

गुरु कहते हैं कि 'अतिवादी' का अर्थ यह है कि जो आगे-आगे बढ़ते हुए 'सत्य' का अतिवादी बन जाय। अतिवादी का अर्थ बकवादी नहीं है, अतिवादी वह है जो सत्य की तलाश में आगे-आगे जाने का प्रयत्न करे—**'एषः तु वै अतिवदति यः सत्येन अतिवदति'**। नारद ने कहा, भगवन् मैं सत्य-ज्ञान के लिये आपके पास आया हूँ—मुझे सत्य ज्ञान दीजिये।

गुरु ने कहा—सत्य के ज्ञान के लिये मनन करने की शक्ति, श्रद्धा, निष्ठा, कर्मण्यता का होना आवश्यक है। कर्मण्यता का अर्थ है—कर्म के लिये प्रेरणा होना, परन्तु कर्म के लिये प्रेरणा तभी होती है जब मनुष्य को यह निश्चिय हो कि उस कर्म करने से सुख होगा। नारद ने पूछा, भगवन् सुख के सम्बन्ध में उपदेश दीजिये।

गुरु ने कहा, जो 'भूमा' है, निस्सीम है, वही सुख है—**'यः वै भूमा तत् सुखम्'**; जो अल्प है, ससीम है, उसमें सुख नहीं है—**'न अल्पे सुखम् अस्ति'**। हे नारद् ! यह स्मरण रखो कि 'भूमा' ही सुख है, निस्सीम का ज्ञान, निस्सीम का सम्पर्क—यह सुख है, उसीको जानना चाहिये—**'भूमा एव सुखम्, भूमा तु एव विजिज्ञासितव्यः इति'**। नारद ने कहा, भगवन् ! मुझे 'भूमा' का उपदेश दीजिए—**'भूमानं भगवः विजिज्ञासे इति'**। ७-२३,१।

गुरु ने कहा, जिस परम शुद्ध अवस्था में मनुष्य अन्य वस्तु को न देखता है—**'यत्र न अन्यत् पश्यति'**, न सुनता है—**'न अन्यत् शृणोति'**, न जानता है—**'न अन्यत् विजानाति'**, वह निस्सीम, निरतिशय अवस्था ही 'भूमा' है—**'सः भूमा'**। और जिस अवस्था में मनुष्य अन्य वस्तु को देखता है—**'अथ यत्र अन्यत् पश्यति'**, सुनता है—**'अन्यत् शृणोति'**, जानता है—**'अन्यत् विजानाति'**, वह अल्प है—**'तद् अल्पम्'**। भूमा ही अमृत है—**'यः वै भूमा तद् अमृतम्'**, अल्प ही मरण-धर्मा है—**'अथ यद् अल्पं तत् मर्त्यम्'**। नारद ने पूछा, भगवन् ! संसार में हर वस्तु दूसरे के आधार पर, दूसरे के सहारे टिकी हुई है। यह 'भूमा' किसके सहारे टिका हुआ है ? **'सः भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितं इति'** ? गुरु ने उत्तर दिया—भूमा किसी दूसरे के सहारे नहीं, भूमा की महिमा अपने-आप में है, इसे दूसरे के सहारे की ज़रूरत नहीं—**'स्वे महिम्नि'**। या, यह कह सकते हैं कि इसे अपने-आप के सहारे की भी ज़रूरत नहीं—**'यदि वा न महिम्नि इति'**, क्योंकि यही सबका सहारा है।७-२४,१।

इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद मुनि के मानसिक मल का मर्दन करके, अन्धकार-रूपी नदी के पार ले जाकर, उसे आत्मा के 'भूमा'-रूप का दर्शन करा दिया। सनत्कुमार का कहना यह है कि संसार के विषयों में हमें सुख मिलता है, परन्तु वह 'अल्प' है, कुछ देर रहता है, फिर सुख की तलाश हमें आगे धकेल देती है। आगे-आगे भटकना यह सिद्ध करता है कि असली तलाश उसकी है जहाँ **'अल्प'** नहीं, **'भूमा'** है, ससीम नहीं, असीम है। यह आगे-आगे की अतिवादिता पर-ब्रह्म के पाने से ही मिट सकती है, उससे पहले मनुष्य 'अल्प' में डूबा रहता है—अल्प में सुख नहीं, भूमा में सुख है, आनन्द है; 'भूमा' वह है जहाँ आनन्द का समुद्र है, जहाँ न यह छोर है, न वह छोर है, जहाँ पारावार नहीं—उसी की सब को तलाश है।

अष्टम प्रपाठक (एक से छः खंड तक)

[हृदयाकाश में ब्रह्म की तलाश]

संसार में सर्वत्र अल्पता है, जहां **'अल्पता'** समाप्त हो जाती है, उसी को सनत्कुमार ने **'भूमा'** कहा है, वही ब्रह्म है, 'ब्रह्म'-शब्द का अर्थ भी महान् है। अब प्रश्न उठता है कि 'भूमा' को कहाँ ढूंढें। उपनिषत्कार कहते हैं कि यह शरीर ब्रह्म की नगरी है, यह 'ब्रह्म-पुर' है। जैसे सहारनपुर, मुज्ज़फरपुर, लव-पुर, वैसे ब्रह्म-पुर। इस ब्रह्म-पुर में—**'अथ यत् इदं अस्मिन् ब्रह्मपुरे'**, छोटा-सा—**'दहरं'**, कमल जैसा—**'पुण्डरीकं'**, घर है—**'वेश्म'**। इस घर के भीतर आकाश है—**'अस्मिन् अन्तः आकाशः'**। उस भूमा को उसके भीतर ढूंढना चाहिये—**'तस्मिन् यद् अन्तः तद् अन्वेष्टव्यम्'**, उसी को खोजना चाहिये—**'तद् वाव विजिज्ञासितव्यम् इति'**। ८-१,१।

अगर कोई यह कहे कि इस छोटी-सी ब्रह्मपुरी में कहाँ तो छोटा-सा कमल के सदृश हृदय-रूपी घर, कहाँ उस छोटे-से घर में छोटा-सा आकाश। उस आकाश में क्या पड़ा है जिसमें तुम कहते हो कि उसे खोजना चाहिये, जानना चाहिये। ८-१,२।

ऐसी शंका करने वाले को उत्तर दे—अरे, जितना यह बड़ा आकाश तुम्हें बाहर दीख रहा है, उतना बड़ा हृदय का आकाश है—**'यावान् वै आकाशः तावान् एषः अन्तः हृदये आकाशः'**। अगर कोई कहे कि इस शरीर के जीर्ण होने पर क्या हृदयाकाश में रहने वाला जीर्ण नहीं होता, तो कहे कि यह हृदयाकाश सच्चा ब्रह्म-पुर है—**'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्'**। हृदयाकाश का मतलब यह हृदय का मांस-पिंड नहीं है। उपनिषत्कार का हृदयाकाश से मतलब हृदय की भावना से है, तभी कहा कि हृदयाकाश इतना विशाल है जितना विश्व में बाहर दीखने वाला आकाश विशाल है। बोल-चाल की भाषा में विशाल-हृदय आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है। उपनिषद् में ब्रह्म के विषय में कहा है—**'स्वयं तत् अन्तःकरणेन गृह्यते'**—इसका भी यही अर्थ है। हृदय में ब्रह्म का वास है, वहीं ब्रह्म को पाया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि हृदय में आसुर भावनायें भी पड़ी रहती हैं। ये आसुर भावनायें जिन्हें उपनिषत्कार ने अनृत—असत्य—कहा है, सत्य-ब्रह्म को ढके रहती हैं—**'सत्याः कामाः अनृतापिधानाः'**। संसार

की आसुरी भावनाओं (अनृत) के आवरण के कारण ही हम भगवान् के सत्य-स्वरूप को नहीं पहचान पाते। जैसे पृथिवी में दबी हुई सुवर्ण की निधि को—**'तद् यथा अपि हिरण्यनिधिं निहितम्'**, उस क्षेत्र को न जानने वाले—**'अक्षेत्रज्ञाः'**, खेत के ऊपर-ऊपर चलते-फिरते—**'उपरि-उपरि संचरन्तः'**, उस निधि को प्राप्त नहीं कर सकते—**'न विन्देयुः'**, इसी प्रकार सब लोग—**'एवम् एव इमाः सर्वाः प्रजाः'**, प्रतिदिन सुषुप्ता-वस्था में ब्रह्मलोक को पहुंच कर भी—**'अहः अहः गच्छन्त्यः एतम् ब्रह्म-लोकम्'**, नहीं जानते कि वे ब्रह्म-लोक में पहुँच चुके हैं—**'न विन्दन्ति'**। वे मूढ़ावस्था से आच्छादित रहते हैं—**'अनृतेन हि प्रत्यूढाः'** । ८-३,२ ।

उपनिषत्कार के कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे खेत के नीचे धन गड़ा हो और किसान ऊपर-ऊपर चलता रहे, उसे नीचे गड़े धन का कुछ ज्ञान न हो, इसी प्रकार हर व्यक्ति सुषुप्तावस्था में हृदयाकाश में स्थित 'भूमा'-रूप ब्रह्म तक पहुँच जाता है, परन्तु उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वह ब्रह्म के इतना निकट पहुंच गया है।

आत्मा हृदय में है—**'सः वा एषः आत्मा हृदि'**। 'हृदय'-शब्द की निरुक्ति भी इसी प्रकार है—**'तस्य एतद् एव निरुक्तम्'**। किस प्रकार? जो हृदय में हो—**'हृदि अयम् इति'**। जो इस रहस्य को दिन-प्रतिदिन जानता है, उसे बाहर ढूँढ़ने के स्थान में हृदय के भीतर ढूँढता है—**'अहः अहः एवंवित्'**, वह मानो स्वर्ग-लोक को पा जाता है—**'स्वर्गं लोकं एति'** ।८-३,३।

अष्टम प्रपाठक (सात से पन्द्रह खण्ड तक)

[प्रजापति, इन्द्र तथा विरोचन की 'आत्मा' के सम्बन्ध में कथा]

ऊपर कहा गया है कि आत्मा का निवास हृदय-प्रदेश में है। उसी के सम्बन्ध में इस प्रपाठक में लिखा है कि हृदयाकाश में जिस आत्मा का निवास है, जो पापों से अलग है—**'यः आत्मा अपहतपाप्मा'**, जो जरा-मृत्यु से छूटा हुआ है—**'विजरः'**, **'विमृत्युः'**, जो शोकरहित है, भूख-प्यास से मुक्त है—**'विजिघत्सः अपिपासः'**, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है—**'सत्यकामः सत्यसंकल्पः'**, उसे खोजना चाहिये—**'सः अन्वे-ष्टव्यः'**। वह व्यक्ति सब लोकों को पा जाता है—**'सः सर्वान् च**

लोकान् आप्नोति', और सब कामनाओं को पा जाता है—**'सर्वान् च कामान्'**, जो उस आत्मा को खोज कर—**'यः तं आत्मानं अनुविद्य'**, उसे जान लेता है—**'विजानाति'**, यह प्रजापति ने घोषणा की—**'इति ह प्रजापतिः उवाच'**। ८-७,१।

प्रजापति की यह घोषणा देव तथा असुर दोनों को मालूम हुई। दोनों ने अपने तईं कहा, अहो, उस आत्मा का पता चलायें जिसकी खोज से सब लोक और सब कामनायें प्राप्त हो जाती हैं। देवों में से प्रतिनिधि 'इन्द्र' तथा असुरों में से प्रतिनिधि 'विरोचन' इस खोज में निकल पड़े। उन्होंने प्रजापति के आश्रम में ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। इसके अनन्तर प्रजापति ने उनसे पूछा, किस इच्छा से आप दोनों यहाँ विराज रहे हो—**'किम् इच्छन्तः अवास्तम्'**। उन दोनों ने उत्तर दिया कि आप की घोषणा है कि जो आत्मा को जान लेता है वह सब-कुछ पा जाता है, उसी को जानने की इच्छा से हम दोनों यहाँ आये बैठे हैं—**'तं इच्छन्तौ अवास्तम् इति'**। ८-७,३।

उन दोनों को प्रजापति ने कहा, यह जो आँख में पुरुष दीखता है—**'यः एषः अक्षिणि पुरुषः दृश्यते'**, यह आत्मा है—**'एषः आत्मा'**, यही अमृत है, अभय है, यही ब्रह्म है। उन्होंने पूछा कि जो जल में, दर्पण में, दीखता है, वह कौन है? प्रजापति ने कहा, इनमें भी वही आत्मा दीख पड़ता है जो आँख में दीखता है—**'एषः उ एव एषु सर्वेषु एतेषु'**। ८-७,४।

फिर प्रजापति ने उन दोनों को कहा, पानी के बर्तन में तुम दोनों अपने को देखो, और फिर आत्मा के विषय में पूछना हो तो पूछना। दोनों ने पानी के बर्तन में देखा। प्रजापति ने पूछा, क्या दीखता है? उन्होंने कहा, भगवन्! हमें अपना पूर्ण-रूप दीख रहा है, लोम से नख तक। प्रजापति ने फिर दोनों को सुन्दर अलंकार और वस्त्र धारण करके पानी के बर्तन में देखने को कहा। प्रजापति ने पूछा, क्या दीखता है? दोनों ने कहा, सुन्दर अलंकार तथा वस्त्र धारण किये हुए जैसे हम हैं वैसे दीखते हैं। प्रजापति ने कहा—**'जागृतावस्था'** में जिसे तुम देख रहे हो, यह 'आत्मा' है, 'अमृत' है, 'अभय' है, यह 'ब्रह्म' है। वे दोनों यह सुनकर शान्त हृदय होकर चल दिये—**'तौ ह शान्त हृदयौ प्रव्रजतुः'**। ८-८,१,२,३।

उन्हें इस प्रकार जाते देखकर प्रजापति ने अपने हृदय में कहा, ये

दोनों आत्मा को बिना उपलब्ध किये जा रहे हैं—**'अनुपलभ्य आत्मानं अननुविद्य व्रजतः'**। इन दोनों में से जो 'देह ही आत्मा है'—इस सिद्धान्त को मान कर चलेंगे, वे जीवन में पराजित हो जायेंगे। विरोचन तो 'विरोचन' था। 'विरोचन'—अर्थात्, शरीर को सजा-बजा कर रखने वाला। उसने असुरों को जाकर कहा कि प्रजापति ने कहा है कि देह ही आत्मा है। इसी की सेवा से मनुष्य दोनों लोकों को प्राप्त कर लेता है, इस लोक को और उस लोक को।

इन्द्र देवों के पास नहीं पहुंचा। उसे लगा कि वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा। उसने सोचना शुरू किया कि प्रजापति की घोषणा तो यह थी कि आत्मा जरा-मृत्यु से मुक्त है, यह देह जो आँख में दीखता है, जल में या दर्पण में दीखता है, यह लंगड़ा-लूला हो जाय, तो आँख में, जल में, दर्पण में भी तो यह लंगड़ा-लूला ही दीखता है। यह अजर, अमर आतमा कैसे हो सकता है ? वह हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के पास लौट आया।

प्रजापति ने पूछा, तुम तो विरोचन के साथ शान्त-हृदय होकर चले गये थे, फिर किस चाहना से लौट आये हो—**'किं इच्छन् पुनः आगमः इति'**। उसने उत्तर दिया, भगवन् ! जल में दीखने वाली यह छाया जैसे शरीर के अलंकृत होने पर अलंकृत, सुवस्त्र होने पर सुवस्त्रित और परिष्कृत होने पर परिष्कृत हो जाती है, वैसे शरीर के अन्धे होने पर अन्धी, काणे होने पर काणी और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट भी तो हो जाती है। मुझे शरीर को आत्मा मानने का सिद्धान्त ठीक नहीं जँचा। ८-९,२।

प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र ! तूने ठीक समझा। तुम ३२ वर्ष और मेरे पास ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करो। इन्द्र ने प्रजापति के निकट और ३२ वर्ष वास किया, तब प्रजापति ने कहा। ८-९,३।

जो यह **'स्वप्नावस्था'** में महिमाशाली होकर विचरता है, यही आत्मा है, यही अभय है, यही ब्रह्म है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु रास्ते में ही उसे सन्देहों ने आ घेरा। वह सोचने लगा, यह ठीक है कि स्वप्नावस्था में विचरने वाला शरीर से अन्धा भी क्यों न हो, स्वप्न में अन्धा नहीं होता, काणा भी क्यों न हो, स्वप्न में काणा नहीं होता, परन्तु स्वप्न में ऐसा तो प्रतीत होता है कि कोई इसे मार रहा है, स्वप्न में यह रोने भी लगता है। स्वप्नावस्था

में आत्मा का जो स्वरूप दीखता है उसे आत्मा मानने का सिद्धान्त ठीक नहीं जँचता। वह फिर हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के आश्रम में लौट आया। प्रजापति ने पूछा, अब क्यों लौट आये, तो इन्द्र ने अपनी शँका ज्यों-की-त्यों सामने रख दी। प्रजापति ने उत्तर दिया, हे इन्द्र! तेरी शंका ठीक है, तू और ३२ वर्ष मेरे आश्रम में ब्रह्मचर्य-पूर्वक निवास कर, तब तेरी शंका का समाधान कर दिया जायगा। ३२ वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने कहना शुरू किया—

स्वप्नावस्था के बाद जिस **'सुषुप्तावस्था'** में पहुंच कर यह समस्त हो जाता है, बिखरा-बिखरा नहीं रहता—सुषुप्ति में जिसके स्वरूप की कुछ-कुछ झाँकी मिलती है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही अभय है, वही ब्रह्म है। यह सुनकर इन्द्र शान्त-हृदय होकर चल दिया, परन्तु थोड़ी दूर जाने पर उसे फिर शंका ने आ घेरा। वह सोचने लगा—सुषुप्तावस्था में तो यह अपने को भी नहीं जानता। 'मैं यह हूँ'—ऐसा अनुभव भी उसे नहीं होता—**'न अहं खलु अयम् एवं संप्रति आत्मानं जानाति, अयम् अहम् अस्मि इति'**, उस समय तो उसे संसार का ज्ञान भी नहीं रहता—**'नो एव इमानि भूतानि'**, उस समय संसार मानो नष्ट हो जाता है—**'विनाशं एव भवति'**। ऐसी सुषुप्तावस्था में जो जा पहुंचता है वह अमर, अभय, आत्मा कैसे हो सकता है। ८-११,१।

इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर लौट आया। प्रजापति ने पूछा, अब क्यों लौटे? इन्द्र ने कहा, सुषुप्तावस्था में तो आत्मा को अपना ज्ञान भी नहीं रहता, न उसे संसार का ज्ञान रहता है, उसे आत्मा कैसे मान लूँ? प्रजापति ने कहा, तुम सत्य के निकट पहुंचते जा रहे हो, ५ वर्ष और तपस्या और ब्रह्मचर्य-पूर्वक आश्रम में वास करो। इस प्रकार १०१ वर्ष बीत जाने पर प्रजापति ने इन्द्र को समझाना शुरू किया—

[शरीर से पृथक्ता अनुभव करना ही आत्म-ज्ञान है]

हे इन्द्र! यह शरीर तो मरण-धर्मा है—**'मघवन्, मर्त्यम् वै इदम् शरीरम्'**। इसे मृत्यु ग्रस्त कर लेती है—**'आत्तम् मृत्युना'**। यह शरीर अशरीरी अमृत आत्मा का अधिष्ठान है—**'तद् अस्य अमृतस्य अशरीरस्य आत्मनः अधिष्ठानम्'**। जब आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है तब शरीर को जो प्रिय या अप्रिय होता है वह इसे भी

प्रिय तथा अप्रिय लगने लगता है—**'आत्तः वै सशरीरः प्रिय अप्रियाभ्याम्'** । जब वह सशरीर होता है तब प्रिय-अप्रिय से निवृत्ति नहीं हो सकती—**'न वै सशरीरस्य सतः प्रिय अप्रिययोः अपहतिः अस्ति'** । जब वह अशरीर होता है, तब उसे प्रिय-अप्रिय छू भी नहीं सकते—**'अशरीरं वाव सन्तम् न प्रिय-अप्रिये स्पृशतः'** ।८-१२,१।

वायु, बादल, विद्युत्, गर्जना—ये भी तो अशरीर हैं—**'अशरीरः वायुः, अभ्रम्, विद्युत्, स्तनयित्नुः'** । ये वायु आदि अशरीर—**'अशरीराणि एतानि'**, जैसे ये इस आकाश से उठकर—**'तद् यथा एतानि अमुष्मात् समुत्थाय'**, परम-ज्योति सूर्य से सम्पर्क होने पर—**'परं ज्योतिः उपसंपद्य'**, सशरीर हो जाती हैं, अपने रूप में आ जाती हैं—**'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यन्ते'** ।८-१२,२।

इसी प्रकार यह प्रसाद-गुण-सम्पन्न आत्मा—**'एवम् एव एषः संप्रसादः'**, इस शरीर से उठकर—**'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय'**, परम-ज्योति ब्रह्म को प्राप्त कर—**'परं ज्योतिः उपसंपद्य'**, अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है—**'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते'** । जो इस प्रकार अपने अशरीरी 'स्व' रूप को जान लेता है वह उत्तम पुरुष कहलाता है —**'सः उत्तमः पुरुषः'** ।

जब मनुष्य इस अवस्था में पहुंच जाता है, शरीर में रहता हुआ अपने को अशरीरी अनुभव करता है, तब वह खाता हुआ, खेलता हुआ, स्त्रियों के साथ आनन्द मनाता हुआ, सैर करता हुआ, इस प्रकार विचरता है जैसे यह शरीर, ये बन्धु-बान्धव, ये आस-पास के लोग उसे याद ही नहीं । वह संसार के जो काम करता है, ऐसे करता है जैसे शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, परम-ज्योति के सम्पर्क में आने के कारण वह अपने को शरीर से अलग देख लेता है । घोड़े को जैसे रथ चलाने में जोता जाता है, वैसे वह अपने को इस शरीर रूपी रथ में जुता हुआ अनुभव कर लेता है—**'सः यथा प्रयोज्यः आचरणे युक्तः एवम् एव अस्मिन् शरीरे प्राणः युक्तः'** ।८-१२,३।

इन्द्र ने जो यह समझा था कि सुषुप्त होने पर आत्मा जड़ अवस्था में चला जाता है उसका समाधान देते हुए प्रजापति ने बतलाया कि आत्मा तथा शरीर अलग-अलग सत्ताएँ हैं । जागता, सोता या सुषुप्त होता शरीर है, आत्मा नहीं । सुषुप्ति में आत्मा अपने चैतन्य-स्वरूप में पहुंच जाता है क्योंकि तब उसका परम-चैतन्य ब्रह्म से सम्पर्क हो जाता

है। तभी सुषुप्ति से उठने पर उस अवस्था को, जब वह स्वरूप में आ गया था, याद कर कहता है कि बड़ा आनन्द आया। आत्मा जब तक शरीर से रला-मिला रहता है, तब तक अपने शुद्ध रूप में तो आता ही नहीं, सुषुप्त होकर ही इसका थोड़ी देर तक शरीर से सम्बन्ध छूटता है। यह तभी छूटता है जब आत्मा जाग्रत् तथा स्वप्न स्थानों को छोड़कर सुषुप्त-स्थान में चला जाता है। जैसे मरने पर आत्मा शरीर को छोड़ देता है, शरीर से अलग हो जाता है, वैसे सुषुप्त-स्थान में जाकर भी आत्मा कुछ देर के लिये शरीर से अलग-सा हो जाता है। मर कर तो कोई उसी शरीर में लौट कर आता नहीं, अतः वह नहीं जान सकता कि शरीर से अलग होकर वह किस अवस्था में पहुंच गया था, परन्तु सुषुप्त होकर हर-कोई व्यक्ति जाग उठता है—तब जो सुषुप्ति-समय के आनन्द को स्मरण करता है, अपने शुद्ध-स्वरूप में जाने पर उसे जो आनन्द हुआ था, उसी को वह स्मरण करता है। हे इन्द्र! सुषुप्ति-समय में आत्मा नहीं सोता, शरीर सोता है; आत्मा जड़वत् नहीं होता, शरीर जड़वत् होता है। इस समय की अवस्था को जान कर ही तो तू आत्मा के स्वरूप को जान सकता है।

इस प्रकरण में दो बातों पर विशेष तौर पर ध्यान जाता है। पहली बात तो यह कि इन्द्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिये हर बार हाथ में समिधा लेकर जाता है। हाथ में समिधा लेकर जाना इस बात का प्रतीक है कि जैसे समिधा में अग्नि तो है, परन्तु अन्तर्निहित है, वह बाहर की अग्नि के सम्पर्क में आकर ही प्रबुद्ध हो सकती है, ठीक इसी प्रकार जिज्ञासु के अन्तर्हृदय में ज्ञानाग्नि है, परन्तु गुरु के सम्पर्क में आकर ही ज्ञानाग्नि प्रकाशित हो सकती है। दूसरी बात यह कि इन्द्र को इस ज्ञान को पाने के लिये १०१ वर्ष लग गये। गहराई से देखा जाय, तो आत्म-ज्ञान का अर्थ सिर्फ़ आत्मा के अस्तित्व को जान लेना ही नहीं है, क्रियात्मक-जीवन में यह अनुभव उतार लेना है कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है, प्रकृति अलग है, ब्रह्म अलग है। इस विचार को क्रियात्मक-जीवन में उतारने में १०१ वर्ष क्या, अनेक जीवन भी लग जायें तो थोड़े हैं।

छान्दोग्योपनिषद् का यही विचार माण्डूक्योपनिषद् (२-१) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४-२,३) में भी पाया जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद्

बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रथम दो शब्द हैं–**'बृहत्'** तथा **'आरण्यक'**। 'बृहत्' का अर्थ है—बड़ा। क्योंकि यह ग्रन्थ सब उपनिषदों से बड़ी है इसलिये इसे 'बृहत्' कहा गया है। 'आरण्यक' का अर्थ है—जंगल की। क्योंकि इसका उपदेश अरण्य में हुआ इसलिये इसे 'आरण्यक' कहा गया है।

जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में हमने विस्तार में न जाकर उस उपनिषद् का सार दिया है, उसी प्रकार इस उपनिषद् का भी सार ही देने का यत्न किया जायगा।

इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के जो भाग हैं, उन्हें 'ब्राह्मण' कहा गया है। प्रत्येक अध्याय के जो ब्राह्मण हैं उनकी संख्या क्रमवार हम नीचे दे रहे हैं :

प्रथम अध्याय	—	५ ब्राह्मण
द्वितीय अध्याय	—	६ ब्राह्मण
तृतीय अध्याय	—	९ ब्राह्मण
चतुर्थ अध्याय	—	६ ब्राह्मण
पंचम अध्याय	—	१५ ब्राह्मण
षष्ठ अध्याय	—	५ ब्राह्मण

प्रथम अध्याय (पहला तथा दूसरा ब्राह्मण)

[अश्वमेध-यज्ञ का आध्यात्मिक रूप]

उपनिषदों का काल कर्म-काण्ड के प्रति विद्रोह का काल था। कर्म-काण्ड में जो यज्ञीय-कर्म होते थे उनमें हिंसा भी चल पड़ी थी। इन सब कार्य-कलापों के प्रति उपनिषदों के ऋषियों ने विद्रोह खड़ा

किया। उपनिषत्कारों ने कहा कि जो यज्ञ चल पड़े हैं वे साध्य नहीं, साधन हैं—**'प्लवाः ह्य ेते अदृढ़ाः यज्ञरूपाः'** (मुंडक, १, ७)। इन यज्ञों में 'अश्वमेध' नाम का भी एक यज्ञ था जिसमें अश्व की बलि दी जाने लगी थी। ऋषियों ने इस घृणित-कृत्य को गर्हित ठहरा कर सृष्टि को अश्वमेध-यज्ञ का आध्यात्मिक रूप दिया। इस अध्याय के पहले दो ब्राह्मणों में सृष्टि में एक विराट् अश्वमेध-यज्ञ की कल्पना की गई है। सृष्टि में हो रहे अश्वमेध-यज्ञ में 'उषा' को अश्व का सिर, 'सूर्य' को अश्व की आँख, 'वायु' को अश्व का प्राण, 'द्यु-लोक' को अश्व की पीठ, 'अन्तरिक्ष-लोक' को अश्व का उदर, 'पृथिवी-लोक' को अश्व के पैर, 'दिशाओं' को अश्व के पासे, 'अवान्तर-दिशाओं' को अश्व की पसलियाँ, 'ऋतुओं' को अश्व के अंग, 'बादलों' को अश्व का माँस, 'नदियों' को अश्व की आँतें, 'ओषधियों' तथा 'वनस्पतियों' को अश्व के लोम, 'बादलों के गरजने' को अश्व का हिनहिनाना कहा गया है। इस सारे वर्णन का यह अभिप्राय है कि कर्मकाण्डी लोग जो अश्व का हनन करके क्रिया-कलाप करते हैं वह त्याज्य है, सृष्टि को ही अश्व मानकर उसमें हो रहे यज्ञ को ही अश्वमेध-यज्ञ समझना चाहिये :

प्रथम अध्याय (तीसरा ब्राह्मण)

[निःस्वार्थ-कर्म—देवासुर कथा]

प्रजापति की दो प्रकार की सन्तानें थीं—**'द्वया ह प्राजापत्याः'**, देव और असुर—**'देवाः च असुराः च'**। देव थोड़ी संख्या में थे—**'ततः कनीयसाः एव देवाः'**, असुर संख्या में अधिक थे—**'ज्यायसाः असुराः'**। वे ब्रह्मांड में इन लोकों में अपना आधिपत्य जमाने के लिये एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे—**'ते एषु लोकेषु अस्पर्धन्त'**। देवों ने सोचा, हन्त, यज्ञ में उद्गीथ—ओंकारोपासना—द्वारा हम असुरों के आगे बढ़ जायें—**'ते ह देवाः ऊचुः, हन्त, असुरान् यज्ञे उद्गीथेन अत्ययाम इति'**। १-३, १।

उन्होंने सबसे पहले 'वाणी' को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। वाणी ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन 'उद्गीथ' द्वारा देवों के लिये गाने लगी। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् सब इन्द्रियाँ भोगें, परन्तु साथ यह भी चाहने लगी कि 'उद्गीथ'-गान का जो शुभ फल हो वह उसे मिल जाय—

'यत् कल्याणं वदति तद् आत्मने'। असुरों को यह पता चल गया कि वाणी में स्वार्थपना आ गया है—**'ते विदुः'**। जब वे समझ गये कि इसके दिल में स्वार्थ आ गया है, तब उन्होंने स्वार्थ-रूपी पाप से वाणी को बींध दिया ताकि वाणी सत्य बोलने के साथ-साथ अपने स्वार्थ के लिये असत्य भी बोलती रहे। वाणी द्वारा मनुष्य असत्य तभी बोलता है जब उसमें उसका अपना स्वार्थ होता है। इस स्वार्थ के कारण 'उद्गीथ'-गान करते हुए भी वाणी ने जो पाप करना शुरू किया उससे देव असुरों के मुकाबिले में सफल न हुए। १-३,२।

उसके बाद देवों ने नासिका के 'श्वास' को कहा, तू हमारा उद्-गाता बन। नासिका ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन 'उद्गीथ' द्वारा देवों के लिये गाने लगी। उसने यह तो कह दिया कि मेरे उद्गीथोपासन का फल सब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ भोगें, परन्तु साथ यह भी चाहने लगी—कि 'उद्गीथ'-गान का जो शुभ फल हो वह उसे मिल जाय—**'यत् कल्याणं जिघ्रति तद् आत्मने'**। असुरों को यह पता चल गया कि नासिका के श्वास में स्वार्थपना आ गया है—**'ते विदुः'**। जब वे समझ गये कि इसके दिल में स्वार्थ आ गया है तब उन्होंने स्वार्थ-रूपी पाप से श्वास को बींध दिया ताकि नासिका सुगन्ध के साथ दुर्गन्ध को भी सूँघती फिरे। नासिका द्वारा मनुष्य का दुर्गन्ध भी लेना उसके स्वार्थ के कारण ही होने लगा। इस स्वार्थ के कारण 'उद्गीथ'-गान करते हुए भी नासिका ने जो पाप करना शुरू किया उससे देव असुरों के मुकाबिले में सफल न हुए। १-३,३।

उसके बाद देवों ने 'चक्षु' को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। चक्षु ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड में तथा पिंड में उद्गाता बन 'उद्गीथ' द्वारा देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे उद्गीथो-पासन का फल सब देव, अर्थात् इन्द्रियां भोगें, परन्तु साथ यह भी चाहने लगा कि 'उद्गीथ'-गान का जो शुभ फल हो वह उसे मिल जाय—**'यत् कल्याणं पश्यति तद् आत्मने'**। असुरों को यह पता चल गया कि चक्षु में स्वार्थपना आ गया है—**'ते विदुः'**। जब वे समझ गये कि इसके दिल में स्वार्थ आ गया है, तब उन्होंने स्वार्थ-रूपी पाप से चक्षु को बींध दिया ताकि चक्षु अच्छा तथा बुरा सब देखती फिरे। आँख के द्वारा मनुष्य सुन्दर तथा जघन्य दोनों प्रकार के दृश्य देखता

है—यह सब उसमें निहित स्वार्थ के कारण ही है। इस स्वार्थ के कारण 'उद्गीथ'-गान करते हुए भी चक्षु ने जो पाप करना शुरू किया उससे देव असुरों के मुकाबिले में सफल न हुए। १-३,४।

उसके बाद देवों ने 'श्रोत्र' को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। श्रोत्र ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड तथा पिंड में उद्गाता बन 'उद्गीथ' द्वारा देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे उद्गीथोपासन का फल सब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि 'उद्गीथ'-गान का जो शुभ फल हो वह उसे मिल जाय—**'यत् कल्याणं शृणोति तद् आत्मने'**। असुरों को यह पता चल गया कि श्रोत्र में स्वार्थपना आ गया है—**'ते विदुः'**। जब वे समझ गये कि इसके दिल में स्वार्थ आ गया है, तब उन्होंने स्वार्थ-रूपी पाप से श्रोत्र को बींध दिया ताकि श्रोत्र अच्छी बात तथा बुरी बात सब सुनते फिरें। श्रोत्र द्वारा मनुष्य अच्छी-बुरी सब प्रकार की बातें सुनने में रस लेता है। यह सब उसके स्वार्थ के कारण ही है। इस स्वार्थ के कारण 'उद्गीथ'-गान करते हुए भी श्रोत्र ने जो पाप करना शुरू किया उससे देव असुरों के मुकाबिले में सफल न हुए। १-३,५।

उसके बाद देवों ने 'मन' को कहा, तू हमारा उद्गाता बन। मन ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड तथा पिंड में उद्गाता बन 'उद्गीथ' द्वारा देवों के लिये गाने लगा। उसने यह तो कह दिया कि मेरे कर्म का फल सब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ भोगें, परन्तु साथ ही यह भी चाहने लगा कि जो-जो अच्छा फल हो, वह मैं अपने लिये रख लूं। उसकी इस स्वार्थ-भावना को असुरों ने जान लिया। वे कहने लगे, इस उद्गाता (मन) से देव लोग हम से आगे निकलना चाहते हैं। उन्होंने मन को पाप से बींध दिया। अब मन **'अप्रतिरूप'**—अर्थात्, बुरा संकल्प भी करने लगा। बुरा संकल्प अपने स्वार्थ के कारण ही तो होता है। मन के इस पाप के कारण देव असुरों के मुकाबिले में सफल न हुए। १-३,६।

अन्त में हार कर देवों ने 'प्राण' को कहा, तू उद्गाता बन। प्राण ने कहा, अच्छा। वह ब्रह्मांड तथा पिंड में उद्गाता बन देवों के लिये गाने लगा। असुरों ने कहा—इसको उद्गाता बना कर देव लोग हमें पराजित करना चाहते हैं—**अनेन वै नः उद्गात्रा अत्येष्यन्ति इति'**। असुर लोग झपट्टे से हमला कर प्राण को स्वार्थ-रूपी पाप से बींधने

लगे—**'तम् अभिद्रुत्य पाप्मना अविध्यन्'**। जैसे पत्थर के पास जाकर (उससे टकरा कर) मट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है—**'सः यथा अश्मानं ऋत्वा लोष्ठः विध्वंसेत'**, इसी प्रकार असुर टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो गये—**'एवं ह एव विध्वंसमानाः विष्वंचः विनेशुः'**। उसके अनन्तर—**'ततः'**, देव-गण जीत गये—**'देवाः अभवन्'**, और असुर परा-भूत हो गये—**'परा असुराः'**।

जो निःस्वार्थ-भाव के इस रहस्य को जानता है—**'यः एवं वेद,'** वह अपने स्वरूप से युक्त हो जाता है—**'भवति आत्मना'**, और उससे द्वेष करने वाला उसका शत्रु—**'द्विषन् भ्रातृव्यः'**, पराजित हो जाता है—**'परा भवति'**।१-३-७।

देव जब असुरों के मुकाबिले में जीत गये तब कहने लगे—कहाँ है वह जो इस प्रकार असक्त है, निःस्वार्थ है—**'क्व नु सः अभूत् यः नः इत्थम् असक्तः इति'**। अब तक वाणी, नासिका, चक्षु, श्रोत्र, मन—ये सब सक्त-भाव से, स्वार्थ-भाव से काम कर रहे थे इसलिये ये सब शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार से व्यवहार करते थे, परिणामस्वरूप हम हारते रहे, यह असक्त-भाव से हमारा साथ देनेवाला तो प्राण ही रहा। यह कहीं दूर नहीं, यह तो हमारे मुख के भीतर ही विद्यमान है—**'अयम् आस्ये अन्तः इति'**। यह देवता 'दूः' है—**'सा वै एषा देवता दूः नाम'**। निश्चय से इसका नाम 'दूः' इसलिये है क्योंकि इससे मृत्यु दूर भागती है—**'हि अस्याः दूरम् मृत्युः'**। जो निःस्वार्थ, असक्त-भाव के इस रहस्य को जानता है उससे मृत्यु दूर भाग जाती है—**'दूरम् ह वै अस्मात् मृत्युः भवति यः एवम् वेद'**। १-३,८-९।

इस कथानक का आशय यह है कि जीवन का गुर निःस्वार्थता, निःसंगता है। हमारे हर काम में चाहे वह वाणी से, आँख से, कान से, मन से हो रहा हो, स्वार्थ तथा संग का विष उसे दूषित कर देता है। वाणी भले ही कितना ही ओंकार का जप करे, अगर उसे स्वार्थ छू जाय, तो वह दिखावे के लिये ओंकार को जपती रहेगी, परन्तु भीतर से स्वार्थ के कारण अवसर आने पर असत्य का सहारा लेने से नहीं चूकेगी, यही हाल अन्य इन्द्रियों का है। यही कारण है कि इन्द्रियाँ भला भी करती हैं, बुरा भी—भला इसलिये करती हैं क्योंकि देवों ने उन्हें ओंकार का सहारा दिया, बुरा इसलिये करती हैं क्योंकि असुरों ने उनमें स्वार्थ के विष का संचार कर दिया। ओंकार एक तरफ़ है,

स्वार्थ दूसरी तरफ़ है, इसलिये इन्द्रियाँ उभय-मार्गी हैं, प्राण ही ऐसा तत्व है जो निःस्वार्थ-ही-निःस्वार्थ है। इसलिये जब असुर स्वार्थ को लेकर प्राण से टकराये तो मट्टी के ढेले के समान चूर-चूर हो गये। स्वार्थ दीखने को अपने भले के लिये किया जाता है, परन्तु उपनिषत्कार के अनुभव में अपना भला निःस्वार्थ से, अनासक्ति से होता है। निस्संगता, अनासक्ति की फ़िलासोफ़ी उपनिषदों की देन है।

प्रथम अध्याय (चौथा ब्राह्मण)

[सृष्टि की रचना—आत्म-तत्व]

इस प्रकरण में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा गया है वह ज़िंदावस्था तथा बायबल के वर्णन से बहुत-कुछ मिलता है। ज़िन्दावस्था में परमात्मा का नाम **'अम्हि'** तथा **'अम्हि यदम्हि'** कहा गया है जो **'अस्मि'** का अपभ्रंश है। बायबल में एक्सोडस (Exodus) पुस्तक में परमात्मा ने अपना नाम 'I am' तथा 'I am that I am' कहा है। बृहदारण्यक के प्रथम अध्याय के ४९ ब्राह्मण में भी लिखा है: सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा ही था, उसने चारों तरफ़ देखा तो उसे अपने सिवाय कोई नहीं दीखा, जब कोई दूसरा नहीं दीखा तो उसने कहा—'मैं हूँ'—**'अहम् अस्मि'**। क्योंकि उसने कहा **'अहम् अस्मि'**, इसलिये उसका नाम **'अहम्'** हो गया—**'अहम् नामा अभवत्'**। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में **'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'** लिखा है, जो पारसियों के **'अम्हि यदम्हि'** तथा ईसाइयों के 'I am that I am' से मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् के इस वाक्य को कि आत्मा का नाम **'अहम्'** है—जैसा-का-तैसा—बिना अर्थ समझे पारसी, यहूदी तथा ईसाई धर्म ने अपना लिया और यह कहना शुरू कर दिया कि भगवान् का नाम ही **'मैं हूँ'**—'I am'—**'अम्हि'**—**'अस्मि'**—यह है।

इस ब्राह्मण में दूसरी उल्लेखनीय बात तृतीय पद्यावली में पायी जाती है। वहाँ लिखा है: वह पुरुष-रूप आत्मा जो सृष्टि के प्रारम्भ में था—**'आत्मा एव इदम् अग्रे आसीत्'**—वह इकला ही था, इसलिये उसका दिल नहीं लगता था, दूसरा हो तभी तो सृष्टि में रमण हो सकता है—**'सः वै न रेमे'**, इसीलिये इकला आदमी रमण नहीं कर सकता—**'तस्माद् एकाकी न रमते'**। उसकी इच्छा हुई कि मेरे सिवाय

कोई दूसरा भी होना चाहिये—**'सः द्वितीयम् ऐच्छत्'**। शुरू-शुरू में वह ऐसा था—**'सः ह एतावान् आस'**, जैसे स्त्री तथा पुरुष मिले हुए होते हैं—**'यथा स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ'**। उसने अपने इस शरीर को दो खण्डों में विभक्त कर दिया—**'सः इमम् एव आत्मानम् द्वेधा अपातयत्'**। इस प्रकार जब एक के दो बन गये, वे पति तथा पत्नी बने—**'ततः पतिः च पत्नी च अभवताम्'**। इसलिये यह नर तथा नारी का अपना-अपना देह अन्न के आधे दाने के समान है—**'तस्माद् इदम् अर्धबृगलम् इव स्वः'**।१-४,३।

इस भाव को बायबल के जेनेसिस (Genesis, १, २७) प्रकरण में लगभग इसी प्रकार कहा गया है। वहाँ लिखा है : 'In the image of God created He him; Male and female created He them'. इसके आगे २२वीं आयत में लिखा है : 'And the rib, the Lord God had taken from man, made He a woman'—पुरुष की पसली निकाल कर परमात्मा ने उसे स्त्री बना दिया। इसका यही अभिप्राय है कि सृष्टि-रचना से पूर्व पुरुष इतना था जितने स्त्री-पुरुष मिले हुए थे—यही बात इस उपनिषद् में कही गई है।

सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष था, फिर उसी में से स्त्री को बनाया—इस कथन को यूँ भी समझा जा सकता है कि जीवन का प्रारम्भ एक-कोष्ठक तत्व (Unicellular life) से शुरू हुआ, उसके बाद बहु-कोष्ठक जीवन (Multi-cellular life) का विकास हुआ। इसी क्रम को खोलते हुए अगले प्रकरण में कहा है कि पुरुष-तत्व और स्त्री-तत्व सम्पूर्ण प्राणी-जगत् में प्रकट हुए—गाय-बैल, घोड़ी-घोड़ा, गधी-गधा, बकरी-बकरा, भेड़-भेड़ा—चऊंटी पर्यन्त यह मिथुन प्रकट हुआ—**'यद् इदम् किंच मिथुनम् आ पिपीलिकाभ्यः तत् सर्वं असृजत'**।१-४,४।

यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि यथार्थ-सत्ता तो आत्मा की है, सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा है, वही नाम-रूप से अलग-अलग दिखलाई दे रहा है—**'नाम रूपाभ्यां एव व्याक्रियते असौ'**, वही सब जगह प्रविष्ट हुआ है—**'सः एषः इह प्रविष्टः'**।१-४,७।

क्योंकि आत्म-सत्ता ही यथार्थ-तत्व है इसलिये वही प्रत्येक वस्तु से अधिक प्रिय समझनी चाहिये। वही पुत्र से भी अधिक प्यारी है—**'तत् एतत् प्रेयः पुत्रात्'**, वही धन से भी अधिक प्यारी है—**'प्रेयः वित्तात्'**, वही अन्य सब से अधिक प्यारी है—**'प्रेयः अन्यस्मात्**

सर्वस्मात्', वही आत्मा हमारा अन्तरतर है—**'अन्तरतरम् यद् अयं आत्मा'**। जो व्यक्ति आत्मा से अन्य किसी पदार्थ को अधिक प्रिय कहता है उसे कहे—**'सः यः अन्यं आत्मनः प्रियं ब्रुवाणम् ब्रूयात्'** कि हे मूर्ख ! जिस पुत्र-कलत्र, वित्त-धन-धान्य को जो तू प्रिय समझ रहा है, वह तुझे अपने प्रिय भगवान् तक पहुंचने में रोक देगा—**'प्रियं रोत्स्यति इति'**। जो व्यक्ति अपने आत्मा को प्रिय समझेगा वह सामर्थ्यवान् हो जायगा—**'ईश्वरः ह तथा एव स्यात् आत्मानं प्रियं उपासीत'**। १-४,८।

उपनिषत्कार का कहना है कि सृष्टि नाम-रूपात्मक है। इस नाम-रूप में डूब जाने से यही लक्ष्य तक पहुंचने में रुकावट हो जाता है। आत्म-तत्व ही यथार्थ-सत्ता है, पुत्र-कलत्र, धन-धान्य मनुष्य को आत्म-तत्व से विमुख करने वाले पदार्थ हैं। इन में रमने वाला लक्ष्य से भटक जाता है।

[सृष्टि की रचना—ब्रह्म-तत्व]

आत्म-तत्व पर कह चुकने के बाद ऋषि ब्रह्म-तत्व पर विचार प्रकट करते हैं। जैसे पहले कहा था कि सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा ही इकला था, वैसे इन प्रकरण में कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म ही इकला था—**'ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीत्'**। क्योंकि वह इकला ही था इसलिये वह अपने को ही जानता था कि मैं ब्रह्म हूँ—**'तद् आत्मानम् अवेत्, अहम् ब्रह्म अस्मि'**। यहाँ 'मैं ब्रह्म हूँ'—इसका अर्थ है कि मैं महान् हूँ—यह जो विशाल-जगत् है, वह मैं हूँ। तभी कहा कि उसी से सब-कुछ उत्पन्न हुआ—**'तस्मात् तत् सर्वं अभवत् '**। १-४,१०।

जैसे आत्म-तत्व से सब प्राणी उत्पन्न हुए वैसे ब्रह्म-तत्व से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। ब्रह्म-तत्व से ही इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ब्राह्मण-धर्म, क्षत्रिय-धर्म, वैश्य-धर्म, शूद्र-धर्म—सबका विकास हुआ। १-४,११।

प्रथम अध्याय में 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म'—इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आत्मा भी इकला था, ब्रह्म भी इकला था। इकले आत्मा से सब जीव-धारी पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंगी प्राणी उत्पन्न हुए; इकले ब्रह्म से सम्पूर्ण सृष्टि, सृष्टि के धर्म—ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र उत्पन्न हुए। 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म'—इन दो

शब्दों के अलग-अलग प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार इन दो तत्वों को अलग-अलग कल्पित कर रहा है। 'आत्मा' से सब जीवधारी उत्पन्न हुए—इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचारक सब जीवधारियों में एक ही आत्म-तत्व की कल्पना कर रहा है। 'ब्रह्म' से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई—इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचारक 'ब्रह्म'-शब्द से ईश्वर की कल्पना नहीं कर रहा, परन्तु सृष्टि में जो विविधता है, जो बढ़ती चली जा रही है, क्षुद्र से महान् होती जा रही है, उसी को वह 'ब्रह्म' कह रहा है। हम लोगों की यह भावना कि जो हम चाहते हैं, वही उपनिषत्कार भी कह रहा है—ठीक नहीं है। सृष्टि की समस्या को संसार के विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से समझने का प्रयत्न किया है। उन्हीं प्रयत्नों में से इस उपनिषद् के विचारक का भी एक अपना स्वतन्त्र प्रयत्न है। उपनिषदों के सम्बन्ध में यह समझना कि सब उपनिषद् एक ही बात को कह रहे हैं, ग़लत धारणा है। उपनिषदों में भिन्न-भिन्न विचारकों ने भौतिक तथा अध्यात्म के सम्बन्ध में अपने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं। इस बात को मान कर ही उपनिषदों को समझा जा सकता है।

प्रथम अध्याय (पाँचवाँ ब्राह्मण)

[सृष्टि के ७ प्रकार के अन्नों में एक है - साधारण-अन्न]

सृष्टि के पिता ने 'मेधा' और 'तप' से सात अन्न उत्पन्न किये—**'यत् सप्त अन्नानि मेधया तपसा अजनयत् पिता'**। इन में से एक साधारण-अन्न है—**'एकम् अस्य साधारणम्'**। इस अन्न का साधारण-पना यही है—**'इदम् एव अस्य तत् साधारणम् अन्नम्'**—कि इसे सब लोग खाते हैं—**'यद् इदम् अद्यते'**। जो व्यक्ति इकला ही इस अन्न की उपासना करता है, अर्थात् इकला इसे खा जाता है—**'सः यः एतद् उपास्ते'**, वह पाप से नहीं बच पाता—**'न सः पाप्मनः व्यावर्तते'**। क्यों पाप से नहीं बच पाता ? इसलिये, क्योंकि यह साधारण अन्न सबका सांझा है—**'मिश्रम् हि एतत्'**। १-५,१,२।

द्वितीय अध्याय (पहले से तीसरे ब्राह्मण तक)

[अजातशत्रु का दृप्त बालाकि गार्ग्य को ब्रह्मोपदेश]

एक समय की बात है कि गर्ग-गोत्री एक ब्राह्मण जिसे लोग 'दृप्त बालाकि' कहते थे काशिराज अजातशत्रु के पास आकर कहने लगा कि मैं तुमको ब्रह्म की शिक्षा दूँगा—**'ब्रह्म ते ब्रवाणि'**। उसका नाम 'दृप्त बालाकि' क्यों था? 'दृप्त' का अर्थ है—अभिमानी, घमंडी; 'बालाकि' का अर्थ है—बगुलों में बैठने वाला। कहने का अभिप्राय यह है कि वह बुगला-भगत था। जब उसने राजा को कहा कि मैं तुमको ब्रह्म की शिक्षा दूँगा, तो राजा ने कहा—दीजिये, मैं तो इतना कहने भर के लिये आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करूंगा।

यह सुनकर गार्ग्य दृप्त बालाकि ने कहना शुरू किया—**'सः ह उवाच गार्ग्यः'**। जो यह **'आदित्य'** में पुरुष है—**'यः एव असौ आदित्ये पुरुषः'**, मैं इसको ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता हूँ—**'एतम् एव अहम् ब्रह्म उपासे इति'**। इस बात को सुनकर अजातशत्रु ने कहा—**'सः ह उवाच अजातशत्रुः'**, ना-ना, ऐसा सम्वाद मत करो—**'मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः'**। यह आदित्य तो संसार में सब से ऊपर स्थित है—**'अतिष्ठाः'**, सब पदार्थों का मूर्धा है, सब का राजा है—**'भूतानां मूर्धा, राजा'**—इस रूप में ही मैं इसकी उपासना करता हूँ—**'इति वै अहम् एतम् उपासे इति'**। जो आदित्य-पुरुष को ब्रह्म मानकर नहीं, परन्तु जिस प्रकार मैं कह रहा हूँ इस रूप में इसकी उपासना करता है—**'सः यः एतम् एवम् उपास्ते'**, वह सबसे ऊपर स्थित हो जाता है—**'अतिष्टाः सर्वेषाम् भूतानाम्'**, सबका मूर्धा तथा राजा हो जाता है—**'मूर्धा राजा भवति'**। २-१,२।

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो **'चन्द्र'** में पुरुष है, मैं इसको ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करता हूँ। इस बात को सुनकर अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा संवाद मत करो, यह तो छिटकती चाँदनी के मानो श्वेत-वस्त्रों को धारण करने वाला महान् सोम राजा है। मैं तो इसी रूप में इसकी उपासना करता हूँ। जो चन्द्र-पुरुष को ब्रह्म मानकर नहीं, परन्तु जिस प्रकार मैं कह रहा हूँ इस रूप में इसकी उपासना करता है उसके घर में सोम-रस का खूब प्रवाह होता है।

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो **'विद्युत्'** में पुरुष है, मैं इसको ब्रह्म

समझ कर उसकी उपासना करता हूँ। इस बात को सुनकर अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा सम्वाद मत करो, **विद्युत्** तो एक तेजस्वी अचेतन-शक्ति है। मैं तो इसी रूप में इसकी उपासना करता हूँ। जो विद्युत्-पुरुष को ब्रह्म मान कर नहीं, परन्तु जिस प्रकार मैं कह रहा हूँ इस रूप में इसकी उपासना करता है वह तेजस्वी हो जाता है, उसकी सन्तान तेज वाली हो जाती है।

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो **'आकाश'** में पुरुष है, मैं इसको ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करता हूँ। इस बात को सुनकर अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा सम्वाद मत करो, आकाश तो अप्रवर्ति है, गतिशून्य है, जो स्वयं गतिशून्य है वह दूसरों को गति कैसे दे सकता है। मैं तो इसी रूप में इसकी उपासना करता हूँ। जो आकाश-पुरुष को ब्रह्म मान कर नहीं, परन्तु जिस प्रकार मैं कह रहा हूँ इस रूप में इसकी उपासना करता है वह प्रजा तथा पशुओं से ऐसे पूर्ण हो जाता है जैसे आकाश पूर्ण है।

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो **'वायु'** में पुरुष है, मैं इसको ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करता हूँ। इस बात को सुन कर अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा सम्वाद मत करो, वायु तो ऐश्वर्यशाली, बे-रोक-टोक चलने वाली किसी की सेना के समान है। मैं तो इसी रूप में इसकी उपासना करता हूँ। जो वायु-पुरुष को ब्रह्म मान कर नहीं, परन्तु जिस प्रकार मैं कह रहा हूँ इस रूप में इसकी उपासना करता है वह शत्रुओं का पराभव कर देता है।

गार्ग्य ने फिर कहा, यह जो **'जल'** में पुरुष है, मैं इसको ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करता हूँ। इस बात को सुनकर अजातशत्रु ने कहा, ना-ना, ऐसा सम्वाद मत करो, जल तो सब को भाने वाली वस्तु है। मैं तो इसी रूप में इसकी उपासना करता हूँ। जो जल-पुरुष को ब्रह्म मानकर नहीं, परन्तु जिस प्रकार मैं कह रहा हूँ इस रूप में इसकी उपासना करता है वह शत्रुओं का पराभव कर देता है।

ब्रह्मांड के सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, जल से हटकर अब पिंड के देह आदि को ब्रह्म कहते हुए गार्ग्य ने कहना शुरू किया कि दर्पण में जो पुरुष दीखता है, या नाद में जो पुरुष दीखता है, या चारों दिशाओं में, दिग्दिगन्त में जो पुरुष फिर रहे हैं, मैं इन्हें ब्रह्म मान कर इनकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा ना-ना, दर्पण में तो

अपना प्रतिबिम्ब दीखता है, नाद में तो अपने ही प्राण की ध्वनि सुनाई देती है, जो चारों दिशाओं में पुरुष घूमते-फिरते हैं वे तो हमारे जैसे ही दूसरे पुरुष हैं, वे ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? २-१,९।

गार्ग्य ने अन्त में कहा—**'सः ह उवाच गार्ग्यः'**, जो अपने शरीर में 'आत्म-पुरुष' है, मैं इसी को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता हूँ —**'यः एव अयं आत्मनि पुरुषः एतम् एव अहम् ब्रह्म उपासे इति'**। अजातशत्रु ने कहा—**'सः ह उवाच अजातशत्रुः'**, ना-ना, ऐसा सम्वाद मत करो—**'मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः'**। मैं तो शरीरगत आत्मा को **'आत्मन्वी'**—यह कह कर इसकी उपासना करता हूँ—**'आत्मन्वी इति वा अहम् एतम् उपासे'**। यह शरीरगत आत्मा तो स्वयं किसी आत्मा वाला है। यह आत्मा तो स्वयं किसी दूसरे आत्मा की अपेक्षा कर रहा है। वह न हो तो यह निराधार हो जाता है। जिसके बिना यह कुछ नहीं कर सकता, वह तो ब्रह्म हो सकता है, परन्तु यह आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकता है ? मैं तो शरीरगत आत्मा की इसी रूप में उपासना करता हूँ। जो इसकी इस रूप में उपासना करता है, वह आत्मावाला हो जाता है। यह सुनकर गार्ग्य चुप हो गया—**'सः ह तूष्णीम् आस गार्ग्यः'**।२-१,१३।

अजातशत्रु ने कहा, अगर ब्राह्मण क्षत्रिय के पास इस आशा से आये कि क्षत्रिय उसे ब्रह्म का उपदेश देगा, तो वह 'प्रतिलोम' अर्थात् उल्टी बात होगी, तो भी तुझे ब्रह्म का रहस्य अवश्य समझाऊँगा—**'त्वा ज्ञपयिष्यामि'**। अजातशत्रु गार्ग्य का हाथ पकड़ कर उठ खड़ा हुआ और वे दोनों एक पुरुष के पास पहुँचे जो सो रहा था। उसके पास पहुँच कर उसका नाम लेकर उसे पुकारने लगे, लेकिन वह नहीं जागा। फिर, उसे हाथ से हिलाया, तो वह जाग गया—**'बोधयांचकार'**, और उठ खड़ा हुआ—**'उत्तस्थौ'**।२-१,१५।

अब अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा—**'सः ह उवाच अजातशत्रुः'**, यह सोते समय जहाँ था—**'यत्र एषः एतत् सुप्तः अभूत्'**, यह जो विज्ञानमय पुरुष है—**'यः एषः विज्ञानमयः** [illegible]', वह सोते समय कहाँ चला गया था कि नाम पुकारने पर भी [illegible] सका—**'क्व एषः तदा अभूत्'**, और जब इसे हमने हिलाया तब यह कहाँ से लौट आया कि उठ खड़ा हुआ—**'कुतः एतद् आगात् इति'**। गार्ग्य की समझ में कोई उत्तर न आया।२-१,१६।

तब अजातशत्रु ने कहना शुरू किया—जब यह व्यक्ति सो रहा था तब भी यह पुरुष विज्ञानमय था, परन्तु उस समय अपने सम्पूर्ण ज्ञान को चारों तरफ़ से समेट कर हृदयाकाश में चला गया था। सोने के समय यह विज्ञानमय पुरुष इन्द्रियों के ज्ञान को अपने भीतर खींच लेता है। इस स्थिति में हम इसे **'स्वपिति'** कहते हैं। कहने को वह 'सो-रहा' कहा जाता है, परन्तु वास्तव में **'स्वम् अपीतः'**—अर्थात् 'अपने स्वरूप में पहुंचा हुआ' होता है। उस समय आत्मा वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन—इन सब को और इनके ज्ञान को अपने में पकड़ कर भीतर विद्यमान होता है।२-१,१७।

उस समय स्वप्न-लीला में जहाँ-जहाँ यह विचरता है, वे ही इसके लोक होते हैं। स्पप्न में कभी यह महाराजा बन जाता है, कभी महा-ब्राह्मण, कभी उच्च, कभी नीच। जैसे कोई महाराजा अपने सेवकों को साथ लेकर अपने देश में इच्छानुसार भ्रमण करे, ऐसे ही यह विज्ञानमय-पुरुष इन्द्रियों को लेकर अपने शरीर में इच्छानुसार भ्रमण करता है। २-१,१८।

स्वप्न के बाद जब यह सुषुप्तावस्था में पहुंच जाता है—**'अथ यदा सुषुप्तः भवति'**, जब इसे कुछ ज्ञान नहीं होता—**'यदा न कस्यचन वेद'**, तब हृदय से निकली अनेक नाड़ियों में से यह पुरीतत् नाड़ी में चला जाता है—**'पुरीतति शेते'**। जैसे कोई कुमार, महाराजा या महाब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा में पहुंच जाता है, वैसे ही सुषुप्तावस्था में आत्मा आनन्द की पराकाष्ठा में होता है।२-१,१९।

जैसे मकड़ी अपने तन्तु के सहारे नीचे-ऊपर चढ़ती-उतरती है, आती-जाती है, वैसे ही आत्मा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में विज्ञान रूपी तन्तु के सहारे अन्दर-बाहर आता-जाता है। जब यह सुषुप्तावस्था में होता है, तब आनन्दघन ब्रह्म के निकट पहुंचने के कारण इसे भी आनन्द-ही-आनन्द का अनुभव होता है। यही 'ब्रह्म' की झाँकी है। जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही आनन्द-घन ब्रह्म की निकटता के कारण आत्मा को आनन्द की अनुभूतियाँ होती हैं।२-१,२०।

गार्ग्य ब्रह्मांड के भौतिक पदार्थों को देख कर कहता था कि ये ही ब्रह्म हैं, पिंड की इन्द्रियों को देख कर कहता था कि ये ही ब्रह्म हैं, इनके अतिरिक्त ब्रह्म का दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। अजातशत्रु ने उसे

समझाया कि ये ब्रह्म नहीं हैं, ये तो भौतिक पदार्थ हैं। ब्रह्म का स्वरूप तो आनन्दघनता है जिसकी झाँकी सुषुप्तावस्था में सभी को प्राप्त होती है। सुषुप्तावस्था में आत्मा जो आनन्द अनुभव करता है वह ब्रह्म के सान्निध्य का स्मरण मात्र है।

इस प्रकार का वर्णन छान्दोग्य, ५, ११—२४; बृहदारण्यक, ३,६,१०—१७; बृहदारण्यक, ४,२,३; ४-३—२०; ४-४-२ में भी पाया जाता है। आत्मा की जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं का वर्णन माण्डूक्य, ८—१२ तथा बृहदारण्यक ४—२ में पाया जाता है। यहाँ तक बृहदारण्यक का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय के २ रे तथा ३ रे ब्राह्मण में कुछ विशेष बात नहीं है। अजातशत्रु का ही गार्ग्य को ब्रह्म-विषयक उपदेश है—उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं।

द्वितीय अध्याय (चतुर्थ ब्राह्मण)

[याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद]

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि हे मैत्रेयी—**'मैत्रेयी, इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः'**, मैं इस स्थान से उठने वाला हूँ—**'उद्यास्यन् वै अरे अहम् अस्मात् स्थानात् अस्मि'**। आओ, तेरा कात्यायनी से झगड़े का अन्त कर दूं—**'हन्त ते अनया कात्यायन्या अन्तम् करवाणि इति**।२-४,१।

मैत्रेयी ने कहा—**'सा ह उवाच मैत्रेयी'**, भगवन्! अगर यह सारी पृथिवी वित्त से पूर्ण होकर मुझे मिल जाय—**'यत् नु मे इयम् भगोः पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्'**; तो क्या मैं उससे अमर हो जाऊँगी—**'कथम् तेन अमृता स्याम् इति'**? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नहीं, **'न इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः'**। तो फिर क्या होगा? याज्ञवल्क्य ने कहा, उस अवस्था में जैसे साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन होता है, वे सुख-चैन से जीवन निर्वाह करते हैं, वैसा तेरा जीवन होगा—**'यथा एव उपकरणवताम् जीवितम् तथा एव ते जीवितम् स्यात्'**। अमर-जीवन प्राप्त करने की तो वित्त से कोई आशा नहीं हो सकती—**'अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन इति'**।२-४,२।

याज्ञवल्क्य की यह बात सुनकर मैत्रेयी ने कहा—**'सा ह उवाच मैत्रेयी'**, जिससे मैं अमरत्व न प्राप्त करूंगी उसे लेकर मैं क्या करूंगी—**'येन अहं न अमृता स्याम् किं अहम् तेन कुर्याम्'**। हे भगवन्! अमर

होने का जो रहस्य आप जानते हैं—**'यद् एव भगवान् वेद'**, उसी का मुझे उपदेश दीजिये—**'तद् एव मे ब्रूहि इति'** ।२-४,३ ।

यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा, तू तो मेरी प्रिय है, और बड़ी प्रिय बात बोल रही है। आ बैठ, मैं तुझे सब-कुछ खोल कर समझाता हूँ, ज्यों-ज्यों मैं बोलता जाऊँ, तू मेरी बात ध्यान से सुनते जाना ।२-४,४।

याज्ञवल्क्य ने कहा—**'सः ह उवाच'**, अरे पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता, आत्मा की कामना के लिये पति प्रिय होता है—**'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियः भवति, आत्मनः तु कामाय पतिः प्रियः भवति'**, अरे, पत्नी की कामना के लिये पत्नी प्रिय नहीं होती, आत्मा की कामना के लिये पत्नी प्रिय होती है—**'न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनः तु कामाय जाया प्रिया भवति'**, अरे, पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्रिय होते हैं—**'न वा अरे पुत्राणां कामाया पुत्राः प्रियाः भवन्ति आत्मनः तु कामाय पुत्राः प्रियाः भवन्ति'**, धन की कामना के लिये धन नहीं, अपने लिये धन प्रिय होता है—**'न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तम् प्रियं भवति आत्मनः तु कामाय वित्तम् प्रियम् भवति'**, जनता की सेवा की कामना के लिये या सब के हित की कामना के लिये जनता के प्रति प्रेम नहीं उमड़ता, आत्मा की कामना के लिये सब के प्रति हित दिखाने की भावना प्रिय होती है—**'न वा अरे लोकानाम् कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति आत्मनः तु कामाय लोकाः प्रियाः भवन्ति'**, **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनः तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** ।

अरे मैत्रेयी ! आत्मा को ही देखना चाहिये—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'**, आत्मा के सम्बन्ध में ही सुनना चाहिये—**'श्रोतव्यः'**, आत्मा के सम्बन्ध में ही मनन करना चाहिये—**'मन्तव्यः'**, आत्मा का ही ध्यान करना चाहिये—**'निदिध्यासितव्यः मैत्रेयि'** । आत्मा के दर्शन से—**'दर्शनेन'**, आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश सुनने से—**'श्रवणेन'**, आत्मा पर मनन करने से—**'मत्या'**, आत्मा को पूर्णतया जान लेने से—**'विज्ञानेन'**, यह सब-कुछ जाना जाता है—**'इद्म सर्वं विदितम्'** । २-४,५ ।

श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे ने अपने ग्रन्थ 'उपनिषद्-दर्शन' में इस प्रकरण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुछ लोग इस अवतरण की व्याख्या स्वार्थपरक-नीति के पक्ष में करते हैं। उनका कहना है कि

याज्ञवल्क्य कह रहे हैं कि संसार में पति, पत्नी, पुत्र सब अपने स्वार्थ के लिये हैं। यह अर्थ ठीक नहीं है। यह अवतरण स्वार्थपरक-नीति के पक्ष में न होकर आत्मानुभूतिपरक है। हमें यह न समझना होगा कि पति, पत्नी, पुत्र आदि सब अपने स्वार्थ के लिये ही प्रिय होते हैं। इस अवतरण के अन्त में लिखा है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'**, आत्मा को देखो, **'श्रोतव्यः'**—उसे सुनो, **'मन्तव्यः'**—उसका मनन करो। इस वाक्य में आने वाला 'आत्मा'-शब्द पूर्व वाक्यों में भी आत्मा के स्वार्थ-परक अर्थ का निषेध करता है। अतः हमें सम्पूर्ण अवतरण में 'आत्म'-शब्द का अर्थ स्वार्थ न लेकर आत्मा या परम सत्य के रूप में ग्रहण करना होगा और इसलिये समझना होगा कि पति, पत्नी, पुत्र के प्रति प्रेम हमारा आत्मा के प्रति हमारे प्रेम का एक अंग है अथवा प्रति-बिम्ब मात्र है। वस्तुतः ये सब वस्तुएँ आत्मा के कारण ही प्रिय होती हैं। इनके प्रति प्रेम हमारे आत्मा के प्रति प्रेम का अंग है क्योंकि ये हमारे आत्मा के ही अंग हैं।

हे मैत्रेयी, यह संसार आत्मा का ही खेल है, आत्मा ही से हर वस्तु का उद्भव है। हर वस्तु को पाने के स्थान में आत्मा को पा लोगी तो सब-कुछ पा लोगी। जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के पीछे भागता है, समय आता है जब वह वस्तु ही उसे छोड़ देती है—**'तम् परा अदात्'**। इसलिये छोड़ देती है क्योंकि उस वस्तु का अस्तित्व आत्मा पर निर्भर है, आत्मा ही सब-कुछ है—**'इमानि भूतानि, इदम् सर्वम्, यद् अयं आत्मा'**। २-४,७।

उदाहरणार्थ, दुंदुभि पर चोट देने से शब्द निकल-निकल कर बाहर आते हैं। अगर उन शब्दों को पकड़ने की कोशिश करें, तो वे हाथ नहीं आते, दुंदुभि को ही पकड़ लें तब सब हाथ आ जाता है; शंख को पूरें तो ध्वनि निकलती है, इस ध्वनि को पकड़ने की कोशिश करें, तो वह हाथ नहीं आती, शंख को ही पकड़ लें तब सब हाथ आ जाता है; वीणा से स्वर निकलते हैं, उन स्वरों को पकड़ने की कोशिश करें, तो वे हाथ नहीं आते, वीणा को ही पकड़ लें तब सब हाथ आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा का जो यह खेल संसार है उसके पीछे भागें तब कुछ हाथ नहीं आता, आत्मा को ही पकड़ लें, तब सब-कुछ हाथ आ जाता है क्योंकि यह खेल आत्मा का ही किया हुआ है। जैसे सब जल समुद्र को पहुंचते हैं, सब स्पर्श त्वचा को, सब गंध नासिका

को, सब रस जिह्वा को, सब रूप चक्षु को, सब शब्द श्रोत्र को, सब कर्म हस्त को, सब गति पाँव को पहुंचती है, इसी प्रकार सृष्टि का सब-कुछ आत्मा को ही पहुंचता हैं क्योंकि सृष्टि का प्रवाह, इसका स्रोत आत्मा ही है, इसलिये वाह्य-जगत् के पीछे भागने के स्थान में आत्मा को जानना ही सब-कुछ जान लेना है।२-४,७, ८, ९, ११।

जिस प्रकार नमक की खील पानी में विलीन होती है, उसे पानी में से निकाला नहीं जा सकता, अरे मैत्रेयी, इसी प्रकार विज्ञान-घन-आत्मा सृष्टि में सर्वत्र विद्यमान है।

द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को मधु-विद्या का उपदेश दिया है। मधु-विद्या का अर्थ यही है कि जैसे पृथिवी, जल, आकाश आदि हमें मधु-समान प्यारे हैं, इसी प्रकार आत्मा तथा ब्रह्म भी साधक को मधु के समान प्यारे होते हैं।

द्वितीय अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में उपनिषद् की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख है। ब्रह्मा से किस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा ब्रह्म-विद्या का ज्ञान उत्तरोत्तर दिया गया—इसका विवरण है जिसके यहाँ देने की आवश्यकता नहीं। द्वितीय अध्याय हम यहाँ समाप्त करते हैं।

तृतीय अध्याय (प्रथम ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा अश्वल का संवाद]

प्राचीन-काल में किसी समय विदेहराज जनक ने बहु-दक्षिण-नामक यज्ञ किया। वहाँ अनेक ब्राह्मण एकत्रित हुए। राजा जनक जानना चाहते थे कि इनमें **'अनूचानतमः'**, अर्थात् अतिशय विद्वान् कौन है? इस उद्देश्य से उन्होंने सर्वोत्तम विद्वान् को दक्षिणा में देने के लिये एक हजार गौएं रुकवा लीं, और एक-एक गौ के दोनों सींगों में दस-दस तोला सोना बन्धवा दिया।३-१,१।

राजा जनक उन ब्राह्मणों से बोले, आदरणीय ब्राह्मणो! आप लोगों में जो सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्म-ज्ञानी हो, वह इन गौओं को अपने घर हांक ले जा सकता है। याज्ञवल्क्य ने अपने एक ब्रह्मचारी को कहा, हे सामश्रवा! इन गौओं को आश्रम में हांक ले जाओ। वहां जनक के पुरोहित अश्वल भी विराजमान थे। उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा, आप अपने को सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म-वेत्ता समझते हैं, तो पहले हमारे प्रश्नों का उत्तर दीजिये। याज्ञवल्क्य ने कहा, कीजिये प्रश्न। ३-१,२।

अश्वल ने पहला प्रश्न किया—यज्ञ का उद्देश्य यजमान को संसार के बन्धन से छुटकारा दिला कर मोक्ष दिलाना है। जब मृत्यु सभी को व्याप रही है, तब यजमान मृत्यु से कैसे छूट सकता है, फिर उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—मृत्यु से छूटने का यह अर्थ नहीं है कि यजमान की मृत्यु ही नहीं होती। भौतिक-जगत् में **'अग्नि'** जो काम करती है, व्यक्ति के जगत् में **'वाणी'** का वही काम है। जैसे अग्नि में सब मल भस्म हो जाते हैं, वैसे यजमान की वाणी में अग्नि की तरह की तेजस्विता का आ जाना ही यजमान का मृत्यु को जीत लेना या मोक्ष पाना है। समष्टि-जगत् की अग्नि तथा व्यष्टि-जगत् की वाणी में समरसता का आ जाना मृत्यु से छूट जाना है। यही मोक्ष है, यही **'मुक्ति'** है, यही **'अतिमुक्ति'** है। ३-१,३।

फिर अश्वल ने दूसरा प्रश्न किया—यज्ञ का उद्देश्य यजमान को दिन-रात के बन्धन से मुक्त कर उसे अमर कर देना है। दिन-रात तो सब जगह व्याप रहे हैं, फिर दिन-रात के बन्धन से मुक्त कैसे हो सकते हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—दिन-रात के बन्धन से छूटने का यह अर्थ नहीं है कि यजमान के लिये दिन-रात नहीं रहते। भौतिक-जगत् में **'सूर्य'** जो काम करता है, व्यक्ति के जगत् में **'चक्षु'** का वही काम है। जैसे सूर्य के सम्मुख दिन-रात का भेद नहीं रहता, प्रकाश-ही-प्रकाश रह जाता है, वैसे जिसकी तत्व-ज्ञान की आंख खुल जाती है उसके लिये अन्धकार नहीं रहता, यही दिन-रात के बन्धन से छूट कर अमर हो जाना है। यही मोक्ष है, यही **'मुक्ति'** है, यही **'अति-मुक्ति'** है।

फिर अश्वल ने तीसरा प्रश्न किया—यज्ञ का उद्देश्य यजमान को शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष के बन्धन से मुक्त कर उसे अमर कर देना है। शुक्ल-पक्ष तथा कृष्ण-पक्ष तो संसार में हर वस्तु के होते हैं; हर वस्तु का पूर्व-पक्ष तथा अपर-पक्ष होता है, हर वस्तु के दो पहलू होते हैं, फिर यजमान पूर्व-पक्ष तथा अपर-पक्ष से मुक्त कैसे हो सकता है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—पूर्व-पक्ष तथा अपर-पक्ष से छूटने का अर्थ यह नहीं है कि यजमान किसी बात में भी जीवन में अवश्यंभावी दो पहलुओं से छूट जाता है। भौतिक-जगत् में **'वायु'** जो काम करता

है, व्यक्ति के जगत् में '**प्राण**' वही काम करता है। वायु की दो दिशाएं हैं— पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, प्राण की भी दायां सांस, बायां सांस— ये दो दिशाएं है। श्वास-प्रश्वास पर आधिपत्य प्राप्त कर लेना ही पूर्व-पक्ष तथा अपर-पक्ष के बन्धन से मुक्त हो जाना है। यही '**मुक्ति**' है, यही '**अतिमुक्ति**' है।

फिर अश्वल ने चौथा प्रश्न किया—यज्ञ का उद्देश्य यजमान को स्वर्ग तक पहुंचा देना है। जब अन्तरिक्ष निरावलम्ब है, इसकी कोई टेकन नहीं, तब किस सीढ़ी से यजमान स्वर्ग तक पहुंच जाता है।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यजमान के स्वर्ग-लोक में पहुंचने का यह अर्थ नहीं है कि अन्तरिक्ष में किसी स्थान पर स्वर्ग-लोक है जिस पर पहुंचने के लिये सीढ़ी की आवश्यकता है। भौतिक-जगत् में '**चन्द्र**' जो काम करता है, व्यक्ति के जगत् में '**मन**' वही काम करता है। चन्द्र समुद्र में ज्वार-भाटा लाता है, उत्थान तथा पतन का वह कारण है, मन का काम भी उत्थान तथा पतन है। जब यजमान मन पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है तब वह मानो स्वर्ग-लोक को पहुंच जाता है। यही '**मुक्ति**' है, यही '**अतिमुक्ति**' है।

फिर अश्वल ने पांचवाँ प्रश्न किया—आज विदेहराज जनक के यहाँ जो यज्ञ हो रहा है उसमें कितनी और किन-किन ऋचाओं का प्रयोग किया जायगा?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—तीन ऋचाओं का। वे हैं—'**पुरोनुवाक्या**', '**याज्या**' तथा '**शस्या**'। 'पुरोनुवाक्या' वह ऋचा है जिसमें यज्ञ का प्रारम्भ करते हुए यजमान के संकल्प की घोषणा की जाती है; 'याज्या' वे ऋचाएं हैं जिन में इस संकल्प को दृढ़ करने के लिये उन्हें बार-बार, भिन्न-भिन्न तौर पर पढ़ा जाता है; 'शस्या' वे ऋचाएं हैं जो संकल्पकृत-कार्य की समाप्ति पर मानसिक प्रसन्नता के लिये की जाती है। यह यज्ञ ही क्या, प्रत्येक कार्य को यज्ञ समझ कर इस तीन प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करना अभीष्ट है, समष्टि तथा व्यष्टि में इस तीन प्रकार के संकल्प-कृत-कार्य करना ही '**मुक्ति**' है, '**अतिमुक्ति**' है।

इससे आगे इसी प्रकार के यज्ञ-सम्बन्धी तीन और प्रश्न अश्वल ने किये। याज्ञवल्क्य ने सब प्रश्नों का उत्तर देते हुए यज्ञ का प्रचलित अर्थ न कर भौतिक-जगत् तथा व्यक्ति के जगत् में, समष्टि में तथा व्यक्ति में जो जीवन चल रहा है उसे यज्ञ का रूप देकर यह कहने का

यत्न किया है कि ब्रह्मांड तथा पिंड में एक ही प्रक्रिया चल रही है, वही यज्ञ है। जैसा हम पहले लिख आये हैं, उपनिषदों के काल में प्रचलित यज्ञों के प्रति उस समय के बुद्धिजीवी-वर्ग में अनास्था उत्पन्न हो गई थी, परन्तु वे इन यज्ञों का विरोध करने के स्थान में इनका आध्यात्मिक अर्थ करने लगे थे ताकि कर्मकांडियों के साथ संघर्ष भी न हो और ज्ञानकांडियों का अभिप्रेत अर्थ भी जनता के सम्मुख स्पष्ट हो जाय।

अश्वल के जब सब प्रश्नों का उत्तर याज्ञवल्क्य ने दे दिया तब वह चुप होकर बैठ गया।

तृतीय अध्याय (दूसरा ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा आर्तभाग का संवाद]

अश्वल ने जो प्रश्न किये थे उनका सम्बन्ध यज्ञों से था। यज्ञ का उद्देश्य जन्म-मरण से मुक्ति समझा जाता था, परन्तु अश्वल ने जो प्रश्न किये उनसे कर्म-कांडियों के इस उद्देश्य का खंडन होता था जो कर्मकांडियों को अभिप्रेत नहीं था। उसी से लाभ उठाकर याज्ञवल्क्य ने यज्ञ की हर बात को ज्ञान-कांड पर घटित कर दिया और कहा कि कर्म-कांड की प्रक्रिया से मुक्ति तथा अतिमुक्ति नहीं होती, ज्ञान-कांड की प्रक्रिया से मुक्ति तथा अतिमुक्ति होती है।

अब जरत्कारुगोत्री आर्तभाग ने प्रश्न शुरू किये। उसने पहला प्रश्न किया—**'ग्रह'** कितने हैं, और **'अतिग्रह'** कितने हैं? **'ग्रह'** का अर्थ है—ग्रहण करने वाला; **'अतिग्रह'** का अर्थ है—इतनी ज़ोर से पकड़ने वाला कि उससे छुटकारा ही कठिन हो, मनुष्य उसके वश में हो जाय।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नासिका ग्रह है, **'गन्ध'** अतिग्रह है। नासिका तो गन्ध को ग्रहण करती है, परन्तु उसका विषय जो गन्ध है वह मनुष्य को ज़ोर से पकड़ लेता है, अपने वश में कर लेता है इसलिए 'गन्ध' अतिग्रह है। वाणी तो ग्रह है, परन्तु लोग वाणी का प्रयोग अपने नाम को फैलाने में करते हैं, इसलिये **'नाम'** अतिग्रह है। जिह्वा तो ग्रह है, परन्तु विषयों का **'रस'** अतिग्रह है जो मनुष्य को रस के लिये चटोरा बना देता है। चक्षु तो ग्रह है, परन्तु **'रूप'** अति-ग्रह है जो रूप पर मनुष्य को मोहित कर देता है। श्रोत्र तो ग्रह है,

परन्तु **'शब्द'** अतिग्रह है जो संगीत में मनुष्य को बांध देता है। मन तो ग्रह है, परन्तु **'कामना'** अतिग्रह है जिसके कारण मन हमारे वश में नहीं रहता। हाथ ग्रह है, **'कर्म'** अतिग्रह है, त्वचा ग्रह है, **'स्पर्श'** अतिग्रह है। इस प्रकार इन आठ अतिग्रहों के फन्दे में फंस कर मनुष्य जीवन में फिसल जाता है।

आर्तभाग ने दूसरा प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य, ये ग्रह तथा अतिग्रह तो मृत्यु का रूप धारण कर मानव-मात्र का संहार कर रहे हैं। इन विषयों में फंसकर मनुष्य का छुटकारा कैसे हो सकता है ? ये तो साक्षात् मृत्यु-रूप हैं, फिर इनकी मृत्यु कैसे हो सकती है। हम तो मोक्ष-प्राप्ति चाहते हैं, इनकी मृत्यु हो सके तभी तो छुटकारा हो सकता है। क्या मृत्यु की मृत्यु हो सकती है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हो सकती है। उदाहरणार्थ, अग्नि सब पदार्थों को भस्म कर देती है, परन्तु जल अग्नि को भी मार डालता है। इसलिये मत कहो कि मृत्यु की मृत्यु नहीं हो सकती। अग्नि मृत्यु है, परन्तु जल उसे अन्न के रूप में खा जाता है—**'अग्निः वै मृत्युः सः अपाम् अन्नम्'**। ब्रह्म साक्षात्कार से उन सब विषयों की मृत्यु हो जाती है जो मनुष्य को **'ग्रह'** तथा **'अतिग्रह'** के रूप में जकड़ कर मानो मारे डालते हैं। ३-२,१०।

अब आर्तभाग ने तीसरा प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य, जब मनुष्य मर जाता है, तब इन्द्रियाँ तथा उनके विषय जिन्हें तुमने ग्रह तथा अतिग्रह कहा—क्या ये उसके साथ जाते हैं ?

याज्ञवल्क्य ने उतर दिया—नहीं, ये उसके साथ नहीं जाते, ये यहीं भौतिक-तत्वों में लीन हो जाते हैं, शरीर से प्राण निकल जाता है, शरीर मरा पड़ा रहता है।

अब आर्तभाग ने चौथा प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य, तुम्हारे कहने के अनुसार इन्द्रियाँ तो यहीं लीन हो जाती हैं, क्या कुछ ऐसी वस्तु भी है जिसे मरने पर वह साथ ले जाता है, जो उसे नहीं छोड़ता ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जब मनुष्य मर जाता है तब नाम इसे नहीं छोड़ता—**'अयम् पुरुषः म्रियते, किम् एनम् न जहाति इति, नाम इति'**।

अब आर्तभाग ने पाँचवां प्रश्न किया—जब यह पुरुष मर जाता है, इसकी वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा

में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पार्थिव तत्वों में लीन हो जाते हैं, तब जीव का आधार कुछ भी बच नहीं रहता, ऐसी हालत में जीव कहाँ रहता है—**'क्व अयम् तदा पुरुषः भवति इति'** ।

याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सोम्य ! ला अपना हाथ दे, मेरे साथ चल, हम दोनों इस विषय पर अलग बैठ कर विचार करेंगे—**'आवाम् एव एतस्य वेदिष्यावः'**, इस गम्भीर विषय को इस भीड़ में नहीं विचारा जा सकता—**'न नौ एतत् सजने इति'** । वे दोनों अलग जाकर विचार विनिमय करने लगे । उन्होंने अलग बैठ कर जो विचार-विनिमय किया उसका निष्कर्ष उन्होंने भरी सभा में आकर जो कहा—**'तौ ह यद् ऊचतुः'**—वह यह था कि कर्म ही के आधार पर जीव बना रहता है—**'कर्म तद् ऊचतुः'** । जिस बात की उन्होंने प्रशंसा की—**'अथ यत् प्रशंसतुः'**—वह कर्म की ही प्रशंसा की—**'कर्म ह एव तद् प्रशंसतुः'**, पुण्य-कर्म से पुण्य जीवन मिलता है—**'पुण्यः वै पुण्येन कर्मणा भवति'**, पाप-कर्म से पापी जीवन मिलता है—**'पापः पापेन इति'** । इसके बाद आर्तभाग संतुष्ट होकर शान्त हो गया । ३-२,१३ । तृतीय अध्याय का तीसरा ब्राह्मण अनावश्यक है ।

तृतीय अध्याय (चौथा ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा उषस्त चाक्रायण का संवाद]

आर्तभाग के बाद भुज्यु खड़ा हुआ । उसका प्रश्न अनावश्यक-सा है, इसलिये उसे हम छोड़कर आगे बढ़ते हैं । भुज्यु के बैठ जानें पर उषस्त चाक्रायण प्रश्न पूछने के लिये खड़े हुए :

उषस्त चाक्रायण ने पूछा—**'अथ ह एनम् उषस्तः चाक्रायणः पप्रच्छ'** । उसने कहा, हे याज्ञवल्क्य—**'याज्ञवल्क्य इति ह उवाच'** । यह जो साक्षात् अपरोक्ष-ब्रह्म है, अर्थात् प्रत्यक्ष-ब्रह्म है—**'यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म'**, जो सबके अन्तर में आत्मा है—**'यः आत्मा सर्वान्तरः'**, उसकी आप मुझे व्याख्या समझाइये—**'तम् मे व्याचक्ष्व इति'** । याज्ञ-वल्क्य ने उत्तर दिया—आत्मा तेरे भीतर है और सबके भीतर है—**'एषः ते आत्मा सर्वान्तरः'** । उषस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य, कौन-सा आत्मा सब के भीतर है—**'कतमः याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः'** ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो प्राण द्वारा सब के जीवन के भीतर दिखलाई देता है, वह तेरा प्रत्यक्ष आत्मा है—**'यः प्राणेन प्राणिति सः ते आत्मा सर्वान्तरः'**; जो अपान द्वारा सबके जीवन में दिखलाई देता है वह तेरा

प्रत्यक्ष आत्मा है—'**यः अपानेन अपानिति सः ते आत्मा सर्वान्तरः**', जो व्यान द्वारा सबके भीतर दिखलाई देता है वह तेरा प्रत्यक्ष आत्मा है—'**यः व्यानेन व्यानिति सः ते आत्मा सर्वान्तरः**', जो उदान द्वारा सबके भीतर दिखलाई देता है वह तेरा प्रत्यक्ष आत्मा है—'**यः उदानेन उदानिति सः ते आत्मा सर्वान्तरः**'। यह आत्मा सब के भीतर काम कर रहा है और क्योंकि ये सब कार्य प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर देख रहा है इसलिये जो शक्ति प्राण, अपान, व्यान तथा उदान का कार्य कर है वही सब के भीतर दिखलाई देने वाला प्रत्यक्ष आत्मा है—'**एषः ते आत्मा सर्वान्तरः**'। ३-४,१।

याज्ञवल्क्य का कहना यह है कि तुम पूछते हो, दिखलाओ आत्मा कहाँ है, परन्तु मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि ये प्राण, अपान, व्यान, उदान जिससे गतिशील हो रहे हैं वह इनसे तो पृथक् ही है। अगर ये प्रत्यक्ष हैं, तो आत्मा भी इतना ही प्रत्यक्ष है, उससे अधिक नहीं। यह सुनकर उषस्त चुप हो गया।

तृतीय अध्याय (पाँचवाँ ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा कहोल का संवाद]

इसके बाद कुषीतकी के पुत्र कहोल खड़े हुए। उन्होंने कहा, हे याज्ञवल्क्य, साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म, जो आत्मा सर्वान्तर है, जिसकी व्याख्या आपने की, उसकी कुछ और व्याख्या करो। याज्ञवल्क्य ने वही उत्तर, जो उषस्त को दिया था, दोहरा दिया—'यह तेरा आत्मा सब के भीतर है'—'**एषः ते आत्मा सर्वान्तरः**'। कहोल ने पूछा, हम तो भूख-प्यास से सताये जाते हैं, शोक-मोह, जरा-मृत्यु से आक्रान्त हैं, आत्मा तो इन सब से परे कहा जाता है, फिर यह हमारे भीतर जो है वह आत्मा कैसे हो सकता है?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हमारे भीतर जो आत्मा है यह वह है जो जान लेने से मनुष्य पुत्रैषणा (Sex urge), वित्तैषणा (Possessive impulse) तथा लोकैषणा (Self-assertive impulse) से मुक्त हो जाता है। उसकी ये एषणाएँ अपने-आप छूट जाती हैं। जब तक मनुष्य अपने भीतर के आत्मा को न जानकर संसार के विषयों में ही अपनेपन को देखता है तभी तक वह इन एषणाओं का शिकार बना रहता है। यह सुनकर कोहल शान्त हो गये।

तृतीय अध्याय (छटा ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का संवाद]

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी खड़ी हुई और उसने प्रश्नों की झड़ी-पर-झड़ी लगा दी। एक प्रश्न का जवाब आता नहीं था कि दूसरा प्रश्न कर देती थी। इन प्रश्नों का कोई सम्बन्ध भी नहीं था। याज्ञवल्क्य ने उसे झिड़क कर कहा—इस प्रकार बोलती चली जायगी, तो तेरा सिर फिर जायगा। तू **'अनतिप्रश्न्य-देवता'** के विषय में प्रश्नों की झड़ी लगा रही है, 'ब्रह्म' तो ऐसी सत्ता है कि उसकी सत्ता स्वीकार कर लेने पर कोई प्रश्न बच रहता ही नहीं, वह **'अनतिप्रश्न्य'** है। जो 'ब्रह्म' के विषय में आगे-आगे प्रश्न करता चला जायगा, कहीं रुकेगा ही नहीं उसका सिर फिर जायगा, इसलिये हे गार्गी, तू **'अतिप्रश्न'** मत कर। यह सुनकर गार्गी चुप होकर बैठ गई।

तृतीय अध्याय (सातवाँ ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा आरुणि उद्दालक का संवाद]

इसके बाद आरुणि उद्दालक खड़े हुए। उन्होंने पूछा—याज्ञवल्क्य, क्या तुम उस **'सूत्र'** को जानते हो जिसमें यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनके की तरह पिरोये हुए हैं? क्या तुम उस **'अन्तर्यामी'** को जानते हो जो इस लोक, पर-लोक और सब भूतों का उनके भीतर से नियमन कर रहा है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जानता हूँ। आरुणि ने कहा, सब-कोई कहा करते हैं—जानता हूँ, जानता हूँ। जो जानते हो, सो कहो।

याज्ञवल्क्य ने पहले **'सूत्र'** के विषय में कहा—ब्रह्मांड में 'वायु' तथा पिंड में 'प्राण' ही वह **'सूत्र'** है जिसमें यह लोक, पर-लोक और सब भूत मनके की तरह पिरोये हुए हैं। यही कारण है कि जब पुरुष के प्राण निकल जाते हैं, तब सब अंग ढीले पड़ जाते हैं, जैसे माला के सूत्र के निकल जाने से मनके बिखर जाते हैं। तब आरुणि ने कहा—ठीक है, अब अन्तर्यामी के विषय में कहो जो सब के भीतर से उनका नियमन कर रहा है।

अब याज्ञवल्क्य ने सब भूतों का भीतर से नियमन करने वाले के विषय में कहा—जो पृथिवी में रहता हुआ भी पृथिवी से अलग है, जिसे

पृथिवी नहीं जानतो, परन्तु जिसका पृथिवी ही शरीर है, जो पृथिवी के भीतर से उसका नियमन कर रहा है, वही तेरा भी आत्मा है, वही **'अन्तर्यामी'** है, वही **'अमृत'** है।

जो जलों में रहता हुआ भी जलों से अलग है, जिसे जल नहीं जानते, परन्तु जिसका जल ही शरीर है, जो जलों के भीतर से उनका नियमन कर रहा है, वही तेरा भी आत्मा है, वही **'अन्तर्यामी'** है, वही **'अमृत'** है।

याज्ञवल्क्य ने यही बात 'अग्नि', 'अन्तरिक्ष', 'वायु', 'द्यु', 'आदित्य', 'दिशाएँ', 'चन्द्र-तारक', 'आकाश', 'तम', 'तेज' आदि ब्रह्मांड के भौतिक-पदार्थों तथा 'वाणी', 'चक्षु', 'श्रोत्र', 'मन', 'त्वचा', 'विज्ञान', 'रेतस्' आदि आधि-दैविक अर्थात् पिंड के पदार्थों के विषय में कही।

आगे कहा —वह 'अन्तर्यामी' द्रष्टा है, दृश्य नहीं; श्रोता है श्रुत नहीं; मन्ता है, मत नहीं; विज्ञाता है, विज्ञात नहीं। विश्व में उसके बिना कोई द्रष्टा नहीं, उसके बिना कोई श्रोता नहीं, उसके बिना कोई मन्ता नहीं, उसके बिना कोई विज्ञाता नहीं—**'अदृष्टः द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतः मन्ता, अविज्ञातः विज्ञाता, नान्यः अतः अस्ति द्रष्टा, नान्यः अतः अस्ति श्रोता, नान्यः अतः अस्ति मन्ता, नान्यः अतः अस्ति विज्ञाता'**। यही वह तेरा अन्तर्यामी आत्मा है जिसके विषय में तूने पूछा था—**'एषः ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः'**। इसके बिना जाने सब दुःख-ही-दुःख है—**'अतः अन्यत् आर्तम्'**। यह सुन कर आरुणि चुप हो गया। ३-७,२३।

तृतीय अध्याय (आठवाँ ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी का दोबारा संवाद]

इसके बाद वाचक्नवी गार्गी दोबारा खड़ी हो गई। उसे वाचक्नवी कहा ही इसलिये गया है कि वह बोलती बहुत थी। उसने कहा, मैं दो प्रश्न और करना चाहती हूँ। अगर इन दो प्रश्नों का याज्ञवल्क्य ने उचित समाधान कर दिया, तो आप समझ लो कि आप में से कोई इस ब्रह्म-वेत्ता को नहीं जीत सकेगा। सबने एक-स्वर से कहा, गार्गी पूछो।

गार्गी ने याज्ञवल्वय को सम्बोधित करके कहा, हे याज्ञवल्क्य, जैसे कोई योद्धा युद्ध-स्थल में उतर कर धनुष पर शत्रु को बींधने वाले दो नोकीले बाण चढ़ा कर सामने खड़ा हो जाय, वैसे दो प्रश्नों को लेकर मैं तेरे सामने खड़ी हूँ। इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दो। याज्ञवल्वय ने कहा, गार्गी—पूछो।

गार्गी ने प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य ! द्यु से ऊपर जो है, पृथिवी से नीचे जो है, द्यु और पृथिवी के बीच में जो है, जिसे भूत-भवत्-भविष्यत् कहा जाता है—वह सब किस में ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया— आकाश में ! गार्गी ने कहा—ठीक, तुझे मेरा नमस्कार है। अब उसने दूसरा प्रश्न किया। इस प्रश्न में उसने पहला ही प्रश्न दोहरा दिया, याज्ञवल्क्य ने भी वही उत्तर दोहरा दिया। गार्गी ने देखा कि याज्ञवल्क्य चिढ़ा नहीं, इसलिये उसने साहस बटोर कर दूसरा प्रश्न फिर-से किया क्योंकि पहले तो उसने जो दूसरा प्रश्न किया था वह दूसरा नहीं था, पहले को ही दोहरा दिया था। दूसरा प्रश्न यह किया कि आकाश किस में ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी, आकाश जिसमें ओत-प्रोत है उसे ब्रह्म-वेत्ता लोग '**अक्षर**' कहते हैं—'**सः ह उवाच, एतद् वै तद् अक्षरम् गार्गी ब्राह्मणाः अभिवदन्ति**'। वह अक्षर स्थूल नहीं है—'**अस्थूलम्**'; अणु-समान भी नहीं है—'**अनणुः**'; छोटा भी नहीं हे—'**अस्वल्पम्**'; बड़ा भी नहीं है—'**अदीर्घम्**'। वह जिह्वा का विषय नहीं है—'**अरसम्**'; नासिका का विषय नहीं है—'**अगन्धम्**'; आँख का विषय नहीं है—'**अचक्षुष्कम्**'; कान का विषय नहीं है—'**अश्रोत्रम्**'; वाणी का विषय नहीं है—'**अवाग्**'। ३-८,८।

हे गार्गी, इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बँधे—'**एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि**', सूर्य और चन्द्र अपने-अपने स्थान में अपने को धारण किये हुए स्थित हैं—'**सूर्याचन्द्रमसौ विध्रतौ तिष्ठतः**'; हे गार्गी, इसी 'अक्षर' के नियमन में द्यु-लोक और पृथिवी-लोक अपने को धारण किये हुए स्थित हैं—'**एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः**'। इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बँधे निमेष, मुहूर्त, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर ठहरे हुए हैं; हे गार्गी, इसी 'अक्षर' के शासन-सूत्र में बँधी नदियाँ सफ़ेद बर्फ़ीले पर्वतों से भिन्न-भिन्न दिशाओं को बह रही हैं। ३-८,९।

हे गार्गी, यह 'अक्षर' स्वयं अदृष्ट होने पर भी द्रष्टा है—**'तद् वै एतद् अक्षरम् गार्गि अदृष्टम् द्रष्टृ'**, स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता है—**'अश्रुतम् श्रोतृ'**, स्वयं अमत होने पर भी मन्ता है—**'अमतं मन्ता'**, स्वयं अविज्ञात होने पर भी सबका विज्ञाता है—**'अविज्ञातं विज्ञातृ'**। हे गार्गी, इस अक्षर के अतिरिक्त दूसरा कोई द्रष्टा नहीं है—**'न अन्यद् अतः अस्ति द्रष्टृ'**, इस 'अक्षर' के अतिरिक्त दूसरा कोई श्रोता नहीं है—**'न अन्यद् अतः अस्ति श्रोतृ'**, इस 'अक्षर' के अतिरिक्त दूसरा कोई मन्ता नहीं है—**'न अन्यद् अतः अस्ति मन्तृ'**, इस 'अक्षर' के अतिरिक्त दूसरा कोई विज्ञाता नहीं है—**'न अन्यद् अतः अस्ति विज्ञातृ'**। हे गार्गी, इस अक्षर-ब्रह्म में ही यह आकाश ओत-प्रोत है—**'अस्मिन् नु खलु अक्षरे गार्गि आकाशः ओतः च प्रोतः च इति'**। ३-८,११।

यह सुन कर गार्गी कहने लगी—हे पूजनीय ब्राह्मणो ! यही बहुत समझो कि इस ब्रह्म-वेत्ता को नमस्कार करके छूट जाओ। तुम में से कोई इस ब्रह्म-वेत्ता को कभी न जीत सकेगा। इतना कह कर वाचक्नवी गार्गी चुप होकर बैठ गई।

तृतीय अध्याय (नौवाँ ब्राह्मण)

[राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य तथा विदग्ध शाकल्य का संवाद]

गार्गी के बैठ जाने पर और कोई ब्राह्मण तो नहीं खड़ा हुआ, परन्तु विदग्ध शाकल्य से न रहा गया। उसका नाम ही 'विदग्ध' था। 'विदग्ध', अर्थात् जलने-भुनने वाला। वह याज्ञवल्क्य से जला-भुना बैठा था। वह उठ खड़ा हुआ और पूछने लगा। यहाँ हम तीन बातों पर प्रकाश डालेंगे :

(१) **बहुदेवतावाद तथा एकदेवतावाद**—हे याज्ञवल्क्य ! 'देवता' संसार में कितने मानने चाहियें ? याज्ञवल्क्य ने पहले तो कहा ३, फिर कहा ३०० और फिर कहा ३००३। इस पर सन्तुष्ट न होकर शाकल्य ने फिर पूछा। याज्ञवल्क्य ने कहा ३३। शाकल्य ने फिर यही प्रश्न दोहराया। याज्ञवल्क्य ने पहले कहा ६, फिर कहा ३, फिर कहा २, फिर कहा १ और अन्त में कहा ईश्वर एक है। जब शाकल्य ने पूछा कि ३००३ क्यों कहा था, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—**'स ह उवाच'**—कि यह भगवान् की महिमा बखानने के लिये कहा था—**'महिमानः एव एषाम्'**। ३-९,१,२।

इस वाक्य में उपनिषत्कार ने बतला दिया है कि एकदेवतावाद को

मानते हुए भी प्राचीन-साहित्य में बहुदेवतावाद क्यों पाया जाता है। देवता एक ही है, परन्तु उसकी महिमा बखानने के लिये ३, ३३, ३००३ आदि कह दिया गया है।

(२) **विदग्ध द्वारा सृष्टि में विराट्-पुरुष की कल्पना**—सृष्टि के कर्त्ता के विषय में वैदिक-साहित्य में एक विचार यह पाया जाता है कि यह सृष्टि ही विराट्-पुरुष है, परमात्मा को ढूँढने के लिये अन्यत्र कहीं जाने की ज़रूरत नहीं, सृष्टि ही परमात्मा का रूप है। यही भावना वेद के पुरुष-सूक्त में, गीता में श्रीकृष्ण के विराट्-रूप-दर्शन में पायी जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में हम अजातशत्रु तथा गार्ग्य गोत्रोत्पन्न दृप्त बालाकि का उल्लेख कर आये हैं। दृप्त बालाकि अजातशत्रु को उपदेश देने आया था। उसका भी यही कहना था कि यह सृष्टि ही विराट्-पुरुष है, यही ब्रह्म है। उसने आदित्य को देखकर कहा कि यह 'आदित्य-पुरुष' है, मैं इसी को ब्रह्म मान कर इसकी उपासना करता हूँ, चन्द्र को देख कर कहा कि यह 'चन्द्र-पुरुष' है, मैं इसी को ब्रह्म मानकर इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार 'विद्युत्-पुरुष', 'आकाश-पुरुष', 'वायु-पुरुष' को ब्रह्म मानने की बात उसने कही, परन्तु अजातशत्रु ने कहा कि ये ब्रह्म नहीं, ब्रह्म नहीं —ना-ना—ये तो विराट्-पुरुष के, ब्रह्म के कार्य के एक अंग हैं। जैसे दृप्त बालाकि को उपनिषत्कार ने दृप्त—अभिमानी—कहा, वैसे उसी विचारधारा के शाकल्य को यहाँ 'विदग्ध'—जला-भुना—कहा गया है। बहुदेवतावाद के प्रश्न का उत्तर पा जाने के बाद शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को कहा कि तुम तो अपने को बड़ा ब्रह्म-ज्ञानी कहते हो, परन्तु असली ब्रह्म-ज्ञानी तो वह है जो सृष्टि को पुरुष मान कर उसे सब प्राणियों का परम-धाम स्वीकार करता है। यह सृष्टि ही स्वयं ब्रह्म-देव है। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तो पर-ब्रह्म का शरीर है, यह 'शरीर-पुरुष' है, ब्रह्म इससे बहुत अधिक है, सिर्फ़ इस विश्व में ही ब्रह्म समाप्त नहीं हो जाता। ३-९,१०।

विदग्ध ने सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों को ब्रह्म का रूप कहा उनके विषय में याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि ये स्वयं ब्रह्म नहीं हैं, ये अप्रकट ब्रह्म के प्रकट रूप हैं। हम यहाँ विदग्ध के कहे हुए ब्रह्म का वर्णन एक तरफ़ दे रहे हैं और उन्हें याज्ञवल्क्य ने अप्रकट ब्रह्म का जो प्रकट रूप कहा वह दूसरी तरफ़ दे रहे हैं—

विदग्ध का निम्न को ब्रह्म कहना ब्रह्म का रूप	**याज्ञवल्क्य का इनको ब्रह्म का प्रकट-रूप कहना**
पृथिवी-पुरुष	शरीर-रूप
कामना-पुरुष	प्रकृति-रूप
रूप-पुरुष	सत्य-रूप
आकाश-पुरुष	दिशा-रूप
तम-पुरुष	मृत्यु-रूप
पिंड-पुरुष	प्राण-रूप
जल-पुरुष	वरुण-रूप
सन्तान-पुरुष	प्रजापति-रूप

विदग्ध सृष्टि के इन तत्वों को ही ब्रह्म कहता है, याज्ञवल्क्य इन्हें अप्रकट ब्रह्म के प्रकट रूप कहता है, और साथ ही यह कहता है कि ब्रह्म इनसे बहुत अधिक है, इनमें ब्रह्म समाप्त नहीं हो जाता। याज्ञवल्क्य की बातों को सुन कर विदग्ध को इतना धक्का लगा कि वहीं उसका प्राणांत हो गया।

(३) **विदग्ध से निबट कर याज्ञवल्क्य का उपस्थित ब्राह्मणों को सम्बोधित करना**—विदग्ध से निबट कर याज्ञवल्क्य ने उपस्थित ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहा: हे पूजनीय ब्राह्मणो! अब आप में से जिसकी इच्छा हो मुझ से ब्रह्म-विषयक प्रश्न करो। आप चाहो तो आप सब मिलकर मुझ से प्रश्न करो; और, अगर आप चाहो कि मैं आप सबसे प्रश्न करूँ, तो मैं प्रश्न करने के लिये उद्यत हूँ। उन ब्राह्मणों में से किसी को प्रश्न करने का साहस न हुआ। ३-९,२७।

अब याज्ञवल्क्य ने कहना शुरू किया—वनस्पतियों में जैसे 'वृक्ष' है, ठीक इसी तरह यह सत्य है कि प्राणियों में 'पुरुष' है—**'यथा वृक्षः वनस्पतिः तथा एव पुरुषः अमृषा'**। जैसे वृक्ष के पत्ते होते हैं वैसे पुरुष के लोम हैं—**'तस्य लोमानि पर्णानि'**; जैसे वृक्ष की बाहर वल्कल—छाल—है वैसे पुरुष की त्वचा है—**'त्वग् अस्य उत्पाटिका बहिः'**; जैसे वृक्ष को आहत करने और काटने से रस बहता है वैसे पुरुष की त्वचा को उखाड़ देने से रुधिर बहता है—**'त्वचः एव अस्य रुधिरं प्रस्यन्दि, त्वचः उत्पटः तस्मात् तद् आतृण्णात् प्रेति रसः वृक्षात् इव आहतात्'**, जैसे वृक्ष की छाल के नीचे का भाग मुलायम होता है वैसे पुरुष की

त्वचा के नीचे का भाग माँस है—**'मांसानि अस्य शकराणि'**; जैसे वृक्ष के रेशे हैं वैसे पुरुष की नस-नाड़ियाँ हैं; जैसे वृक्ष की लकड़ियाँ हैं वैसे पुरुष की हड्डियाँ हैं; जैसे वृक्ष के भीतर गूदा है वैसे पुरुष के भीतर मज्जा है।

परन्तु हे ब्राह्मणो ! यह बतलाओ कि जैसे जब वृक्ष को काट गिराते हैं, तब वह जड़ से नया पैदा हो जाता है—**'यद् वृक्षः वृक्णः रोहति मूलात् नवतरः'**, वैसे मनुष्य मृत्यु से मारे जाने पर किस मूल से फिर उत्पन्न हो जाता है—**'मर्त्यः स्वित् मृत्युना वृक्णः कस्मात् मूलात् प्ररोहति'**। अगर कहो कि पुरुष के मर जाने पर उसके वीर्य से वह उत्पन्न हो जाता है जैसे कटा हुआ वृक्ष अपने बीज से पुनः उत्पन्न हो जाता है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि पुरुष के मर जाने पर उसका वीर्य भी नष्ट हो जाता है। बीज न रहने पर वृक्ष भी नहीं पैदा होता। यह पुरुष मर जाने पर किस आधार से पुनर्जन्म लेता है? याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न को सुनकर चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया, किसी से कोई उत्तर न बन पड़ा। यह देख कर याज्ञवल्क्य ने स्वयं उत्तर दिया। उसने कहा—वह 'आत्मा' तो 'जात' ही है, सदा बना हुआ है, वह मरता ही नहीं, फिर उसके उत्पन्न होने का प्रश्न ही कहाँ है—**'जातः एव, न जायते, कः तु एनम् जनयेत् पुनः'**।३-९,२८।

चतुर्थ अध्याय (पहला ब्राह्मण)

[राजा जनक को याज्ञवल्क्य का उपदेश]

एक समय की बात है कि विदेह-राज जनक बैठे हुए थे, इतने में महर्षि याज्ञवल्क्य वहाँ आ निकले। जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य, कैसे पधारे? क्या पशु चाहियें, या अण्वन्तों (अणु पदार्थों), सूक्ष्म-तत्वों का विवेचन करने आये हो? याज्ञवल्क्य ने कहा, हे सम्राट्! दोनों ही बातें हैं।

याज्ञवल्क्य ने पूछा, राजन्! पहले यह सुनाइये कि आपको अबतक आपके गुरुओं ने ब्रह्म-ज्ञान के विषय में क्या-क्या शिक्षा दी है? राजा ने जो कहा और उस पर याज्ञवल्क्य ने जो टिप्पणी की वह निम्न है:

राजा ने कहा कि मेरे एक गुरु जित्वा शैलिनि थे। उनका उपदेश था कि **'वाणी'** ही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

राजा ने फिर कहा कि मेरे दूसरे गुरु उदंक शौल्वायन थे। उनका उपदेश था कि **'प्राण'** ही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

फिर कहा कि मेरे तीसरे गुरु वर्क्यु वार्ष्ण थे। उनका उपदेश था कि **'चक्षु'** ही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

फिर कहा कि मेरे चौथे गुरु गर्दभीविपीत भारद्वाज थे। उनका उपदेश था कि **'श्रोत्र'** ही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

फिर कहा कि मेरे पाँचवें गुरु सत्यकाम जाबाल थे। उनका उपदेश था कि **'मन'** ही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

फिर कहा कि मेरे छटे गुरु विदग्ध शाकल्य थे। उनका उपदेश था कि **'हृदय'** ही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

याज्ञवल्क्य ने टिप्पणी की कि यदि **'वाणी'** ही ब्रह्म है, तो गूँगा उसकी उपासना कैसे करेगा; अगर **'प्राण'** ही ब्रह्म है तो जो प्राण नहीं लेता वह उसकी उपासना कैसे करेगा; अगर **'चक्षु'** ही ब्रह्म है तो अन्धा उसकी उपासना कैसे करेगा; अगर **'श्रोत्र'** ही ब्रह्म है तो बहरा उसकी उपासना कैसे करेगा; अगर **'मन'** ही ब्रह्म है तो जिसका मन काम नहीं करता वह उसकी उपासना कैसे करेगा; अगर **'हृदय'** ही ब्रह्म है तो हृदय-शून्य व्यक्ति ब्रह्म की उपासना कैसे करेगा। याज्ञवल्क्य ने राजा को कहा कि इन गुरुओं ने तुम्हें जो उपदेश दिया है वह ठीक है, परन्तु यह ब्रह्म के एकांश का उपदेश है, ब्रह्म का बहुत बड़ा अंश बच रहता है। राजा ने पूछा, क्या बच रहता है? याज्ञवल्क्य ने कहा, इनमें से प्रत्येक के **'आयतन'** तथा **'प्रतिष्ठा'** को जान कर ही पूर्ण ब्रह्म को जाना जा सकता है। **'आयतन'** तथा **'प्रतिष्ठा'** का क्या अर्थ है? जब कोई भवन खड़ा होता है तब वह नींव पर खड़ा होता है। नींव का अर्थ **'प्रतिष्ठा'** है—जिस पर भवन प्रतिष्ठित हो, स्थित हो। नींव रखने के बाद उस पर भवन बनता है, इसे **'आयतन'** कहते हैं। इन सब की प्रतिष्ठा या नींव आकाशस्थ ब्रह्म है, वाक्-प्राण आदि, आयतन या भवन हैं।

उपनिषदों की विचारधारा में पिंड तथा ब्रह्मांड का, स्वल्प तथा अनल्प का, माइक्रोकौज़्म तथा मैक्रोकौज़्म का आपसी सम्बन्ध है। जो पिंड में स्वल्प है, वह ब्रह्मांड में अनल्प है; जो पिंड में माइक्रोकौज़्म है, वह ब्रह्मांड में मैक्रोकौज़्म है। ये दोनों मिलकर ही विश्व की सत्ता बनते हैं, इन सम्पूर्ण को उपनिषत्कार 'ब्रह्म' कहते हैं। यह सम्पूर्ण—

पिंड तथा ब्रह्मांड—चेतन है, इसी चेतन-ब्रह्म का पिंड में अंश वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा हृदय हैं जिन्हें भिन्न-भिन्न गुरुओं ने जनक को ब्रह्म कहा, परन्तु याज्ञवल्क्य का कहना है कि ये ब्रह्म के अंश तो हैं, पूर्ण-ब्रह्म नहीं हैं। पिंड में ब्रह्म का एक अंश वाक्, ब्रह्मांड की अग्नि है, पिंड में ब्रह्म का एक अंश प्राण, ब्रह्मांड में चराचर-जगत् का वायुमय जीवन है, पिंड में ब्रह्म का एक अंश चक्षु, ब्रह्मांड की आँख सूर्य है, पिंड में ब्रह्म का एक अंश श्रोत्र, ब्रह्मांड में दिशाएँ हैं जिनका काम शब्द ग्रहण करना है, पिंड में ब्रह्म का एक अंश मन, ब्रह्मांड में चन्द्र है, पिंड में ब्रह्म का एक अंश हृदय, ब्रह्मांड में जल है जो हृदय की शीतलता का प्रतिनिधि है। ये सब आयतन हैं। ब्रह्मांड की इन वस्तुओं का पिंड की वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय से सम-रसता होने पर पूर्ण-ब्रह्म की अनुभूति होती है। अग्नि, वायु, सूर्य, दिशाएँ, चन्द्र, जल—जिन्हें हमने वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा हृदय का 'आयतन' कहा, इन सब की 'प्रतिष्ठा', इन सब की स्थिति आकाश में है। इस सम्पूर्ण का एक-साथ, एक इकाई के रूप में जान लेना ही ब्रह्म का ज्ञान है। इन में से एक-एक को ब्रह्म मानना ब्रह्म के एकांश का ज्ञान है।

प्रश्न हो सकता है कि पिंड के वाक् आदि तथा ब्रह्मांड के अग्नि आदि को ब्रह्म क्यों कहा? उपनिषत्कार का कहना है कि पिंड के वाक् आदि तथा ब्रह्मांड के अग्नि आदि इतने चमत्कारपूर्ण हैं कि ब्रह्म को ढूँढने कहीं दूर जाने की ज़रूरत नहीं। वाणी कितनी चमत्कारपूर्ण है, अग्नि कितनी चमत्कारपूर्ण है। हम दिन-रात वाक्, अग्नि आदि को देखते हैं इसलिये इनका चमत्कारी रूप खो जाता है, परन्तु अगर इन में से एक-एक पर विचार किया जाय, तो मनुष्य हैरान हो जाता है। क्या कोई वैज्ञानिक ऐसा प्राणी बना सकता है जो उस प्रकार बोलने लगे, साँस लेने लगे, देखने लगे, सुनने लगे, सोचने लगे, प्रेम-द्वेष करने लगे जैसा मनुष्य करता है। इस प्रकार के मनुष्य तथा जगत् के अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि का होना—इतना चमत्कारपूर्ण है कि याज्ञवल्क्य के शब्दों में यही-सब ब्रह्म है। इसी की उपासना करनी चाहिये। करनी क्या चाहिये, अगर इन में से एक वस्तु का भी अभाव हो जाय, तो मनुष्य की क्या गति हो—यह सोच कर ही पिंड-ब्रह्म तथा ब्रह्मांड-ब्रह्म के सामने अपने-आप सिर झुक जाता है। याज्ञवल्क्य ने जनक को जो-कुछ कहा उसे हम निम्न प्रकार प्रकट कर सकते हैं:

---

१. **जित्वा शैलिनी** का कथन था कि 'वाक्' ब्रह्म है। **याज्ञवल्क्य** का कथन है कि वाक् 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है, पिंड तथा ब्रह्मांड को एकसूत्रता में मिलाने वाली 'प्रज्ञता' सूत्र है। इस सर्वांश ब्रह्म की उपासना करो।

२. **उदंक शौल्वायन** का कथन था कि 'प्राण' ब्रह्म है। **याज्ञवल्क्य** का कथन है कि प्राण 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है, पिंड तथा ब्रह्मांड को एकसूत्रता में मिलाने वाली 'प्रियता' सूत्र है। इस सर्वांश ब्रह्म की उपासना करो।

३. **वर्क्यु वार्ष्ण** का कथन था कि 'चक्षु' ब्रह्म है। **याज्ञवल्क्य** का कथन है कि चक्षु 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है, पिंड तथा ब्रह्मांड को एकसूत्रता में मिलाने वाली 'सत्यता' सूत्र है। इस सर्वांश ब्रह्म की उपासना करो।

४. **गर्दभीविपीत भारद्वाज** का कथन था कि 'श्रोत्र' ब्रह्म है। **याज्ञवल्क्य** का कथन है कि श्रोत्र 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है, पिंड तथा ब्रह्मांड को एकसूत्रता में मिलाने वाली 'अनन्तता' सूत्र है। इस सर्वांश ब्रह्म की उपासना करो।

५. **सत्यकाम जाबाल** का कथन था कि 'मन' ब्रह्म है। **याज्ञवल्क्य** का कथन है कि मन 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है, पिंड तथा ब्रह्मांड को एकसूत्रता में मिलाने वाला 'आनन्द' सूत्र है। इस सर्वांश ब्रह्म की उपासना करो।

६. **विदग्ध शाकल्य** का कथन था कि 'हृदय' ब्रह्म है। **याज्ञवल्क्य** का कथन है कि हृदय 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है, पिंड तथा ब्रह्मांड को एकसूत्रता में मिलाने वाली 'स्थिति' सूत्र है, इस सर्वांश ब्रह्म की उपासना करो।

इस सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि हम किसी भी वस्तु के एकांश को लेकर ही उसे सर्वांश समझ बैठते हैं, सम्पूर्ण को जानने के लिये उसके सब रूपों को साथ लेने से ही उसका पूर्ण ज्ञान होता है। ब्रह्म-ज्ञान के विषय में भी यही बात सत्य है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय आदि को ब्रह्म कहना सिर्फ़ दृष्टान्त के तौर पर कहा गया है क्योंकि इन्हें ब्रह्म तो कोई कहता भी नहीं है।

चतुर्थ अध्याय (दूसरा ब्राह्मण)

[जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय]

विदेह-राज जनक याज्ञवल्क्य से उपदेश सुनकर सिंहासन से उत्तर आये, और बोले, हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप मुझे शिष्य समझ कर शिक्षा दीजिये—**'नमः ते अस्तु याज्ञवल्क्य, अनु मा शाधि इति'**। याज्ञवल्क्य ने विदेह-राज को कहा—जैसे कोई यात्री लम्बा रास्ता तय करने के लिये रथ या नाव का सहारा लेता है, वैसे जीवन-यात्रा को तय करने के लिये आपने उपनिषदों के ज्ञान का सहारा लिया है। आपको लोग पूजा की दृष्टि से देखते हैं, आपके पास धन है, आपने वेद पढ़े हैं, उपनिषद् का ज्ञान आपको सुनाया जा चुका है। अगर आप इससे भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो यह बतलाइये कि इस जगत् से छूट कर—**'इतः विमुच्यमानः'**, कहाँ जाओगे —**'क्व गमिष्यसि'**? राजा ने कहा कि मुझे मालूम नहीं। याज्ञवल्क्य कहने लगे कि मैं आपको यह बतलाऊँगा—**'अहम् तद् वक्ष्यामि'**—कि यहाँ से छूट कर आप कहाँ जायेंगे—**'यत्र गमिष्यसि इति'**। राजा ने कहा बतलाइये ।४-२, १।

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—इन चार अवस्थाओं का उपदेश दिया। ये चारों अवस्थाएँ पिंड तथा ब्रह्मांड दोनों में पायी जाती हैं। व्यक्ति के जीवन तथा संसार में ये चारों अवस्थाएँ हैं। व्यक्ति की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं का तो सब को अनुभव है, इन तीनों में आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहता है, चौथी अवस्था तुरीय है जब आत्मा अपने स्व-रूप में चला जाता है। उस अवस्था का नेति-नेति—**'न इति, न इति'** —इस प्रकार का वर्णन किया जा सकता है। तुरीयावस्था में आत्मा का ग्रहण नहीं किया जा सकता—**'आत्मा अगृह्यः न गृह्यते'**, वह छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता—**'अशीर्यः न हि शीर्यते'**, वह असंग है—**'असंगः'**, बन्धनरहित है—**'असितः'**, दुःखरहित है—**'न व्यथते'**, किसी को दुःख नहीं देता—**'न रिष्यति'**, भय रहित है—**'अभयः'** ।४-२, ५।

जैसे व्यक्ति के जीवन में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय—ये चार अवस्थाएँ पायी जाती हैं, वैसे सृष्टि में भी ये चार अवस्थाएँ हैं। कार्य-जगत् सृष्टि की जाग्रत् अवस्था है, स्वप्नावस्था में स्थावर, स्वेदज,

अण्डज, जेरज की सृष्टि नहीं रहती, परन्तु सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि बने रहते हैं, तीसरी अवस्था सृष्टि की सुषुप्ति अवस्था है जिसमें सब-कुछ तन्मात्राओं में---कारणावस्था में---चला जाता है। चौथी तुरीय अवस्था है, अनिर्वचीय जिसे **'तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रे'** कहा गया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मनुष्य की गति तुरीयावस्था की तरफ़ जाने की है—आत्मा तथा सृष्टि नेति-नेति—इस अनिर्वचनीय अवस्था में जा रहे हैं जो सब की चरम अवस्था है।

आत्मा के जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय रूप का वर्णन माण्डूक्योपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् (८-१२) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (२-१, ४-३) में भी पाया जाता है। अधिक जानकारी के लिये वे स्थल देखें।

चतुर्थ अध्याय (तीसरा ब्राह्मण)

[आत्मा ही स्वयं ज्योति है]

याज्ञवल्क्य विदेह-राज जनक के यहाँ पहुंचे। इस बार अपने मन में यह ठान कर गये कि कुछ नहीं बोलेंगे, सिर्फ़ सुनेंगे। जनक ने इस बात को ताड़ लिया, और निश्चय कर लिया कि वे उन्हें बुलवा कर ही छोड़ेंगे। एक बार की बात है कि किसी अग्निहोत्र में विदेह-राज जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य दोनों उपस्थित थे। उस समय जनक से प्रसन्न होकर याज्ञवल्क्य ने उन्हें वर माँगने को कहा था, राजा ने **'काम-प्रश्न'** वर माँगा था, अर्थात् जब मैं चाहूँ आपसे प्रश्न कर सकूँ। याज्ञवल्क्य ने यह वर दे दिया था। इसी वर की याद दिला कर सम्राट् ने प्रश्न कर दिया, और याज्ञवल्क्य को उत्तर देना पड़ा। ४-३, १।

राजा ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! पुरुष को ज्योति, अर्थात् प्रकाश कहाँ से मिलती है? याज्ञवल्क्य ने कहा—सूर्य से। फिर राजा ने पूछा—जब सूर्य अस्त को जाता है, तब उसे प्रकाश कहाँ से मिलता है? याज्ञवल्क्य ने कहा—चाँद से। राजा ने फिर पूछा—जब सूर्य तथा चाँद का प्रकाश भी नहीं होता, तब? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि से। राजा ने फिर पूछा—जब सूर्य, चाँद, अग्नि नहीं होतीं, तब? याज्ञवलक्य ने कहा, तब वाणी से। अन्धकार में वाणी ही से काम चलता है। जब अन्धेरे में अपना हाथ भी नहीं दीखता तब वाणी का ही सहारा लेना पड़ता है। फिर राजा ने पूछा—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाणी से प्रकाश न

मिले, तब कहाँ से प्रकाश मिलता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तब आत्मा ही मनुष्य के लिये ज्योति का काम करता है—वह **'स्वयं-ज्योति'** है—**'आत्मा एव अस्य ज्योतिः भवति इति'** । ४-३,६ ।

उपनिषत्कार ने यह समझाने के लिये कि आत्मा **'स्वयं-ज्योति'** है—इसे कथानक का रूप दे दिया है । **'स्वयं-ज्योति'** का क्या अर्थ है ? मैं अन्धेरे में बैठा हूँ, बाहर का संसार समाप्त हो गया, देखने को कुछ नहीं रहा । देखने के जो साधन थे वे भी नहीं रहे—न सूर्य, न चन्द्र, न अग्नि, न वाणी, परन्तु फिर भी मैं जानता हूँ कि मैं हूँ । खासकर ऐसी स्थिति में जब इन्द्रियाँ अपनी बाहर की दौड़ बन्द कर देती हैं, तब अपने अस्तित्व की अनुभूति विशेष तौर पर जाग उठती है । इसी को याज्ञ-वल्क्य ने **'आत्म-ज्योति'**, **'स्वयं-ज्योति'** या **'अन्तः-ज्योति'** का नाम दिया है ।

इस प्रकरण में याज्ञवल्क्य ने कहा है कि आत्मा के दो ही स्थान हैं—जाग्रत्-स्थान तथा सुषुप्त-स्थान । इन दोनों स्थानों की सन्धि को स्वप्न-स्थान कह देते हैं, जैसे भूत तथा भविष्यत् की सन्धि को वर्तमान-काल कह देते हैं । याज्ञवल्क्य का कहना है कि जब जाग्रत्-स्थान से आत्मा सुषुप्त-स्थान को जाता है तब संसार के पापों को देखता हुआ जाता है, परन्तु जब सुषुप्त-स्थान से जाग्रत्-स्थान को लौटता है तब आनन्द को लेता हुआ आता है । पापों को देखता हुआ जाता है का अभिप्राय यह है कि जाग्रत् में संसार के धन्धों में धँसा, उस कीचड़ में लतपत हुआ जाता है, परन्तु सुषुप्ति में जहाँ पहुंचता है वहाँ उसे भग-वान् का सान्निध्य मिल जाता है, इसलिये उसका कीचड़ धुल जाता है और वह आनन्द से भरपूर होकर लौटता है । यह आनन्द भगवान् के सान्निध्य का आनन्द है । इन दोनों के बीच की अवस्था स्वप्नावस्था है । स्वप्नावस्था में जाता हुआ संसार के सूक्ष्म रूप को साथ ले जाता है, संसार की तन्मात्राओं को—**'तन्मात्रा'**, अर्थात् उतना-उतना संसार । स्वप्नावस्था में जाकर इन तन्मात्राओं से अपना मनचाहा संसार बनाता है । रथ नहीं होते, घोड़े नहीं होते, सड़कें नहीं होतीं, परन्तु यह सब-कुछ बना कर सैर-सपाटे करता है, मोद नहीं, प्रमोद नहीं, परन्तु इन सब की सृष्टि कर लेता है । स्वप्न-स्थान में रहते हुए वह जो-कुछ देखता-सुनता-आनन्द मनाता है वह वहीं छूट जाता है, वह इनके साथ जाग्रत् में नहीं आता क्योंकि **'असंगो हि अयम् पुरुषः'**—

यह पुरुष अपने शुद्ध रूप में असंग है, जो-कुछ भी इसे अपने संग में दीखता है वह सब इसका कल्पित किया हुआ है।

जाग्रत् तथा स्वप्न स्थान में आत्मा को जो अपना रूप अनुभव होता है वह आत्मा का शुद्ध रूप नहीं है। तो आत्मा का शुद्ध रूप क्या है? इस की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं :

जागते हुए जिन बातों से वह डरा था, स्वप्न-स्थान में जाकर उन्हीं बातों से अविद्या के कारण भय मान कर यह समझता है कि **मानो** कोई मार रहा है, मानो कोई अपने वश में कर रहा है, मानो हाथी पीछा कर रहा है, पानी के गढ़े में गिर रहा है। जिस स्थान में जाकर यह अपने आनन्दमय रूप में आ जाता है—**'अहम् एव इदम् सर्वं अस्मि इति'**—वह सुषुप्त-स्थान है जिसमें आत्मा की स्वरूप-स्थिति होती है, यही आत्मा का अपना रूप है।४-३,२०।

यह आत्मा का 'अतिच्छन्द'-रूप है। 'छन्द' का अर्थ है—कामना, इच्छा। इसी से 'स्वच्छन्द'-शब्द बनता है। 'अति' का अर्थ है—परे। इच्छा या कामना को लाँघ जाना, उस के 'अति'—अर्थात्—परे चले जाना, उस पर आधिपत्य पा लेना। आत्मा इस 'सुषुप्त-स्थान' में स्थित हो जाता है, इसमें कामना नहीं रहती, इसमें भगवान् के सान्निध्य का आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है। जैसे अपने प्रिय के सान्निध्य में न बाहर की सुध रहती है, न अन्दर की, आत्मा का यह **'आप्त-काम'** रूप है, जिसमें सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। यही आत्मा का **'आत्म-काम'** रूप है—जिसमें आत्मा-ही-आत्मा रह जाता है, जिसमें कोई कामना न रहे। यही आत्मा का **'अशोक'** रूप है—जिसमें कोई शोक न रहे।४-३,२१।

इस रूप में पहुँच कर पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, दुनियाँ दुनियाँ नहीं रहती, देव देव नहीं रहता, वेद वेद नहीं रहता, चोर चोर नहीं रहता, गर्भवती गर्भवती नहीं रहती, श्रवण श्रवण नहीं रहता, तापस तापस नहीं रहता। इस रूप में पहुंचने पर आत्मा हृदय-समुद्र के सब शोकों को तर कर पार पहुंच जाता है। ४-२,२२।

सुषुप्त-स्थान में पहुंच कर आत्मा **'द्रष्टा'** होने पर भी देखता नहीं क्योंकि वहाँ उसके अतिरिक्त देखने के लिये कुछ होता नहीं, वह **'घ्राता'** होने पर भी कुछ सूंघता नहीं क्योंकि वहाँ उसके अतिरिक्त सूंघने के

लिये कुछ होता नहीं, वह **'रसयिता'** होने पर भी कोई रस लेता नहीं क्योंकि वहाँ उसके अतिरिक्त रस लेने के लिये कुछ होता नहीं, वह **'वक्ता'** होने पर भी कुछ बोलता नहीं क्योंकि वहाँ उसके अतिरिक्त बोलने के लिये कोई होता नहीं, वह **'श्रोता'** होने पर भी कुछ सुनता नहीं क्योंकि वहाँ उसके अतिरिक्त सुनने के लिये कुछ होता नहीं, वह **'मन्ता'** होने पर भी कुछ मनन नहीं करता क्योंकि वहाँ उसके अतिरिक्त मनन करने के लिये कुछ होता नहीं। इसी को याज्ञवल्क्य ने आत्मा के लिये **'स्वयं-ज्योति'**-शब्द का प्रयोग किया है।

आत्म-ज्योति में पहुंचने की इस अवस्था में जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसका वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं: सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि से मनुष्य को जो आनन्द प्राप्त होता है वह एक **'मानुष-आनन्द'** (Unit of happiness) है। इस प्रकार के १०० मानुष-आनन्दों से जो आनन्द प्राप्त होता है वह एक **'पितर-आनन्द'** है। सौ पितर-आनन्दों से जो आनन्द प्राप्त होता है वह एक **'गान्धर्व-आनन्द'** है। सौ गान्धर्व-आनन्दों से जो आनन्द प्राप्त होता है वह...सौ प्रजापति-लोकों से जो आनन्द प्राप्त होता है वह एक **'ब्रह्म-लोक'** का आनन्द है जिसे प्राप्त करने के लिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने विदेह-राज जनक को चतुर्थ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में प्रेरणा दी है।

चतुर्थ अध्याय (चौथा ब्राह्मण)

[पुनर्जन्म का वर्णन]

पुनर्जन्म का वर्णन करने से पहले मृत्यु का वर्णन करना अभीष्ट है, इसलिये उपनिषत्कार पहले मृत्यु का वर्णन करते हैं। मृत्यु के समय क्या होता है?

(क) **मृत्यु का वर्णन**—जीवन क्या है? जीवन तभी तक रहता है जब तक आत्मा की शक्ति इन्द्रियों में बिखरी रहती है। जब आत्मा अपनी जीवनी-शक्ति को इन्द्रियों में बखेर देता है, तब प्राणी जीवित कहलाता है, जब वह अपनी शक्तियों को इन्द्रियों में से अपने में खींच लेता है तब वह मनुष्य 'गया'—ऐसा कहा जाता है। मृत्यु के समय जब आत्मा अपनी शक्तियों को समेट कर एकीभूत हो जाता है—**'एकी भवति'**, तब कहा जाता है कि वह देख नहीं रहा—**'न पश्यति इति**

आहुः', जब आत्मा अपनी शक्तियों को समेट कर एकीभूत हो जाता है—**'एकीभवति'**, तब कहा जाता है कि सूँघ नहीं रहा—**'न जिघ्रति इति आहुः'**, जब आत्मा अपनी शक्तियों को समेट कर एकीभूत हो हो जाता है—**'एकीभवति'**, तब कहा जाता है कि वह रस नहीं ले रहा —**'न रसयते'**, जब आत्मा अपनी शक्तियों को समेट कर एकीभूत हो जाता है—**'एकीभवति'**, तब कहा जाता है कि वह बोल नहीं रहा—**'न वदति'**,...सुन नहीं रहा—**'न शृणोति'**,...जान नहीं रहा—**'न मनुते'**,...छू नहीं रहा—**'न स्पृशति'**। उस समय, अर्थात् मृत्यु के समय आत्मा द्वारा हृदय के अग्र-भाग में प्रकाश हो जाता है—**'तस्य ह एतस्य हृदयस्य अग्रम् प्रद्योतते'**। उस प्रकाश के साथ—**'तेन प्रद्योतेन'**, यह आत्मा शरीर में से निकल जाता है—**'एषः आत्मा निष्क्रामति'**। कहाँ से निकल जाता है? या तो आँख से—**'चक्षुष्टः वा'**, या मूर्धा से—**'मूर्ध्नः वा'**, या शरीर के अन्य प्रदेश से—**'अन्येभ्यः वा शरीर देशेभ्यः'**। जब वह निकल रहा होता है—**'तम् उत्क्रामन्तम्'**, तब प्राण उसके पीछे-पीछे चल पड़ता है—**'प्राणः अनु उत्क्रामति'**, प्राण के निकलने के साथ-साथ अन्य सब प्राण भी—**'सर्वे प्राणाः'**, उसके पीछे-पीछे निकल पड़ते हैं—**'अनु उत्क्रामन्ति'**। जब आत्मा इस प्रकार शरीर को छोड़ रहा होता है, तब ज्ञान सहित होता है—**'सविज्ञानः भवति'**, ज्ञानसहित आत्मा के साथ ही चलते हैं—**'सविज्ञानम् एव अनु अवक्रामति'**—उसकी 'विद्या' तथा 'कर्म'—**'तम् विद्याकर्मणी'**, और साथ-साथ गमन करते हैं—**'सम् अनु आरभेते'**, पहले जन्मों की बुद्धि, वासना, स्मृति तथा संस्कार आदि—**'पूर्व-प्रज्ञा च'**। ४-४,२।

(ख) **पुनर्जन्म का वर्णन**—मृत्यु का वर्णन करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं कि जैसे—**'तत् यथा'**, तिनके की जोंक (सुंडी)—**'तृण जला-युका'**, तिनके के सिरे पर पहुंच कर—**'तृणस्य अन्तं गत्वा'**,—अन्य तिनके के सहारे को पकड़ कर—**'अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य'**, अपने को समेट लेती है—**'आत्मानं उपसंहरति'**, इसी प्रकार यह आत्मा—**'एवं एव अयं आत्मा'**, इस शरीर को छोड़ कर—**'इदम् शरीरं निहत्य'**, पहले तो ज्ञान-शून्य हो जाता है फिर—**'अविद्यां गमयित्वा'**, दूसरे शरीर का सहारा लेकर—**'अन्यं आक्रमम् आक्रम्य'**, अपने-आपको समेट लेता है—**'आत्मानं उपसंहरति'**।४-४,३।

जिस प्रकार सुनार, सोने की एक मात्रा लेकर उसी से नवतर

ग्रौर कल्याणतर रूप बना देता है, इसी प्रकार वह ग्रात्मा इस शरीर को फेंक कर, दूसरा नवतर ग्रौर कल्याणतर रूप बना लेता है—पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म (महान्) या ग्रन्य भूतों (प्राणियों) में से किसी रूप को ग्रपनी 'विद्या'-'कर्म'-'पूर्व-प्रज्ञा' के ग्रनुसार धारण करता है।४-४,४।

उक्त प्रकरण में मृत्यु का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मृत्यु के समय ज्ञानसहित (सविज्ञानः) ग्रात्मा 'विद्या'-'कर्म' तथा 'पूर्व-प्रज्ञा' को साथ लेकर शरीर को छोड़ता है। अब कहते हैं कि मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच ग्रज्ञान की ग्रवस्था में रह कर, परन्तु फिर भी इन तीनों को साथ लेकर, ग्रात्मा नया जन्म धारण करता है। जब यह मृत्यु तथा जन्म के बीच के समय में से गुज़र रहा होता है—गर्भावस्था ग्रादि के समय—तब भी ये तीनों साथ ही रहते हैं, भले ही प्रसुप्त तथा ग्रज्ञात ग्रवस्था में रहते हों।

उपनिषत्कार कहते हैं कि ग्रात्मा जिस-जिस के साथ ग्रपने सम्बन्ध को जोड़ता है उसी-उसी का रूप हो जाता है। विज्ञान ग्रर्थात् बुद्धि के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो विज्ञानमय हो जाता है—**'विज्ञानमयः'**, मन के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो मनोमय हो जाता है—**'मनोमयः'**, प्राण के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो प्राणमय हो जाता है—**'प्राणमयः'**, चक्षु-श्रोत्र के साथ सम्बन्ध जोड़ता है तो चक्षुमय, श्रोत्रमय हो जाता है—**'चक्षुमयः'**, **'श्रोत्रमयः'**, पृथिवी के साथ, जल के साथ, वायु के साथ, ग्राकाश के साथ—जिसके साथ ग्रपना सम्बन्ध जोड़ता है तन्मय हो जाता है। तेज के साथ **'तेजोमयः'**, कामना के साथ **'काममयः'**, क्रोध के साथ **'क्रोधमयः'**। जैसे यह सम्बन्ध जोड़ता है वैसे सम्बन्ध तोड़ भी सकता है, ग्रौर चाहे तो तोड़ लेता है। काम के साथ काममय है, तो कामना से ग्रपने को ग्रलग कर लेने पर **'ग्रकाममय'**, क्रोध के साथ क्रोधमय है तो क्रोध को तोड़ देने पर **'ग्रक्रोधमय'** हो जाता है। ग्रच्छे कर्म करने से ग्रच्छा, बुरे कर्म करने से बुरा, पाप-कर्म करने से **'पापात्मा'**, पुण्य-कर्म करने से **'पुण्यात्मा'** हो जाता है। उपनिषत्कार कहते हैं कि क्योंकि ग्रात्मा ग्रपने को ग्रनेक प्रकार की कामनाग्रों के साथ बांध लेता है इसलिये इसे काममय कहना ही उपयुक्त है—**'काममयः एव ग्रयं पुरुषः'** इति। जैसी कामना होती है वैसा कर्म करने लगता है—**'सः यथाकामः भवति तथा क्रतुः'**, ग्रौर जैसा कर्म करने

लगता है वैसा ही यह प्रयत्न करने लगता है—**'यत् ऋतुः भवति तत् कर्म कुरुते'**, जैसा कर्म करता है वैसा ही यह हो जाता है **'यत् कर्म कुरुते तद् अभिसंपद्यते'**। ४-४,५।

जब इसका लिंग-शरीर तथा मन बंध जाता है, फिर मानो कर्मों सहित बन्धा हुआ उधर ही खिंचा चला जाता है। जब उस कर्म को पूरा कर लेता है, तब किसी दूसरे काम को करने के लिये छुट्टी पाता है। वह कर्म इसके लिये मानो एक लोक बन जाता है। उस कर्म-लोक का आवेग जबतक पूरा नहीं हो लेता, तबतक किसी दूसरे कर्म की तरफ़ मुंह उठाकर नहीं देखता, एक कामना को पूरा कर के ही दूसरी कामना की तरफ़ फिरता है। आत्मा को काममय कहने का यही अभिप्राय है। अकाममय का क्या अभिप्राय है? जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, आत्मकाम है—जिसमें कोई कामनाएँ नहीं रहीं, जो थीं वे निकल गईं या जिसने सब कामनाएं पा लीं, आत्मा भी जिसने पा लिया, वह **'अकामयमान'** हो जाता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है। ४-४,६।

आजका 'मनोविश्लेषणवाद' (Psycho-analysis) भी यही कहता है कि जबतक कामना मन में बनी रहती है तबतक मनुष्य उस कामना से ही बंधा रहता है, उस कामना को पूरा करके ही मनुष्य उस से छुटकारा पाता है। इसी को उपनिषद् ने **'काममयो हि पुरुषः'** कहा है।

इस विषय में किसी ने ठीक कहा है—**'तत् एषः श्लोकः भवति'**। क्या कहा है? जब मनुष्य के हृदय में स्थित कामनाएं छूट जाती हैं—**'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः ये अस्य हृदि श्रिताः'**, तब यह मरण-धर्मा मनुष्य अमर हो जाता है—**'अयं मर्त्यः अमृतः भवति'**, और इस संसार में रहता हुआ ही पर-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है—**'अत्र ब्रह्म समश्नुते इति'**। जैसे सांप की केंचुली—**'तद् यथा अहिनिर्ल्वयनी'**, बांबी में मरी पड़ी छोड़ दी जाती है—**'बल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत'**, इसी प्रकार—**'एवं एव'**, कामनाओं से मुक्त व्यक्ति का शरीर पड़ा रहता है—**'इदम् शरीरम् शेते'**। आत्मा बिना शरीर के, अमर रूप है—**'अथ अयम्, अशरीरः अमृतः'**। याज्ञवल्क्य के इस उपदेश को सुनकर राजा जनक ने उन्हें एक सहस्र गाएं भेंट में दीं। ४-४,७।

इस विषय में और भी कइयों ने कहा है—**'तद् एते श्लोकाः भवन्ति'**। यह बड़ा विस्तीर्ण सनातन परन्तु सूक्ष्म मार्ग है—**'अणुः**

पन्थाः विततः पुराणः' । मैंने इस मार्ग को पास से छू लिया है—**'माम् स्पृष्टः'**, मैंने ही इस मार्ग को जाना है—**'अनुवित्तः मया एव'** । धीर-पुरुष इसी मार्ग को प्राप्त कर इस मार्ग से—**'तेन धीराः अभियन्ति'**, ब्रह्म को जानकर—**'ब्रह्मविदः'**, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होकर इस लोक से ऊर्ध्वगामी स्वर्गलोक को जा पहुंचते हैं—**'स्वर्गं लोकं इतः ऊर्ध्वं विमुक्ताः'** । ४-४,८ ।

याज्ञवल्क्य का कहना है कि कामनाओं से मुक्ति ही जीवन का लक्ष्य है । बहुत खोज-बीन कर उन्हें यही मार्ग ठीक जंचा है । कामनाओं में फंसे रहने का मार्ग अविद्या का मार्ग है । जो अविद्या के इस मार्ग में उलझे रहते हैं वे अन्धकारमय जीवन व्यतीत करते हैं—**'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यां उपासते'** । कामनाओं में डूब जानेवाले लोग आनन्दहीन लोकों को—**'अनन्दाः नाम ते लोकाः'**, जहाँ चारों तरफ़ अन्धकार-ही-अन्धकार फैला हुआ है—**'अन्धेन तमसा आवृताः'**, मर कर पहुँचते हैं—**'तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति'** । ऐसे लोग अविद्वान् हैं, बुद्धिहीन हैं—**'अविद्वांसः अबुधः जनाः'** । ४-४,१०,११ ।

अगर कोई आत्मा को जान ले—**'आत्मानं चेत् विजानीयात्'**, कि मैं यह हूँ—**'अयं अस्मि इति पूरुषः'**, तो फिर किस इच्छा से, किस कामना से—**'किं इच्छन् कस्य कामाय'**, शरीर के पीछे पड़े रहने का बुख़ार अपने ऊपर चढ़ाये—**'शरीरं अनुसंज्वरेत्'** । ४-४,१२ ।

अगर इस जन्म में रहते हुए ही—**'इह एव सन्तः'**, जान लिया कि हम यह हैं—**'अथ विद्मः तद् वयम्'**, तब तो ठीक, परन्तु अगर नहीं जाना—**'न चेत् अवेदीः'**, तब तो महानाश है—**'महती विनष्टिः'** । जो लोग जान जाते हैं कि आत्मा क्या है—**'ये तद् विदुः'**, वे अमर-पद प्राप्त कर लेते हैं—**'अमृताः ते भवन्ति'**, जो नहीं जान पाते—**'अथ इतरे'**, वे संसार में दुःख को प्राप्त होते हैं—**'दुखं एव अपियन्ति'** । ४-४,१४ ।

आत्मा के विषय में ऋचा में कहा गया है कि यह आत्मा नित्य है—**'एषः नित्यः'** । ब्रह्म-ज्ञानी की महिमा यह है—**'महिमा ब्राह्मणस्य'**, कि वह कर्म का जीवन व्यतीत करता है, परन्तु कर्म करने से उसकी महिमा न बड़ी हो जाती है—**'न वर्धते कर्मणा'**, न छोटी हो जाती है—**'न कनीयान्'**, कर्म करना उसका स्वभाव है, वह कामनारहित, निस्संग कर्म करता रहता है । वह उसी की खोज, उसी के ज्ञान में लगा

रहता है—**'तस्य एव स्यात् पदवित्'**। उस ब्रह्म को जानकर—**'तम् विदित्वा'**, वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता—**'न लिप्यते कर्मणा पापकेन इति'**। इसलिये जिसे आत्मा का इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है—**'तस्मात् एवंविद्'**, वह शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित होकर—**'शान्तः दान्तः उपरतः तितिक्षुः समाहितः भूत्वा'**, अपने-आप में आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देख लेता है—**'आत्मनि एव आत्मानम् पश्यति'**। इस प्रकार जो कामनाओं से अपने-आप को मुक्त कर, उनमें अपने को न खोकर, क्रोधमय, जगन्मय न होकर, अपने स्वरूप को जान जाता है, वह अपने सम्पूर्ण रूप का दर्शन कर लेता है—**'सर्वं आत्मानम् पश्यति'**, उसे पाप वश में नहीं करता—**'न एनम् पाप्मा तरति'**, वह सब प्रकार के पापों को लांघ जाता है—**'सर्वं पाप्मानम् तरति'**, पाप उसे व्याकुल नहीं करता—**'न एनं पाप्मा तपति'**, वह सब पापों को व्याकुल कर देता है—**'सर्वं पाप्मानम् तपति'**। ऐसा आत्म-ज्ञानी, निर्मल, संदेहरहित, ब्रह्म-ज्ञानी हो जाता है—**'विपापः विरजः अविचिकित्सः ब्राह्मणः भवति'**। याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को कहा कि तुमने जो आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया है यही ब्रह्म-लोक का ज्ञान है—**'एषः ब्रह्मलोकः सम्राड् एनम् प्रापितः असि'**।४-४,२३।

चतुर्थ अध्याय (पाँचवां तथा छठा ब्राह्मण)

[याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां—मैत्रेयी तथा गार्गी]

बृहदारण्यक के चतुर्थ अध्याय के पांचवें-छटे ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी की उसी कथा का उल्लेख है जो इसी उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के ४,५ ब्राह्मण में दी गई है। इसलिये यहाँ उसे दोहराने की ज़रूरत नहीं। इसके अतिरिक्त यहाँ गुरु-शिष्य परम्परा की एक वंशावली दी गई है जिसकी तुलना करना चाहने वाले हमारे 'एकादशोपनिषद्-भाष्य' में तुलना देख सकते हैं।

पंचम अध्याय (प्रथम ब्राह्मण से पन्द्रहवें ब्राह्मण तक)

पंचम अध्याय में अनेक अक्षरों तथा शब्दों की उपनिषत्कार ने अपने ढंग से व्याख्या की है। उदाहरणार्थ—खं, द, हृदय, सत्य, भूः, भुवः, स्वः, विराट् पुरुष, विद्युत्-ब्रह्म, वाक्-ब्रह्म, वैश्वानर, मरणानन्तर

ऊर्ध्व-गमन, तप, अन्न-ब्रह्म, प्राण-ब्रह्म, उक्थ, यजु, साम, क्षत्र, गायत्री। इनमें से कुछ प्रमुख शब्दों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे :

(१) **'द' का अर्थ (पंचम अध्याय, द्वितीय ब्राह्मण)**—प्रजापति की तीन प्रकार की सन्तानें थीं—देव, मनुष्य तथा असुर। तीनों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक पिता के पास वास किया। फिर निश्चित-अवधि के ब्रह्म-चर्य-वास के बाद उन्होंने देवों को उपदेश दिया—'द'; फिर मनुष्यों को उपदेश दिया—'द', फिर असुरों को उपदेश दिया—'द'। देवों ने 'द' से समझा दमन करो—**'दाम्यत'**, मनुष्यों ने 'द' से समझा दान दिया करो—**'दत्त'**, असुरों ने 'द' से समझा दया करो—**'दयध्वम्'**। देवों की कमज़ोरी है इन्द्रियों की शिथिलता, उन्हें कहा गया इन्द्रिय-दमन करो; मनुष्यों की कमजोरी है संग्रहशीलता, उन्हें कहा गया दान दिया करो, जोड़ते ही न रहो; असुरों की कमज़ोरी है निर्दयता, उन्हें कहा गया दया करो। उपनिषत्कार कहते हैं कि आसमान की बिजली की कड़क द-द-द का उच्चारण करती है, मानो दैवी-वाणी संसार में **दाम्यत, दत्त, दयध्वम्**—यह उपदेश दे रही है।

(२) **'हृदय' का अर्थ (पंचम अध्याय, तृतीय ब्राह्मण)**—हृदय तीन अक्षरों का शब्द है—**'तत् एतद् त्र्यक्षरम् हृदयम् इति'**। ये तीन अक्षर हैं—हृ+द+य। 'हृ'—यह एक अक्षर है—**'हृ इति एकम् अक्षरम्'**। इसका अर्थ है, अभिहरण करना, लाना, इसको लाकर देते हैं—**'अभि-हरन्ति अस्मै'**। कौन लाकर देते हैं ? अपने और दूसरे भी इसे लाकर देते हैं—**'स्वाः च अन्ये च यः एवं वेद'**। सम्पूर्ण शरीर की रक्तवाहिनियाँ शरीर का अशुद्ध-रक्त हृदय को लाकर देती हैं ताकि फेफड़ों में जाकर वह शुद्ध हो जाय। फिर दूसरा क्या अक्षर है ? 'द'—यह एक अक्षर दूसरा है—**'द इति एकम् अक्षरम्'**। 'द' का क्या अर्थ है ? यह शुद्ध रक्त शरीर को देता है—**'ददति अस्मै स्वाः च अन्ये च यः एवम् वेद'**। 'यम्' यह एक तीसरा अक्षर है—**'यम् इति एकम् अक्षरम्'**। 'यम्' का क्या अर्थ है ? इण् गतौ धातु से यह बना है, इसका अर्थ है, जाना, गति करना। कहाँ जाना, कहाँ गति करना ? रुधिर पहले हृदय में जाता है, फिर हृदय उसे शुद्ध होने पर शरीर को देता है, देने में रुधिर शरीर में गति करता है। इस प्रकार हृदय द्वारा शुद्ध रक्त का संचार ही स्वर्ग-लोक है, यह समझो—**'स्वर्गं लोकं यः एवं वेद'**। ५-३,१।

निरुक्तकार ने 'हृदय' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि हृदय को हृदय इसलिये कहते हैं क्योंकि यह तीन काम करता है—'हृ' से हरति, 'द' से ददाति, 'य' से याति—यह लेता है, देता है, और चलता है। हृदय द्वारा रुधिर का लेना-देना होता है। हृदय शरीर से अशुद्ध रुधिर को लेकर, फिर उसके फेफड़ों द्वारा शुद्ध होने पर, उसे शरीर को देता है, और इसी उद्देश्य से रुधिर को गति देता रहता है। इस व्युत्पत्ति से 'हृदय'-शब्द के अर्थ में ही 'रुधिर की गति' (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। रुधिर शरीर में गति करता है—इसका पता युरोप में हार्वे (१५७८-१६५७) ने १७वीं शताब्दी में लगाया था, परन्तु उस से बहुत पहले भारत में इसका, जैसा इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, ज्ञान था।

(३) **'तप' का अर्थ (पंचम अध्याय, ग्यारहवाँ ब्राह्मण)**—व्याधि से पीड़ित होने पर दुःखी न होना, परन्तु यह समझना कि व्याधि भी एक तप है—इसे परम-तप कहते हैं—**'एतद् वै परमम् तपः यत् व्याधितः तप्यते'**। मर जाने के बाद मृत-पुरुष के बन्धु-बांधव उसे जलाने के लिये जंगल ले जाते हैं—यह बन्धु-बान्धवों का परम-तप है—**'एतद् वै परमम् तपः यं प्रेतम् अरण्यं हरन्ति'**। मृत-पुरुष को प्रज्वलित अग्नि में रख देते हैं, यह बन्धु-बान्धवों का परम-तप है—**'एतद् वै परमम् तपः यं प्रेतम् अग्नौ अभ्यादधति'** ।५-११,१।

इससे स्पष्ट है कि मृत-देह को जलाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन-काल से है।

(४) **अन्न-ब्रह्म तथा प्राण-ब्रह्म का समन्वय (पंचम अध्याय, बारहवाँ ब्राह्मण)**—कई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है—**'अन्नं ब्रह्म इति एके आहुः'**, परन्तु यह बात ठीक नहीं है—**'तत् न'**, क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है—**'तथा पूयति वै अन्नं ऋते प्राणात्'**। कई कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है—**'प्राणः ब्रह्म इति एके आहु'**, परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूक जाते हैं—**'तत् न तथा, शुष्यति वै प्राणः ऋते अन्नात्'**। सत्य बात यह है कि ये दोनों देवता—अन्न तथा प्राण—**'एते ह तु एव देवते'**, एकरूप या समन्वित होकर—**'एकधाभूयम् भूत्वा'**, परम-श्रेष्ठ रूप हो जाते हैं—**'परमताम् गच्छतः'** ।५-१२,१।

इसका अभिप्राय यह है कि 'अन्न' (Materialism) तथा 'प्राण' (Spiritualism) को मिल कर काम करना चाहिये, भौतिकवाद तथा

अध्यात्मवाद मिल कर ही जीवन की गाड़ी चला सकते हैं, अलग-अलग नहीं।

(५) 'गायत्री' का अर्थ (पंचम अध्याय, चौदहवाँ ब्राह्मण)—गायत्री की तीन व्याहृतियाँ हैं—'भूः', 'भुवः', 'स्वः'। इनकी व्याख्या हम छान्दोग्य, २ य प्रपाठक, २३ खण्ड में कर आये हैं। भूः-भुवः-स्वः का अर्थ है—अस्ति, भाति, प्रीति—Being; Becoming; Bliss. संसार की गति, इसका प्रवाह 'भूः' (है) से 'भुवः' (होना), 'भुवः' से 'स्वः' (प्रीति, आनन्द) की तरफ़ हो रहा है। भूः का अर्थ है—'है'—**अस्ति**; भुवः का अर्थ है—'होना' या 'हो रहापन'—**भाति**; स्वः का अर्थ है—'किसी प्रयोजन के लिये होना'—**प्रीति**। जो वस्तु 'है' वह तभी तक 'है' या 'अस्ति' की कोटि में रहती है, जब तक वह 'हो रही' या 'भुवः' की कोटि में होती है, जहाँ उसमें से 'होनापन' या 'भुवः' की प्रक्रिया समाप्त हुई, वहाँ वह स्वयं समाप्त हो जाती है। इसी तरह 'होना' या 'भुवः' भी एक ख़ास दिशा की तरफ़ जा रहा है, वह दिशा है—'स्वः'—सुख, कोई प्रयोजन—'प्रीति'। 'भूः, भुवः, स्वः' का अर्थ है—'है' से 'होना', और होने से 'किसी प्रयोजन की तरफ़ गति करना'। जहाँ कहीं बीच में रुके, वहीं मृत्यु है, इस प्रक्रिया में बने रहना ज़ीवन है। इस सब प्रक्रिया को विस्तार से हमने अपने 'एकादशोपनिषद्-भाष्य' के पंचम अध्याय के चौदहवें अध्याय में समझाया है, जो विस्तार से जानना चाहें वहाँ देख सकते हैं।

षष्ठ अध्याय (पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा ब्राह्मण)

बृहदारण्यक के छटे अध्याय का **पहला ब्राह्मण** ही छान्दोग्य के पंचम प्रपाठक के प्रथम तथा द्वितीय खण्ड हैं; **दूसरा ब्राह्मण** छान्दोग्य के पंचम प्रपाठक के तृतीय से दशम खण्ड हैं; **तीसरा ब्राह्मण** छान्दोग्य के पंचम प्रपाठक के द्वितीय तथा चतुर्थ खण्ड का अवान्तर हिस्सा है। इनमें प्राण तथा इन्द्रियों का विवाद, श्वेतकेतु तथा राजा जैवलि प्रवाहण के पाँच प्रश्न एवं मन्थ-रहस्य का उल्लेख है। क्योंकि ये सब छान्दोग्य के पंचम प्रपाठक में पहले भी आ चुके हैं, इसलिये इस प्रकरण पर वही-कुछ दोहरा देना अनावश्यक है।

इस अध्याय के कुछ शब्दों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझ कर उनकी चर्चा कर हम बृहदारण्यक को समाप्त करेंगे। वे ४ शब्द हैं—

माँसौदन, उक्षा तथा ऋषम, वीरे वीरमजीजनत, एवं अतिपिता तथा अतिपितामह ।

(१) **माँसौदन (षष्ठ अध्याय, चौथा ब्राह्मण, १८वां प्रकरण)**—इस सन्दर्भ में कहा गया है कि जो चाहे कि हमारा पुत्र—**'अथ यः इच्छेत् मे पुत्रः'**, पण्डित हो, प्रख्यात हो, सभा-सोसाइटी में जानेवाला हो—**'पंडितः, विगीतः, समितिंगमः'**, प्रिय वाणी बोलने वाला, सब वेदों का ज्ञात हो—**'शुश्रूषिताम् वाचम् भाषिता जायेत, सर्वान् वेदान् अनुब्रवीत'**, अपनी पूरी आयु भोगने वाला हो—**'सर्वम् आयुः इयात् इति'**, वे माँस +ओदन पका कर—**'मांसौदनम् पाचयित्वा'**, घी डाल कर—**'सर्पिष्मन्तम्'**, खायें—**'अश्नीयाताम्'**। ऐसा करने से वे दोनों शक्तिशाली पति-पत्नी ऐसा पुत्र उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जो उक्ष वा ऋषभ से उत्पन्न सन्तान के समान होगा—**'ईश्वरो जनयितवा औक्षेण वा ऋषभेण वा'**। ६-४,१८।

(२) **उक्षा तथा ऋषभ**—प्रायः टीकाकारों ने इस सन्दर्भ का अर्थ करते हुए कहा है कि बैल के माँस (औक्षेण) को चावल के साथ पका कर, उसमें घी डालकर खाने से पति-पत्नी की पण्डित आदि गुणवाली सन्तान उत्पन्न होती है। क्योंकि इस सारे प्रकरण में आगे-पीछे चावल-घी-दही-तिल आदि का वर्णन है इसलिये 'माँसौदन' का अर्थ माँस तथा चावल करना असंगत प्रतीत होता है। सम्भव है कि 'माषौदन' के स्थान में लिपिकार के स्खलन से 'माँसौदन' लिखा गया हो। माष का अर्थ उड़द की दाल है। खिचड़ी पकाते हुए उड़द तथा चावल पका कर उसमें घी डालने की प्रथा अब तक प्रचलित है। यहाँ खिचड़ी के साथ दो औषधियों का वर्णन है जिन्हें डालकर यह खिचड़ी खानी चाहिये। ये औषधियाँ हैं—उक्षा तथा ऋषभ। उक्षा तथा ऋषभ आयुर्वेद की औषधियाँ हैं। अगर उक्षा तथा ऋषभ का अर्थ बैल किया जाय तो यह जहाँ असंगत है, वहाँ एक ही अर्थ के दो शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया—इसका कोई समाधान नहीं होता। उक्षा तथा ऋषभ दोनों का अर्थ बैल है। अगर यहाँ बैल से ही अभिप्राय होता, तो एक ही शब्द का प्रयोग होता, दोनों का प्रयोग न होता।

अगर इन दोनों शब्दों का बैल ही अर्थ करना हो, तो भी इस प्रकरण का यह अर्थ भी हो सकता है कि इस प्रकार के पति-पत्नी की

सन्तान बैल के बछड़े के सदृश शक्तिशाली तथा क्रियाशील होगी। यही भाव **'वीरे वीरं अजीजनत'** में झलकता है।

(३) **वीरे वीरं अजीजनत (षष्ठ अध्याय, चौथा ब्राह्मण, २८वां प्रकरण)**—यह सारा प्रकरण गर्भाधान तथा सन्तानोत्पत्ति का है। वीर पिता वीर माता में वीर पुत्र को उत्पन्न करे—यह इस उपनिषत्कार का उद्बोधन है।

(४) **अतिपिता तथा अतिपितामह** (६, ४; २८)—ये दोनों शब्द भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। सन्तान कैसी हो? इतना ही नहीं कि पिता से बढ़-चढ़ कर हो, वह पितामह से भी बढ़-चढ़ कर होनी चाहिये। अगर प्रत्येक सन्तान पिता तथा पितामह से बढ़-चढ़ कर हो, तो मानव-समाज किस शिखर पर पहुंच जायगा—यह स्वयं अनुमान किया जा सकता है। **'अतिपिता'** तथा **'अतिपितामह'** का यही अर्थ है। सन्तान पिता से अति, अर्थात् बढ़कर 'अतिपिता' कहलायेगी, पितामह से भी बढ़-चढ़कर अतिपितामह कहलायेगी।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

(प्रथम अध्याय)

[१. ब्रह्मांड का कारण—क्या काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा आदि कारण हैं ?]

किसी समय ब्रह्म-वादी लोग चर्चा करने लगे—**'ब्रह्मवादिनः वदन्ति'** । क्या चर्चा करने लगे ? यह चर्चा करने लगे कि सृष्टि का कारण क्या ब्रह्म है या कुछ और ?—**'किं कारणम्, ब्रह्म'** ? वे सोचने लगे कि हम लोग कहाँ से उत्पन्न हुए हैं—**'कुतः स्म जाताः'**, किस से जीते हैं—**'जीवाम केन'**, और किस में प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित हैं—**'क्व च संप्रतिष्ठिताः'**, किस की व्यवस्था में बँधे हुए—**'अधिष्ठिताः केन'**, हम सुख तथा दुःखों में बरतते हैं—**'सुखेतरेषु वर्तामहे'** । ब्रह्मज्ञानी इस सब व्यवस्था पर चर्चा करने लगे—**'ब्रह्मविदः व्यवस्थाम्'** ।१।

चर्चा का विषय यह था कि सृष्टि का कारण ब्रह्म नहीं तो क्या 'काल' (Time) कारण है—**'कालः'** ? काल कारण मानने वाले ही कहा करते हैं—समय आ गया था, वक्त का फेर है । तभी कोई वस्तु गर्मी में होती है, कोई सर्दी में, कोई वर्षा में । अगर काल कारण नहीं तो क्या **'स्वभाव'** (Nature) कारण है ? हर-एक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव है । अग्नि का स्वभाव गर्मी है, जल का स्वभाव शीतलता है । क्या अपने स्वभाव से ही सृष्टि का निर्माण हो गया है, यह अपने-आप बनी है, इसका कोई बनाने वाला नहीं है । अगर स्वभाव भी कारण नहीं, तो क्या 'नियति' (Predetermination) कारण है ? हम चाहते कुछ हैं, होता कुछ और है ? तभी लोग कहा करते हैं कि जो होना होता है वही होता है, लिखे को कोई मेट नहीं सकता । अगर

नियति कारण नहीं, तो क्या **'यदृच्छा'** (Chance) कारण है ? अगर सब-कुछ नियत नहीं तो जो-कुछ हो रहा है यों ही हो रहा है, इसमें कोई लक्ष्य नहीं, कोई प्रयोजन नहीं। अगर यदृच्छा कारण नहीं, तो क्या पंचमहाभूत—**'भूतानि'** (Matter)—कारण हैं। पृथिवी, अप्, तेज, वायु का संयोग हो जाता है और इन महाभूतों से सृष्टि बन जाती है। अगर महाभूत कारण नहीं, तो क्या **'स्त्री'** (Woman) कारण है—**'योनिः'**। अगर स्त्री कारण नहीं तो क्या यह **'पुरुष'** (Man)—कारण है ? सृष्टि की रचना पर विचार करते हुए इन सब की चर्चा करनी चाहिये—**'इति चिन्त्यम्'**। हमने **'भूतानि'** का अर्थ पंच महाभूत तथा **'योनिः'** का अर्थ स्त्री किया है क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त आठ संख्या इसी प्रकार बनती है।

यह भी हो सकता है कि काल, स्वभाव आदि का संयोग कारण हो—**'संयोगः एषाम्'**। परन्तु नहीं, इनका संयोग कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये सब जड़ हैं—**'न तु, अनात्मभावात्'**। तो क्या फिर स्त्री तथा पुरुष इस सृष्टि का कारण हैं ? इस विषय की चर्चा करने वाले ऋषि कहते हैं कि स्त्री तथा पुरुष भी कारण नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें तो सुख-दुःख होता है, वे अपने सुख-दुःख के मालिक नहीं हो सकते, अन्यथा वे अपने को सदा सुख ही दिया करते, दुःख न होने देते—**'आत्मा अपि अनीशः सुख दुःख हेतोः'**।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कारण गिनाये जा सकते थे, वे यहाँ गिना दिये गये हैं और साथ ही कह दिया कि 'काल', 'स्वभाव', 'नियति', 'यदृच्छा', 'पंच महाभूत', इनका 'संयोग', 'योनि' तथा 'पुरुष'—इनमें से कोई सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। पहले छः तो इसलिये कारण नहीं हो सकते क्योंकि ये जड़ हैं—**'अनात्मभावात्'**। जड़ जड़ का निर्माण कैसे कर सकता है ? स्त्री तथा पुरुष भी कारण नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें सुख-दुःख दोनों होते हैं। अपने-आप को कोई सुख तो दे सकता है, दुःख क्यों देने लगा—स्त्री तथा पुरुष का आत्मा भी सृष्टि का स्वामी नहीं है—**'आत्मा अपि अनीशः'**, क्योंकि उसे सुख तथा दुःख दोनों होते हैं—**'सुख दुःख हेतोः'**।२।

[२. ये कारण नहीं हैं—कारण इकला परमात्मा है—ब्रह्म-चक्र की कल्पना]

जब उन्होंने इस समस्या पर ध्यान-योग से विचारना शुरू किया तो देखा—**'ते ध्यानयोग अनुगताः अपश्यन्'**। क्या देखा ? यह देखा कि परमात्मा की दिव्य-शक्ति जो अपने गुणों की महानता के कारण ही छिपी हुई है, निगूढ़ है—**'देव आत्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढ़ाम'**, वही इस सृष्टि का कारण है। वही वस्तु दीख सकती है जो निगूढ़ नहीं है, जो व्यक्त है, सीमित है। जो महान् है, इतनी महान् है कि विश्व भर में व्याप्त है, निगूढ़ है, वह दीखेगी कैसे। दीखने के लिये वस्तु को सीमा-बद्ध होना चाहिये, वह आत्म-शक्ति तो सीमाओं से बंधी हुई नहीं है। वह आत्म-शक्ति जितने भी सृष्टि की उत्पत्ति के सम्भव कारण गिनाये गये हैं उन सबको—**'यः कारणानि निखिलानि तानि'**, जो काल से लेकर आत्मा तक पहले गिनाये गये हैं—प्रथम कारण काल से लेकर अन्तिम कारण आत्मा तक—**'काल आत्मयुक्तानि'**, उन सबको अकेली व्यवस्था में रख रही है—**'अधितिष्ठति एकः'**।३।

उन्होंने देखा कि सृष्टि ब्रह्म द्वारा चालित एक चक्र है। उन्होंने सृष्टि में एक चक्र की कल्पना की। चक्र का अर्थ है—पहिया। पहिये की परिधि को 'नेमि' कहते हैं। इस परिधि पर ही पहिया घूमता है, उसी पर गति करता है। इस सृष्टि-चक्र की नेमि, इसकी परिधि सिर्फ़ एक प्रकृति है—**'एक नेमिम्'**। इस परिधि के तीन वृत्त हैं, तीन लपेट हैं—**'त्रिवृतम्'**। ये तीन लपेट कौन-से हैं ? सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण—ये तीन लपेट प्रकृति पर चढ़े हुए हैं। पहिया जैसे आगे जाता है, दायें जाता है या बायें जाता है—इसके तीन मार्ग हैं—**'त्रिमार्ग भेदं'**, इसी प्रकार सृष्टि-चक्र उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय—इन तीन मार्गों में चल रहा है। इस सृष्टि-चक्र के चलने के निमित्त अर्थात् कारण दो हैं—जीवात्मा के शुभ-कर्मों के कारण शुभ-फल, अशुभ-कर्मों के कारण अशुभ-फल—**'द्वि निमित्तम्'**। परन्तु शुभ-अशुभ किसी प्रकार का भी कर्म हो, संसार में मनुष्य जो भी कर्म करता है, सृष्टि-चक्र के चलने का मुख्य कारण एक है, और वह है—'मोह' (Attachment)—**'एकम् मोहम्'**।४।

इस सन्दर्भ में कहा तो बहुत-कुछ गया है परन्तु हमने मुख्य-मुख्य

बातों का उल्लेख कर दिया है। ये ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुंच गये हैं कि संसार का चक्र हमारे 'मोह' के कारण ही चल रहा है। 'मोह' हमें शुभ की तरफ़ भी ले जाता है, अशुभ की तरफ़ भी, परन्तु इसकी व्यवस्था ब्रह्म द्वारा ही होती है, काल से लेकर जीवात्मा तक—कोई सृष्टि-चक्र की व्यवस्था को नहीं कर सकता, पर-ब्रह्म परमात्मा ही इस व्यवस्था का अधिष्ठाता है। काल आदि जड़ हैं, वे व्यवस्था नहीं कर सकते, आत्मा स्वयं सुख-दुःख भोगता है इसलिये वह भी अपनी ही इस व्यवस्था का अधिष्ठाता नहीं हो सकता, परमात्मा ही इस व्यवस्था का कारण हो सकता है क्योंकि उसे अपना कुछ लेना-देना नहीं है।

[३. ब्रह्मांड में 'चक्र' की तथा पिंड में 'नदी' की कल्पना]

ब्रह्मांड का 'ब्रह्म-चक्र' के रूप में वर्णन कर के अब पिंड की एक प्रचण्ड-'नदी' से तुलना करते हैं। जैसे नदी का जल मानो पाँच स्रोतों से फूटता है, वैसे शरीर-रूपी नदी की पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसके पाँच स्रोत हैं जिनमें से ज्ञान-रूपी जल फूट पड़ता है—**'पंचस्रोतः अम्बुम्'**; जैसे नदी के स्रोत की योनि, उसका कारण पहाड़ होता है, वैसे शरीर-रूपी नदी के निर्माण में पाँचों महाभूत उसके उद्भव के पहाड़ हैं—**'पंचयोनिः'**; जैसे नदी का वेग कहीं उग्र, कहीं वक्र हो जाता है वैसे मानव-जीवन की प्रवृत्तियाँ कहीं तीव्र हो जाती हैं, कहीं टेढ़े-मेढ़े मार्गों में चली जाती हैं—**'उग्र वक्रां'**; जैसे नदी में तरंगें उठा करती हैं वैसे शरीर-रूपी नदी में पाँचों प्राण उसकी तरंगें हैं—**'पंच प्राण ऊर्मिम्'**; जैसे नदी का आदि-मूल होता है जहाँ से नदी प्रारम्भ होती है, वैसे मानव-जीवन की नदी का आदि-मूल शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—ये पाँच प्रकार की बुद्धियाँ हैं—**'पंचबुद्धि आदि-मूलाम्'**; जैसे नदी में आवर्त होते हैं, भंवर होते हैं, वैसे जीवन-रूपी नदी में शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इन विषयों में डुबो देने वाले ये ही भंवर हैं—**'पंच आवर्ताम्'**; जैसे नदी में कभी ज्वार आ जाता है, बाढ़ आ जाती है, वैसे जीवन-रूपी नदी में गर्भ, जन्म, जरा, व्याधि, मरण—इन पाँच प्रकारों की बाढ़ आ जाती है—**'पंच दुःख-ओघ-वेगाम्'**।

जैसे नदी को पार करने के पचासों तरीके हैं वैसे जीवन-रूपी नदी का पार करने के भी पचासों तरीके हैं—**'पंचाशद् भेदाम्'**। ऋषि कहते

हैं कि इस जीवन-नदी को पार करने के मार्गों का आओ अध्ययन करें--**'अधीमः'** । ५ ।

सब को जीवन देने वाले, सब के पालक—**'सर्व आजीवे'**, सब को अपने में धारण करने वाले—**'सर्व संस्थे'**, उस महान् ब्रह्म-चक्र में—**'बृहन्ते तस्मिन्'**, इस जीव-रूपी हंस को कोई घुमा रहा है—**'हंसः भ्राम्यते ब्रह्म-चक्रे'**। जो व्यक्ति अपने को तथा अपने को प्रेरणा देने वाले को पृथक्-पृथक् जान जाता है—**'पृथक् आत्मानं प्रेरितारं च मत्वा'**, वह उस के साथ प्रेम-भाव उत्पन्न होने पर—**'जुष्टः ततः'**, उससे अमृतत्व प्राप्त कर लेता है—**'तेन अमृतत्वम् एति'** ।६।

[४. ईश्वर, जीव तथा प्रकृति—इन तीन का वर्णन]

जो ऋषि सृष्टि के कारणों के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे वे कहते हैं कि हमने जो-कुछ गाया वह परम-ब्रह्म का गुणानुवाद किया—**'उद्गीतम् एतत् परमं तु ब्रह्म'**। उस परम-ब्रह्म में ईश्वर, जीव तथा प्रकृति—ये तीनों अक्षर सुप्रतिष्ठित हैं—**'तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठितं अक्षरं च'**। ब्रह्मवेता लोग इन तीनों के परस्पर अन्तर (भेद) को जान लेने पर—**'अत्र अन्तरं ब्रह्मविदः विदित्वा'**, ब्रह्म में लीन होकर, उसमें रम कर—**'लीनाः ब्रह्मणि तत्पराः'**, योनि से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं—**'योनि मुक्ताः'** ।७।

अभी कहा कि सृष्टि में तीन तत्व हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति। इनमें से प्रकृति क्षर भी है, अक्षर भी है। 'क्षर' का अर्थ है, खर जाने वाली, 'अक्षर' का अर्थ है न खरने वाली। प्रकृति इन दोनों गुणों से युक्त है—**'संयुक्तं एतत् क्षरम् अक्षरम् च'**। प्रकृति व्यक्त भी है, अव्यक्त भी है—उसका क्षर-रूप व्यक्त है, अक्षर-रूप अव्यक्त है—**'व्यक्त-अव्यक्तम्'**। इस क्षर-अक्षर तथा व्यक्त-अव्यक्त प्रकृति का, अर्थात् विश्व का भरण ईश्वर करता है—**'भरते विश्वं ईशः'**। ईश्वर तो सर्वशक्तिमान् है, ईश है, आत्मा अनीश है—**'अनीशः च आत्मा'**। यह आत्मा संसार के विषयों के भोग में पड़ कर संसार के बन्धनों में बंध जाता है, यही उसका बध है—**'बध्यते भोक्तृभावात्'**। संसार में रम जाने के स्थान में जब वह ब्रह्म-देव को जान लेता है—**'ज्ञात्वा देवम्'**—तब वह बन्धनों के सब पाशों से मुक्त हो जाता है—**'मुच्यते सर्वपाशैः'** ।८।

'ज्ञ' और 'अज्ञ'—ये दो 'अज' हैं, अजन्मा हैं—**'ज्ञ+अज्ञौ द्वौ अजौ'**। इन में से 'ज्ञ'—अर्थात्, ज्ञानमय तो **'ईश'** है, परमात्मा है, 'अ+ज्ञ'—अर्थात् ज्ञानरहित जो है वह **'अनीश'** है, जीवात्मा है। इन दो 'अजों' के अतिरिक्त एक तीसरी है 'अजा'—**'अजा हि एका'**, जो भोक्ता के भोग्य के लिये लगी हुई है—**'भोक्तृ भोग्यार्थ-युक्ता'**। इस प्रकार तीन अज, अर्थात् अजन्मा हैं। एक अज परमात्मा है जिसे **'ज्ञ'** कहा, 'ईश' कहा; दूसरा अज जीवात्मा है जिसे **'अज्ञ'** कहा, 'अनीश' कहा; तीसरी प्रकृति है जिसे स्त्रीलिंगी होने के कारण **'अजा'** कहा, जीवात्मा की भोग्या कहा। इन तीनों में जो अनन्त है, विश्व-रूप है, प्रकृति का भोग नहीं कर रहा, अकर्ता है, वह परमात्मा है—**'अनन्तः च आत्मा विश्वरूपः हि अकर्ता'**। जब ज्ञानी इन तीनों को अपने-अपने रूप में जान लेता है—**'त्रयं यदा विन्दते'**, तब समझ लो कि उसने ब्रह्म के यथार्थ रूप को जान लिया—**'ब्रह्म एतत्'**।९।

इस सन्दर्भ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्वेताश्वतर-उपनिषद् के ये ब्रह्मज्ञानी जो सृष्टि के कारणों के विवेचन की चर्चा कर रहे हैं, सृष्टि-चक्र के तीन कारण मानते हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति।

'प्रधान', अर्थात् प्रकृति 'क्षर' है, खर जाने वाली है—**'क्षरं प्रधानम्'**; 'हर' अर्थात् सब-कुछ हर लेने वाला परमेश्वर 'अक्षर' है, खर जाने वाला नहीं है, अमृत है—**'अमृतं अक्षरं हरः'**। क्षर (अर्थात् प्रकृति) तथा आत्मा—इन दोनों पर स्वामित्व उसी एक देव परमात्मा का है—**'क्षर आत्मानौ ईशते देवः एकः'**। उसी देव के ध्यान से—**'तस्य अभिध्यानात्'**, उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ देने से—**'योजनात्'**, अपने को उसी में मिटा कर उसमें लीन हो जाने से—**'तत्वभावात्'**, तत्पश्चात्—**'भूयः'**, अन्त में—**'अन्ते'**, यह आत्मा विश्व-माया के बन्धनों से छूट जाता है—**'विश्वमाया निवृत्तिः'**।१०।

उस परमात्म-देव को जानकर—**'ज्ञात्वा देवम्'**, संसार के अविद्या, क्लेशादि सब बन्धन छूट जाते हैं—**'सर्वपाशापहानिः'**; अविद्या-क्लेश आदि के छूट जाने से जन्म-मृत्यु का चक्र छूट जाता है—**'क्षीणैः क्लेशैः जन्म-मृत्यु-प्रहाणिः'**। उसे जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, जान लेने के बाद उसका ध्यान करते रहने से एक तीसरी अनुभूति प्राप्त होती है—**'तस्य अभिध्यानात् तृतीयम्'**। वह तृतीय अनुभूति क्या है? परमात्मा में ध्यान जम जाने से मनुष्य अपने को देह से भिन्न अनुभव करने

लगता है—**'देहभेदे'**। देह से भेद अनुभव करने पर क्या होता है? देह से अपने को भिन्न अनुभव करने पर सब ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है—**'विश्वैश्वर्यम्'**, मनुष्य अनुभव करने लगता है कि वह ऐश्वर्यादि गुणों की खान है, उसे संसार असार दीखने लगता है। अब तक वह प्रकृति के साथ बंधा हुआ था, अब प्रकृति के बन्धन से छूट कर वह अपने केवल स्वरूप में आ जाता है—**'केवलम्'**। अब उसे विषयों में भटकाने वाला कोई नहीं रहता, वह 'आप्तकाम' हो जाता है—**'आप्तकामः'**। ११।

वह देव जिसको जान लेने से मनुष्य 'आप्तकाम' हो जाता है, कहाँ है? वह देव कहीं दूर नहीं, वह सदा अपने भीतर ही विराजमान रहता है, यह जान लो—**'एतत् ज्ञेयम् नित्यम् एव आत्म-संस्थम्'**; उसे जान लेने के बाद और-कुछ जानने के लिये नहीं बच रहता—**'न अतः परं वेदितव्यं हि किंचित्।'** यह जान कर कि जीवात्मा 'भोक्ता' है, प्रकृति 'भोग्य' है, और परमेश्वर 'प्रेरक' है—**'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'**, यह समझ लो कि ब्रह्म के विषय में जो तीन बातें कही जा सकती थीं कह दी गईं—**'सर्वं प्रोक्तम् त्रिविधं ब्रह्म एतत्'**। या मेरे लिये ब्रह्म का यही रूप है—**'ब्रह्म मे तत्'**।१२।

जिस प्रकार अग्नि अपने मूर्त या व्यक्त रूप को छोड़ कर अपने कारण अमूर्त या अव्यक्त रूप में चली जाय—**'अग्नेः यथा योनिगतस्य'**, तो उसका मूर्ति-रूप नहीं दीखता—**'मूर्तिः न दृश्यते'**, परन्तु उसका कोई-न-कोई चिह्न बचा रहता है जिससे हम जान सकते हैं कि यहाँ अग्नि थी—**'न एव च लिंगनाशः'**, उस अग्नि को जिसका कारण इन्धन है हम फिर-से ग्रहण कर सकते हैं—**'सः भूयः एव इन्धनयोनिः गृह्यः'**, इसी प्रकार आत्मा तथा परमात्मा जो अमूर्त हैं—**'तद् वा उभयं वै'**, ओंकार से—**'प्रणवेन,'** इस देह में ग्रहण किये जा सकते हैं—**'देहे'**।१३।

अपने देह को नीचे की और प्रणव को ऊपर की अरणि बना कर—**'स्व देहं अरणिं कृत्वा प्रणवं च उत्तरारणिं'**, ध्यान की रगड़ के अभ्यास से—**'ध्यान निर्मन्थन अभ्यासात्'**, अपने अन्तःकरण के भीतर निगूढ़वत् विद्यमान परमात्म-देव का दर्शन करे—**'देवं पश्येत् निगूढ़वत्,'** अर्थात्, जैसे अरणियों में अग्नि निगूढ़ है वैसे विश्व में परमात्म-देव निगूढ़ हैं। १४।

जिस प्रकार तिलों में तेल—**'तिलेषु तैलम्'**, दही में घृत—**'दधिनि इव सर्पिः'**, स्रोतों में जल—**'आपः स्रोतःसु'**, अरणियों में अग्नि विद्यमान रहती है—**'अरणीषु च अग्निः'**, इसी प्रकार इस परमात्मा को आत्मा में ग्रहण किया जाता है—**'एवम् आत्मा आत्मनि गृह्यते असौ'**। परन्तु वह दीखता 'सत्य' और 'तप' की रगड़ से है—**'सत्येन एनम् तपसा यः अनुपश्यति'** ।१५।

सर्वव्यापी परमात्मा को इस प्रकार जाने—**'सर्वव्यापिनम् आत्मानम्'**, जैसे दूध में घृत व्याप रहता है—**'क्षीरे सर्पिः इव अर्पितम्'**। इस आत्म-विद्या का मूल तप है, बिना तप के आत्म-विद्या प्राप्त नहीं होती—**'आत्मविद्या तपोमूलम्'**। यही परम ब्रह्मोपनिषद् है—**'तद् ब्रह्मोपनिषत् परं'**, यही परम ब्रह्मोपनिषद् है—**'तद् ब्रह्मोपनिषत् परं इति'** ।१६।

[प्रथम अध्याय का उपसंहार]

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में सृष्टि के कारणों का विवेचन करते हुए काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंच-महाभूत, स्त्री, पुरुष, इनका संयोग--इन सब पर विचार करते हुए इन सबका निराकरण कर दिया है, और अन्त में परमेश्वर को ही सृष्टि का कारण माना है। जो जिज्ञासु सृष्टि पर विचार कर रहे हैं उनका निर्णय यह है कि सृष्टि एक चक्र की तरह चल रही है, जीवन नदी के एक प्रवाह की तरह बह रहा है। सृष्टि-चक्र तथा जीवन-प्रवाह में तीन तत्व हैं जो नित्य हैं। वे हैं—ईश्वर, जीव तथा प्रकृति। इन तीनों को 'अज' संज्ञा दी गई है। 'अज' का अर्थ है—**'न जायते इति अजः'**—जो उत्पन्न नहीं होता वह अज है। क्योंकि ये तीनों उत्पन्न नहीं होते इसलिये ये तीनों 'अज' होने के कारण अनादि हैं, इनका कोई आदि नहीं। ब्रह्म-ज्ञान का अर्थ है—इन तीनों के भेद को समझ लेना। इन तीनों में भेद यह है कि जीवात्मा भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है, परमेश्वर इन दोनों को प्रेरणा देने वाला है—**'भोक्ता, भोग्यं, प्रेरितारं च मत्वा'**। इनमें प्रकृति भोग्य है, क्षर है, खर जाती है, परमात्मा तथा जीवात्मा अक्षर हैं, खरने वाले नहीं। प्राकृतिक पदार्थों के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के भोग के साथ बंध जाने के कारण हम प्रकृति के पाशों से बंध जाते हैं—**'अनीशः च आत्मा बध्यते भोक्तृ भावात्'**, प्रकृति से अपने

सम्बन्ध को तोड़ लेना ही इन पाशों से मुक्त होने का रास्ता है—**'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'**। आत्मा के जानने की बात यह है कि प्रकृति जड़ है, आत्मा तथा परमात्मा चेतन हैं। आत्मा जड़ के साथ अपनी एकता स्थापित करेगा तो उसमें प्रकृति के राग, द्वेष, कलह, क्लेश आदि गुण आ जायेंगे, परमात्मा के साथ अपनी एकता स्थापित करेगा तो उसमें सच्चिदानन्द ईश्वर के गुणों की अभिव्यक्ति होगी। परमात्मा सर्वत्र है, परन्तु उसे पाने के लिये दूर जाने के स्थान में अपने भीतर ही उसे देख लेना सुगम है। यह काम प्रणव द्वारा परम-देव के ध्यान से हर किसी के लिये सम्भव है। जैसे तिलों में तेल, दूध में घी, स्रोतों में जल, अरणि में अग्नि विद्यमान है, उसे प्रकाश में लाने की ज़रूरत है, वैसे हमारे भीतर ही परमात्म-देव विद्यमान हैं, ध्यान-द्वारा उन तक पहुंचा जा सकता है।

(द्वितीय अध्याय)

[प्राणायाम तथा योग का वर्णन]

इस अध्याय के पहले सात श्लोकों को छोड़ कर हम यहाँ ८वें श्लोक से द्वितीय अध्याय का प्रारम्भ कर रहे हैं :

जैसे तैरते हुए सिर, गर्दन तथा छाती—इन तीनों को उन्नत रखा जाता है, इसी प्रकार प्राणायाम के समय इन तीनों को उन्नत तान कर—**'त्रिः उन्नतं स्थाप्य'**, शरीर के शेष भाग को सम-अवस्था में रखकर—**'समं शरीरम्'**, और इन्द्रियों को मन के अधीन और मन को हृदय में निविष्ट कर के—**'हृदि इन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य'**—बैठ जाय, और ब्रह्म-रूपी नौका पर सवार होकर—**'ब्रह्म उडपेन'**, संसार-रूपी नदी के पार तर जाय—**'प्रतरेत'**। इस प्रकार ज्ञानी संसार-रूपी नदी के जितने पाप-रूपी भयावह भंवर (स्रोत) हैं उन्हें तर जाता है—**'विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि'**।८।

प्राणायाम की विधि पर प्रकाश डालते हुए आगे कहते हैं : उपरोक्त स्थिति में बैठते हुए श्वासों को बलपूर्वक भीतर रोक कर—**'प्राणान् प्रपीड्य इह'**, अपनी सब चेष्टाओं को रोक कर—**'संयुक्त चेष्टः'**, जब प्राण भीतर क्षीण होने लगे अर्थात् प्रतीत होने लगे कि अब सांस लेने की ज़रूरत है—**'क्षीणे प्राणे'**, तब नाक द्वारा दीर्घ-श्वास से प्राण-वायु को बाहर छोड़ दे—**'नासिक्या उच्छ्वसीत'**। जैसे

दुष्ट घोड़ेवाले रथ को—**'दुष्टाश्वं इव वाहम्'**, वश में किया जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी-व्यक्ति इस प्राण के वश द्वारा मन को अप्रमादी होकर वश में करे—**'एनं विद्वान् मनः धारयेत अप्रमत्तः'** ।६।

प्राणायाम का यह प्रयोग ऐसे स्थान में करे जो सम हो, पवित्र हो, अग्नि, कंकड़, रेत से रहित हो, जो जल के कल-कल रव तथा जलाशय आदि के कारण मन के अनुकूल हो, जहाँ आँखों को कष्ट न हो—जहाँ वायु के झोंके न चलें ।१०।

जब योगी प्राणायाम द्वारा ब्रह्म का ध्यान करता है, तब उसे शुरू-शुरू में भिन्न-भिन्न रूप दिखलाई देते हैं। कुहरा-सा, धूआँ-सा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, चन्द्र—इनकी ज्योतियाँ दिखलाई देती हैं। ब्रह्म-दर्शन के पहले-पहल—**'एतानि रूपाणि पुरःसराणि'**, ये रूप योग में ब्रह्म को अभिव्यक्त करने के लिये होते हैं—**'ब्रह्मणि अभिव्यक्तिकराणि योगे'** ।११।

योगी जब पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पंचात्मक महाभूतों को वश में कर लेता है, तब उसे न रोग होता है, न जरा होती है, न उसे मृत्यु सताती है—**'न तस्य रोगः, न जरा, न मृत्युः'**, उस समय उसका शरीर योगाग्नि को प्राप्त होने के कारण तेजोमय हो जाता है ।१२।

योग का फल यह होता है कि योगी का शरीर लघु हो जाता है—**'लघुत्वम्'**, नीरोग हो जाता है—**'आरोग्यम्'**, उसे लोलुपता नहीं रहती—**'अलोलुपत्वम्'**, उसके स्वर में मधुरता आ जाती है—**'स्वर सौष्ठवम्'**, उसके शरीर से शुभ गन्ध आती है—**'गन्धः शुभः'**, उसका मूत्र-पुरीष अल्प हो जाता है—**'मूत्र-पुरीषं अल्पम्'**। योग में प्रवृत्ति का यह प्रथम फल दिखलाई देता है—**'योग-प्रवृत्ति प्रथमाम् वदन्ति'**। १३।

जैसे मट्टी से लतपत स्वर्ण-पिंड—**'यथा एव बिम्बं मृदया उपलिप्तम्'**, धोने से तेजोमय होकर चमकने लगता है—**'तेजोमयं भ्राजते तत् सुधौतम्'**, इसी प्रकार जो देह की मलिनता को धोकर आत्म-तत्व को ठीक-ठीक अपने शुद्ध रूप में देख लेता है—**'तद्वत् आत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही'**, वह देही कृतार्थ हो जाता है, और देह से अतिरिक्त अपने एक रूप को जान कर वीत-शोक हो जाता है—**'एकः कृतार्थः भवते वीतशोकः'** ।१४।

जैसे दीप के प्रकाश से दूसरे पदार्थ देखे जाते हैं, वैसे जब यह योगी आत्म-तत्व के प्रकाश से ब्रह्म-तत्व को देख लेता है—**'यदा आत्मतत्वेन तु ब्रह्मतत्वं दीप उपमेन इह युक्तः प्रपश्येत्'**, तब उस अजन्मा—**'अजम्'**, नित्य—**'ध्रुवम्'**, सब तत्वों से भी अधिक शुद्ध—**'सर्वतत्त्वैः विशुद्धं'**, परमात्म-देव को जान कर—**'ज्ञात्वा देवं'**, संसार के सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है—**'मुच्यते सर्वपाशैः'** ।१५।

वह परमात्म-देव—**'एषः ह देवः'**, सब दिशाओं में, प्रदिशाओं में अनुव्याप्त है—**'प्रदिशः अनु सर्वाः'** । वही सृष्टि के पूर्व में भी था—**'पूर्वः ह जातः'**, वही सृष्टि के बीच में, वही सृष्टि के अन्त में भी है—**'सः उ गर्भे, सः उ अन्तः'**—पूर्व में, बीच में, अन्त में वही है । सृष्टि क्या हैं, विकासोन्मुखी सृष्टि जो अबतक भूतकाल में हुई है, यह वही है—**'सः एव जातः'**, विकास-प्रक्रिया में यह जो भविष्य-काल में होगी, यह भी वही है । सब तरफ़, प्रति व्यक्ति के सम्मुख वही विद्यमान है—**'प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति सर्वतः मुखः'**—उसका मुख प्रत्येक व्यक्ति के सामने है ।१६।

जो परमात्म-देव अग्नि में है—**'यः देवः अग्नौ'**, जो जलों में है—**'यः अप्सु'**, जो सम्पूर्ण भुवन में सब जगह पहुँचा हुआ है—**'यः विश्वं भुवनं आविवेश'**, जो ओषधियों में है—**'यः ओषधीषु'**, जो वनस्पतियों में है—**'यः वनस्पतीषु'**, उस परम परमात्म-देव के लिये नमस्कार है—**'तस्मै देवाय नमो नमः'** ।१७।

(तृतीय अध्याय)

[ईश्वर का सृष्टि में प्रत्यक्ष-दर्शन—इस अध्याय की भूमिका]

द्वितीय अध्याय के १६वें श्लोक में कहा है: **'प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति सर्वतो मुखः'**, इस अध्याय के भी २ रे श्लोक में कहा है : **'प्रत्यङ् जनान् तिष्ठति'** । इन पद-वाक्यों का यह अर्थ है कि परमात्म-देव हर-व्यक्ति के प्रति उसके सामने ही विराजमान हैं । जो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मौजूद हो उसे हम न जानें—यह अचम्भे की बात है । अभी ऊपर हम ब्रह्मवादियों की वाणी में कह चुके हैं—वही परमात्म-देव अग्नि में है, जल में है, वायु में है, ओषधियों तथा वनस्पतियों में है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषियों ने सृष्टि को ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म कहा है । **'शं नो मित्रः**

शं वरुणः'—इत्यादि मंत्र में भी **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** कहा है जिसका अभिप्राय भी यही है कि यह विशाल तथा विविध रूपा सृष्टि ही प्रत्यक्ष-ब्रह्म है। १६वें श्लोक में उसे **'सर्वतः मुखः'** कहा है—उसका मुख सृष्टि में सब जगह विद्यमान है। वैदिक-साहित्य में यह भाव इतना व्यापी है कि गीता (७-८, ९) में कहा है :

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥

मैं जलों में रस हूँ, चन्द्र तथा सूर्य की प्रभा मैं हूँ, वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, पुरुषों में पौरुष मैं हूँ, पृथिवी में सुगन्ध मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, सब प्राणियों में जीवन मैं हूँ, तपस्वियों में तप मैं हूँ। यही भाव गीता के ११वें अध्याय के १६वें श्लोक में, जहाँ भगवान् का विराट् रूप दर्शाया गया है, पाया जाता है। वहाँ अर्जुन श्रीकृष्ण को प्रतीक मान कर भगवान् का वर्णन करते हुए कहते हैं :

अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्त रूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

परमात्म-देव के सर्वव्यापी भाव का अभिप्राय ही यह है कि जब वह हर वस्तु में विराजमान है, तब जो दीखता है उसमें भगवान् के ही दर्शन हो रहे हैं। हर वस्तु की सत्ता उसी की सत्ता के कारण सत्तावान् है, वह न हो, तो उसके बिना कुछ रहता ही नहीं है। हम आत्मा का दर्शन इस चलते-फिरते शरीर में करते हैं, भगवान् का दर्शन इस चलायमान विश्व में करते हैं। आत्मा न हो तो शरीर नहीं रहता, परमात्म-देव न हो तो सृष्टि नहीं रहती। शरीर की सार्थकता इसके भीतर विद्यमान चेतन-सत्ता से है, सृष्टि की सार्थकता सृष्टि में विद्यमान चेतन-शक्ति से है जिसे ऋषियों की परिभाषा में परमात्म-देव या ब्रह्म कहा गया है। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए इस उपनिषद् के तृतीय अध्याय के पहले दो श्लोकों को छोड़कर तीसरे श्लोक में कहा है—

उसके नेत्र सब जगह हैं, वह सब-कुछ देख रहा है—'विश्वतः चक्षुः', उसका मुख सब ओर है—'विश्वतः मुखः', उसकी भुजाएँ सब जगह

हैं—**'विश्वतः बाहुः'**, और उसके पांव सब जगह हैं—**'उत विश्वतः-पात्'** । जैसे कोई लोहार किसी वस्तु की रचना करता हुआ हाथों से धौंकनी को धौंकता है—**'सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः'**, वैसे वह इकला परमात्म-देव सृष्टि को उत्पन्न करता हुआ द्यु और पृथिवी को मानो धौंक रहा है—**'द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः'**, जिससे यह द्यु-लोक तथा पृथिवी-लोक मानो सुलग रहे हैं ।३।

जो देवों का प्रभव तथा उद्भव करने वाला है—**'यः देवानां प्रभवः च उद्भवः च'**, जो विश्व का स्वामी है—**'विश्वाधिपः'**, जो विकराल रूप है—**'रुद्रः'**, जो महर्षि है—**'महर्षिः'**, जिसने सृष्टि-रचना करते हुए पहले 'हिरण्यगर्भ' (Nebula) की सृष्टि की—**'हिरण्यगर्भं रचयामास पूर्वं'**, वह परमात्म-देव हमें सद्बुद्धि से संयुक्त करे—**'सः नः बुद्ध्या संयुनक्तु'** ।४। यहां हमने ५, ६, ७ श्लोक छोड़ दिये हैं क्योंकि उनमें कोई विशेष बात नहीं कही गई।

मैं उस महान् परम-पुरुष परमात्म-देव को जानता हूँ—**'वेद अहम् एतम् पुरुषं महान्तम्'**, जो आदित्य की तरह प्रकाशमान् है—**'आदित्य-वर्णं'**, जो अन्धकार से अत्यन्त दूर है—**'तमसः परस्तात्'** । उसीको जानकर—**'तं एव विदित्वा'**, मृत्यु के पार हुआ जाता है—**'मृत्युं अति एति'**, मृत्यु से छुटकारा पाने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है—**'न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय'** ।८।

जिससे न कुछ परे है न वरे है—**'यस्मात् परं न अपरं अस्ति किंचित्'**, जिससे न कुछ सूक्ष्मतर है न बृहत्तर है—**'यस्मात् न अणीयः न ज्यायः अस्ति किंचित्'**, जो इकला वृक्ष की जड़ों की तरह पृथिवी में दृढ़ खड़ा तथा उसके शिखर की तरह द्यु-लोक में ऊपर उठा हुआ स्थित है—**'वृक्षः इव स्तब्धः दिवि तिष्ठति एकः'**, उस परमात्म-देव से इस विश्व का अणु-अणु भरा पड़ा है—**'तेन इदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'** ।९।

वही इस सृष्टि में दीख रहा है। उसका जो रूप उसके दृश्यमान रूप से अतिरिक्त है—**'ततः यद् उत्तरतरम्'**, वह रूपरहित है—**'अरूपम्'**, वह जरा-मरण आदि रोगों से रहित है—**'अनामयम्'** । जो परमात्मा के इस व्यक्त तथा अव्यक्त सम्पूर्ण रूप को जान लेते हैं—**'ये एतद् विदुः'**, वे अमर हो जाते हैं—**'अमृताः ते भवन्ति'**, जो पर-मात्म-देव के इस पूर्ण रूप को नहीं जान पाते—**'अथ इतरे'**, वे संसार में दुःख-ही-दुःख पाते हैं—**'दुःखं एव अपि यन्ति'** ।१०।

जितने सृष्टि में मुख हैं, सिर हैं, गर्दनें हैं, वे सब उसी के हैं—**'सर्व आनन शिरः ग्रीवः'**, सब प्राणियों के हृदय-रूपी गुहा में वही विद्यमान है—**'सर्वभूत गुहाशयः'**, सब जगह वह व्याप रहा है—**'सर्वव्यापी'**। वह भगवान् है—**'सः भगवान्'**। क्योंकि वह सृष्टि में दीख रहे मुखों, सिरों, गर्दनों—सब में व्याप रहा है इसलिये वह सर्वगत है—**'तस्मात् सर्वगतः'**, वह सबका कल्याण करने वाला है—**'शिवः'**।११।

'सब उसी के हैं'—इसका वही अभिप्राय है जिसकी तरफ़ हम गीता के ११वें अध्याय के १६वें श्लोक का उल्लेख करते हुए इशारा कर आये हैं। जड़-चेतन में जो-कुछ दिखलाई देता है वह दीखने में भले ही कुछ हो, परन्तु उसी की सत्ता से वह सत्तावान् है। वह अपना हाथ खींच ले तो कुछ नहीं रहता। उपनिषदों में जगह-जगह इसी भाव को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है। यहाँ हमने १२वां श्लोक व्याख्या में छोड़ दिया है क्योंकि इसमें ग्यारहवें श्लोक का ही अभिप्राय निहित है।

वह महापुरुष परमात्म-देव सर्वव्यापी है, परन्तु उनका अंगुष्ठमात्र अनुभव हम सभी को अपने अन्तरात्मा में होता है—**'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा'**। वह सदा सब जनों के हृदय में संनिविष्ट है—**'सदा जनानां हृदये संनिविष्टः'**। उसे हृदय से—**'हृदा'**, मन की जो स्वामिनी बुद्धि है उस से—**'मनीषा'**, तथा संकल्प-विकल्प करने वाले मन से—**'मनसा'**, जाना जाता है—**'अभिक्लृप्तः'**। जो इस प्रकार परमात्म-देव को जान जाते हैं—**'ये एतद् विदुः'**, वे अमर हो जाते हैं—**'अमृताः ते भवन्ति'**।१३।

यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि हृदय में परमात्म-देव का अनुभव उनके अंगुष्ठमात्र का अनुभव है। हृदय में सब-कोई परमात्मा का अनुभव करता है। ज्ञान का स्थान मस्तिष्क है, अनुभव का स्थान हृदय है। परमात्म-देव का ज्ञान नहीं होता, अनुभव होता है, हृदय में अनुभव होता है क्योंकि परमात्मा प्रेममय है। प्रेम की अनुभूति का स्थान हृदय है, इसलिये इस श्लोक में कहा गया है कि परमात्म-देव का निवास हृदय-प्रदेश में है। इसका यह अर्थ नहीं है कि परमात्म-देव अन्यत्र नहीं मिलते। वर्तमान तो वे सब जगह हैं, परन्तु हृदय में उनका अनुभव होता है क्योंकि अनुभव हृदय से ही होता है। स्मरण रहे, यह अनुभव अंगुष्ठमात्र है, सिर्फ़ उसकी झांकी है। उसे पूर्णतया अनुभव करने के लिये 'हृदय' के साथ

'मनीषा' तथा 'मन' का साथ देना आवश्यक है। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि श्लोक में परमात्मा के अंगुष्ठमात्र का उल्लेख इसलिये किया गया कि जैसे अंगूठे से पकड़ कर सम्पूर्ण मनुष्य को पकड़ा जा सकता है, वैसे अंगुष्ठमात्र परम-देव को पकड़ कर उसे सम्पूर्ण रूप में 'हृदय', 'मनीषा' तथा 'मन' से पाया जा सकता है। 'मनीषा' का अर्थ 'मन' नहीं, निश्चयात्मिका 'बुद्धि' है—मन की जो ईश है, निश्चयात्मिका है, वह 'मनीषा' है। 'मनीषा' को 'विज्ञान' भी कहा जा सकता है।

इस श्लोक में 'बुद्धि' तथा 'मन' के भेद को भी स्पष्ट किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में जहाँ कोशों का वर्णन है, वहाँ भी 'विज्ञानमय-कोश' तथा 'मनोमय-कोश'—ये दो कोश कहे गये हैं। विज्ञान का अर्थ 'बुद्धि' है, मन का अर्थ 'मन' है। बुद्धि में निश्चय होता है—**'निश्चयात्मिका बुद्धिः'**; मन में संकल्प-विकल्प होता है। कठोपनिषद् में कहा—**'बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च'**।

सृष्टि का दर्शन ही परमात्म-देव का दर्शन है—इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए अगले श्लोक में कहा है—वह परमात्म-देव नामक पुरुष सहस्र सिरों वाला है—**'सहस्रशीर्षा पुरुषः'**, वह सहस्र आँखों वाला है—**'सहस्राक्षः'**, वह सहस्र पावों वाला है—**'सहस्रपात्'**। वह हाथ से ब्रह्मांड को सब तरफ़ से छूए हुए है—**'सः भूमिं सर्वतः वृत्वा'**, फिर भी उसकी दसों अंगुलियाँ मानो खाली रह जाती हैं—**'अति अतिष्ठत् दश अंगुलम्'**। यहाँ **'भूमिं वृत्वा'** कहा है। 'वृत्' से 'वृत्वा' बना है। वृत्त का अर्थ है गोल। भूमि को वृत्त कहने वाला भूमि को गोल कह रहा है—यह बात यहाँ ध्यान देने की है। १४।

यहाँ हम १५वें श्लोक को छोड़ रहे हैं क्योंकि उसमें वही बातें कही गई हैं जो पहले कही जा चुकी हैं।

अगले दो श्लोकों में परमात्म-देव के सर्व व्यापकत्व तथा सृष्टि में ही परमात्म-देव के दर्शन करने की बात कही गई है। उसके हाथ-पैर सब जगह हैं—**'सर्वतः पाणिपादं'**, उसकी आंखें, सिर, मुख सब जगह हैं—**'तत् सर्वतः अक्षि शिरः मुखम्'**। संसार में सब जगह उसके कान हैं—**'सर्वतः श्रुतिमत् लोके'**, वह सबको घेर कर बैठा हुआ है—**'सर्वं आवृत्य तिष्ठति'**। यहाँ भी 'आवृत्य'-शब्द का प्रयोग किया गया है जो 'वृत्त'-शब्द से बना है। १६।

सब इन्द्रियों के गुण उसमें भास रहे हैं—'**सर्व इन्द्रिय गुण आभासम्**', फिर भी सभी इन्द्रियों से वह रहित है—'**सर्व इन्द्रिय विवर्जितम्**'। सब का वह प्रभु है, स्वामी है—'**सर्वस्य प्रभुम्, ईशानम्**', फिर भी वह सबको आश्रय देने वाला, शरण देने वाला है—'**सर्वस्य शरणं बृहत्**'। १७। १८वें पद की व्याख्या हम छोड़ रहे हैं।

पहले कहा कि परमात्म-देव के हाथ, पाँव, आँख, कान आदि सब जगह हैं, परन्तु कोई यह न समझ ले कि सृष्टि के प्राणियों के हाथ, पाँव आदि उसी ब्रह्म के हैं, उनसे अलग उसकी सत्ता नहीं है, इस मिथ्या-भ्रम को दूर करने के लिये अब कहते हैं : वह हाथ-पाँव रहित है—'**अपाणि पादः**', हाथ-पाँव न होने पर भी वह गतिशील है, बिना हाथों के ज़ोर-से पकड़ लेता है—'**जवनः ग्रहीता**', वह नेत्रों से रहित है परन्तु बिना आँखों के देखता है—'**पश्यति अचक्षुः**', वह कानों से रहित है परन्तु बिना कानों के सुन लेता है—'**सः शृणोति अकर्णः**'। जो-कुछ भी जाना जा सकता है वह उसे जानता है—'**सः वेत्ति वेद्यं**', परन्तु उसे कोई नहीं जानता—'**न च तस्य अस्ति वेत्ता**', उसको आदि-महापुरुष कहते हैं—'**तम् आहुः अग्र्यम् पुरुषं महान्तम्**'। १९।

वह अणु से अणु है—'**अणोः अणीयान्**', महान् से महान् है—'**महतः महीयान्**'। वह इस जीव की हृदय-रूपी गुहा में निहित है—'**आत्मा गुहायाम् निहितः अस्य जन्तोः**'। वह कर्ता नहीं है, अक्रतु है, उस अक्रतु को—'**तं अक्रतुः,**' शोक-सागर से पार तर जाने वाला—'**वीत शोकः**', देखता है—'**पश्यति**'। उस परमात्म-देव की महिमा को सब को धारण करने वाले ईश के प्रसाद से ही प्राप्त किया जा सकता है—'**धातुः प्रसादात् महिमान् ईशम्**'। २०।

(चतुर्थ अध्याय)

[प्रकृति, जीव, परमेश्वर का अज तथा सुपर्ण के रूप में वर्णन]

वह जो एक है, अद्वितीय है—'**यः एकः**', रंग-रूप रहित है—'**अवर्णः**', उसने अपनी शक्ति से अनेक तथा रंग-रूप सहित—'**बहुधा शक्तियोगात् वर्णान् अनेकान्**', वस्तुओं में अर्थ, अर्थात् प्रयोजन निहित कर दिया है—'**निहितार्थः दधाति**'। स्वयं एक है पर अनेक वस्तुओं का निर्माण कर दिया, स्वयं अवर्ण है परन्तु सवर्ण वस्तुओं को

पैदा कर दिया, स्वयं का कोई प्रयोजन नहीं परन्तु सब वस्तुओं में प्रयोजन डाल दिया—ऐसी शक्ति है भगवान् की। वह परमात्म-देव संसार का अन्त में संहार कर देता है—**'वि च एति अन्ते'**, परन्तु आदि में विश्व का निर्माण करता है—**'विश्वं आदौ सः'**। ऐसा परमात्म-देव हमें शुभ बुद्धि से युक्त करे—**'देवः सः नः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु'**। १।

वही देव अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही जल है, वही प्रजापति है। २।

हे देव! तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दंड से हमें ठग लेता है—हम तुझे इन भिन्न-भिन्न रूपों में अलग-अलग समझ कर भरमा जाते हैं, पर असल में सब तू-ही-तू है। तू जब सृष्टि के रूप में प्रकट होता है, तो स्वयं एक होता हुआ भी नाना-रूप हो जाता है—**'त्वं जातः भवसि विश्वतः मुखः'**। ३। चतुर्थ श्लोक हमने छोड़ दिया है।

इस उपनिषद् में सृष्टि के तीन अनादि-तत्व माने गये हैं। तीनों को 'अज' कहा है। 'अज' दो अक्षरों से बना है—'अ' तथा 'ज'। 'अ' का अर्थ है—नहीं, 'ज' का अर्थ है—जन्म। जो उत्पन्न नहीं हुआ, सदा से वर्तमान है, अजन्मा है, अनादि है, उसे 'अज' कहते हैं। जीव तथा परमात्मा 'अज' हैं—अजन्मा हैं। प्रकृति स्त्री-लिंगी होने के कारण 'अजा' है। प्रकृति के लिये कहा गया है—**'सत्व रजस् तमसां साम्या-वस्था प्रकृतिः'**—सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की समावस्था का नाम प्रकृति है। सतोगुण का प्रत्यक्ष रूप शुक्ल है, रजोगुण का प्रत्यक्ष रूप लोहित है, तमोगुण का प्रत्यक्ष रूप कृष्ण है। इस सब आधार को सम्मुख रख कर ५वें श्लोक में कहा गया है कि एक अजा है जिसका स्वरूप लोहित-शुक्ल-कृष्ण है—**'अजां एकाम् लोहित शुक्ल कृष्णां'**; वह अजा, अर्थात् प्रकृति, जो अपने जैसे अनेक प्रकार के पदार्थों का सर्जन कर रही है—**'बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'**; उसे दूसरा अज, अर्थात् जीव—**'अजः हि एकः'**, भोग रहा है, उसके साथ शयन कर रहा है—**'जुषमाणः अनुशेते'**; और तीसरा अज, अर्थात् परमेश्वर, इस भोग-भुक्ता अजा, अर्थात् प्रकृति को छोड़ कर अलग रहता है, वह प्रकृति का भोग नहीं करता—**'जहाति एनां भुक्तभोगां अजः अन्यः'**। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि एक अजा अर्थात् प्रकृति है, और दो प्रकार के अज, अर्थात् दो प्रकार के जीव हैं। एक प्रकार के जीव

प्रकृति के भोग में लगे रहते हैं, दूसरे प्रकार के जीव प्रकृति से अपने को अलग रखते हैं, उसे छोड़ देते हैं। प्रकृतिवादी भोग का जीवन बिताते हैं, अध्यात्मवादी त्याग का जीवन बिताते हैं। ५।

उक्त श्लोक में जिस त्रैतवाद को **'अज'**-नाम से कहा, उसी को ६ टे श्लोक में **'सुपर्ण'**—अर्थात्, पक्षी के रूप में कहा है। क्या कहा है? दो सुन्दर पक्षी हैं—**'द्वा सुपर्णा'**, साथ-साथ मित्र-भाव से रहते हैं—**'सयुजा सखाया'**, ये दोनों एक ही वृक्ष का आलिंगन कर रहे हैं—**'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'**, इन दोनों में से एक तो पिप्पल के फल को बड़े स्वाद से खा रहा है—**'तयोः अन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति'**, दूसरा बिना फल खाये—**'अनश्नन् अन्यः'**, सिर्फ़ साक्षी-भाव से देख रहा है—**'अभिचाकशीति'**। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि प्रकृति, जीव तथा परमात्मा—ये तीन तत्व हैं जिनमें से जीव प्रकृति-रूपी वृक्ष के फल चखता है, परमात्मा जीव को चखता हुआ देखता है, स्वयं प्रकृति का भोग नहीं करता। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि संसार में दो प्रकार के जीव हैं। एक वे जो प्राकृतिक-जगत् का भोग करते हैं, दूसरे वे जो संसार को देखते भर हैं, उसमें अपने को खो नहीं देते। **'अभिचाकशीति'** का अर्थ निर्लेप-भाव से देखना (Awareness) है।६।

जो भाव पहले दो श्लोकों में व्यक्त किया गया है, उसी को भिन्न रूप में अगले श्लोक में कहा है: एक ही प्रकृति-रूपी वृक्ष पर—**'समाने वृक्षे'**, पुरुष—यह जीव—**'पुरुषः'**, फल भोगने में निमग्न है—**'निमग्नः'**। प्रकृति को भोगता-भोगता वह शक्तिहीन हो जाता है, और प्रकृति के मोह में पड़ा शोक-सागर में डूब जाता है—**'अनीशया शोचति मुह्यमानः'**। जब वह देखता है कि दूसरे पुरुष, अर्थात् परमात्म-देव की प्रकृति से अलग रहने के कारण सेवा हो रही है—**'जुष्टं यदा पश्यति अन्यम् ईशम्'**, तो समझ जाता है कि प्रकृति में फँसने से अन्त में शोक ही हाथ आता है। उसकी महिमा को जानकर यह भी उस मार्ग को पकड़ लेता है और वीतशोक हो जाता है—**'अस्य महिमानं इति वीत शोकः'**। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि एक पुरुष तो प्रकृति के संसार में निमग्न रहता है, इस प्रकार प्रकृति के मोह में पड़ जाने के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। जब वह देखता है कि संसार के माया-मोह को जो जीव छोड़ कर भगवान् में लौ लगाता है उसकी सब सराहना करते हैं, तब यह भी संसार का मोह छोड़ कर उसी मार्ग

को अपना लेता है और वीतराग होने के कारण वीतशोक हो जाता है क्योंकि सब शोकों का कारण राग है, मोह है, ममता है। निर्मोही होने से ही मनुष्य शोकरहित हो सकता है।७।

वेद की सब ऋचाएँ उस अक्षर-ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, उस ब्रह्म का जिसमें सब देव निवास करते हैं। वेद की ऋचाएँ जिस ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, जो उस ब्रह्म को नहीं जानता—**'यः तं न वेद'**, वह ऋचाओं से क्या करेगा—**'किं ऋचा करिष्यति'**। जो ब्रह्म को जान जाते हैं—**'ये इत् तद् विदुः'**, ऐसे लोग शान्ति प्राप्त करते हैं—**'ते इमे समासते'**।८।

वेदों के छन्द, यज्ञ, ऋतुएँ, व्रत, भूत, भव्य, और वेद जो-कुछ कहते हैं—इस सब माया से वह मायी भगवान् सृष्टि की रचना करता है—**'अस्मात् मायी सृजते विश्वं एतत्'**। वह माया का स्वामी—**'मायी'**, तो उक्त सब से सृष्टि की रचना करता है, परन्तु यह जीव उसमें आकर बँध जाता है—**'तस्मिन् च अन्यः मायया संनिरुद्धः'**।९।

माया तथा मायी का अर्थ समझाते हुए अगले श्लोक में स्पष्ट किया है कि 'माया' का अर्थ 'प्रकृति' है—**'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'**, 'मायी' का अर्थ 'परमेश्वर' है—**'मायिनं तु महेश्वरम्'**।१०।

(पंचम अध्याय)

[१. प्रकृति, जीव, परमेश्वर का क्षर-अक्षर के रूप में वर्णन]

इस उपनिषद् में मुख्य तौर पर त्रितववाद पाया जाता है। बार-बार प्रकृति-जीव-ईश्वर का उल्लेख मिलता है। पहले प्रकृति को **'अजा'** तो जीव तथा ईश्वर को **'अज'** कहा, फिर प्रकृति को **'वृक्ष'** तथा उस पर बैठे दो पक्षियों—**'सुपर्णा'**—का जिक्र किया जिनमें से एक वृक्ष का फल खाता है, दूसरा सिर्फ़ देखता है। इस अध्याय में दो **'अक्षरों'** का वर्णन है, इन दो के आलावा तीसरे ब्रह्म का वर्णन है जो है तो अक्षर, परन्तु उसे यहाँ अक्षर नहीं कहा। इन सब से प्रतीत होता है कि उपनिषदों में भले ही **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का वर्णन हो, परन्तु साथ ही ब्रह्म के अतिरिक्त जीव तथा प्रकृति का भी 'अज', 'सुपर्ण', 'अक्षर' आदि नामों से उल्लेख है। इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए कहा गया है :

दो **'अक्षर'** हैं। **'अक्षर'**—अर्थात्, जो खरते नहीं, नित्य हैं—**'द्वे अक्षरे'**। ये दो अक्षर ब्रह्म-पर हैं—अर्थात्, ब्रह्म ही इनका लक्ष्य है—**'ब्रह्म-परे'**—ब्रह्म ही इनका आधार है, ब्रह्म पर ही ये टिके हुए हैं, परन्तु ये दोनों अनन्त है—**'तु अनन्ते'**। इन दोनों में से एक में विद्या गूढ़ रूप में, छिपे रूप में विद्यमान है, दूसरे में अविद्या भरी पड़ी है—**'विद्या अविद्या निहिते यत्र गूढ़े'**। विद्या जीव का और अविद्या प्रकृति का गुण है। इनमें से अविद्या टिकने वाली नहीं है—**'क्षरं तु अविद्या'**, और निश्चय से विद्या अमरता देने वाली है—**'हि अमृतं तु विद्या'**। प्रकृति तथा जीव के अतिरिक्त एक अन्य है जो विद्या तथा अविद्या का नियमन करने वाला है—**'विद्या अविद्या ईशते यः तु सः अन्यः'**।१।

इस श्लोक में चार बातें कही गई हैं। पहली बात यह कि 'अक्षर'-सत्ताएँ तीन हैं—'प्रकृति', 'जीव' तथा 'ईश्वर'; दूसरी बात यह कि इन तीन में से एक ब्रह्म है; अन्य दो—प्रकृति तथा जीव ब्रह्म पर आश्रित हैं, ब्रह्म-पर हैं; तीसरी बात यह कि विद्या जीवात्मा का और अविद्या प्रकृति का स्वाभाविक गुण है; चौथी बात यह कि विद्या तथा अविद्या दोनों का नियमन ईश्वर कर रहा है। ईश्वर के विषय में दूसरे तीसरे तथा पाँचवें श्लोकों में उपनिषत्कार ने अपनी बात कही है।

वह इकला एक-एक कारण का अधिष्ठाता है—**'यः योनिं अधि-तिष्ठति एकः'**। इन कारणों से जो-कुछ निर्माण होता है, जिस-किसी रूप का भी निर्माण होता है—**'विश्वानि रूपाणि'**, और इन कारणों से जो अन्य कारण उत्पन्न हो जाते हैं—**'योनीः च सर्वाः'**, उन सब का वही अविष्ठाता है—**'योनिः स्वभावान् अधितिष्ठति एकः'**। सब का फल देने वाला वही है—**'सर्वान् परिणामयेत् यः'**, वही इकला विश्व का अधिष्ठाता है—**'सर्वम् एतत् विश्वम् अधितिष्ठति एकः'**, प्रत्येक वस्तु के गुण का विनियोजन वही करता है—**'गुणान् च सर्वान् विनि-योजयेत् यः'**। २,४,५। तीसरा तथा छठा श्लोक छोड़ दिया गया है।

[२. जीव के विषय में विचार]

जीवात्मा सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों के पीछे चलने वाला है—**'गुण अन्वयः'**; जीवन में जो सुख-दुःख आदि कर्मों के फल मिलते हैं उन कर्मों को करने वाला जीव ही है—**'कर्म फल कर्त्ता'**; जो कर्म

वह करता है—**'कृतस्य'**, उसका वह उपभोक्ता है—**'तस्यैव च उपभोक्ता'**, यह नहीं हो सकता कि वह कर्म करे—अच्छा या बुरा और उसका फल वह न भोगे। वह अपने कर्मों के फल के अनुसार सब प्रकार के रूपों को धारण करता है—**'सः विश्व-रूपः'**। क्योंकि वह सत्व, रज, तम—इनके द्वारा त्रिगुणात्मक है इसलिये उसके जीवन के मार्ग भी तीन प्रकार के हैं—**'त्रिगुणः त्रिवर्त्मा'**; प्राणों का वह स्वामी है—**'प्राणाधिपः'**, अपने कर्मों के कारण वह भटकता-फिरता है—**'संचरति स्वकर्मभिः'** ।७।

जीवात्मा का रूप क्या है, परिमाण क्या है ? इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अगले श्लोकों में कहा है : जीवात्मा अंगुष्ठमात्र है—**'अंगुष्ठमात्रः'**, परन्तु फिर भी सूर्य के समान है—**'रवि तुल्य रूपः'**, अर्थात्, सूर्य के तुल्य उसका प्रकाश है। ऐसे रूप के साथ दो गुण और जुड़ जाते हैं—वे हैं 'संकल्प' (Determined will) तथा 'अहंकार' (Ego)—**'संकल्प अहंकार समन्वितः यः'**। 'संकल्प' बुद्धि का गुण है, 'अहंकार' आत्मा का गुण है—**'बुद्धेः गुणेन आत्मगुणेन च एव'**। इस प्रकार भौतिक (अंगुष्ठमात्र) तथा मानसिक (संकल्प तथा अहंकार) गुणों वाला आत्मा सूई के नोक के बराबर—**'आरा अग्रमात्रः'**—है। यह आत्मा अपर है, अर्थात् इस प्रकार के गुणों वाला कोई दूसरा नहीं है —**'हि अपरः अपि दृष्टः'** ।८।

अंगुष्ठमात्र का अर्थ अंगूठे के समान—यह नहीं है। अंगूठे के समान का अर्थ है, इतना सूक्ष्म जैसा बड़े-से शरीर में छोटा-सा अंगूठा होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए अगले श्लोक में कहा है कि यदि बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जायें—**'बाल अग्रभागस्य'**, और फिर उसके सौ भागों की कल्पना की जाय—**'शतधा कल्पितस्य च'**, तो दस हज़ारवाँ भाग जीव का है—**'भागः जीवः सः विज्ञेयः'**। एक बाल के अग्रभाग का दस हज़ारवाँ हिस्सा कल्पना का ही विषय हो सकता है, इसलिये जीव के परिमाण की यहाँ कल्पनामात्र की गई है, उसका परिमाण नहीं बतलाया गया। ऐसा सूक्ष्मतम जीवात्मा अनन्त सामर्थ्यवाला है—यह कल्पना की बात है—**'सः च आनन्त्याय कल्पते'** । ९ ।

अंगुष्ठमात्र की बात इसी उपनिषद् के तृतीय अध्याय के १३वें श्लोक में परमात्मा के विषय में भी कही गई है। वहाँ भी अंगुष्ठ केवल

सूक्ष्मता का प्रतीत है, परिमाण का नहीं। परमात्मा भी अंगुष्ठमात्र है, जीवात्मा भी—अर्थात् दोनों सूक्ष्मतम हैं।

आत्मा का रूप तथा परिभाषा कहने के बाद उसके लिंग के विषय में कहते हैं : वह स्त्री नहीं, पुरुष नहीं—**'नैव स्त्री न पुमान् एषः'**, न ही आत्मा नपुंसक है—**'न चैव नपुंसकः'**। जिस-जिस शरीर को यह ग्रहण करता है—**'यद् यद् शरीरं आदत्ते'**, उसी-उसी शरीर के लिंग के साथ उसका नाम रखा जाता है—**'तेन तेन सः रक्ष्यते'**। यहाँ **'रक्ष्यते'** से अभिप्राय 'लक्ष्यते' से है, या रखा जाता है या लक्षित किया जाता है।१०।

जैसे घास की वृद्धि वृष्टि के जल से होती है, वैसे ही संकल्पन-मोह, स्पर्शन-मोह तथा दृष्टि-मोह रूपी जल से आत्मा की विवृद्धि—आत्मा का प्रपंच बढ़ता है। यह **'देही'**—जीवात्मा—कर्मों के अच्छे-बुरे अनुक्रम से—**'कर्मानुगानि अनुक्रमेण'**, भिन्न-भिन्न स्थानों में—**'स्थानेषु'**, भिन्न-भिन्न रूपों को—**'रूपाणि'**, प्राप्त होता है—**'अभि-संप्रपद्यते'**।११।

संकल्पन-मोह, स्पर्शन-मोह तथा दृष्टि-मोह का क्रम बड़ा मनो-वैज्ञानिक है। संसार में मनुष्य कर्म करता है उनका क्रम यही है। पहले संकल्प होता है, फिर वह संकल्प जब बार-बार आता है तब संकल्प-मोह की अवस्था मनुष्य पर छा जाती है। उसके बाद उस संकल्प को पूरा करने के लिये हाथ-पैर चलने लगते हैं। बार-बार इस क्रम में पड़ जाने की अवस्था स्पर्शन-मोह है—स्पर्श से अभिप्राय निक-टता में जाने से है। कर्म की तीसरी अवस्था तब आती है जब जो काम हम करना चाहते हैं वह आँखों के सामने लगातार बना रहता है। इसी को उपनिषत्कार ने दृष्टि-मोह कहा है। इन तीनों अवस्थाओं का परिणाम जीवात्मा के भिन्न-भिन्न कर्म हैं। इसका यह भी अर्थ है कि संकल्प, स्पर्श, दृष्टि तथा इनके मोह से मनुष्य कर्म के प्रपंच में फँसता है।

जीवात्मा स्थूल-सूक्ष्म तथा अनेक रूपों को—**'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि च रूपाणि देही'**, अपने अच्छे-बुरे या सत्व, रज, तम आदि गुणों के कारण—**'स्व गुणैः'**, अनेक रूपों को ग्रहण करता है—**'वृणोति'**। ये गुण दो प्रकार से जीवात्मा के साथ आते हैं। एक प्रकार तो वह है जो जीवात्मा ने इस जन्म में क्रियाएँ या कर्म किये होते हैं—**'क्रियागुणैः'**,

दूसरा प्रकार वह है जो इसके पिछले जन्म के किये हुए कर्म होते हैं जो इसका आत्मगुण बन चुके होते हैं—**'आत्मगुणैः च'**। इन दोनों प्रकार के गुणों—वर्तमान तथा भूत—अर्थात् इनके संयोग का कारण, अर्थात् इन सबको मिला कर उनका यथार्थ फल देने वाला—**'संयोगहेतुः'**, कोई अपर है, दूसरा है—**'अपरः अपि दृष्टः'**। वह दूसरा परमात्मा के सिवाय कौन हो सकता है? ।१२।

वह अनादि तथा अनन्त है—**'अनादि अनन्तम्'**, वह इस परिवर्तन-शील संसार के बीच—**'कलिलस्य मध्ये'**, इस विश्व का स्रष्टा है—**'विश्वस्य स्रष्टारम्'**, उसके पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश आदि अनेक रूप हैं—**'अनेकरूपम्'**, वह सम्पूर्ण विश्व को इकला परिवेष्टन कर रहा है—**'विश्वस्य एकं परिवेष्टितारम्'**। उस देव को जान कर—**'ज्ञात्वा देवम्'**, जीव सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है—**'मुच्यते सर्वपाशैः'** ।१३।

उसे भावना से, श्रद्धा तथा भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है—**'भावग्राह्यम्'**। उसका कोई नीड—स्थान-विशेष नहीं है, वह सब जगह मौजूद है, इसलिये उसे 'अनीड्य' कहा जाता है—**'अनीड्याख्यम्'**। वह कल्याणकारी है इसलिये यथोचित रूप में भाव तथा अभाव दोनों कर देता है—**'भाव अभाव करं शिवम्'**। वह सौन्दर्ययुक्त सृष्टि का रचनेहारा है—**'कला सर्ग करम् देवम्'**। जो सृष्टि के रचनहारे भग-वान् को जान जाते हैं वे उस देव की आराधना में इस शरीर को आहुति के रूप में दे देते हैं, अर्थात् फिर उनका पिंड में इस शरीर से तथा ब्रह्मांड में इस संसार से मोह नहीं रहता—**'ये विदुः ते जहुः तनुम्'** ।१४।

(षष्ठ अध्याय)

उपसंहार

इस उपनिषद् का आदि तथा अन्त एक ही दृष्टि-कोण के अंग हैं। ब्रह्मवादी लोग एकत्रित होकर विचार कर रहे थे कि सृष्टि का कारण क्या है? कारणों पर सोचते हुए उन्होंने भिन्न-भिन्न विकल्पों पर विचार किया। वे विकल्प थे—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पाँच-भूत, योनि, पुरुष, इनका संयोग। 'योनि' तथा 'पुरुष' को अलग-अलग

गिनाने का अभिप्राय स्त्री तथा पुरुष से है। क्या सृष्टि का कारण स्त्री है या पुरुष है। इन आठों पर विचार करके यह निश्चय हुआ कि ब्रह्म ही सृष्टि का एकमात्र कारण है। प्रथम अध्याय तथा षष्ठ अध्याय के बीच जितने अध्याय आये हैं उन सब में इसी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। अब अन्त में इस विचार-प्रक्रिया का उपसंहार करते हुए कहते हैं :

कई विद्वान् कहते हैं कि सृष्टि का कारण 'स्वभाव' है—**'स्वभावं एके कवयः वदन्ति'**, कई दूसरे भ्रम में पड़े हुए कहते हैं कि सृष्टि का कारण 'काल' है—**'कालं तथा अन्ये परिमुह्यमानाः'**। परन्तु यह तो उस परमात्म-देव की संसार में महिमा ही है—**'देवस्य एषः महिमा'**, जिससे यह ब्रह्म-चक्र घुमाया जा रहा है—**'येन इदम् भ्राम्यते ब्रह्म-चक्रम्'** ।१।

इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय के ६ टे श्लोक में भी **'भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्'**—इन शब्दों का उल्लेख है।

सृष्टि का कारण वह ब्रह्म कैसा है ? वह ऐसा है कि जिससे यह सारी सृष्टि ढकी हुई है—**'येन आवृतं नित्यम् इदं हि सर्वं'**, जो सब-कुछ जानता है—**'ज्ञः'**, जो काल का भी स्रष्टा है—**'कालकरः'**, जो दया, ज्ञान आदि गुणों से युक्त है—**'गुणी'**, जो सब विद्याओं को जानने वाला है—**'सर्वविद् यः'**। ऐसा परमात्म-देव सृष्टि का रचयिता है। उसी की अध्यक्षता में—**'तेन ईशितम्'**, सृष्टि का कर्म निश्चय से चल रहा है—**'कर्म विवर्तते ह'**। यह कहना कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये अपने-आप सृष्टि का संचालन कर रहे हैं—**'पृथिवी, अप्, तेज, अनिल खानि'**, यह बात चिन्तनीय है, ठीक नहीं है—**'चिन्त्यम्'** ।२।

सृष्टि का आदि-कारण ब्रह्म क्या करता है ? वह सृष्टि-रूपी कर्म का संचालन करके—**'तत् कर्म कृत्वा'**, फिर उसमें से निवृत्त हो जाता है—**'विनिवर्त्य भूयः'**। हाँ, सृष्टि चलती रहे इसके लिये 'तत्व' का 'तत्व' के साथ संयोग वह कर देता है—**'तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्'**। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय में काल-स्वभाव-नियति-यदृच्छा-भूत-योनि-संयोग-आत्मा—ये आठ संभावित कारण गिनाये गये थे। इन्हीं को यहाँ 'तत्त्व' (Elements) कहा गया है। काल से लेकर सूक्ष्म आत्मा तक जो तत्त्व हैं उनमें से एक, दो, तीन या आठों

तत्वों के संयोग से ब्रह्म सृष्टि-चक्र का निर्माण करता है—**'एकेन द्वाभ्यां त्रिभिः अष्टभिः वा'** ।३।

अभी कहा कि ब्रह्म सृष्टि-रूपी कर्म का तत्त्वों के संयोग से आरम्भ करता है। किस प्रकार आरम्भ करता है ? आरम्भ में सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों से युक्त कर्म को अपने मार्ग में प्रवृत्त कर देता है। यह कर्म क्या है ? प्रकृति का विकासोन्मुखी होना ही सृष्टि का आदि-कर्म है। प्रकृति में सत्व, रज, तम—ये तीन गुण हैं—**'सत्व रजः तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'**। इन तीनों गुणों वाली प्रकृति के विकास-क्रम को आरम्भ कर के—**'आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि'**, उसमें जीवात्मा के काम, क्रोध, मोह आदि भावों को जो जोड़ देता है—**'भावांश्च सर्वान् विनियोजयेत् यः'**, वही सृष्टि को आरम्भ कर देता है। अगर काम-क्रोध-मोह आदि को समाप्त कर दिया जाय— **'तेषां अभावे'**, तो जो कर्म किया है उसका नाश हो जाता है— **'कृत कर्म नाशः'**। कृत-कर्म के नष्ट हो जाने पर—**'कर्मक्षये'**, वह—आत्मा अथवा परमात्मा—सृष्टि को रचना करने वाले आठों तत्वों से अलग हो जाता है—**'याति सः तत्त्वतः अन्यः'** ।४।

पहले कहा था कि सृष्टि की रचना एक, दो, तीन या आठ तत्त्वों के संयोग से होती है। इन तत्त्वों का संयोग ही त्रिगुणात्मक प्रकृति का कर्म है। परन्तु इस **'कर्म'** में काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि **'भावों'** के नियोजित होने पर ही कर्म में जान पड़ती है, अन्यथा त्रिगुणात्मक प्रकृति तो जड़ ही है। काम-क्रोध आदि भाव जीवात्मा के द्वारा प्रकृति का उपभोग करने पर प्रकृति को जीवित बनाते हैं। अगर त्रिगुणात्मक प्रकृति के कर्म में कामनादि भावों का सन्निवेश न किया जाय, तो कर्म का क्षय हो जाता है। प्रकृति के कर्म, अर्थात् उसके विकास में या तो ईश्वर द्वारा जीवन पड़ता है, या जीव द्वारा उसमें भाव का संचार कर देने से प्रकृति जीवित बन जाती है और सुख-दुःख का कारण बनती है। जीवन का गुर यह है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति में जीवात्मा भाव का संचार न करे। भाव का संचार न करने से कर्म नहीं रहता, उसका क्षय हो जाता है। उदाहरणार्थ—

हम बुरा काम करते हैं। क्यों करते हैं ? एक व्यक्ति ने हमें गाली दी। उसे क्रोध आया था, उसकी गाली सुनकर हमारा क्रोध भी भभक उठा। हमने गाली का जवाब गाली में दिया। मामला बढ़ गया। डंडे

चल पड़े । कत्ल हो गया । यह सब क्यों हुआ ? 'क्रोध' से हुआ । यह क्रोध ही तो 'भाव' है, 'कामना' है। 'भाव' न होता, तो 'कर्म' न होता, तो 'कर्म' का जो लम्बा-चौड़ा सिलसिला चल पड़ा वह भी न होता । असली वस्तु 'कर्म' जो प्रकृति का त्रिगुणात्मक रूप है, वह नहीं, परन्तु 'भाव' है—यह 'भाव' ही 'कर्म' में जान डालता है । 'कर्म' के—प्रकृति के त्रिगुणात्मक पाश से छूट जाने का उपाय, 'भाव' से—'कामना' से—मुक्त हो जाना है । इसी को गीता में 'निष्काम-कर्म' कहा है । प्रकृति का त्रिगुणात्मक 'कर्म' जीव को तभी तक बांध सकता है जबतक प्रकृति के 'कर्म' में जीवात्मा के 'भाव' का समावेश हो । 'भावों' से अलग हो जाने पर 'कर्म' तो चलता रहता है, परन्तु क्योंकि उन कर्मों में 'भाव' नहीं होता इसलिये कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता । इसी को इस श्लोक में **'कृत-कर्मनाश'** या **'कर्मक्षय'** कहा है । ५वें तथा ६ठे श्लोक में परमात्मा को संसार का **'आदि'**, **'विश्वरूप'**, **'स्वचित्तस्थ'**, **'उपास्य'**, **'आत्मस्थ'**, **'विश्वधाम'** कहा गया है । जिसका अर्थ भावशून्यता है ।

वह ईश्वरों का परम महेश्वर है—**'तं ईश्वराणां परमं महेश्वरम्'**, वह देवों का परम देव है—**'तं देवतानाम् परमं च दैवतम्'**, वह स्वामियों का परम स्वामी है--**'पतिं पतीनाम्'**, जो-कुछ परे है वह उससे भी परे है—**'परमम् परस्तात्'**, ऐसे भुवनों के स्तुतियोग्य देव को हम जानें—**'विदाम देवं भुवनेशं ईड्यम्'** ।७।

उसे अपने लिये कुछ कार्य नहीं है, अपने लिये कुछ करना नहीं है —**'न तस्य कार्यं'**, वह जो-कुछ करता है उसके लिये किसी साधन की भी उसे आवश्यकता नहीं है—**'न करणं च विद्यते'**, उसके समान कोई नहीं दीख पड़ता—**'न तत् समः च'**, न उससे बड़ा ही कोई दीख पड़ता है—**'अभ्यधिकः च दृश्यते'** । उसकी परम-शक्ति है—**'परा अस्य शक्तिः'**, भिन्न-भिन्न प्रकार की उसकी शक्ति सुनने में आती है—**'विविधा एव श्रूयते'** । उसमें 'ज्ञान'-'बल'-'क्रिया'— ये तीनों स्वाभाविक हैं—**'स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया च'** ।८।

लोक में उसका कोई पति नहीं है, अर्थात् उस पर शासन करने वाला कोई नहीं है—**'न तस्य कश्चित् पतिः अस्ति लोके'**, न उससे अधिक ऐश्वर्य वाला कोई है—**'न च ईशिता'**, न ही उसका अपना कोई चिन्ह है—**'न च तस्य लिंगम्'** । वह जगत् का कारण है—**'सः कारणम्'**, वह साधनों के स्वामियों का भी स्वामी है—**'सः करण+**

अधिप+अधिपः' । उसका कोई उत्पादक नहीं है—**'न च अस्य कश्चित् जनिता'**, और न ही उसका कोई स्वामी है—**'न च अधिपः'** ।९।

जो परम-देव मकड़े की तरह—**'यः तु ऊर्णनाभः इव'**, प्रकृति के तन्तुओं से इकला—**'प्रधानजैः तन्तुभिः देवः एकः'**, अपने को आवृत कर लेता है—**'स्वं आवृणोत्'**, वैसे वह परमातम-देव हमें—**'सः नः'**, अपने में धारण करे और अपने में लीन करे—**'दधात् ब्रह्म+अप्ययम्'** ।१०।

कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे मकड़ा अपने भीतर के तन्तुओं से अपने को ढक लेता है, जैसे ब्रह्म अपने जो प्रकृति (प्रधान) से ढक लेता है, वैसे ब्रह्म हमें अपने से ढक ले, अर्थात् हम ब्रह्म से घिर जायें ।

परमदेव भगवान् ही एक हैं—**'एकः देवः'**, जो सब स्थावर-जंगम के अन्तर्तम में व्याप्त हैं—**'सर्वभूतेषु गूढः'** । वे सब जगह व्याप रहे हैं —**'सर्वव्यापी'**, सब भूतों के अन्तरात्मा तक में विराजमान हैं—**'सर्व-भूत अन्तरात्मा'** । हमारे सब कर्मों के अध्यक्ष, उनके फल देने वाले वही हैं—**'कार्याध्यक्षः'** । सब स्थावर-जंगम का उसी में अधिवास है—**'सर्व-भूताधिवासः'** । हम जो-कुछ करते हैं उसके वे साक्षी हैं, वे चेतन-स्वरूप हैं, केवल वही हैं, अद्वितीय हैं, सत्व-रज-तम—इन गुणों से रहित हैं—**'साक्षी, चेता, केवलः, निर्गुणः च'** ।११।

वह अकेला संसार के निष्क्रिय-तत्वों में सक्रिय है । इन तत्वों को अपने वश में रखने का कार्य वही इकला कर रहा है—**'एकः वशी निष्क्रियाणां बहूनाम्'** । वह इकला एक बीज-रूप प्रकृति से जो अपने-आप में निष्क्रिय है अनेक नानाविध, नामरूप संसार बना देता है—**'एकं बीजं बहुधा यः करोति'** । जो इस नानाविध संसार के कण-कण में उपस्थित है, उसे जो अपने भीतर भी देख लेते हैं—**'तं आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः'**, उन्हें निरन्तर सुख प्राप्त होता है—**'तेषां सुखं शाश्वतम्'**, दूसरों को नहीं—**'न इतरेषाम्'** ।१२।

जो नित्यों का नित्य है—**'नित्यः नित्यानाम्'**, चेतनों का चेतन है —**'चेतनः च चेतनानाम्'**, जो एक होता हुआ अनेक जीवों की काम-नाओं को पूर्ण करता है—**'एकः बहूनाम् विदधाति कामान्'**—सांख्य तथा योग से जाना जाता है कि सृष्टि का वही कारण है—**'तत् कारणं सांख्य योग अधिगम्यम्'** । यह जीव उस देव को जानकर सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है—**'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः'** ।१३।

वहाँ न सूर्य चमकता है—**'न तत्र सूर्यः भाति'**, न चन्द्र और तारों का वहाँ प्रकाश है—**'न चन्द्र तारकम्'**, वहाँ बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं—**'न इमाः विद्युतः भान्ति'**, फिर अग्नि का प्रकाश तो कहाँ—**'कुतः इयम् अग्निः'**। वह स्वतः प्रकाश है, उसी के प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत्, अग्नि को प्रकाश मिलता है—**'तं एव भान्तं अनुभाति सर्वम्'**, उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशमान हो रहे हैं—**'तस्य भासा सर्वं इदम् विभाति'** ।१४।

१५ से १६ श्लोकों को हम छोड़ रहे हैं।

जब लोग चर्म से आकाश को लपेटने लगेंगे—**'यदा चर्मवत् आकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः'**, तब उस देव के जाने बिना—**'तदा देवं अविज्ञाय'**, दुःख का अन्त होने लगेगा—**'दुःखस्य अन्तः भविष्यति'** ।२०।

अर्थात्, जैसे चमड़े से आकाश नहीं लपेटा जा सकता, उसी प्रकार परमात्म-देव को जाने बिना दुःख नहीं छूट सकता।

श्वेताश्वतर ऋषि ने अत्याश्रमियों अर्थात् संन्यासियों को जो ऋषियों के संघ में सम्मिलित होकर उनके पास ज्ञान प्राप्त करने आये थे उक्त उपदेश दिया।

□□

डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार द्वारा रचित साहित्यिक ग्रन्थों का विवरण जो भिन्न-भिन्न प्रकाशकों ने प्रकाशित किये हैं—

ग्रन्थ का नाम	पृष्ठ संख्या
1. धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद् (मूल-सहित)—भूमिका लेखक—डा० राधाकृष्णन (तृतीय संस्करण)	1036
2. उपनिषद् प्रकाश	510
3. वैदिक संस्कृति के मूल-तत्त्व (द्वितीय संस्करण)	368
4. वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार (प्रधान मन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा विमोचन)	310
5. वैदिक-संस्कृति का सन्देश	
6. संस्कार चन्द्रिका (संस्कार विधि की वैज्ञानिक व्याख्या)	560
7. धारावाही हिन्दी में गीता-भाष्य (मूल-सहित)—भूमिका लेखक—स्व० प्रधान मन्त्री, श्री लालबहादुर शास्त्री—इस ग्रन्थ के विषय में श्री जयप्रकाश नारायण अपनी जेल डायरी में लिखते हैं कि यह भाष्य मुझे बहुत पसन्द आया। (द्वितीय संस्करण)	550
8. ब्रह्मचर्य-सन्देश (षष्ठ संस्करण)	224
9. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा	658
10. समाजशास्त्र के मूल-तत्व (मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त ग्रन्थ) (चतुर्थ संस्करण)	756
11. भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ	768
12. सामाजिक मानव-शास्त्र (Social Anthropology) (तृतीय संस्करण)	604
13. सामाजिक विचारों का इतिहास	576
14. प्रारम्भिक समाजशास्त्र (तृतीय संस्करण)	344
15. भारतीय सामाजिक संगठन (तृतीय संस्करण)	398
16. व्यावहारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology)	416

उक्त पुस्तकें निम्न पते पर मिल सकती हैं—

श्री विजयकृष्ण लखनपाल

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार का परिचय

5.3.1898 - 13.9.1992

विद्यामार्तण्ड डॉ० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार का जन्म ५ मार्च १८९८ लुधियानान्तर्गत सबद्दी ग्राम में हुआ। आप १९१९ में गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातक होने के बाद कोल्हापुर,

बंगलौर, मैसूर, मद्रास में चार वर्ष तक समाजसेवा का कार्य करते रहे। १९२३ में आप 'दयानन्द सेवा-सदन' के आजीवन-सदस्य होकर गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गये। १५ जून १९२६ को आपका विवाह श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम०ए०, बी०टी० से हुआ। आप ३०-११-१९३० को सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए और १९३१ को गाँधी इरविन पैक्ट में छोड़ दिये गये। आपकी पत्नी २० जून १९३२ में यू०पी०एस०सी० की अध्यक्षा पद से आगरा में गिरफ्तार हुईं। उन्हें एक साल की सजा हुई। १९३४ में चन्द्रावतीजी को '**स्त्रियों की स्थिति**' ग्रन्थ पर सेकसरिया तथा २० अप्रैल १९३५ में उन्हें '**शिक्षा-मनोविज्ञान**' ग्रन्थ पर महात्मा गाँधी के सभापतित्व में मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया। अप्रैल १९५२ में वे राज्य-सभा की सदस्या चुनी गईं और दस साल तक इस पद पर रहीं। डॉ० सत्यव्रतजी अपनी सेवा के दौरान मई १९३५ में गुरुकुल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। १५ नवम्बर १९४१ को सेवा-काल समाप्त कर वे बम्बई में समाज-सेवा-कार्य में व्यस्त हो गये। २ जुलाई १९४५ को आपकी पत्नी कन्या गुरुकुल देहरादून की आचार्या पद पर नियुक्त हुईं। डॉ० सत्यव्रतजी ने इस बीच '**समाजशास्त्र**', '**मानवशास्त्र**', '**वैदिक-संस्कृति**' तथा '**शिक्षा**' आदि पर बीसियों ग्रन्थ लिखे जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लगे। आपके '**एकादशोपनिशद-भाष्य**' की भूमिका राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने तथा आपके '**गीता-भाष्य**' की भूमिका प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी। आपके होम्योपैथी के ग्रन्थों को सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ घोषित कर उनपर एक हज़ार का पारितोषिक दिया गया। इन ग्रन्थों का विमोचन राष्ट्रपति वी०वी० गिरि ने किया। ३ जनवरी १९६० को आपको 'समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व' पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक देकर सम्मानित किया गया। ४ जून १९६० को आप दोबारा छह वर्ष के लिये गुरुकुल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। ३ मार्च १९६२ को पञ्जाब सरकार ने आपके साहित्यिक-कार्य के सम्मान में चण्डीगढ़ में एक दरबार आयोजित करके १२०० रुपये की थैली तथा एक दोशाला भेंट किया। १९६४ में राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने आपको राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया। १९७७ में आपके ग्रन्थ '**वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार**' पर गङ्गाप्रसाद ट्रस्ट द्वारा १२०० रु०, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा २५०० रु० और रामकृष्ण हरजीमल डालमिया पुरस्कार द्वारा ११०० रु० का पुरस्कार दिया गया। १९७८ में आप नैरोबी के अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष हुए। १९७८ में दिल्ली प्रशासन ने वेदों के मूर्धन्य विद्वान् होने के नाते सम्मान-अर्पण समारोह करके आपको २००१ रु० तथा सरस्वती की मूर्त्ति देकर सम्मानित किया। आपने होम्योपैथी पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से '**होम्योपैथी औषधियों का सजीव चित्रण**', '**रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा**', '**बुढ़ापे से जवानी की ओर**', तथा '**होम्योपैथी के मूल सिद्धान्त**' प्रसिद्ध हैं। आपके अंग्रेजी में लिखे ग्रन्थ 'Heritage of Vedic culture', 'Exposition of Vedic Thought', 'Glimpses of the Vedas' तथा 'Confidential Talks to Youngmen' का विदेशों में बहुत मान हुआ है। आपके नवीनतम ग्रन्थ '**ब्रह्मचर्य-सन्देश**', '**वैदिक-संस्कृति का संदेश**' तथा '**उपनिषद्-प्रकाश**' है।